भक्ति-काव्य में रहस्यवाद

लेखक
डॉ० रामनारायण पाण्डे

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
जवाहरनगर, दिल्ली-७

प्रथम संस्करण
अगस्त, १९६६

मूल्य : रु० २०.००

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस
चन्द्रलोक, जवाहरनगर, दिल्ली-७
विक्री केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली-६

मुद्रक : उद्योगशाला प्रेस, किंग्सवे, दिल्ली-९

गुरुवर के चरणों में

भूमिका

डॉ० रामनारायण जी पाण्डे का 'भक्तिकाव्य में रहस्यवाद' बहुत ही अध्ययनपूर्ण और विचारप्रेरक ग्रन्थ है। इस पुस्तक को पढ़कर मुझे बहुत संतोष और सुख मिला है।

'रहस्यवाद' हिन्दी में नया शब्द है। यद्यपि 'रहस्य' और 'वाद' दोनो ही संस्कृत के बहुपरिचित शब्द हैं, फिर भी समस्त पद के रूप में रहस्यवाद शब्द नया है। यह अंग्रेजी के मिस्टिसिज्म शब्द के तौर पर गढ़ लिया गया है। पाण्डेजी ने इसकी परिभाषा देने का प्रयास किया है। वे बताते हैं कि "रहस्यवाद मानव की वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा वह समस्त चेतना को परमात्मा अथवा परम सत्य के साक्षात्कार में नियोजित करता है तथा साक्षात्कारजन्य आनन्द एवं अनुभव को आत्मरूप समस्त में प्रसरित करता है।' (पृ० २०१) और "रहस्यवादी नैतिक चरित्र, असाधारण ज्ञान, भावना तथा इच्छाशक्ति-सम्पन्न वह व्यक्ति है जो निःस्वार्थ भाव से अपने सभी साधनों को एकमात्र परम सत्य परमात्मा की प्रत्यक्षानुभूति में नियुक्त करके उस परम सत्य के परावौद्धिक और अतीन्द्रिय आनन्द-आस्वादन की संभावना में विश्वास करता है तथा उसे प्राप्त करना चाहता है।" इस प्रकार रहस्यवाद उस अनिर्वचनीय सत्य के प्रत्यक्ष का द्योतक है जिसको साधक चैतन्य की एक विशेष स्थिति में निरन्तर संलग्न रहकर प्राप्त करता है। यह सत्य अनुभवकर्ता का स्वयं प्रत्यक्ष होने के कारण उसके लिए सर्वाधिक सत्य होता है। उसकी सत्यता के लिए अन्य किसी बाह्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं। यह ज्ञान साधारण भौतिक ज्ञान की अपेक्षा इतना स्पष्ट होता है कि साधक के लिए संदेह का कोई स्थान ही नहीं रह जाता। (पृ० २०) इस अनुभवैकगम्य, बाह्य प्रमाण-निरपेक्ष, स्वयं-प्रत्यक्ष सत्य को वस्तुतः परिभाषा में बाँधना कठिन है। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभवत्व के दोष से मुक्त लक्षण, सीमा में अभिव्यक्त पदार्थ के लिए ही बनाये जा सकते हैं, पर जो सत्य दृश्यमान और अनुभूयमान समस्त पदार्थों से विलक्षण और सब को व्याप्त कर रहने वाला है वह केवल 'गूंगे का गुड़' है, शब्द द्वारा अप्रकाश्य, 'अनभै साँच' मात्र! न जाने कब से भक्त जन इसकी महिमा बताते आये हैं पर फिर भी बताते नहीं बनता। उपनिषदों में इस तत्त्व को दो प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया गया है   तदव्यावृत्ति रूप में और अतद्व्यावृत्ति रूप में। तद्व्यावृत्ति का मतलब है उसे जगत् के समस्त ज्ञात पदार्थों से विलक्षण बताना। वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है   नेति नेति नेति। फिर उसे इस प्रकार भी कहा गया है कि वह समस्त ज्ञात और अनुभूतिगम्य पदार्थों में विद्यमान है और फिर भी सारे पदार्थों के जोड़ से अधिक है। सब में व्याप्त और सबसे अधिक! यही दूसरी पद्धति है। कबीरदास ने जब व्याकुल भाव से कहा था कि

> ऐसा लो नहिं तैसा लो मैं केहि विधि कहूँ अनूठा लो।
> भीतर कहूँ तो जगमय लाजै बाहर कहूँ तो झूठा लो॥

तत्व जिज्ञासुओ ने इसे समझने समझाने का प्रयास किया है। क्योंकि उन्होने अनुभव किया है कि यह है अवश्य। जो वस्तु है उसे समझने समझाने का कुछ उपाय भी होना चाहिए। कठिनाई यह है कि समझने-समझाने का साधन मनुष्य की बुद्धि है और उसकी पहुँच थोडी दूर तक ही है, वह भी एक सीमा है, वह असीम का आभास दे सकती है, पर असीम कभी पूरे का पूरा उसमे अटता नही 'आध सेर के पात्र में कैसे सेर समाय?' लेकिन यही क्या कम है कि मनुष्य सारी सीमाओं के बावजूद यह अनुभव करता है कि इस सीमा से परे भी कुछ है? कैसे यह सभव हुआ? सीमा मे रहकर असीम की अनुभूति! स्पष्ट ही उसके भीतर कही कोई ऐसा तत्व है जो सीमा मे बँधा रहकर सतुष्ट नही है। अन्तरतर से व्याकुल पुकार उठ रही है कुछ और है, इन सबसे परे, इन सबमे विलक्षण, इन सब को अभ्युदित करके भी इनसे भिन्न! यह असीमानुभूति स्वय असीम है। ससार के मनीषियो ने नानाभाव से इस तत्व को अनुभव किया है। हमारे देश के तत्वद्रष्टाओ की दृष्टि मे यह सारा व्यक्त जगत् असीम क्रीडा-भूमि है, शिव और शक्ति का लीला-निकेतन है और अगुण और सगुण का मिलन-क्षेत्र है। एक तत्व है जो अनन्त की ओर गतिशील है। दूसरा तत्व है जो उसे सीमा की ओर खीच रहा है। इसीलिए यह सारी सृष्टि रूपायित हो रही है। रूप क्या है? अरूप गतिमय असीम को सीमा मे उपलब्ध करने का परिणाम। गति असीम है। तालो में बँधने पर वह सीमित हो जाती है और एकरूप ग्रहण करती है। ससीम और असीम के इस द्वन्द्व को ही हम नृत्य के रूप मे उपलब्ध करते हैं। स्वर अनन्त है, छन्द उसको सीमा मे बाँधने का प्रयत्न है। छन्द, लय, ताल इत्यादि के बधनो मे बँधा हुआ स्वर ही काव्य और गान के रूप में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार शब्द असीम है, अपार है, अर्थ के द्वारा उसे हम भाषा म बाँधने का प्रयत्न करते है। जहाँ भी देखो, इस सीमा और असीम की केलि क्रीडा दिखाई दे रही है। मध्ययुग के सतो और भक्तो ने नानाभाव से इस तत्व को हृदयगम किया है। किसी ने शिव शक्ति के रूप म, किसी ने प्राण-अपान के रूप मे और किसी ने चित् अचित् के रूप मे इस द्वन्द्व को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। जीव सीमा मे बँधा हुआ है। वह प्रत्यक्ष वस्तु को नाम और रूप की सीमा म बाँध कर देखना चाहता है। यही उसके लिए सहज है, और अरूप तत्व को या अध्यात्म-तत्व को इसी सहज भाषा मे कहने का प्रयत्न किया गया है।

साधारण बुद्धि के लिए एक पहेली यह है कि असीम तत्व के अनुभव को ससीम बुद्धि-व्यापार का विषय कैसे बनाया जा सकता है? यह क्या कभी सभव है कि जिसे कोई अरूप और अनाम तत्व मानता है, उसे नाम और रूप के माध्यमों को छोडकर अन्य किसी माध्यम से ग्रहण कर सके? सामान्य अनुभव यह है कि अरूप तत्व मनुष्य को किसी-किसी दिन दिख अवश्य जाता है। माता प्यार से जब अपने पुत्र को चूमती है तो विशुद्ध आनन्द की एक झलक मिल जाती है। प्रिया के नयनो म जब प्रिय को निश्शेष भाव से आत्मसमर्पण करने की लालसा दिख जाती है तो इस रूप को आश्रय करके अगाध और अपार प्रेम समुद्र की एक झाँकी मिल जाती है। विपत्ति में फँसे हुए असहाय प्राणी की सहायता के लिए जब कोई अपने को धधकती हुई अग्नि म, विस्फूर्जित तरग वारि-धारा मे या ऐसे ही किसी सकटापन्न स्थान में

अनायास फेंक देने के उल्लास से चचल हो उठता है तो *भगवान के निर्मल प्रेम-रूप का परिचय* प्राप्त हो जाता है। प्रेम और स्नेह मे, दया, माया और त्याग तप मे उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार हमे नित्य मिलता है। परन्तु रूप को आश्रय करके यह जो अरूप का प्रत्यक्षीकरण है, बडा ही क्षणिक होता है। हर उडान को धरती नीचे खीच लेती है, हर गति को सीमा अपने मे समेट लेती है। कही-न-कही अरूप अनन्त तत्त्व को पहचानने की शक्ति मनुष्य के अन्तरतर मे काम अवश्य कर रही है। मनुष्य उसे पाता है, पर यह पाना क्षणिक ही होता है। जान पडता है, कही कोई बडी बाधा है जो उस गृहीत तत्त्व को सदा-सर्वदा के लिए अगीकार करने मे बाधा खडी कर देती है। कौन है यह अनन्त और असीम को पहचानने वाली शक्ति, और कैसी है वह बाधा, जो अगीकार करने मे प्रत्यवाय उपस्थित करती है? सतो ने अनुभव से यह जाना है कि जो पहचानता है वह भी अनन्त और असीम है। वही मनुष्य की अन्तरात्मा है। जो बाधक है, वह जड है सीमा है, माया है।

सम्पूर्ण रूपो को परिपूर्ण कर वह असीम अनन्त तत्त्व वर्तमान है और फिर भी सबसे ऊपर है। वेदो की भाषा मे कहे तो वह सब को व्याप्त करके भी सबमे दश अगुल ऊपर रहता है "स भूमि विश्वतो कृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशागुलम्—सबको व्याप्त करके सबसे ऊपर।" यह कहने की एक पद्धति मात्र है। इसका भाव वही है जो कबीर ने कहना चाहा था। यह रूप के छोटे से अश मे झलक जाने वाली अनन्त सत्ता को अभिव्यक्त करने की एक शैली है। इस बात को केवल अनुभव करने वाला ही ठीक-ठीक जान पाता है। परन्तु बाकी लोग एकदम वचित भी नही हैं।

अभागे से अभागे मनुष्य के जीवन मे कोई न कोई क्षण ऐसा आता है, जिसमे वह उस दिव्य ज्योति की झलक पा जाता है, प्रेम स्निग्ध आचरण मे उस महिमा की झलक मिल जाती है, कृतज्ञता के आँसुओ मे वह अपार पारावार उमड आता है और प्रफुल्ल प्राणो म आनन्द का वह महासमुद्र हिलोरें लेते हुए देख लिया जा सकता है, परन्तु मनुष्य उसे हमेशा के लिए बाँध नही पाता। कबीरदास ने बडे दुःख से कहा, "हाय, हाय—सीमा से अभिलक्षित प्रिया जिस प्रेमिका के लिए नित्य व्याकुल होकर खोजती फिरती थी, वही सौन्दर्य और प्रेम का आश्रय स्थल आनन्द मनोहर प्रिय उसे दिख गया। हाय री अभागिन, तू उसके चरणो मे कैसे लिपट जायगी? तेरे कपडे तो गदे हैं और उस प्रिय का रूप निर्मल और पवित्र है। एक क्षण की हिचक और अनन्त काल का वियोग

> जा कारण मैं ढूँढता, सनमुख मिलिया आइ।
> धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकिहौं पाइ॥

यह जो ऊपरी आवरण की गदगी है, भीतर चित्त मे जमी हुई मैल की किट्ट है, उसे अभ्यास के द्वारा साफ किया जाता है, क्योकि जिस समय वह दिखाई दे जाय और उसके चरणो की पगध्वनि सुनाई दे जाय उस समय हिचक न हो। हिचक मानसिक और शारीरिक गदगी के कारण होती है। उसी को दूर करने के लिए नाना भाव की साधनाओ का अभ्यास किया जाता है। साधना का मतलब यह नही है कि जो परम प्रेयान् तत्त्व है, उसे

कहीं बाहर से ढूँढ लाया जाय। परम प्रेयान् तत्त्व तो भीतर भी है और बाहर भी। बाहर कल्पना करो तो वह निरन्तर भीतर आने का प्रयास करता दिखेगा और भीतर कल्पना करो तो वह निरन्तर बाहर प्रकाशित होता दिखाई देगा। भक्त अनुभव करता है कि कहीं न कहीं से प्रेम की पुकार उठ रही है। वैज्ञानिक या तार्किक उस बात को नहीं समझ पाता। समझ भी नहीं पाता। उसके लिए यह रहस्य है। रहस्य, बुद्धि द्वारा पकड़ में न आने वाली बात को कहते हैं। पर भक्त को इसके लिए किसी तर्क या प्रमाण की आवश्यकता नहीं। योगी भी नहीं बताता कि अन्तरतर से जो छन्द के प्रति, राग के प्रति, रंग के प्रति इतना व्याकुल कंपन उठा करता है वह पराशक्ति की किस विलास-लीला की अभिव्यक्ति है। ऐसा जान पड़ता है कि उससे भी गहराई में कहीं कुछ छूट गया है। हठयोग और नादयोग उसे नहीं बता पाते, विज्ञान और तर्कशास्त्र भी हारकर रह जाते हैं। लेकिन कहीं न कहीं अनुराग योग का भी व्याकुल कंपन और आत्मनिवेदन मानव-हृदय के अन्तरतर में विलसित अवश्य हो रहा है। भक्त चाहे निर्गुण भाव का साधक हो, चाहे सगुण भाव का, भगवान् के परम प्रेमी रूप पर अवश्य बल देता है। भगवान् का अनुभवगम्य प्रेममय रूप ही रहस्यवाद का केन्द्रबिन्दु है। वह अपने अस्तित्व के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। पाण्डेजी का निष्कर्ष उचित ही है कि, हिन्दी साहित्य के निर्गुण संत कवियों अथवा सगुण भक्त कवियों की भावाभिव्यक्तियों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि भगवान् भक्तों पर स्नेह रखने वाले, उनको कष्टों से छुड़ाने वाले तथा हर प्रकार से उनके परम हितैषी हैं। इसके अतिरिक्त निर्गुणमार्गी एवं सगुणमार्गी कवियों में परमात्मा-विषयक जो तत्त्व समान रूप से पाया जाता है वह है परमात्मा की अनुभवगम्यता और अनिर्वचनीयता। परम सत्य के स्वरूप के क्षेत्र में वह किसी का भी विषय हो सकता है, और यदि अवश्य ही है तो वह है प्रत्यक्ष अनुभव का और यह वही प्रत्यक्ष अनुभव अथवा साक्षात्कार है जो कि रहस्यवाद का प्रधान एवं मूल तत्त्व है (पृ०२२०)।"

भगवान् केवल सत्तामय या केवल चिन्मय नहीं है, चिन्मय रूप उसका एक अंग है। इसी चिन्मय रूप को ब्रह्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक और रूप है जो कि उसका ऐश्वर्यमय रूप है। इस ऐश्वर्यमय रूप को तत्ववेत्ता लोग 'परमात्मा' कहते हैं। परन्तु भगवान् का जो पूर्ण रूप है वह प्रेममय है। सगुणमार्गी भक्तों द्वारा बहुमानित 'अवतार' का सिद्धांत भी असीम को सीमा में उपलब्ध करने का एक सुलभ मार्ग ही है। निर्गुणमार्गी संतों के साहित्य में भी अनेक रूप में भगवत्प्रेम की लीला व्यक्त हुई ही है।

भक्ति-काव्य इसी को उपलब्ध करने का साधन है। इस मूल तत्त्व को प्रत्यक्ष कर लेने के बाद द्वन्द्व का अवसान हो जाता है। नैतिक मूल्य और सौन्दर्यात्मक मूल्यों के विरोध का कृत्रिम और असत् पर्दा हट जाता है। जो इसे पाता है, वह चरित्र का भी धनी हो जाता है और तत्त्वज्ञान का भी।

पाण्डेजी ने अपनी पुस्तक मे बडी योग्यता के साथ इस तत्त्व को उपलब्ध करने के प्रयासो का विश्लेषण और विवेचन किया है। मुझे उनका प्रयत्न बहुत ही उत्तम लगा है। मेरा निश्चित विश्वास है कि यह पुस्तक इस तत्त्व को समझने मे बहुत सहायक सिद्ध होगी।

चडीगढ़ —हजारीप्रसाद द्विवेदी
२६ ३ ६६

निवेदन

आज यह प्रबन्ध पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हर्ष और विषाद की एक साथ ही अनुभूति हो रही है। हर्ष की अनुभूति का कारण है कि यह अकिंचन इस पुस्तक को प्रकाश में लाकर श्रद्धेय गुरुदेव रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे साहब की आज्ञा का पालन करने में समर्थ हो रहा है। विषाद की भावनाएँ उभर उठती हैं कि अपनी इच्छा को इस शोध-प्रबन्ध के रूप में साकार देखने के लिए गुरुदेव इस संसार में नहीं हैं। आज यदि वे होते तो उनके पार्थिव चरणों में इस यत्न-प्रयास को अर्पित करके लेखक अपने को कृत-कृत्य मानता।

प्रस्तुत विषय पर लिखने की प्रेरणा लेखक को गुरुवर रानाडे से प्राप्त हुई थी। उन्होंने अत्यन्त स्नेह व कृपापूर्वक लेखक को इस विषय पर अनुसंधान करने का आदेश दिया था। इस विषय पर उनकी दो इच्छाएँ थीं प्रथम, इस प्रबंध की रचना हिन्दी भाषा में हो, और द्वितीय, इसमें संत तथा भक्त कवियों का विवेचन एक साथ सम्पन्न हो। प्रोफेसर साहब को संत तथा भक्त कवियों में प्रभेद मान्य नहीं था। यहाँ इसी दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयत्न किया गया है।

अस्तु, लेखक ने हिन्दी के मध्यकालीन संत तथा भक्त कवियों की एक साथ एक पूर्ण इकाई के रूप में विवेचना की है। निर्गुण धारा के प्रेममार्गी मुसलमान कवि विवेचित विषय के अन्तर्गत नहीं लिये गए हैं।

संत तथा भक्त कवियों के उद्गारों को किसी दर्शन-विशेष के साथ जोड़ने के प्रयत्न से लेखक सर्वथा दूर रहा है। इन कवियों ने सिद्धान्त-रूप में स्वयं भी न कोई दर्शन प्रतिपादित किया है और न उनके दर्शन को किसी नाम-विशेष की सीमा में बाँधा ही जा सकता है। यदि कोई नाम दिया जा सकता है तो वह है रहस्य-दर्शन।

इस समस्त प्रबन्ध में यदि कहीं कुछ सार या तत्व है तो उसका समस्त श्रेय गुरुदेव को ही है। असार के लिए लेखक उदार पाठकों से केवल क्षमाप्रार्थी है।

रहस्यवादियों की रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन साहित्य के विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया है। इन विद्वानों में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, पं० परशुराम चतुर्वेदी, डा० ब्रजमोहन गुप्त, प० दुर्गाशंकर मिश्र, प० मुंशीराम शर्मा, श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव प्रभृति विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने की अवश्य है कि इन विद्वानों की विवेचना का लक्ष्य तथा स्तर साहित्यिक रहा है। साहित्यिक दृष्टिकोण होने के कारण रहस्यवादियों की रहस्यमयता उनके धार्मिक दृष्टिकोण तथा आध्यात्मिक चिन्तन पर अपेक्षित अल्प प्रकाश डाला गया है। दार्शनिक दृष्टिकोण से हिन्दी रहस्यवादी कवियों की विवेचना के अभाव की पूर्ति करने के उद्देश्य से इस प्रबन्ध का प्रणयन हुआ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे गोरखनाथ, मछीन्द्रनाथ, नामदेव, रैदास, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, दयाबाई, सहजोबाई, धरमदास, मलूकदास, सुन्दरदास, नानक, दरिया साहब, यारी, जगजीवन, दादू, बुल्ला साहब, पलटू साहब, गुलाल, दूलनदास, गरीबदास, चरनदास आदि कवियो की रहस्यवादी विचारधारा अध्ययन का विषय बनी है।

रहस्यवाद का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार है जो कि उसे अतीन्द्रिय परावौद्धिक माध्यम से प्राप्त होता है। वैदिक काल से लेकर आजतक स्वरूप-दर्शन का ही प्रयत्न होता रहा है। उपनिषदो मे 'अहमन्न अहमन्न' 'नेति नेति अनिर्वचनीय' आदि शब्दो द्वारा आत्मा और परमात्मा की रहस्यमयता का वर्णन हुआ है। गीता मे भक्त के द्वारा दिव्य दृष्टि से समस्त भौतिक, मानसिक तथा आत्मिक तत्वों का विराट् रूप मे दर्शन होता है। परमात्मा की समस्त सृष्टि व कार्यो के सचालन करने की अनुभूति उसकी रहस्यमयता का अवबोधन कराती है। शाडिल्य एव नारद-भक्तिसूत्र परमात्मा मे परानुरक्ति तथा प्रेमाभक्ति को आत्मसिद्धि के रूप मे प्रतिपादित करते हुए उस चरम सिद्धि के स्वरूप को 'मूकास्वादनवत्' अनिर्वचनीय मानते हैं--जिसे पाकर मनुष्य स्तब्ध हो जाता है, परम आनन्दित हो जाता है।

दर्शनो मे रहस्यवाद मुख्यतया योग की साधना एव समाधि की शृखला मे एक कडी बनता है। रहस्यात्मक सिद्धि, जो कि किसी इद्रिय अथवा बुद्धि के माध्यम से सम्पन्न नहीं होती, ईश्वर-कृपा से मनुष्य मे उदय होती है। इस प्रकार योग के द्वारा प्रपत्ति के लिए एक ओर मार्ग प्रशस्त हो जाता है दूसरी ओर प्रयत्न की आवश्यकता अथवा प्रयत्न की स्वतन्त्रता एव शक्ति का समर्थन किया गया है। रहस्यवाद की अजस्र धारा चिरकाल से बहती चली आ रही है और हम देखते हैं कि वेदो की रहस्यात्मक अभिव्यक्तियो का पर्यवसान मध्यकालीन भक्त व सत कवियो की वाणी मे होता है।

ईश्वर, जोकि समस्त आस्तिक दर्शनो के मूल मे सदैव से ही विद्यमान रहा है, वही सतो के दृष्टिकोण का केन्द्र बिन्दु बना। ब्रह्म के साथ ही माया पर भी सतो की व्यापक दृष्टि गई। मानव को परमात्मा की ओर प्रवृत्त कराने मे रोग, जरा, मृत्यु की असीम व्यथा एव पीडा ही प्रमुख कारण माने गये हैं। भगवान मे प्रवृत्ति सत्सग द्वारा तीव्रतर होकर गुरु के द्वारा सत्यमार्ग मे लगकर क्रमश साधना तथा सिद्धि की अवस्था तक पहुँचती है। गुरु रहस्यवादी उपलब्धि के लिए परम आवश्यक है। रहस्यवाद कोई वैज्ञानिक अध्ययन मात्र नहीं है। रहस्यवादी होने के लिए पग पग पर सिद्ध गुरु से मार्ग ज्ञान करना पडता है। गुरु की इसी महत्ता के कारण सतों ने गुरु को ब्रह्म, खेवट, सूरमा, सर्वज्ञ आदि विशेषणों से विभूषित किया है।

गुरु के अनन्तर रहस्यवादी साधना मे नाम-जप का बहुत अधिक महत्त्व है। जप-योग अथवा स्मरण का महत्व भक्ति मे तो है ही। गोरखनाथ-प्रवर्तित षडग योग तथा सिद्ध योग मे भी यह स्वीकारा गया है। इस प्रकार नाम-स्वरूप, नाम-स्मरण के प्रकार, नाम-स्मरण की उपयोगिता का भी सत-वाणी के प्रकाश मे अध्ययन किया गया है। नाम का वास्तविक कार्य मुक्ति की प्राप्ति कराना है। यदि गुरु मुक्ति अथवा साक्षात्कार का निमित्त कारण है तो नाम उपादान कारण।

मुक्ति के ही अन्य साधन भक्ति, ज्ञान तथा योग का अध्ययन भी इसी क्रम में अपेक्षित है। ज्ञान, योग तथा भक्ति से मुक्ति हो सकती है।

योग की सिद्धि ही समाधि, साक्षात्कार अथवा मोक्ष है। ज्ञान के लौकिक तथा आत्यन्तिक दो भेद हैं। परन्तु ज्ञान की अन्तिम अवस्था मोक्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ज्ञान और मोक्ष पर्यायवाची अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यों तो भक्ति ही नौ अथवा ग्यारह प्रकार की होती है परन्तु गौणी और मुख्य अथवा साधन-रूपा और प्रेमा दो भेद अवश्य ही विशेष रूप से परिलक्षित किये गये हैं।

प्रोफेसर रानाडे के मतानुसार अन्तर्ज्ञान के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार ही रहस्यवाद है। यहां पर प्रयुक्त— अन्तर्ज्ञान, परमात्मा का साक्षात्कार तथा 'रहस्यवाद' तीनों ही शब्द ध्यान देने योग्य हैं। रहस्यवाद में साक्षात्कार अपेक्षित है। किसी वस्तु का ज्ञान तर्क अथवा प्रत्यक्ष के अन्य साधनों स्पर्श, घ्राण, दर्शन आदि से भी सम्पन्न हो सकता है, परन्तु बौद्धिक ज्ञान चाहे वह ईश्वर-विषयक ही हो, उसे रहस्यवादी बनाने में समर्थ नहीं है। रहस्यवाद में उसे अन्तर्ज्ञान के द्वारा होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अन्तर्ज्ञान द्वारा साक्षात्कार परमात्म-विषयक ही होना चाहिए। यों तो किसी भी ज्ञान, विज्ञान, कला या साहित्य के कार्य के लिए किसी न किसी मात्रा में अन्तर्ज्ञान अपेक्षित ही है। न्यूटन को गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का अनुभव टपकते हुए सेब को देखकर केवल साधारण ज्ञान के उपकरण द्वारा नहीं हुआ था। उस सिद्धान्त का दर्शन उन्हें अन्तर्ज्ञान के द्वारा ही हुआ परन्तु वह ज्ञान रहस्यवादी का ज्ञान नहीं कहा जा सकता। आइस्टाइन को सापेक्षवाद के सिद्धांत का अनुभव भी अन्तर्ज्ञान द्वारा ही हुआ था। महात्मा गांधी द्वारा सत्य-अहिंसा के सिद्धांत को राजनीति में प्रयुक्त कराने का श्रेय भी अन्तर्ज्ञान को ही है। कालिदास के काव्य की रचना बिना अन्तर्ज्ञान के सम्भव न हो सकती और न अजन्ता के कलाकारों की मूर्तियां बिना अन्त चेतना की प्रेरणा से निर्मित हुई होतीं। बैजू बावरे और तानसेन की वाणी भी अन्त प्रेरणा के बिना शाश्वत संगीत में मुखरित न हुई होती। परन्तु ये समस्त उपलब्धियां एवं कृतियां रहस्यवाद की कोटि में नहीं आतीं।

रहस्यवाद के लिए अन्तर्ज्ञान के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार आवश्यक है इसी कारण धर्म रहस्यवाद के अधिक समीप है, दर्शन (फिलासफी) कम। धर्म परमात्मा-विषयक है परन्तु वह अन्तर्ज्ञान को साक्षात्कार के लिए अनिवार्य नहीं मानता। धर्म के लिए परमात्मा-विषयक तर्कपूर्ण दार्शनिक विचार भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना अन्तर्ज्ञान द्वारा साक्षात्कार। धर्म का एक दूसरा उद्देश्य मोक्ष या स्वर्ग भी माना जाता है। परन्तु रहस्यवाद में स्वयं परमात्मा ही आदि है और परमात्मा ही अन्त। उसमें दिव्य योनि, सुख-योग, स्वर्ग आदि साध्य नहीं हो सकते। साध्य तो केवल परमात्मा का साक्षात्कार तथा उसका शांत-निश्चल आस्वादन है। यदि धर्म में भक्ति-पक्ष पर विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि धर्म का साध्य तथा विषय रहस्यवाद के बिल्कुल निकट है। तथा परमात्मा का ही ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यह ज्ञान कोरा शाब्दिक ज्ञान नहीं होता

अत यह स्पष्ट हो जाता है कि सच्चा भक्त रहस्यवादी हो हो सकता है। यों तो भक्ति बिना रहस्यवाद के भी कुछ अंशों में सम्भव है। इस प्रकार भक्ति-साहित्य को हम रहस्यवादी साहित्य के अन्तर्गत ले सकते हैं जहाँ वह हमें रहस्यवाद का अर्थ सिद्ध करता दिखायी दे।

यहाँ हम यह उल्लेख कर देना चाहेंगे कि हिन्दी के गण्यमान्य विद्वानों का मत प्रत्येक रहस्यवादी को भक्त मानने का नहीं रहा है। तथा कतिपय ने केवल निर्गुण भक्तों को ही रहस्यवादी माना है। प्रोफेसर रानाडे के अनुसार, रहस्यवादी भक्त तो होगा ही रहस्यवाद की फलमयता ही भक्ति में है। गुरुदेव के मत में भक्त भी रहस्यवादी हो सकते हैं। 'सीय राम मय सब जग जानी' की घोषणा करने वाले भक्त तुलसी को रहस्यवादी न मानना रहस्यवाद के व्यापक क्षेत्र को संकुचित कर देना है।

किसी भी विषय का अध्ययन उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम के रूप में किया जा सकता है और उसी विषय का अध्ययन उसके भावनात्मक विकास-क्रम में हो सकता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में रहस्यवाद का अध्ययन ऐतिहासिक क्रम में न करके उसके सोपान विकास के रूप में किया गया है। ऐतिहासिकता केवल प्राचीन परम्परा परिच्छेद के अध्ययन में दिखाई पड़ती है, परन्तु वहाँ भी प्रत्येक आवान्तर प्रकरण में, रहस्यवादी किस प्रकार एक भावभूमि से दूसरी को प्रस्थान करता है और पहुँचता है, पर अधिक ध्यान दिया गया है। वेदों में उद्‌गार उपनिषदों के मंत्र तथा गीता के श्लोकों में किस प्रकार मनुष्य एक तर्कबुद्धि-युक्त द्विपद प्राणि मात्र से 'अहम् ब्रह्मास्मि 'तथा' सर्वं खल्विद ब्रह्म' की अनुभूति करने वाला रहस्यवादी बन जाता है। इस प्रगति का कोई एक ही क्रम या निश्चित सिद्धान्त नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी साधारणतया सभी के लिए कुछ आवश्यक उपकरणों के द्वारा ही उस स्थिति तक पहुँचना मान्य है। उन्हीं का अध्ययन इस प्रबन्ध में किया गया है। कुछ को सिद्धि इस सोपान के प्रत्येक ओटे में चढ़े बिना भी सम्भव हो सकती है, कुछ भाग्यशाली ऊँची कूद लगाकर भी शिखर पर पहुँच सकते हैं, पर यहाँ अध्ययन उस राजमार्ग का ही किया गया है जिस पर चल कर ही अनेकानेक मनुष्यों ने संत भक्त बन कर सिद्धि प्राप्त की है और आत्म साक्षात्कार में सफल हुए हैं।

सत्संग, गुरु, नाम स्मरण, भक्ति, योग ज्ञान, किस क्रम में किस साधक को आत्म-साक्षात्कार की स्थिति तक पहुँचाते हैं, निश्चित नहीं किया जा सकता। फिर भी इनमें से अधिकांश की आवश्यकता तथा अनुभव प्रत्येक साधक को होता ही है। सभी संत भक्त कवियों की वाणियों से प्रत्येक विषय पर उद्‌गार यहाँ पर विवेचित नहीं हुए हैं। किसी का किसी विषय पर उद्‌गार तथा दूसरे का दूसरे विषय पर संकलित किया गया है। इस चयन में भी कितनी सफलता केवल उत्तम चुनने में मिली है, विद्वान् पाठक ही जान सकते हैं। संत-वचनामृत रूपी अथाह समुद्र में जहाँ रत्न ही भरे हों, जो भी गोता खोर के हाथ लग जाय वह तो रत्न ही होगा, यही संबल इस लेखक को भी है। संतोष केवल यह है कि 'महिमह रघुपति नाम उदारा। उल्टे-सीधे आगे-पीछे सभी वर्ण्य विषय ईश्वर-विषयक हैं और इसीलिए कल्याणकारी हैं।

लेखक प्रोफेसर आर०एन०कौल, इलाहाबाद विश्वविद्यालय का अत्यन्त कृतज्ञ है जिनके निरीक्षण में यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत हो सका तथा जो निरन्तर प्रेरणा के स्रोत बने रहे हैं। श्री शिवशंकर राय, दर्शन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, लेखक के गुरुभाई हैं जो अपने सहज स्नेह से उत्साहित करते रहे हैं, धन्यवाद के पात्र हैं। अपने सहपाठी तथा अभिन्न मित्र प्रोफेसर रामचरण मेहरोत्रा डीन विज्ञान विभाग तथा अध्यक्ष रसायन विभाग जयपुर विश्वविद्यालय का लेखक चिर आभारी है। अति व्यस्त राजनैतिक जीवन के कारण दस वर्ष की लम्बी सुषुप्ति के बाद फिर से कार्य आरम्भ तथा पूर्ण कराने का समस्त श्रेय मेहरोत्रा को ही है। डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित के प्रति लेखक आभार प्रकट करता है। पुस्तकें उपलब्ध कराकर उन्होंने जो सहायता की है साथ ही कार्य के पूर्ण होने की आशा को अक्षुण्ण बनाये रखकर प्रोत्साहित किया है वह कभी भुलाया नहीं जा सकता है। विद्वद्वर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पुस्तक की भूमिका प्रस्तुत करने में अपना बहुमूल्य समय देकर लेखक को चिर कृतज्ञ बना दिया है।

अंत में लेखक अपने छोटे भाई डा० देवीशंकर अवस्थी के प्रति स्नेह भीनी अश्रु-अन्जलि समर्पित करता है। उन्होंने इस प्रबन्ध के प्रकाशनार्थ बहुत दौड़ धूप की परन्तु दुर्भाग्य कि वे इसे पुस्तकाकार न देख सके। दैव ने पिछली १३ जनवरी को असमय में ही उन्हें हमसे छीन लिया।

लेखक उन सभी लेखकों एवं ग्रन्थकारों का अनुगृहीत है जिन्होंने प्रत्यक्ष किसी भी रूप में लेखक के विचारों विषयवस्तु अथवा भाषा को प्रभावित किया है।

अति अपार जे सरितवर जो नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं॥

आषाढ़ी पूर्णिमा
संवत् २०२३

कृपाकांक्षी
रामनारायण पाण्डे

प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तम् मतिमान्द्यदोषात्।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाध्याय विशोधयन्तु ॥

•

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥

—गोस्वामी तुलसीदास

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

बाह्य अभेद—तत्त्वज्ञ अथवा सर्वात्मदर्शी तत्त्वज्ञ की निर्लिप्तता—आत्मा का स्वरूप-वर्णन, सर्वात्म-दर्शन—भूमा—सर्वंखल्विद ब्रह्म—अतितिष्ठति दशा गुलम् शब्द ब्रह्म ओंकार ज्ञान व अज्ञान दोनो से परे—साक्षात्कार की स्थितियों का क्रमिक विकास—परमात्मा की कृपा से तल्लय ।

गीता

विषय-परिस्थिति मे हतबुद्धि शिष्य एव साधक (अर्जुन) का आध्यात्मिक गुरु की शरण मे जाना—पूर्ण आत्मसमर्पण—साक्षात्कार के लिए आकाक्षा—गुरु कृष्ण के द्वारा शिष्य की दिव्यदृष्टि-सम्पन्नता—विश्वरूप का दर्शन—विराट् स्वरूप की करालता—सहारक—रूप - द्रष्टा का सम्मिलित्व—रहस्यमय के प्रति भय-मिश्रित आश्चर्य की भावना—जीव का अकर्तृत्व—स्वरूप-दर्शन केवल ईश्वर-कृपा से सभव—निःसग निर्वैर—ईश्वरपरायण भक्त समर्थ—अभ्यास, ज्ञान, योग, श्रद्धा, निष्काम कर्म करनेवाला साक्षात्कार करने मे समर्थ ।

भागवत

रहस्यवादियो एव उनके भावोद्गारो का भडार रहस्यवादी चिन्तन के विकास की प्रतिनिधि-स्वरूप ध्रुव प्रह्लाद, उद्धव, कुब्जा, गजराज (पशु-जगत् मे) सुदामा, अजामिल, ऋषभदेव, दत्तात्रेय, शुकदेव, रहस्यवादी जिन्होने भगवान् का साक्षात्कार किया—श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी, कृष्ण-गोपी प्रेम परम रहस्यवादी, मिथ्यारोप निरर्थक साक्षात्कार-जन्य प्रेम—कविप्रौढोक्तियाँ तर्क का विषय नही—भागवत के पात्रो तथा आख्यानो का हिन्दी सत-कवियो द्वारा प्रौढोक्तियो की भाँति प्रयोग ऐतिहासिक सत्यता का ध्यान नही—सत्यता सर्वग्राह्य—सस्कृत तथा हिन्दी साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव ।

भक्तिसूत्र

भक्ति-तत्त्व का सूत्र-रूप मे प्रतिपादन—परवर्ती भक्ति साहित्य को जोड़ने वाली कड़ी—शाडिल्य-भक्ति-सूत्र पूर्ववर्ती अधिक दार्शनिक—नारद-भक्ति-सूत्र परवर्ती सरल अभिव्यजना—प्रखर भक्ति—अधिक महत्त्वपूर्ण ।

नारद-भक्तिसूत्र

भक्ति के लक्षणो के विषय मे आचार्यों के मत—महर्षि नारद का मत—प्रेमा भक्ति ही मुख्य—भक्ति-प्राप्ति के बाद की स्थिति—मत्त, स्तब्ध, आत्माराम—भक्ति के साधन—विषय-त्याग, भगवद्गुण-श्रवण-कीर्तन, सत्सग, भगवत्कृपा—भगवत्प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय गूँगे को स्वाद की भाँति—प्रेम विभोरता भक्त के लक्षण—विषयो का त्याग, सदाचारो का पालन, पूर्ण आत्मसमर्पण—तन्मयता—रहस्यवाद की मूल भित्ति ।

तृतीय परिच्छेद

माया शब्द का प्रयोग वैदिक काल से—अविद्या ग्रंथि की भाँति—पौरुष की विरोधी—अलौकिक शक्ति भ्रम रूप—माया के द्वारा कठपुतली की भाँति प्राणियों का नृत्य—जीवन—अद्भुत कौशल—इन्द्रजाल, जादू, कपट संसार की उत्पत्ति में शक्ति रूप—माया के अध्यास द्वारा संसार की प्रतीति—जैन कषाय—इन्द्रियों का जो कुछ विषय वह मिथ्या और माया—माया की स्वतः सिद्धि, सृष्टि भी माया—सदासदभ्यामनिर्वाच्य मिथ्याभूता सनातनी—माया और अविद्या में भेद—हिन्दी भक्तों व सन्तों में उपर्युक्त धारणाओं की आवृत्ति—छल—इन्द्रजाल—भ्रम—क्षणिक अपक्षतया दीर्घकालिक—मैं मेरा तू तेरा सब माया, सब दृश्य, इन्द्रिय गोचर—माया दो रूप की जीवगत तथा सृष्टिगत—परमात्मा की वशवर्तिनी—माया के कारण ही—ब्रह्म-रूप होता हुआ भी जीव बद्ध—परमात्मा के दरबार की नर्तकी—माया वेश्या, नटी, दासी—फिर भी मिथ्या—परमात्मा से भयभीत—ईश्वर सदा से ही—माया का अस्तित्व कर्तृत्व—परम पुरुष का 'हाम' आवरण की भाँति—छाया की भाँति—ठगिनी मोहिनी—सर्पिनी—मिश्री की धुरी की भाँति—माया सूत्रधार की भाँति—माया का सचालक एवं नियन्ता भगवान्—रमा विलास—परमात्मा के नाम के अतिरिक्त सब माया—ब्रह्म और जीव के बीच—धन-सम्पत्ति से अनुराग—पुत्र, कलत्र, शरीर, यौवन, एषणात्रय—मोह, क्रोध, लोभ—मानस रोग—शरीर रूपी गढ में ममता-माया आदि अगणित लुटेरे—माया की चक्की, माया के अंग मोह, तृष्णा, काम आदि—तृष्णा की अपरिमिति—आशा की दुर्निवृत्तिता—विषय, कंचन, कामिनी—नारी का वासनामय रूप—काम की महत्ता तथा उसमें उन्नयन की भावना का साहित्य पर प्रभाव—विष्णु, माया, माया-कटक—रमैया की दुलहिन—माया ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी मोहित करने वाली—विषय—सुर, नरस मुनि, त्रिदेव सब पर शासन करनेवाली—साधु की पदगत धूल—परमात्मा के संकेत पर जगत का पालन, सृजन तथा संहारक माँ—माया से निस्तार, परमात्मा की कृपा से विज्ञान दीप—जादूगर की पुतली की भाँति मिथ्या—योग मिथ्या साधना—मिथ्या पूजन—बाह्याडम्बरों की निःसारता—बलि, हिंसा—वेष—अनिर्वचनीय, संसार में सर्वत्र माया का ही प्रसार।

चतुर्थ परिच्छेद

सामान्य जीवन से अध्यात्म की ओर उन्मुख कराने वाले कारण—जरा, रोग, मृत्यु के दृश्य—घनिष्ट आत्मीय से प्रेरणा—धनहीनता, आलस्य, क्रोध, विचार, भौतिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता—विषयों की निःसारता, लौकिक प्रेम की मिथ्या-

वादिता—व्यक्ति की योग्यता, पात्र-कोटि-भेद—परिस्थितियाँ—निमित्त कारण, उपादान कारण—यौवन से जरा—जरा की व्याधियाँ, असमर्थताएँ—इन्द्रियों की शिथिलता, शरीर—मल मूत्र का भडार मात्र—कीटों का भोज्य अथवा भस्म होना शरीर की क्षणभगुरता व निःसारता—मृत्यु के पश्चात् घर से निष्कासन—आत्मयी-जनों की आसक्ति—स्वार्थ-मात्र, नदी-नाव-सयोग की भाँति—धन सम्पत्ति आदि भौतिक विषयों व साधनों की क्षणभगुरता तथा व्यर्थता—ससार, मिथ्या आकर्षण का केन्द्र—गर्भवास की कष्ट-कल्पना—विभिन्न योनियों में पुनर्जन्म-भ्रमण—शरीर से ही भजन सभव—स्वर्ग-नरक मुक्ति-सोपान—समय का भगवान् में सदुपयोग।

सत्संग

सत शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ—विद्वानों के मत—सतों के लक्षण—हरिचर्चा या एकान्त—निष्कपट बाहर भीतर एक-निःशंक—वैराग्य, षट्विकार-जित्—नम्रता, दीनता—निरहकार मुखी—शूरवीर—निर्लिप्त—मलयवत्, दर्पणवत्, कथा सुधा निकालने के लिए देवता—(निमित कारण) अधम-उधारन—परोपकारी—कपास की भाँति—भोजपत्र की भाँति—गुणग्राही—असन्तों के लक्षण व उनसे तुलना—पारस मणि—अनुभव वक्ता—सतों की रहनी—सतों की न्यूनता—सतों के कारण सृष्टि—सत व भगवान् का सम्बन्ध—सत्सगति का आनन्द—समस्त सुकृत केवल सत्सग की दलाली मात्र—सत्सग सर्वश्रेष्ठ लाभ—सत्सग समान कोई लाभ नहीं—क्लेश-शमनकर्ता—शरीर रहते चारों फल देने वाला—काग को कोयल, बक को हस बनाने वाला—पूर्ववर्ती सतों की साक्षी—सत्सग के बिना हरिभक्ति असभव, हरिकथा-श्रवण, हरिपद-अनुराग के बिना ईश्वर-प्राप्ति असभव—हरिकृपा के बिना सत्सग असम्भव—पुण्य-पुज बिना सत्सग असम्भव—मोक्ष का हेतु—लोह से सुवर्ण बनानेवाला—सत्सग ही सिद्धि—सत्सग के एक क्षण का सुख स्वर्ग तथा मोक्ष सुख से भी अधिक—सत-मिलन का सुख अनिर्वचनीय—सतों की मन सक्रियता।

पंचम परिच्छेद

गुरु १२८-१७८

प्राचीन परम्परा—गुरु-शिष्य की मान्यताएँ—विद्या-दान की मर्यादा—शिष्य की योग्यता—कल्याण-मित्र, मार्ग-दर्शक—गुरु सर्वज्ञ—उपाय-कुशल—गुरु गोविन्द की तुलना—महिमा अनन्त—गुरु गोविन्द एक—इस विषम ससार में मार्गदर्शक—गुरु मिलन-आनन्द अनिर्वचनीय—भृगी की भाँति—गगा की भाँति—अप्राप्य का सुलभ कर्ता—मध्यस्थ—दूती—कुम्भकार की भाँति शिष्य को स्वरूप देने वाला—झूठे गुरु शिष्य का सम्बन्ध—सद्गुरु का लक्षण—गुरु-गुण अनन्त—सगुरा, निगुरा—सद्गुरु—कर्णधार—गुरु-पद-रज-माहात्म्य-वर्णन—गुरु बिन भवनिधि-तरण असम्भव—गुरु-प्राप्ति जीवन की एक विशेष घटना।

षष्ठ परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

श्वासोश्वास जप—नाम दीपक ज्योति—ईश्वर का प्रतीक—नाम अमल दिनोदिन बढ़ने वाला—बिना खाये ही प्रभावित करने वाला—गूँगे के गुड़ की भाँति—अनिर्वचनीय—नाम रूप में तुलसी द्वारा तुलना—नाम, नामी प्रभु, अनुगामी—निर्गुण तथा सगुण से श्रेष्ठ—सगुण राम से श्रेष्ठ—चतुर दुभाषिया—हठात् वश में करने वाला—ब्रह्म को हृदय में ही व्यक्त कराने वाला—नाम की अवतार-रूप से श्रेष्ठता—कलियुग में अकेला साधन—भक्ति-रूपी धान की खेती के लिए सावन-भादो मास—भाँग जैसे को तुलसी बनाने वाला—उलटा जप भी शुद्धकर्ता—शिव, शुक, सनकादि, प्रह्लाद, ध्रुव, हनुमान, अजामिल, गज, गणिका आदि की साक्ष्य—योगी, जिज्ञासु साधक, ज्ञानी सब की सिद्धि—कामवेनु, कामतरु, कामधेनु—राम न सकहि नाम गुण गाई—अनिर्वचनीय—राम के अक्षर सब वर्णों में श्रेष्ठ—छत्र मुकुट की भाँति—ब्रह्म, जीव—नर, नारायण—कमठ, शेष—किसी भी प्रकार का नाम जप श्रेष्ठ—भाव, कुभाव, अनख, आलस, उलटा, धोखे से केवल एक बार—सब सुकृतों से श्रेष्ठ—राम नाम में ही जगना व सोना—जीवन के समस्त कार्यों में नाम।

अष्टम परिच्छेद

भक्ति, ज्ञान, योग—भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति, भक्ति का उद्भव व विकास—विद्वानों के मत—वेदों में भक्ति-भावना का अभाव—निर्मूल—उपनिषदों में भक्ति शब्द का प्रयोग तथा भक्ति-भावना का प्राचुर्य—भागवत का भक्ति-तत्त्व—शिव-पुराण, विष्णुपुराण आदि, गीता की भक्ति—भक्ति सूत्र—शाण्डिल्य—नारद—विद्वानों द्वारा प्रस्तुत भक्ति निरूपण—वैष्णव तंत्र आदि—तुलसी की भक्ति—ज्ञान और भक्ति का अन्तर—भक्ति सहज, सुगम, सुखद—तुलसी की नवधा भक्ति—भक्ति की फलमयता—आदर्श भक्त भरत—भक्त भगवान् से भी बढ़कर—तुलसी के माता-पिता, पत्नी सुत आदि सर्वस्व राम—भावनानुरूप भगवद् दर्शन—अवतार ग्रहण—कथा-वर्णन का कारण—भक्ति—स्वान्तःसुखाय—अन्य कारण—मुक्ति भी भक्ति की अनुगामिनी—तुलसी का भक्तिमणिज्ञान दीप—कबीर ज्ञान-भक्ति-योग का समन्वय नारदीय भक्ति—भक्ति का ही बुनना—भक्त के लक्षण—जीवात्मा—भक्त भगवान् का सम्बन्ध—जननी, पति, मित्र, सहायक—काम, प्रेम का सह-अस्तित्व असम्भव—प्रेम में आत्म बलिदान—किसी भी तीव्र मनोवेग से मुक्ति सम्भव—सारूप्य—सायुज्य—विरह—विरह की तड़पन—सूफियाना ढंग—पूर्ण समर्पण—भक्त से भगवान्—भगवान् ही सब कुछ—रैदास की प्रेम भक्ति—अह-पर भाव में निवृत्ति ही मुक्ति—मीराबाई का स्मरण, कीर्तन, चरण-वन्दन—माधुर्य भाव—विरह—योग का पुट—ज्ञान तथा योग की परिणति भक्ति में—सूरदास की आर्त्त कोटि की प्रपत्ति ही विशेष—दादू की भक्ति का बुनना—ज्ञान,

नवम परिच्छेद

संकेत-तालिका

ऋग्वेद	ऋ० वे०, ऋ०
ईशावास्योपनिषद	ई०
कठोपनिषद	कठो०, क०
कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	ह० प्र० क० व० ह० प्र०
कबीर ग्रथावली ना० प्र० स० सावर	क० ग्र०
केनोपनिषद	केनो०, केनोप०
छान्दोग्योपनिषद	छा दो० छा०
तुलसी ग्रथावली	तु० ग्र०
तुलसी रामायण रामचरित मानस	तु० रा०
तैत्तिरीयोपनिषद्	तैत्तिरीयो० तै० उ०
देवी भागवत	दे० भा०
नारद भक्ति सूत्र	ना० भ० सू०
नारद पुराण	ना० पु०
पद्म पुराण	पद्म० पु०
बृहदारण्यक उपनिषद	बृ०, बृहदा
ब्रह्म सूत्र	ब्र० सू०
भगवत्-गीता	गी०
भागवत	भा०
भोजवृत्ति योगसूत्र पर	भो० वृ०
महाभारत	म० भा०
मनुस्मृति	मनु०
मीराबाई की पदावली	मी० प०
मुण्डकोपनिषद	मुण्डको०, मु०
माण्डूक्योपनिषद	माण्डूक्यो०, मा०
यजुर्वेद	यजु० वे०
रहीम-रत्नावली	रहीम
शांकरभाष्य	शा० भा०
शिव पुराण	शि० पु०
श्वेताश्वतर उपनिषद	श्वे०
स्कन्द पुराण	स्क० पु०

'सत वाणी सग्रह   सा॰ वा॰ सा॰
भाग १ व २,.वेल्विडियर प्रेस)
Das Gupta History of Indian Philosophy vol I, II & III   S. N D
Mysticism in Maharastra   M M

प्रथम परिच्छेद

रहस्यवाद की परिभाषा

मानव मस्तिष्क सदैव से चिन्तनशील रहा है। अपनी विचारशक्ति के कारण ही मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। उदरपूर्ति, आत्मरक्षा एवं प्रजनन प्राणीमात्र की मूल प्रवृत्तियाँ है[1] परन्तु इन प्रवृत्तियों की पूर्तिमात्र मानव को सन्तुष्ट नही रख सकी, वह इन सब के अतिरिक्त भी कुछ जानना तथा समझना चाहता है। इस जिज्ञासा मे ही उसके द्वारा अर्जित समस्त ज्ञान विज्ञान का मूल स्रोत निहित है। आदि काल से ही मानव प्रकृति के विभिन्न उपकरणों, उसके क्रिया कलापो का अवलोकन करता चला आ रहा है। तपता हुआ प्रचण्ड सूर्य, सनसनाती हुई वायु बरसने वाले श्यामल मेघ, गरजते हुए घनघोर बादल, दमकती हुई बिजली, ठिठुराने वाला तुषार, अकुरित होते बीज तथा जन्म लेते जीवो आदि की रहस्यमयता ने उसके ध्यान को आकर्षित किया। प्रकृति के इन कौतूहलपूर्ण व्यापारो को देखकर उसके मन मे सहज ही आश्चर्य, जिज्ञासा और कुतूहल का जन्म हुआ। ये मेघ किसकी आज्ञा से समय पर आकाश मे छा जाते है, वायु किसके आदेश से प्रभजन का रूप धारण कर पुन शान्त हो जाता है, सूर्य और चन्द्र किसकी योजना से समय पर उदय-अस्त होते रहते है, ऋतुओ के परिवर्तन और पुनरागमन के पीछे किस अज्ञात शक्ति का हाथ है—ये प्रश्न सदैव से मनुष्य मे रहस्य के प्रति जिज्ञासा की भावना का सर्जन करते रहे हैं। इन्ही रहस्यो की अनुभूति या दर्शन के लिए मनुष्य 'युग-युग से प्रयत्नशील' रहा है। उसने बाह्य जगत् का अवलोकन किया, अन्तर्जगत् मे जिज्ञासापूर्ण सरस कल्पना की और सत्य की खोज मे निरन्तर रत रहा।

मनुष्य विचारवान् प्राणी तो है ही, वह ईश्वरप्रदत्त तर्क-बुद्धि से भी सम्पन्न है। अज्ञात को जानने के लिए मनुष्य ने अपनी इसी तर्क बुद्धि का अवलम्ब ग्रहण किया। यो तो तर्क का मार्ग दो भागो मे विभक्त हुआ—प्रथम समष्टि से व्यष्टि की ओर, दूसरा व्यष्टि से समष्टि की ओर। परन्तु यथार्थ मे ये दोनो मार्ग पृथक्-पृथक् नही हैं। दोनों का एक ही लक्ष्य है—सत्य तक ले जाना। इन मार्गों से पहुँच कर सत्य की प्राप्ति को ही मनीषियो ने दर्शन (Philosophy) नाम दिया है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि तर्क के द्वारा सत्य का बौद्धिक ग्रहण ही दर्शन है। समस्त विज्ञानो का अध्ययन भी इसी कोटि मे आता है।

---

१. आहार निद्रा-भय मैथुन च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ॥

मानव मस्तिष्क को सत्य के बौद्धिक पक्ष से भी पूर्ण आत्मतुष्टि प्राप्त नही हुई। वह निरन्तर चिन्तन करता रहा। तर्क-बुद्धि-जनित निष्कर्षों से वह तादात्म्य नही स्थापित कर सकता और उसके बिना उसे पूर्ण तुष्टि सभव नही। इसीलिए परमात्मा या सत्य के साथ तादात्म्य अथवा व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने का निरन्तर प्रयत्न चलता रहा। तर्क से ऊपर उठकर उसने उस रहस्यात्मक सत्ता के साथ अपना भावनागत सम्बन्ध स्थापित किया। फलस्वरूप हमारे पूर्वज ऋषियो को सत्य का पराबौद्धिक (Supra-intellectual) प्रत्यक्ष हुआ। जिनमे जितनी सामर्थ्य तथा योग्यता थी, उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न कोटि का रहस्यात्मक प्रत्यक्ष उन्हे हुआ। सम्भव है, यह प्रत्यक्ष सब ऋषियो को समान रूप मे ही हुआ हो परन्तु सभी मनीषियों ने उसको पृथक् पृथक् शैली मे विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। सत्य के प्रत्यक्ष की कोटि, साधक की रुचि तथा भाषा पर अधिकार ही वर्ण्य-भेद के मुख्य कारण कहे जा सकते है। ज्ञान और अनुभव के विशाल महासागर मे से जिसको जो अश अधिक आकर्षक प्रतीत हुआ उसने उसको ही अपना वर्ण्य विषय बनाया।

सत्य की प्रत्यक्षानुभूति किसी काल अथवा देश विशेष की सीमा मे सीमित नही है। सभी देशो और सभी कालों मे विद्वद्जनो ने सत्य के रूप का साक्षात्कार किया है। प्रत्यक्ष-जन्य वह आनन्दानुभव उनकी वाणी से स्वत प्रस्फुटित हुआ अथवा यो कहिए कि बिना वर्णन किए वे रह ही नही सके। वह साक्षात्कार सामान्यज्ञान से नितान्त भिन्न तो था ही, साथ ही अवर्णनीय भी था। वह जल से आप्लावित उस वेगवती सरिता के समान था जिसका आवेग भाषा के दुकूलो मे बद्ध होकर नही रह सका। वह अनुभवगम्य अधिक था, शब्दगम्य कम। अज्ञात, अनन्त, असीम शक्ति की जो प्रत्यक्षानुभूति विद्वानो का हुई और चिन्तन तथा मनन के पश्चात्, जिसको उन्होने जन समाज के सम्मुख व्यक्त करने का प्रयास किया वही कालानुक्रम से 'रहस्यवाद' के नाम से अभिहित हुई। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि सत्य का ज्ञान दर्शन है तथा सत्य का प्रत्यक्ष रहस्यवाद।

तत्त्व के साथ मनुष्य के एकान्तिक, व्यक्तिगत तथा स्पष्ट प्रत्यक्ष का द्योतक रहस्य-वाद है। विषयी और विषय मे अभेद हो जाना है। विषयो का ज्ञान इतने निकट से होता है कि विषय तद्रूप ही हो जाता है। साधारण ज्ञान मे इन्द्रियो का विषयों के साथ सम्पर्क मन या बुद्धि के माध्यम द्वारा होता है। उदाहरण के लिए शर्करा के माधुर्य को ले सकते है। *जिह्वा और शर्करा का सम्पर्क होकर जब वह बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है तभी* शर्करा की मधुरता का अनुभव होता है। साधारण ज्ञान के विपरीत रहस्यात्मक ज्ञान में साधारण विषयो को ग्रहण करने वाली बुद्धि और विषयेन्द्रियाँ दोनों ही भाग नही लेती है। बुद्धि और इन्द्रियाँ दोनो से ही परे वह अन्य प्रकार का ज्ञान होता है। वह ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता को सम्पूर्ण रूप से ओत-प्रोत कर देता है। स्वय ज्ञाता उस अवधि के लिए ज्ञानस्वरूप ही हो जाता है। यद्यपि रहस्यवाद की प्रत्यक्ष अनुभूति का वर्णन हमारे सम्मुख वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल के अनेक विद्वानो द्वारा प्रस्तुत हुआ है परन्तु वास्तव मे यह प्रत्यक्षानुभूति वाणी से परे की वस्तु है। उपनिषद् मे कहा गया है 'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। इसी प्रकार सन्त तुलसी ने भी कहा है 'केशव कहि न जाय का कहिये।

देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिये।'[1] भक्त-प्रवर तुलसीदास ने सत्य के स्वरूप का साक्षात्कार किया था, उसके असीम आनन्द का अनुभव किया था, परन्तु उस अनुभूत स्वरूप और आनन्द को यथावत् व्यंजित करने मे वे भी सफल न हो सके। तभी तो उनके मुख से उपर्युक्त पद निःसृत हुआ। उनकी प्रतिभावान् समर्थ भाषा भी जिस पर उनका पूर्णाधिकार था, सत्य के उस स्वरूप का वर्णन करने मे समर्थ न हो सकी।[2]

रहस्यात्मक ज्ञान तथा उस ज्ञान का विषय दोनो ही इस प्रकार के हैं कि उनका साक्षात्कार करने वाला द्रष्टा अपने अनुभव को गूँगे के गुड की भाँति न तो व्यक्त ही कर पाता है और न किसी ज्ञात वस्तु से उस ज्ञेय की सजातीयता स्थापित करके भाषा के माध्यम से उसका वर्णन करने मे ही समर्थ होता है। वह ज्ञान और उसका विषय यदि सर्वसाधारण की कोटि का होता तो उसके व्यक्त करने के लिए शब्द होते। भाषा मे भी यदि पूर्णतया नही तो उसके समकक्ष अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति अवश्य होती।

वाणी के अभाव मे मूक व्यक्ति गुड की मधुरता के आस्वादन-सुख को दूसरो पर व्यक्त करने मे समर्थ नही होता। उसका सुख केवल अनुभवगम्य होता है। यदि वह किसी प्रकार अपने आनन्दानुभव को व्यक्त करता भी है तो केवल भाव-सकेतो तथा आंगिक-चेष्टाओ के द्वारा। ठीक यही दशा रहस्यवादी की है। वह परमात्मा के साथ दिव्य सयोग की आनन्दानुभूति को सीधे, सरल, स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त करने मे समर्थ नही होता। अन्तत वह सकेतमयी गूढ भाषा का सहारा लेता है। यही कारण है कि रहस्यवादी की भाषा अधिकाशत सकेतमयी तथा अस्पष्ट होती है। केवल उसकी भाषा ही नही उसकी रहनी भी सामान्यजनो की रहनी से भिन्न दृष्टिगत होती है।

रहस्यवादी के रहस्यात्मक भावो को वहन करने वाली सकेतमयी भाषा जनसाधारण के लिए सहज ग्राह्य नही होती, परन्तु भावसाम्य के कारण वही भाषा अन्य रहस्यवादी के लिए अपेक्षत अधिक सरल तथा सुबोध होती है। रहस्यमयी साकेतिक भाषा मे बोलने वाले रहस्यवादी तथा उसको सुनकर समझने वाले रहस्यवादी दोनो को ही प्रत्यक्ष अनुभव समान प्रकार का होता है। एक उसके वर्णन मे अपनी वाणी को नियोजित करता है परन्तु पूर्णतया व्यक्त नही कर पाता। दूसरा वक्ता के ही समान अनुभवकर्ता होने तथा अपनी भी वाणी की असमर्थता के कारण उस गूढ साकेतिक वर्णन को भलीभाँति समझ लेता है। 'सुवत अमीरस भरत ताल जहँ सबद उठे असमानी हो' इन पक्तियो मे साधारण व्यक्तियो के लिए कोई विशिष्ट अर्थ अथवा रस नही प्रतीत होता, परन्तु यही पक्तियाँ एक रहस्यवादी को आनन्दविभोर कर देने मे समर्थ है।

रहस्यवादी साहित्य के लिए नही गाता, किसी कवि की हैसियत मे नही कहता,

---

१. तुलसी ने अन्य स्थानों में भी इस भाव को व्यक्त किया है, यथा—
जो नहि देखा नहि सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवनि विधि जाइ॥ तु०रा०, पृ० ८३६

२. सो सुख जानइ मन अरु काना, नहिं रसना पहिं जाइ बखाना।
प्रभु सोभा सुख जानहि नयना, कहि किमि सकहि तिन्हहि नहि बयना॥ तु० रा०, पृ० ८४२

चित्रकार होने के कारण चित्र नही खींचता। जो कुछ भी रहस्यवादी के हृदय से निकलता है वह इस विचार से कि सत्य तत्त्व का, अनन्त शक्ति का सन्देश लोगो को किस प्रकार दिया जाय। अपने अनुभव या आनन्द वह सबमें बिखेर देना चाहता है। वह कोई स्वार्थी जीव नही है जो उस अलौकिक आनन्द का आस्वादन अपने तक ही सीमित रखे। उस आनन्दातिरेक की अभिव्यक्ति वह सामान्य भाषा के माध्यम से साधारण प्रयोग के द्वारा नही कर पाता। इसीलिए रहस्यवादियों की भाषा सामान्य भाषा से भिन्न होती है।

रहस्यात्मक प्रत्यक्ष शुष्क तर्क एवं दर्शन की वस्तु नही है। वह भावनाप्रधान मानव का पूर्ण प्रत्यक्ष अनुभव है। रहस्यवादी के हृदय में एक भावना एवं विचार प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है और वह भावना जीवन के अंग-प्रत्यंग में प्रकाशित होती रहती है। यही दिव्य संयोग होता है। आत्मा उस अनन्त दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है। 'ममत्व', 'परत्व' की भावना का विलीन होना ही रहस्यवाद का मुख्याधार है।

कबीर सदृश कुछ रहस्यवादियों ने केवल अपने ही प्रत्यक्ष अनुभव का प्रकाशन किया है तथा तुलसीदास सदृश कुछ मनीषियों ने अपने अनुभव के साथ ही अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के अनुभव की भी व्यंजना की है। यद्यपि सभी उस रहस्यमय के यथावत् वर्णन करने में अपने को अक्षम पाते है परन्तु सभी ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उसका वर्णन करने का प्रयास किया है।[1] वे रहस्यदर्शी उस परमतत्त्व के विषय में कहे बिना चुप क्यों न रह सके? उनके हृदय में उस दिव्य साक्षात्कार का आनन्द प्रवाह इतना तीव्रतम था कि वह वाणी के रूप में मानस से फूट निकला। वे अपनी परम सुखद अनुभूति को अपने तक ही सीमित न रख सके और स्वान्त सुखाय लोक के सामने उन्हें अपने भावों को व्यक्त करना ही पड़ा।

रहस्यवाद का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं विशाल है। वरन् यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि इसका क्षेत्र असीम है। जिसका सम्बन्ध सर्वरूप[2] अनन्त असीम, दिव्य सत्य से है, वह किसी प्रकार सीमित नही किया जा सकता। इसीलिये रहस्यवाद को परिभाषा की सीमा में बद्ध करना असम्भव-सा प्रतीत होता है। उस दिव्य शक्ति के वर्णन करने में अपने को असमर्थ पाकर ही वैदिक ऋषियों ने 'नेति-नेति' कहकर ही सतोष किया।

रहस्यानुभूति की ओर साधक को प्रेरित करने वाले अनेक तत्त्व, कारण और आधार हैं, इनमें से प्रमुख हैं

१ जिज्ञासा

---

१ सब जाने प्रभु प्रभुता सोई।
तदपि कहे बिनु रहा न कोई।—तु० रा०, पृ० ७१

२. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।—ऋ० वे० ६। ४७। १८
बृ० २। ५। १९

२ औत्सुक्य, (जीवन मृत्यु के प्रति)
३ दुःख की निवृत्ति, अनुभूति
४ आनन्द की उपलब्धि, अभिलाषा
५ वैराग्य के जन्मजात सस्कार, एव
६ धार्मिक ग्रन्थों का मनन, सत्सग आदि

आदिकाल मे मानव की रहस्यवादी भावना प्रधानतया जिज्ञासामूलक थी। तदनन्तर वैदिक काल मे ऋषियो की भावना का आधार दुःख की निवृत्ति एव आनन्द की उपलब्धि बनी। ऋषियो का अधिकाश जीवन दार्शनिक प्रश्नो को सुलझाने मे व्यतीत होता था। ब्रह्म, ईश्वर, प्रकृति, जीव, माया, स्वर्ग तथा शरीर के सम्बन्ध मे जानना ही उनके मुख्य विषय थे। जन कोलाहल से दूर आश्रमो मे उनका जीवन व्यतीत होता था, जहाँ दार्शनिक तत्त्व की खोज तथा उस पर विचार व मनन उनकी वार्ता के मुख्य विषय होते थे। उस काल के रहस्यवाद को दार्शनिक-आत्मिक (Philosophico-spiritual) रहस्यवाद कहा जा सकता है। मध्यकालीन रहस्यवादी भक्तो मे दुःख निवृत्ति तथा आनन्द प्राप्ति की भावना प्रमुख रही। उन्हें इस द्वन्द्वात्मक दुखमय जीवन से पृथक् रहकर उस सर्वात्मिक रहस्य से सम्बन्ध जोडना अभीष्ट रहा। वे साधारणतया लोक-कल्याण मे निरत आचार साम्य (Ethical) रहस्यवाद के पोषक रहे। आधुनिक काल मे अधिकाश रहस्यवादियो को उस दिव्य शक्ति के सौदर्य तत्त्व से प्रेरित होकर ही रहस्यानुभूति हुई। इनका उस रहस्य से सम्बन्ध व्यक्तिगत तथा भावनाप्रधान ही कहा जा सकता है और इस प्रकार यह मनोवैज्ञानिक रहस्यवाद की कोटि म आता है। उपर्युक्त विभाग केवल युगविशेष की सामान्य प्रवृत्ति के ही द्योतक कहे जा सकते हैं। प्रत्येक युग मे सभी प्रकार के रहस्यवादी हो सकते हैं केवल बहुमत के अनुसार ही किसी युगविशेष का नामकरण किया जाता है। अन्यथा कहना तो यह अधिक युक्तिसगत होगा कि प्रत्येक रहस्यवादी मे रहस्यानुभूति की ओर प्रेरित करने वाले एक से अधिक तत्त्व कारण अथवा आधार एक साथ विद्यमान रहते है।

जैसा कि हम देख चुके हैं रहस्यवादी का कथन जनसाधारण के कथन से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। इसी कारण लोग उसके कथनो और अभिव्यक्तियो को प्राय असगत एव असगल कहने लगते हैं। इसके अतिरिक्त रहस्यवाद के विषय म अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हैं। समझ से परे, बुद्धि की पहुँच से दूर, अस्पष्ट कथनो को भी रहस्यवाद की सज्ञा दे दी जाती है। जादू टोना से लेकर ईश्वर के साथ एकत्व, प्रत्यक्ष तक सभी कुछ रहस्यवाद कह दिया जाता है। 'Mysticism in India' नामक ग्रन्थ मे Rope-trick (रस्सी के खेल) को रहस्यवाद के अन्तर्गत रखना कितना असगत और आश्चर्यजनक है। जो कुछ भी साधारण इन्द्रिय, ज्ञान एव बुद्धि और तर्क के द्वारा समझ मे न आया वही रहस्यवाद का विषय हो गया। इस प्रकार रहस्यवाद एक बहुत अस्पष्ट भ्रामक अर्थ का द्योतक बन गया है। रहस्यवादियो के जीवनयापन का निराला ढग भी रहस्यवाद के वास्तविक अर्थ

को दुर्बोध तथा दुसद बनाने मे सहायक रहा। ये मिथ्या धारणाएँ रहस्यवाद के कलेवर को भले ही बढ़ा दें परन्तु वस्तुतः ये उसके रूप को विकृत करके उसके महत्त्व को घटाने वाली ही सिद्ध होती है। केवल अटपटे शब्द, अस्पष्ट भाव रहस्यवाद नही कहे जा सकते। विक्षिप्त का असंगत प्रलाप रहस्यवादी अभिव्यक्ति कहलाने के योग्य नही है। बालक भी अस्पष्ट शब्द कहता है परन्तु रहस्यवादी अन्त प्रेरणा से प्रेरित होकर नही। वास्तव मे रहस्यवाद का विषय बहुत ही उच्च तथा महान् है।

रहस्यवाद शब्द की उत्पत्ति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि इस शब्द का हिन्दी-साहित्य मे प्रयोग नितान्त आधुनिक है। यो तो रहस्यात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति मानव मे आदिकाल से ही विद्यमान है परन्तु पारिभाषिक अर्थ मे रहस्यवाद शब्द प्रयुक्त नही होता था। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या प्राचीन साहित्य मे रहस्यात्मक तत्त्व का अभाव था ? नही कदापि नहीं। प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य के अन्तर्गत हैं वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत, अन्य अनेक भक्ति तथा दर्शन के ग्रंथ जो रहस्यात्मक भावो, अनुभूतियो तथा अभिव्यक्तियो से परिपूर्ण है। तत्कालीन साहित्य में रहस्यवाद के उपकरण वर्तमान थे, उसका विषय विद्यमान था परन्तु उसका नामकरण न हुआ था। जिस समय साहित्य मे साहित्यिक प्रवृत्तियो का नामकरण हुआ तथा 'वादो' की बाढ आई उसी समय रहस्यवाद शब्द का जन्म हुआ। इस प्रकार रहस्यवाद शब्द का प्रयोग प्राचीन नही वरन् एकदम नवीन है।

रहस्यवाद सदिग्धात्मक दृष्टिकोणो का द्योतक कहा जा सकता है। पृथक्-पृथक् व्यक्तियो ने इसके पृथक्-पृथक् अर्थ लगाये, जैसे किसी ने इसमे ईश्वरीय प्रत्यक्ष समझा, किसी ने इसको योग से सम्बद्ध किया और किसी न इसको जादू टोना जतर-मन्तर के अन्तर्गत माना। परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ इस शब्द का अर्थ एव भाव भी बदलता रहा। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि यह किसी न किसी प्रकार के रहस्यविषयक भाव को ही व्यक्त करने मे प्रयुक्त हुआ।

रहस्यवाद की सदिग्धता का प्रमुख कारण उसका प्रतिपाद्य विषय है। ईश्वर अथवा सत्य के प्रत्यक्ष के पश्चात् उसके जिस स्वरूप को रहस्यवादी प्रकाश मे लाना चाहता है वह इतना विस्तृत एव सर्वव्यापक है कि उसका वर्णन समस्त रहस्यवादी समान रूप मे नही कर सके। प्रत्येक रहस्यवादी ने एक ही सत्य को पृथक्-पृथक् रूपो मे व्यजित किया। किसी ने सत्य के एक अश का वर्णन किया, किसी ने दूसरे अश का। तात्पर्य यह कि हर एक ने सत्य के किसी न किसी रूप, अश अथवा भाव की व्यजना अपने-अपने ढग से अलग-अलग शब्दो मे की। रहस्यवादियो के द्वारा परमात्म-प्रत्यक्ष का पृथक्-पृथक् ढग का वर्णन[1] पाँच अधो द्वारा हाथी के रूप-वर्णन की कहानी के सदृश ही है। पाँच अधो मे से किसी ने हाथी की सूँड को स्पर्श कर उसी को हाथी मान लिया, किसी ने पैर को, किसी ने उदर को, किसी ने

१. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि
यम मातरिश्वानमाहु । —ऋ० १। १६४। ४६

कान को, किसी ने दुम को छूकर उसको ही हाथी माना। यद्यपि इन पाँचो का कथन उपहासास्पद प्रतीत होता है फिर भी आंशिक रूप से वह सत्य अवश्य है। उनके द्वारा अंश को ही पूर्ण मानने से हाथी के वास्तविक रूप का बोध अवश्य नही हो सकता परन्तु उनका कथन मिथ्या भी नही कहा जा सकता। इसी भाँति ईश्वर अथवा सत्य के वर्णन मे विविधरूपता प्राप्त होती है। उस महान् के अन्तर्गत समस्त अल्प या अंश अन्तर्हित हो जाते है। उस महान् के जिस अंश का रहस्यवादी प्रत्यक्ष करता है उसी का पूर्ण की भाँति वर्णन करता है।

साधक अथवा ज्ञानी जिस समय प्रत्यक्ष करता है उस समय उसकी वृत्ति वर्णन करने की नही होती और जब वह अपने भाव व्यक्त करता है उस समय प्रत्यक्ष दर्शन की स्थिति नही रह जाती। वह स्वय अपनी पूर्वानुभूति पर मनन करके रहस्यात्मक भावो एव विचारो को शब्दबद्ध करता है। कबीर ने ठीक ही कहा है

> जो देखे सो कहइ नहिं, कहइ सो देखे नाहिं।
> सुनै सो समझावे नहिं, रसना दृग श्रुति काहि॥

इस प्रकार सत्य की रहस्यात्मक भाषाबद्ध व्यजना को रहस्यवाद सज्ञा प्रदान की गई। इन अभिव्यक्तियो को व्यजित करने वाला रहस्यवादी कहलाया।

आगे चलकर रहस्यवाद की विविध परिभाषाओ के सिलसिले मे हम देखेगे कि सर्व-प्रथम रहस्यवादी वह व्यक्ति है जो कि सत्य या परमात्मा के पराबौद्धिक प्रत्यक्ष मे ही विश्वास रखता है। कुछ लोगो ने भ्रमवश पराबौद्धिक प्रत्यक्ष को बुद्धयेतर ग्रहण किया है। बुद्धयेतर को मान्यता प्रदान करने से पराबौद्धिक के अतिरिक्त बुद्धिविहीन भी इस कोटि मे आ जाता है जो कि रहस्यवाद के लिए कदापि उपयुक्त नही। बुद्धिहीन कभी रहस्यवादी नही हो सकता। रहस्यवादी की बुद्धि सामान्य से प्रखर होती है और उत्तरोत्तर तीव्र होती जाती है। तभी तो वह सत्य के स्वरूप को ग्रहण करने मे समर्थ होता है। कुरुक्षेत्र मे प्रखर बुद्धि-सम्पन्न अर्जुन की बुद्धि को तीव्रतर करने के लिए, जिससे वे विराट रूप के दर्शन करने मे समर्थ हो सकें, भगवान कृष्ण ने उनको दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। साधारणतया सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति सरल सुगम विषयो को सहज ही ग्रहण कर लेता है परन्तु जटिल गम्भीर विषयो के ग्रहणार्थ अधिक कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता होती है फिर सत्य जैसी गूढ गम्भीर जटिल तथा महान वस्तु के ग्रहण के विषय मे तो कहना ही क्या।

रहस्यवादी के लिए तीव्र बुद्धि पर्याप्त नही है उसमे सत्य के लिए प्रबल जिज्ञासा का होना अत्यावश्यक है। एक सच्चे प्रेमी की भाँति रहस्यवादी के नेत्र ही नहीं, वरन् उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उस महान् के साक्षात्कार के लिए निरन्तर लालायित रहती हैं। उसकी समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ एक ही ज्ञेय तथा प्राप्तव्य सत्य की खोज मे लगी रहती हैं। इसीलिए रहस्यवादी शुष्क-हृदय दार्शनिक की भाँति केवल बुद्धि द्वारा उस स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने मे दत्तचित्त नही होता वरन् उस स्वरूप के सरस रसास्वादन मे निमग्न हो जाता है। वह अपने आस्वादन को कृपण के धन की भाँति अपने तक ही सीमित नहीं

रखता। वह उसे दोनो हाथों सम्पूर्ण मानवता तथा सृष्टि में बिखेर कर एक अभिनव आनन्द को प्राप्त करता है।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है रहस्यवादी असाधारण बुद्धि सम्पन्न तो होता ही है साथ ही उसकी भावुकता भी असाधारण होती है। परमात्मा अथवा सत्य के प्रति उसका प्रेम चरम सीमा पर पहुँचा हुआ होता है। एक क्षण भी वह प्रिय से पृथक् रहना नही चाहता। प्रिय के वियोग मे प्रति क्षण व्याकुल रहता है। रहस्यवादी के इसी उत्कट प्रेम की व्याख्या नारद भक्ति सूत्र एव भागवत मे बडे ही सहज ढग से की गई है।

यहाँ पर हमे मानवीय प्रेम तथा ईश्वरीय प्रेम (जो रहस्यवाद का आधार है) के अन्तर को भी स्पष्ट कर लेना उचित होगा। मानवीय प्रेम मे प्रिय के एक से अधिक प्रेमी होने पर वे परस्पर एक दूसरे से ईर्ष्या करते है। प्रेमी नही चाहता कि उसके प्रेम का अन्य कोई साझीदार हो परन्तु इसके विपरीत भगवत् प्रेम मे प्रेमी अथवा भक्त चाहता है कि सम्पूर्ण सृष्टि ही उसके प्रिय के रग म रग जाय। भगवत् प्रेमी किसी से ईर्ष्या-द्वेष नही करते। सभी कुछ प्रिय के रहस्य से ओतप्रोत है। कौन किससे कैसे ईर्ष्या करे? इसके अतिरिक्त मानवीय प्रेम मे प्रिय की प्राप्ति हो जाने पर प्रेमी परम सन्तुष्ट हो जाता है, उसकी मिलनोत्सुकता कम पड जाती है परन्तु भगवत् प्रेम मे प्रिय की प्राप्ति के पश्चात् भी प्रिय की मिलनोत्सुकता कम नही पड़ती वरन् बढती जाती है। भगवत् प्रेमी अपनी समस्त भावनाओं चेतनाओ तथा क्रियाओ को भगवान मे केन्द्रित कर देता है, यही उसका परमानन्द है।

तीव्र बुद्धि तथा परम भावुकता के अतिरिक्त रहस्यवादी का अन्य आवश्यक लक्षण है प्रबलतम इच्छाशक्ति से समन्वित होना। केवल बुद्धि की प्रखरता एव भावुकता से साधक को सफलता प्राप्त नही हो सकती। बुद्धि तथा भावुकता के द्वारा ईश्वर का क्षणिक साक्षात्कार हो सकता है परन्तु स्थायी साक्षात्कार के लिए इच्छाशक्ति परम आवश्यक है। इच्छा ही मनुष्य को कार्य मे सलग्न करने वाली, निरन्तर प्रेरणा देने वाली शक्ति है। इच्छाशक्ति के ही द्वारा व्यक्ति अध्यवसायी बनता है। इच्छाशक्ति के द्वारा ही मनुष्य मूल प्रवृत्तियो (Instincts) के ऊपर विजय प्राप्त करके नैतिक एव आध्यात्मिक कार्यो मे प्रवृत्त होता है। भय उपस्थित होने पर मनुष्य को भागने के लिए इच्छाशक्ति की आवश्यकता नही होती, स्वय ही पैर जल्दी-जल्दी उठने लगते हैं। परन्तु मंदिर मे जाकर आराध्य देव की पूजा के लिए इच्छाशक्ति का प्रयोग अपेक्षित होता है। निरन्तर प्रेरणा प्रदान करके कार्यरत करने वाली इच्छाशक्ति यदि न हो तो किसी समय भी मनुष्य अपने उद्देश्य-पूर्ति से सन्तुष्ट होकर कार्य से उपरत हो सकता है परन्तु इच्छाशक्ति मनुष्य को विराम नही लेने देती। वह उसे बराबर आगे ही बढाती रहती है। सन्तुष्टि की स्थिति आती ही नही, नित्य नवीन चाव बढ़ता ही रहता है। यही भाव तुलसीदास के इन शब्दो मे ध्वनित होता है -

राम चरित जे सुनत अघाहीं।
रस विशेष जाना तिन नाहीं।

जो व्यक्ति रामचरित्र सुनकर संतुष्ट हो गये तथा रामचरितामृत के निरन्तर पान के लिए जिनकी इच्छा बलवती न बनी रही उन्हे वास्तविक रस की प्राप्ति नही हुई। वास्तविक रस तो उन्हीं को प्राप्त होता है जो रामचरित्र को बार-बार सुनकर भी संतुष्ट नहीं होते तथा बराबर उसी को सुनने के लिए लालायित रहते है। रहस्यवादी की यही स्थिति है। प्रबल इच्छाशक्ति के कारण वह कभी संतुष्टि की स्थिति पर पहुँचकर विराम नही लेता वरन् प्रिय-मिलन के लिए परम सत्य या परमात्मा के साक्षात्कार के लिए उसकी उत्कंठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

अब हम रहस्यवाद के विषय मे अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानो के मतो को उद्धृत करेंगे जिससे रहस्यवाद का वास्तविक रूप अधिक स्पष्ट होकर हमारे सम्मुख आ सके।

पाश्चात्य विद्वान प्लीडर का मत है कि रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रत्यक्ष चेतना है, इसलिए यह धर्म की प्रधान भावना या धार्मिक जीवन की आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नही है।

प्लीडर ने प्रत्यक्ष को भावना माना है। यह भाव आत्मा को पवित्र करके ईश्वर मे मिला देता है। प्लीडर महोदय रहस्यात्मक प्रत्यक्ष के भावपक्ष के पोषक प्रतीत होते है। यद्यपि भाव, ज्ञान एवं कर्म सभी का रहस्यवादी के अन्दर एकीकरण हो जाता है। परन्तु किसी विद्वान मे भावपक्ष की प्रधानता रहती है, किसी मे ज्ञानपक्ष की और किसी मे कर्म-पक्ष की। जिसमे जिस पक्ष की विशेषता प्रतीत होती है वह उसी पक्ष का पोषक एवं समर्थक माना जाता है। आत्मा और परमात्मा मे एकत्व अथवा अभेद-बोध की भावना धर्म का प्राण है। यह एकत्व विषयक भावना ही धार्मिक जीवन के मूल मे स्थित है।[1] उन्होंने रहस्यवाद को ही धार्मिक जीवन तथा धर्म का स्वरूप माना है। यदि हम धर्मों के उत्थान के इतिहास मे जायें तो इस कथन के सत्य का पुष्टीकरण भी हो जाता है। धर्मों की उत्पत्ति ही उसके प्रवर्तक के रहस्यात्मक ज्ञान के द्वारा होती है तथा धर्म के अनुयायियो मे भी किसी महत्व के लिए उस अनुभव का होना नितान्त आवश्यक है।

प्रिंगिल पैटीशन के अनुसार रहस्यवाद की प्रतीति मानव मस्तिष्क द्वारा अन्तिम सत्य के ग्रहण करने के प्रयास मे होती है। उस अन्तिम सत्य एवं उच्चतम के साथ सीधे सम्बन्ध से उत्पन्न आनन्द का आस्वादन होता है। बुद्धि द्वारा परम सत्य को ग्रहण करना यह उसका दार्शनिक पक्ष है, ईश्वर के साथ मिलन का आनन्द उपभोग करना यह उसका धार्मिक पक्ष है। ईश्वर एक स्थूल पदार्थ न रहकर एक अनुभव हो जाता है।[2]

---

1 Mysticism is the immediate feeling of the unity of the self with God, it is nothing therefore but the fundamental feeling of religion The religious life at its very heart and centre

Mysticism in Religion by Dean Inge P. 25

2 *Pringle Pattison* · —Mysticism appears in connection with the *endeavour of human mind to grasp the divine essence or the ulti*

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिंगिल पेटीसन रहस्यवादी अनुभूति को ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानते हैं। उनका विचार है कि अन्तिम सत्य शायद केवल मस्तिष्क द्वारा पूर्णरूपेण ग्राह्य नहीं हो सकता, परन्तु वे रहस्यवाद का आविर्भाव उस प्रयास में अवश्य मानते हैं जिसमें बुद्धि द्वारा उच्चतम या अन्तिम सत्य को समझने का प्रयास सम्भव हो। उस अन्तिम सत्य के साथ वास्तविक सम्बन्ध हो जाने के बाद आनन्द की उपलब्धि होती है। उस आनन्द का आस्वादन रहस्यवाद का जीवन-पक्ष है तथा उसका बुद्धि द्वारा ज्ञान दार्शनिक पक्ष। जहाँ तक उस सत्य का बौद्धिक ग्रहण है वह रहस्यवाद का दार्शनिक पक्ष मात्र है या यह कहा जा सकता है कि यदि उस परमात्म सत्य के ज्ञान का आनन्द उपभोग उनके कथन में सम्मिलित न हो तो वह परमात्म विषयक ज्ञान केवल दर्शन रह जाता है। उस ज्ञान का आनन्द के साथ सम्बन्ध मान लेने पर ही वे दोनों रहस्यवाद के दार्शनिक तथा धार्मिक पक्ष बन पाते हैं।

आर० एल० नेटिलशिप के मतानुसार रहस्यवाद वह चेतना है जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु जिसका हम अनुभव करते हैं, एक तत्त्व है और केवल एक यथार्थ तत्त्व है। अपने तात्त्विक भाव से वह चेतना किसी अन्य की ओर इंगित करती है।[1]

यहाँ पर रहस्यवादी चेतना द्वारा प्राप्त ज्ञान की समस्त ज्ञेय वस्तुओं में तात्त्विकता का आरोप किया गया है। नेटिलशिप महोदय ने यद्यपि सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादन नहीं किया है परन्तु वे उस मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं जिसमें प्रत्येक वस्तु स्वयं से अधिक किसी अन्य की प्रतीक समझ पड़ती है और वह अन्य परमेश्वर ही हो सकता है। इनसे पूर्व उद्धृत विद्वानों ने ज्ञेय पदार्थ की यथार्थता पर बल नहीं दिया है। उन्होंने बल दिया है ज्ञाता तथा ज्ञान के साधन पर। परन्तु ज्ञेय पदार्थों की तात्त्विकता एवं उसकी परमात्मा के साथ लाक्षणिकता पर बल दिया है।

ई० केयर्ड ने धर्म के केन्द्रीभूत अनन्य रूप को रहस्यवाद माना है। यह मानव मस्तिष्क की वह प्रवृत्ति है जिसमें आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में अन्य सभी सम्बन्ध अन्तर्हित हो जाते हैं।[2]

---

mate reality of things and to enjoy the blessedness of actual communion with the highest The first is the philosophical side of mysticism The second is the religious side God ceases to be an object and becomes an experience

Mysticism in Religion by Inge P 25

1 *R L Nettleship* —True mysticism is the consciousness that every thing that we experience is an element and only an element in fact i e that in being what it is, it is symbolic of something more

Mysticism in Religion by Inge P. 25

2 E *Caird* —Mysticism is religion in the most concentrated and exclusive form It is that aptitude of mind in which all other relations are swallowed up in the relation of the soul to God

Mysticism in Religion by Inge P. 25

धार्मिक दृष्टिकोण से यह वह मत है जिसमें परमात्मा की सत्ता में ही प्राणी अपनी सत्ता समाहित कर देता है। सभी सासारिक सम्बन्ध ईश्वर के सम्बन्ध से ही सत्य या असत्य ग्रहण किए जाते हैं। समस्त कर्म ईश्वर के प्रति कर्तव्यों से ही परिचालित होते हैं। 'नाते सबै राम सों मनियत' वाली स्थिति यहाँ प्रत्यक्ष होती है। इसके पश्चात् भी केयर्ड ने रहस्यवाद को बुद्धिगम्य मानव-मस्तिष्क की प्रवृत्ति ही माना है, ज्ञान को अज्ञान में या ज्ञान-शून्यता में परिणत नहीं किया है। ईसाई रहस्यवाद में इसी प्रकार से ईश्वर के जनक सम्बन्ध से ही भाईचारे के सम्बन्ध को ग्रहण किया गया है। केयर्ड महोदय में ईश्वर के उसी स्वरूप की पृष्ठभूमि की झाँकी दिखलाई पड़ती है। यह सत्य है कि सभी सासारिक नाते समाप्त हो जाते हैं परन्तु वे परमात्मा के सम्बन्ध से ही बने रहते हैं।

डॉ० विलियम ब्राउन के शब्दों में 'यदि मैं एक मनोवैज्ञानिक की हैसियत से नहीं अपितु एक मनुष्य की हैसियत से कहूँ तो जीवन का अनुभव मेरे विश्वास को दृढ़ करता है कि परमात्मा और व्यक्ति के बीच किसी सम्बन्ध की सम्भावना एक प्रवचना नहीं है।'[1]

मनोविज्ञान मनुष्य की चेतना की विभिन्न स्थितियों का भाववाचक (Abstract) अध्ययन है। वास्तविक सत्य क्या है यह मनोविज्ञान के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। परमात्मा के अस्तित्व का विवेचन भी मनोविज्ञान का विषय नहीं है। आत्मा क्या है उसमें भी उसे कोई प्रयोजन नहीं। आत्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध की सम्भावना भी मनोविज्ञान का विषय नहीं है। उस सम्बन्ध का अनुभव रहस्यवादी को पराबौद्धिक अनुभूति के द्वारा ही होता है जिसकी प्रामाणिकता में डॉ० ब्राउन को तनिक भी सन्देह नहीं है। इसी से उन्होंने कहा है कि उनका कथन एक वैज्ञानिक का नहीं है, वरन् मनुष्य होने के नाते मनुष्य के अनुभव के मापदण्ड के द्वारा उन्होंने अपना मत प्रकट किया है। इस सत्य के सम्बन्ध में उन्हें तनिक भी सन्देह नहीं है। उनका विज्ञान उन्हें उस सत्य सम्बन्ध तक नहीं ले जाता यह उन्होंने बिना विषय को मिश्रित किए स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। और उन्हें विश्वास है कि मनुष्य को इस प्रकार के सम्बन्ध का अनुभव होता है जिसके आत्मसाक्ष्य से ही वे इस प्रकार के विचार प्रकट करते हैं।

आर० सी० मोबरली का मसीही रहस्यवाद के सम्बन्ध में यह कथन है कि रहस्यवाद सिद्धान्त ही नहीं, वह पवित्र आत्मा का अनुभव है।[2]

---

1 *Dr William Brown* —If I may speak no longer as a psychologist but as a man *the experience of life confirms my belief* that possibility of some communion between God and the individual is not an illusion

Mysticism in Religion by Inge P 25

2 *R C Moberly* —Christian Mysticism is the doctrine or rather the experience of the holy spirit, the realisation of human personality as characterised by and consumated in the dwelling reality of the spirit of Christ which is God

Mysticism in Religion by Inge P. 25

मनुष्य अपनी आत्मा को ईसामसीह की पवित्र आत्मा में प्रत्यक्ष करता है तथा उसमें मिलन संयोग प्राप्त करता है। अपना व्यक्तित्व उस पवित्र आत्मा के व्यक्तित्व में अन्तर्हित कर देता है। मानरलो के कथन में बाह्य अनुभव को परमार्थ सत्ता के अस्तित्व में स्वत प्रामाण्य की झलक दिखाई देती है। ईसा में पवित्र आत्मा है और उसकी स्थिति वास्तविक है। उसी पवित्र आत्मा में अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव रहस्यवाद है। रहस्यवाद केवल बौद्धिक पहुँच (approach) नहीं है वरन् अपने अस्तित्व को मिटा कर दूसरे अस्तित्व में विलीन कर देना है। 'अहम्' मिटकर दूसरे के 'मैं' में मिल जाता है। वह दूसरे का 'मैं' सत्य का स्वरूप है और सत्य स्वयं परमात्मा का रूप है। रहस्यवादी परमात्मा के इसी रूप में निजत्व को लीन करके अपनी वास्तविक प्राप्ति करता है। अथवा यों कहा जाय कि परमात्मा की प्राप्ति के साथ ही अपने-पराये का भाव समाप्त हो जाता है।

वान हार्टमैन ने रहस्यवाद को चेतना का वह तृप्तिमय बोध बतलाया है जिसमें विचार, भाव एवं इच्छा (Thought, Feeling and Will) का अन्त हो जाता है तथा जहाँ अचेतनता से ही उसकी चेतना जाग्रत होती है।[1]

यहाँ साधक के सभी ज्ञानावयव, भाव विचार एवं इच्छाएँ, शिथिल पड़ जाते हैं। इस शिथिलता में जीवन होता है, चैतन्य होता है जिसके द्वारा मानव की बौद्धिक स्थिति में भी बिना प्रयास के परम सत्य का प्रकाशन होता है।

हार्टमैन की परिभाषा रहस्यवाद की व्यापकता के सबसे अधिक निकट प्रतीत होती है। रहस्यवाद में मानव का पूर्ण व्यक्तित्व रहस्यात्मक चेतना से आच्छादित हो जाता है। समस्त भावों, विचारों एवं इच्छाओं को वह ज्ञान इस प्रकार व्याप्त कर लेता है कि किसी अन्य ज्ञान, कर्म, भाव, विचार अथवा इच्छा के लिए स्थान नहीं रह जाता। इस प्रकार की बौद्धिक जड़ स्थिति से परम सत्य का सहज प्रकाश होता है। वह भी केवल बुद्धि का कार्य नहीं होता वरन् मानव के समस्त व्यक्तित्व का अनुभव होता है।

अण्डर हिल के अनुसार रहस्यवाद भगवत् सत्ता के साथ एकता स्थापित करने की कला है। रहस्यवादी वह व्यक्ति है जिसने किसी न किसी सीमा तक इस एकता को प्राप्त कर लिया है अथवा जो उसमें विश्वास करता है और जिसने इस एकता सिद्धि को अपना चरम लक्ष्य बना लिया है।[2] यहाँ व्यक्ति एवं भगवत् सत्ता दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है तथा दोनों में एकता स्थापन की सम्भावना भी की गई है। अस्तु अण्डर हिल वेदान्त में विशिष्टाद्वैत की भाँति ईश्वर एवं जीव की एकता को स्वीकार करती प्रतीत होती हैं।

मैक गैनार ने रहस्यवाद की यह परिभाषा की है —'रहस्यवाद' दर्शन सिद्धान्त, ज्ञान या विश्वास है जो भौतिक जगत् की अपेक्षा आत्मा की उक्ति पर अधिक केन्द्रित

---

1 *Von Hartman* —Mysticism is the feeling of the consciousness with a content (feeling, thought and desire) by an involuntary emergence of the same out of the unconsciousness.

2 Practical Mysticism by Under Hill P. 3

रहता है। विश्वजनीन आत्मा के साथ आत्मिक संयोग अथवा बौद्धिक एकत्व रहस्यवाद का लक्ष्य है। आत्मिक सत्य का सहज ज्ञान और भावात्मक बुद्धि तथा आत्मिक चिन्तन या अनुशासन के विविध रूपों के माध्यम से यह उपस्थित होता है। रहस्यवाद अपने सरलतम और अपने अत्यन्त तात्त्विक अर्थ में एक प्रकार का धर्म है जो कि ईश्वर के साथ सम्बन्ध के सजगबोध (Awareness) और ईश्वरीय उपस्थिति की सीधी और घनिष्ठ चेतना पर बल देता है। यह धर्म की अपनी तीव्रतम, गहनतम और सबसे अधिक सजीव अवस्था है। सम्पूर्ण रहस्यवाद का मौलिक विचार है कि जीवन और जगत् का तत्त्व वह आत्मिक सार है जिसके अन्तर्गत सब कुछ है और जो प्राणीमात्र के अन्तर में स्थित वह वास्तविक सत्य है जो उसके बाह्य आकार अथवा क्रियाकलापों से सम्बन्धित नहीं है।[1]

बरट्रेन्ड रसेल का कथन है कि रहस्यवादी अन्तर्दृष्टि रहस्य भाव के आकस्मिक प्रत्यक्ष होने से प्रारम्भ होती है। उस रहस्यात्मक प्रच्छन्न ज्ञान के अनावरण में लेशमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता है। *निश्चयात्मकता तथा सत्य का अनावरण पहले हो जाता है* तत्पश्चात् उस पर विश्वास होता है। रहस्यवादियों के विश्वास एवं मत उनके रहस्यात्मक प्रत्यक्ष के मनन के फलस्वरूप उपलब्ध होते हैं।[2]

यहाँ पर रसेल साहब के अनुसार रहस्यवादी को किसी क्षण सत्य का धुँधला अस्पष्ट स्वरूप एकदम प्रकाशित हो उठता है। *वह प्रकाश किसी प्रमाण पर आश्रित नहीं है,* स्वयं प्रमाण है। उस ज्ञान के विषय में द्रष्टा को कोई सन्देह नहीं रह जाता। वह प्रत्यक्ष

---

1 *Frank Gaynor*—*Mysticism*—Any Philosophy doctrine teaching or belief centered more on the words of the spirit than the material universe and aimed at the spiritual union or mental oneness with the universal spirit through intutive and emotional apprehension of spiritual reality and through various forms of spiritual contemplation or disciplines Mysticism in its simplest and most essential meaning is a type of religion which puts the emphasis on immediate awareness of relation with God, direct and intimate consciousness of divine presence It is religion in its most acute, intense and living stage The basic idea of all mysticism is that the essence of life and the world is an all embracing spiritual substance which is the true reality in the core of all beings regardless of their outer appearance or activities

'Mysticism Dictionaries' by Frank Gaynor.

2 *Bertrand Russell*:—The mystic insight begins with the sense of mystery unveiled of a hidden wisdom now suddenly become certain beyond the possibility of a doubt The essense of certainty and revelation domes earlier than definite belief The definite belief at which mystics arrive are the result of reflection upon the inarticulate experience gained in the moment of insight

Mysticism in Religion by Inge P. 24

उसका स्वयं का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष के पूर्व द्रष्टा (साधक) का मत रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष के पश्चात् रहस्यवादी उस पर जो मनन एवं विचार करता है वही उसका मत या सिद्धान्त होता है। सिद्धान्त रूप में उस सत्य के प्रत्यक्ष तथा उसकी सत्यता के लिए किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान के सिद्धान्त (Epistemology) के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण धारणा है।

'अंग्रेजी-साहित्य में रहस्यवाद' के लेखक स्पर्जियन ने कहा है कि "वास्तविक अर्थ में रहस्यवादी वह है जिसको ज्ञात है कि समस्त अस्तित्व में केन्द्र में स्थित विषमता में एकता है। यह रहस्यवादी ज्ञान तत्सम्बन्धी व्यक्ति के लिए सबसे अधिक पूर्ण प्रमाणों में से है। क्योंकि स्वयं उसने उसका अनुभव किया है। सच्चा रहस्यवाद एक अनुभव है, एक जीवन है।"[1]

समस्त अस्तित्व में एक विषमता है। उस विषमता में भी एक एकता है। उस एकता का ज्ञान रहस्यवादी को उसके अनुभव के द्वारा होता है। अतः वह ज्ञान सभी प्रमाणों में अधिक पूर्ण तथा अनुभवकर्ता के लिए सत्य होता है। इस प्रकार लेखक महोदय सत्य के अन्त साक्ष्य के समर्थक प्रतीत होते हैं।

इसी पुस्तक में अन्यत्र कहा गया है कि "बालू के एक कण में संसार को प्रत्यक्ष करना और एक जंगली फूल में स्वर्ग को देखना, अनन्त को अपनी मुट्ठी में बन्द कर लेना तथा शाश्वत को एक घटिका में कर लेना" रहस्यवाद है।[2] यहाँ अणु में महत् का प्रत्यक्ष रहस्यवाद माना गया है। इससे यह प्रकट होता है कि अणु और महत् में अभेद है, दोनों एक ही हैं।

इंज के मतानुसार सकल्प का एकाग्रचित्त होना रहस्यवादी के प्रमुख लक्षणों में से एक है।[3] डी०एच० ह्यूज के अनुसार सभी आन्तरिक शक्तियाँ एक केन्द्र की ओर लगाई जाती हैं और सकल्प के एककेन्द्र बिन्दु पर स्थिर होने के कारण चेतना का क्षेत्र सकुचित होता है।[4]

---

1. The mystic in the true sense is one who knows there is unity under diversity at the centre of all existence and he knows it by the most perfect of all tests for the person concerned because he has felt it. True mysticism is an experience and a life.
Mysticism in English Literature by Spurgeon. P. 11
2. To see a world in a grain of sand
And Heaven in a wild flower
Hold infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour.
Mysticism in English Lit. by Spurgeon. P 11
3. For an intense concentration of the will is one of the chief characteristics of the mystic
Mysticism in Religion by Inge. P. 28
4. All the faculties are directed to one centre so that there is a narrowing of the field of consciousness through the intense concentration of the will to one focal point.
Mysticism in Religion by Inge. P. 28

इज के कथन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वे रहस्यवाद के भक्तिपक्ष के अनुयायी हैं। उन्होंने ज्ञान मे रहस्यवाद का चरम उत्कर्ष स्वीकार नही किया। भावना प्राधान्य के साथ-साथ ज्ञान को गौण स्थान प्रदान किया है। परन्तु वास्तविक रहस्यवाद मे ज्ञान, भावना एव इच्छाशक्ति तीनो पर ही समान बल दिया जाता है।

इज के मतानुसार रहस्यवाद अपनी कार्य की अभिव्यक्ति बौद्धिक कल्पना मे नही परन्तु प्रार्थना मे प्राप्त करता है।[1]

इवाल्ड कहते है कि रहस्यवादी अध्यात्म विद्या यह स्वीकार करती है कि मनुष्य का ईश्वर से वियोग हो गया है और वह ईश्वर मे मिल जाने के लिए अत्यन्त उत्सुकतापूर्ण अभिलाषा करता है।[2]

सूफियो की भाँति इवाल्ड का मत है कि जीव का ईश्वर से वियोग हो गया है तथा जीव प्रिय-मिलन के लिए अत्यन्त उत्सुक रहता है। सूफियो मे ईश्वर पत्नी रूप मे तथा जीव पति रूप मे ग्रहीत होता है। पतिरूपी जीव पत्नीरूपी ईश्वर के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है। परन्तु इवाल्ड ने ईश्वर को पत्नीरूप मे नही माना है।

हक्सले आल्डस का मत है कि नैतिक बल के बिना वह शक्ति नही प्राप्त हो सकती जिसके द्वारा वस्तुओ के तत्त्व का स्वय प्रकाश ज्ञान प्राप्त होता है।[3]

हक्सले आल्डस ऐसे रहस्यवाद को मान्यता प्रदान करते हैं जिसमे चारित्रिक नैतिक बल पर ज़ोर दिया गया है। रहस्यवादी अनुभूति के लिए अत्यन्त उच्चकोटि का चरित्र-बल आवश्यक है।

वे मनुष्य ही ईश्वर की कृपा के पात्र होते हैं जिनके हृदय मे सत्य तथा आत्मा मे 'अहम्' की निर्बलता होती है।[4]

आगे इसी पुस्तक मे अभ्यास पर बल दिया गया है और न केवल इसी लेखक ने वरन् सभी रहस्यवादियो ने अभ्यास को प्रमुखता दी है।

---

1. Mysticism finds its working expression not in intellectual speculation but in prayer.
Mysticism in Religion by Inge. P. 29

2. Mystical theology begins by maintaining that man is fallen away from God and craves to be again united with Him.
Christian Mysticism P. 339

3. The self validating certainty of direct awareness cannot in the very nature of things be achieved except by those equipped with moral astrolabe of God's mysteries.
Huxley Aldous. P. XI

4. Blessed are the pure in heart and poor in spirit for they shall see God.
Huxley Aldous. P. VIII

नैतिक प्राणी होने के नाते हम अपने को जैसा बनाना चाहें, बना सकते हैं पर उसके लिए अभ्यास परमावश्यक है।[1]

रहस्यवादी ने अपने मस्तिष्क के नेत्र अर्थात् ज्ञानचक्षु से वस्तुओं के अन्तरतम में देखा और जो कुछ भी वह व्यक्त कर सका उसने लिख डाला।

सिद्ध सन्त आगस्टिन ने लिखा है कि भगवान् की अभिव्यक्ति करने की अपेक्षा उसकी अधिक सत्यता से कल्पित किया जाता है और जितनी उसकी कल्पना की जाती है उससे अधिक सत्य उसका अस्तित्व है।[2]

आगस्टिन का निम्नलिखित यह कथन रहस्यवाद को अधिक स्पष्ट करने में सहायक होगा।

यदि किसी व्यक्ति की दैहिक वासना स्तब्ध हो जाती है तो उसको ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदि सभी स्तब्ध हो गये हैं। यही नहीं अपितु उसे अपनी आत्मा भी स्तब्ध प्रतीत होती है और वह स्वयं के विषय में सोचे बिना अहं का अतिक्रमण कर जाता है। उसके समस्त स्वप्न, कल्पनाएँ और सकल्प स्तब्ध हो जाते हैं, वाणी और मन शिथिल हो जाते हैं तथा वे पदार्थ जो क्षणिक और नैमित्तिक हैं स्तब्ध हो जाते हैं। काश वे सब चीजें बात सकतीं और वह सकतीं कि वे स्वयं आविर्भूत नहीं हुई हैं अपितु उस परम शक्ति ने उन्हें आविर्भूत किया है जो शाश्वत है। अपनी प्रवृत्ति में परिष्कार करने के पश्चात् यदि वे सब श्रवणेन्द्रिय में परम शक्ति के कर्तृत्व का उद्रेक करके तिरोहित हो जायँ तो हममें परम शक्ति का स्फुरण होगा। हमें उसका साक्षात्कार होगा, किसी पार्थिव रसना द्वारा नहीं, देवदूत द्वारा नहीं, विद्युत-गर्जन द्वारा नहीं और न अन्य किसी तिमिरावृत्त समनुरूपिता द्वारा, किन्तु उन वस्तुओं द्वारा जिन्हें हम प्यार करते हैं, इन वस्तुओं के बिना भी 'उसके अपने निजत्व' को सुन सकते हैं।[3]

सन्त आगस्टिन ने रहस्यवाद के विषय में वही भाव व्यक्त किया है जो उपनिषद् में प्राप्त होता है।[4] तुलसीदास ने भी इस भाव को प्रकट किया है। 'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहि सकल अनुमानी'। वास्तव में परमात्मा कल्पना से परे है तथा जितना कल्पित भी किया जा सकता है उतना वाणी के द्वारा वर्णनीय नहीं है।

पाश्चात्य विद्वानों के मतों का विवेचन कर लेने के पश्चात् कतिपय भारतीय विद्वानों के रहस्यवाद सम्बन्धी कथनों पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

---

1. What we know depends also on what as moral beings we choose to make ourselves Therefore "practice" *Huxley Aldous P VIII*
2. God is more truly imagined than expressed and He exists more truly than He is imagined

   Religion & Rational Outlook by S N Das Gupta P. 351.
3. History of Philosophy : Eastern and Western, Vol 2, P. 116
4. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तै० उ० २.९.१.

प्रसिद्ध दार्शनिक सर सर्वपल्लि राधाकृष्णन् ने रहस्यवाद के विषय मे लिखा है कि प्रत्येक धर्म का इंगित किन्ही बाह्य विधि निषेधो और सान्त्वनाओ की पद्धति विशेष की ओर होता है जबकि आध्यात्मिकता सर्वोच्च सत्ता को जानने उससे तादात्म्य स्थापित करने और जीवन के सर्वांगीण विकास की आवश्यकता की ओर सकेत करती है। आध्यात्मिकता धर्म और उसके अन्तर्तत्व का सार है और रहस्यवाद म धर्म के इसी पक्ष पर बल दिया गया है।[१]

प्रोफेसर राधा कमल मुकर्जी के अनुसार रहस्यवाद वह कला है जिससे मनुष्य अपने अन्त समाधान (inner adjustment) के द्वारा सृष्टि को व्यष्टि रूप से पृथक् पृथक् भागो मे नही समष्टि रूप से उसकी आतरिक एकता मे देखता है।[२]

डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार की है— रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोडना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ जाता है कि दोनो म कुछ भी अतर नही रह जाता।[३]

महेन्द्रनाथ सरकार के मतानुसार सत्य समझे गये यथार्थ की, प्रत्यक्ष चेतना रहस्यवाद है। यदि दर्शन और विज्ञान सत्य का अन्वेषण अनुभवो और पदार्थों के विश्लेषण के द्वारा करते हैं रहस्यवाद सत्य की खोज आत्मा की आन्तरिक उडान द्वारा करता है। इसकी प्रत्यक्ष चेतना ही इसको उच्चतर स्तर पर ले जाती है। रहस्यात्मक अनुभव के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है वह स्वयसिद्ध और अपने म ही पर्याप्त है वह अपने को प्रमाणित करने के लिए अपने अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा नही रखता।[४]

---

१ Eastern Religion and Western thoughts

by S Radhakrishnan, P 61

२ Mysticism is the art of inner adjustment by which man apprehends the universe as a whole instead of its particular parts

Mysticism Theory & Art, by Dr Radha Kamal Mukerjee P XII

३ कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ६ — ले० डा० रामकुमार वर्मा

४. Mysticism is to be defined as the direct awareness of reality conceived as truth If Philosophy and Science seek truth through the inward flight of the soul, it is directness of its awareness which constitutes its superior claim but the search is for truth and the end is its freedom mystical experience requires no proof it is self evident and self sufficient It does not look to any thing beyond itself for its verification

Hindu Mysticism by M N Sarkar, P 9

प्रो० दास गुप्ता ने लिखा है—'मैं तो रहस्यवाद को ऐसा सिद्धान्त या मत कहूँगा जो बुद्धि को परम सत्ता का स्वरूप चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, समझने या अनुभव करने के लिए असमर्थ मानता है। किन्तु साथ ही उस तक पहुँचने के लिए किसी अन्य साधन की अमोघता में विश्वास रखता है।'[१]

दास गुप्ता ने रहस्यवाद की परिभाषा करते हुए कहा है कि "रहस्यवाद किसी अन्य साधन की अमोघता में विश्वास रखता है' परन्तु वे स्वयं उस साधन की अमोघता में विश्वास करते प्रतीत नहीं होते। अपने एक अन्य ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है कि—इस प्रकार का अन्तर्ज्ञान उस अनुभवकर्ता मनुष्य के लिए कितना भी सत्य हो, मनोवैज्ञानिक प्रणाली का एक कार्य-विशेष है और सर्वग्राह्य वाह्य सत्य की भाँति वह विश्वजनीन (Universal) नहीं बन सकता। यह अत्यधिक आत्मीय और व्यक्तिगत है।[२]

रहस्यवादी दार्शनिक प्रोफेसर रानाडे के मत से रहस्यवाद मन की वह प्रवृत्ति है जिसमें परम सत्य का साक्षात्कार प्रत्यक्ष अव्यवधानित अभिनव एवं वारऐतर प्रेरणा से समन्वित होता है। रहस्यवाद का यह अर्थ समझ लेने पर इसे किसी अतीन्द्रिय एवं रहस्य मूलक दृश्यमान का समानार्थक नहीं कहा जा सकता जैसा कि कभी-कभी समझा जाता है। रहस्यवाद परमशक्ति का अबाध तल्लय है। इसी अर्थ में रहस्यानुभूति को अनिर्वचनीय माना गया है।

रहस्यात्मक अनुभव की अवर्णनीयता का अन्तर्ज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बुद्धि, भावना एवं संकल्प रहस्यवादी प्रत्यक्ष के लिए सभी की आवश्यकता है परन्तु अन्तर्ज्ञान को उनका सहायक होना नितान्त आवश्यक है। यह अवर्णनीयता तथा अन्तर्ज्ञान ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले समस्त मनुष्यों का एक गुप्त समाज बना देते है, जिसके नियम यदि ज्ञात है तो उन्ही को ज्ञात है अथवा हम तो यह कहेंगे कि वे उनको भी नहीं ज्ञात हैं। उनको केवल ईश्वर जानता है। इस प्रकार सब देशों तथा सब कालों के रहस्यवादी एक शाश्वत अलौकिक समाज का निर्माण करते हैं। विश्वजनीनता, बौद्धिकता, भावात्मकता एवं नैतिक उत्साह—ये सब ईश्वर के प्रत्यक्ष, घनिष्ठ, आन्तरिक, ज्ञानमय प्रत्यक्ष की अपेक्षा

---

१ Hindu Mysticism — *By S N Das Gupta, P 17*

२ I have no quarrel with those minds in the past or present who in their particular moments of intuition have felt the presence of God as illuminating and annating their entire being A touch of his love penetrates into their hearts and well up from within the ocean of love that lay dormant and over floods them but such an intuition howsoever true it may be to the person who feels it is a particular function of his psychopathic system and cannot be universalised as an objective truth acceptable to us all It is very largely private and personal

Religion & Rational Outlook by S N Das Gupta, PP 345-346

गौणतर है। अन्तत इस प्रकार एक रहस्यवादी का अन्तिम न्यायकर्ता स्वय उसकी ही आत्मा है।[१]

अब तक अनेक विद्वानो द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओ के आधार पर रहस्यवाद का विश्लेषण करने पर हम देखते है कि

(१) सत्य एक है। विविध दर्शनो मे ज्ञाताज्ञेय आदि भेद दृष्टिगोचर होते है परन्तु रहस्यवादी का ऐक्य इन सभी विषमताओ से शून्य है।

(२) सत्य अवर्णनीय है। किसी भी विधेय Predicate के माध्यम से उसे वस्तुत व्यक्त नही किया जा सकता। कोई भी शब्द तथा शब्दो का लक्ष्यार्थ उस सत्य के स्वरूप को प्रकट करने मे समर्थ नही है।

(३) सत्य तथा सत्य के प्रत्यक्षकर्ता मे कोई अन्तर नही होता या यो कहा जाय वह बाहर-भीतर एक समान है। द्रष्टा को सत्य का जो स्वरूप बाहर प्राप्त होता है वही स्वरूप स्वय अपने अन्त मे भी विद्यमान मिलता है।

(४) उस सत्य या ब्रह्म के साथ साधक द्रष्टा का व्यक्तिगत प्रातिभ (Intuitive) सम्बन्ध हो सकता है तथा केवल उसकी सभवता ही पर्याप्त नही है उसका होना भी प्राय अनिवार्य है।

(५) उस सत्य के स्वरूप साक्षात्कार अथवा प्रातिभ सम्बन्ध के प्राप्त करने का मार्ग बौद्धिक प्रयास न होकर नैतिक कार्य प्रवृत्ति है। इस प्रकार रहस्यवादियो ने बुद्धि द्वारा तथा तर्क के माध्यम से सत्य को अग्रहणीय माना है परन्तु स्वय अपने भावो एव विचारो को व्यक्त करने मे बहुत ही उच्चकोटि के तर्क का प्रयोग किया है। प्रतीत यह होता है कि जैसे उन्होने स्वयं तर्क की भी आत्मा का प्रत्यक्ष कर

---

१ Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, first hand, intuitive apprehension of God Mysticism implies a silent enjoyment of God The ineffable character of mystical experience is closely linked with its intuitional character Intelligence Feeling and Will are all necessary in the case of Mystical endeavour only Intuition must back them all It is this combined character of mystical experience, namely, its ineffable and intuitive character, which has served to make all God aspiring humanity a common and hidden Society, the laws of which are known to themselves if at all, we may even say that they are known only to God and not even to them ! It is thus that the Mystics of all ages and countries form an eternal Divine Society The universality, the intellectualism, the emotionalism and the moral fervour are but subservient to this greatest criterion, namely a first-hand internate, intuitive apprehension of God A mystic's final judge is thus ultimately his own Self !

Prof R. D Ranade, Mysticism in Maharastra, PP. 1-2 and 30

लिया हो। सत्य को केवल 'महान्' कहते रहने रहस्यवादी इसलिए रुक जाता है कि महान् के अतिरिक्त शायद सत्य कहा जा सकने से बचा जा रहा है। तर्क की तात्त्विकी उपयोगिता न होकर केवल व्यावहारिक उपयोगिता है। रहस्यवादी वास्तव में अत्यन्त तार्किक होने के कारण तथा भाषा के सीमित होने के कारण मौन का मार्ग ग्रहण करता है।

सत्य शिव-स्वरूप में प्रत्यक्ष रहस्यवाद को एक नैतिक स्तर पर पहुँचाने का कारण होता है। इसी प्रत्यक्षभूत नैतिकता के कारण ही रहस्यवादी एक उग्र क्रान्तिकारी के रूप में दृष्टिगोचर होता है, वह सिद्धान्तों के साथ समझौता करने वाला नहीं रह जाता। प्रत्यक्ष सत्य के उस स्वरूप के सम्मुख उसका सब कुछ, स्वयं जीवन भी, अत्यल्प नगण्य हो जाता है। इसी कारण युग प्रवर्तक धर्मों के पैगम्बर या अवतार उत्कृष्ट कोटि के रहस्यवादी ही होते हैं। रहस्यवाद मानव की वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा वह समस्त चेतना को परमात्मा अथवा परम सत्य के साक्षात्कार में नियोजित करता है तथा साक्षात्कार-जन्य आनन्द एवं अनुभव को आत्मरूप समस्त में प्रसारित करता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद परमात्मा के ऐकान्तिक, व्यक्तिगत, परावौद्धिक ज्ञान तथा सम्बन्ध को स्वीकार करता है और व्यावहारिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद सत्य-ज्ञान तथा धारणा को मूर्त स्वरूप देने के लिए एक उग्र नैतिक एवं बौद्धिक प्रयत्न को जन्म देता है।

रहस्यवादी नैतिक चरित्र, असाधारण ज्ञान, भावना तथा इच्छाशक्ति-सम्पन्न वह व्यक्ति है जो निःस्वार्थ भाव से अपने सभी साधनों को एकमात्र परम सत्य परमात्मा की प्रत्यक्षानुभूति में नियुक्त करके उस परम सत्य के परावौद्धिक ज्ञान एवं अतीन्द्रिय आनन्द आस्वादन की सम्भावना में विश्वास करता है तथा उसे प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार रहस्यवाद उस अनिर्वचनीय सत्य के प्रत्यक्ष का द्योतक है जिसको साधक चैतन्य की एक विशेष स्थिति में निरन्तर संलग्न रहकर प्राप्त करता है। यह सत्य अनुभवकर्ता का स्वयं प्रत्यक्ष होने के कारण उसके लिए सर्वाधिक सत्य होता है। उसकी सत्यता के लिए अन्य किसी बाह्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं। यह ज्ञान साधारण बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा इतना स्पष्ट होता है कि साधक के लिए सन्देह का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

द्वितीय परिच्छेद

प्राचीन परम्परा

रहस्यवाद ईश्वर किंवा सत्य की प्रत्यक्षानुभूति की कला अथवा विज्ञान है, यह हम जान ही चुके है। अब आवश्यक यह हो जाता है, कि हम उन प्राचीनतम परम्पराओं के विषय मे भी कुछ जान लें, जो हिन्दी के मध्यकालीन सन्त साहित्य मे प्रवहमान रहस्यात्मक भावधारा की उद्गम स्थान कही जा सकती है। यहाँ पृष्ठभूमि रूप मे उन परम्पराओं का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है, जिनके प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी मे रहस्यवाद विकसित होकर अपने समस्त अंगो सहित दृष्टिगत होता है। रहस्यात्मक भावधारा की प्राचीनतम परम्पराओं के अन्तर्गत आते हैं--वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण तथा भक्तिसूत्र आदि जिनका हम क्रमश विवेचन करेंगे।

वेद भारतीय चिन्तन के प्राचीनतम उपलब्ध ज्ञान-भण्डार है। मनीषियों के सदियों अपितु सहस्राब्दियों तक चलते हुए चिन्तन के क्रमिक विकास को, जो गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा सुरक्षित रहकर लिपिबद्ध किये जाने की स्थिति तक पहुँचा, हम वेद कहते हैं। उस चिन्तन की विचार-शृंखला का कितना अश नष्ट हो गया, इसके जानने का न कोई साधन है, न यहाँ यह आलोच्य विषय ही है। उस प्राचीन काल—वेद की शाखाओं-प्रशाखाओं के वर्णन से हमे केवल इतना ज्ञात हो पाता है कि एक हजार एक सौ[1] से अधिक वैदिक शाखाओ मे से केवल बारह के लगभग शाखाएँ उपलब्ध है।[2]

आस्तिक दर्शन वेदो को अपौरुषेय मानते है। अपौरुषेय को पुरुष अर्थात् मानव-रचित नही, अमानवीय अथवा ईश्वरीय भी कहा जा सकता है। तो क्या वेद मनुष्य की भाषा या वाणी मे नही लिखे गये अथवा मानवज्ञान का विषय नही हो सके ? अपौरुषेय

---

१. पतंजलि ने ऋग्वेद की इक्कीस, यजु की सौ, साम की एक हजार तथा अथर्ववेद की नौ शाखाएँ मानी हैं। चरण व्यूह में महामुनि शौनक ने ऋग्वेद की पाँच, यजु की छियासी, साम की एक हजार तथा अथर्व की नौ शाखाएँ ही स्वीकार की हैं। मुक्तिकोपनिषद् में शाखाओं की संख्या ग्यारह सौ अस्सी मानी गई है जो कि क्रम से ऋग्वेद की इक्कीस, यजु की एकसौ नौ, साम की एक हजार तथा अथर्व की पचास हैं।

२. ऋग्वेद=१. बाष्कल, २ शाकल शाखा
यजुर्वेद शुक्ल=१. माध्यंदिनी, २. काण्व शाखा
यजुर्वेद कृष्ण=१. कठ, २. मैत्रायणी, ३. तैत्तिरीय शाखा
सामवेद=१. कौथुमी, २. राणायनीय, ३. जैमिनीय शाखा
अथर्ववेद=१ पिप्पलाद, २ शौनक शाखा

के विषय में प्राचीन काल से ही अनेक दार्शनिकों के द्वारा बहुत ही विद्वत्तापूर्ण तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। साधारणतया अपौरुषेय से तात्पर्य है वह ज्ञान जो मनुष्य के बुद्धि-जनित साधारण ज्ञान से भिन्न हो। इसी अपौरुषेय ज्ञान के द्वारा वेद-मंत्रों की रचना हुई। निरुक्तकार ने वेदों को साक्षात्कृत ही माना है। निरुक्त में इस प्रकार का वर्णन मिलता है—तपस्या के द्वारा वेद रूपी धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषि हुए। उन्हीं ऋषियों ने अन्य ऋषियों को जिन्हें साक्षात्कार नहीं हुआ था, वेद-मंत्रों का उपदेश दिया।[1] उन को यह ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष से भिन्न अपौरुषेय प्रतिभा (Intuition) से प्राप्त हुआ। इसी कारण उसे अमानवीय या अपौरुषेय कहा गया। यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि वेद-मंत्रों में ऋषियों को मंत्रों का कर्ता न कहकर मंत्रों का द्रष्टा कहा गया है। वेद मंत्रों के ज्ञान का अर्जन नहीं वरन् दर्शन है जो कि ऋषियों को बुद्धयेतर माध्यम से प्राप्त हुआ। इसीलिए उनको वेद-मंत्रों का द्रष्टा कहा गया। वेदों का यह प्रातिभ ज्ञान बुद्धि, कल्पना, तर्क अथवा इच्छा का कार्य नहीं है।

वेदों की ही भाँति कुरान, इन्जील आदि भी प्रातिभ ज्ञान ही (Revelation) कहे जाते है। अन्तर केवल इतना है कि वेदों में प्रातिभ ज्ञान का उदय अनेक ऋषियों में हुआ तथा कालान्तर में वही शब्दबद्ध कर दिया गया परन्तु अन्य धार्मिक ग्रन्थों में धर्म के आदि प्रवर्तक ईसा, मुहम्मद आदि व्यक्ति-विशेष का प्रातिभ ज्ञान ही निहित है। यों तो अधिकांश धार्मिक नेता, मत-प्रवर्तक बुद्ध, शंकराचार्य आदि, प्रातिभ ज्ञान-सम्पन्न थे। अपने दृढ़ विश्वास से शक्ति प्राप्त करके वे अपने महान् कार्यों में संलग्न हुए।

वेदों का कितना अंश प्रातिभ है, कितना कल्पना-समन्वित, अथवा बुद्धि का कार्य यह न तो स्पष्टतया कहा ही जा सकता है न आलोचना का विषय ही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उस प्रातिभ ज्ञान के आधार पर कल्पना के द्वारा ज्ञान का आकार विस्तृत होता गया तथा कहीं-कहीं पर बौद्धिक एवं पराबौद्धिक ज्ञान में अन्तर ही दृष्टिगोचर नहीं होता। वास्तव में वेदों का एक बड़ा अंश किसी न किसी ऋषि की पराबौद्धिक रहस्यात्मक अनुभूति का किसी न किसी अवस्था में विषय रहा होगा। वेदों के ज्ञान का बहुत-सा अंश जिसे आज हम साधारण ज्ञान या उपार्जित ज्ञान कह सकते हैं, उस समय में इस प्रकार साधारण न रहा होगा।

वैदिक युग में मानव-ज्ञान अपनी शैशवावस्था में था। प्रकृति के प्रत्येक उपकरण तथा उसकी शक्ति में ऋषियों को देवत्व तथा अनन्त शक्ति की प्रतीति हुई। उन्होंने स्तुति-परक ऋचाओं के द्वारा अपनी मन प्रतीति को अभिव्यक्त किया। दैवी शक्तियों की पृथक्-पृथक् आराधना अथवा बहुदेवत्व उन्हें बहुत दिनों तक सन्तुष्ट नहीं रख सका। उनका बहु-देवत्व एक स्रष्टा में सन्निहित हो गया। यह कार्य बुद्धिजन्य नहीं कहा जा सकता। निरन्तर

---

१ साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु । ते ऽवरेभ्य असाक्षात्कृत
धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान सम्प्रादु ॥ निरुक्त १।६।२

चिन्तन के फलस्वरूप प्रातिभ ज्ञान से ही यह कार्य सम्पन्न हुआ होगा। समस्त स्थावर-जगम उसी सृष्टा के अगो के रूप मे कल्पित हुए। यही नही जो कुछ था, जो कुछ है तथा जो कुछ होने वाला है वह सृष्टा 'पुरुष' ही है।[1] उपरिलिखित पुरुषसूक्त की भाँति अदितिसूक्त मे कहा गया है—अदिति ही आकाश है, अदिति अतरिक्ष है, अदिति माता है, अदिति ही पिता है तथा पुत्र है। अदिति समस्त देवता है, अदिति पचजन है। जो कुछ उत्पन्न है तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है, अदिति ही है।[2] इस प्रकार 'पुरुष' तथा 'अदिति' की सर्वव्यापकता मानकर उनकी विश्व से अभिन्नता स्वीकृत की गई है। अग्नि मातरिश्वा, यम आदि देवता उसी के भिन्न-भिन्न रूप को धारण करने वाले है। वह एक ही है परन्तु कवि लोग उसे भिन्न नाम से पुकारते है।[3] एक परमात्मा मे ही सब देवो का एकीकरण हुआ।

मानव-स्वभाव है कि वह वर्तमान से तृप्त नही रह सकता। वैदिक ऋषि सृष्टा की स्तुतियो से तृप्त तथा प्रसन्न न रह सके। उन्ही देवताओ तथा सृष्टा की प्रसन्नता के हेतु वे यज्ञरूप कर्मो मे सलग्न हुए तथा शनै शनै कर्मो के ही जाल मे आबद्ध हो गये। कर्मकाण्ड की प्रधानता होने पर भी सहस्रधारा ज्ञान-गगा का कोई भी स्रोत शुष्क नही हुआ। नवीन स्रोतो से धारा मे जहाँ वेग आता गया, शक्ति आती गई वहाँ प्राचीन स्रोत क्षीणकाय होते हुए भी निर्मल होते गये। कर्म और यज्ञ की मान्यता बढ जाने पर वैदिक सहिताओ का एक कार्य यह भी हो गया कि वह उनके विधि विधान का निर्देश करें। यज्ञ कैसे हो, वेदी कैसे बने, किन मत्रो के द्वारा किन देवताओ का आवाहन हो, यज्ञ शेष के कौन भागी हो—आदि तत्सम्बन्धित अनेक समस्याओ का समाधान प्रस्तुत किया गया। स्थान स्थान पर अग्नि, यम, सूर्य, चन्द्र, वायु, इन्द्र, वरुण आदि दैवी शक्तियो तथा देवो का स्तवन और उनके प्रति किये गये कर्म, यज्ञ याग आदि एक मे मिल गये। हिरण्यगर्भ सूक्त मे वर्णन है—यही हिरण्य-गर्भ सर्वप्रथम उत्पन्न हुए। उत्पन्न होने पर ये समस्त प्राणियो के एक अद्वितीय अधिपति हुए। इस पृथ्वी, अतरिक्ष तथा आकाश को वे धारण करने वाले है। यज्ञ-यागो म उन्हीं के प्रसादनार्थं हम लोग हविष्य का होम किया करते है।[4] आनन्द रूप होने से अथवा 'इदमित्य'

---

१. पुरुष एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम् ॥ ऋ० वे० १०।९०।२

२. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र ।
विश्वे देवा अदिति पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
ऋ० वे० १।८९।१०

३ इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥
ऋ० वे० १।१६४।४६

४. हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम । ऋ० वे० १०।१२१।१

रूप से अनिर्वचनीय होने के कारण ये ही प्रजापति 'क' शब्द के द्वारा व्यवहृत किये गये हैं।[1]

वैदिक चिन्तन की धारा रुकी नहीं अबाधगति से आगे बढ़ती ही रही। मनीषियों के निरन्तर चिन्तन से उनके आश्चर्य तथा श्रद्धामिश्रित भावना से युक्त सत्य-तत्त्व का जो प्रत्यक्ष हुआ वह हमारे सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के उत्कृष्टतम दार्शनिक विवेचन के रूप में तो आया ही परन्तु उसे हम उच्च कोटि का रहस्यात्मक प्रत्यक्ष भी कह सकते हैं। इस रहस्यात्मक प्रत्यक्ष का वर्णन हमें नासदीय सूक्त में उपलब्ध होता है।

नासदीय एक अति प्रसिद्ध दार्शनिक वैदिक सूक्त है जिसमें इन्द्रियगोचर समस्त सृष्टि के अस्तित्व तथा सृजन के विषय में रहस्यात्मक अनुभूति से समन्वित एक ऋषि के अनुभव का वर्णन है। इस सूक्त के अनुसार आदि में न सत था और न असत, अन्तरिक्ष नहीं था न उसके परे आकाश ही था। किसने आवरण डाला, किसके सुख के लिए? तब अगाध और गहन जल भी कहाँ था?[2] तब न मृत्यु थी न अमृत। रात और दिन का भेद समझने के लिए कोई साधन भी न था। वह अकेला ही अपनी शक्ति से श्वास प्रश्वास लेता रहा। इसके अतिरिक्त इसके परे कुछ न था।[3]

ज्ञानियों ने अन्तःकरण में विचार करके बुद्धि द्वारा निश्चय किया कि आरम्भ में यह सब अन्धकार से व्याप्त था, भेदाभेद रहित जल था, सर्वव्यापी ब्रह्म असत्य माया से आच्छादित था। मूल में एक ब्रह्म ही तप की महिमा से प्रकट हुआ। उसके मन से जो बीज निकला वही काम हुआ तथा उसी काम से सब सृष्टि का सृजन सम्भव हुआ।[4]

प्रकाश किरणें इस ओत प्रोत करती हुई आड़ी फैलीं। यदि कहा जाए कि यह नीचे था तो ऊपर भी था।[5] सत् का प्रसार किससे या कहाँ से आया—यह कौन जान सकता

---

१ अत्र किं शब्दोऽनिरुक्तस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते।
यद्वा क सुखम्। तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते
सायणभाष्य। १०।१२१।१

२ नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।
ऋ० वे० १०।१२९।१

३ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास
ऋ० वे० १०।१२९।२

४ तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।
ऋ० वे० १०।१२९।३,४

५ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्
रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः पुरस्तात्। ऋ० वे० १०।१२९।५

है। स्वयं देव भी उस विसर्ग के पश्चात् हुए। फिर वह जहाँ से हुआ, उसे कौन जान सकता है।[1]

यह निर्मित किया गया या नहीं, उसे परम आकाश में रहने वाला सृष्टि का जो अध्यक्ष है वही जानता होगा या न भी जानता हो कौन कहे ?[2] इस प्रकार हमने देखा कि अभी तक सृष्टि, सृष्टा, प्रकृति, सत् आदि के विषय में विभिन्न मनीषियों के विभिन्न मत थे। अधिकांश विद्वान् इस सबके अस्तित्व को मानते थे और कुछ ऐसे भी थे, जो कि इनके अस्तित्व मे विश्वास नहीं करते थे परन्तु किसी को उनके अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के विषय में द्विविभात्मक सन्देह नहीं हुआ था ना सदासीन्नो सदा सी तदानी। नासदीयसूक्त में दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रथम बार यह शंका उत्पन्न हुई कि सत् का अस्तित्व था भी या नहीं, सत् का स्वरूप वर्णन योग्य है अथवा अवर्णनीय, उसके स्वरूप का कोई वेत्ता भी है या नहीं। यहाँ तक कि स्वयं देव भी जानता है या नहीं।

सर्वव्यापी तथा रहस्यमय ब्रह्म की महत्त्वपूर्ण कल्पना का वर्णन अनेक वैदिक सूक्तों में मिलता है। इसका सुन्दर दृष्टान्त पुरुष-सूक्त में इस प्रकार दृष्टिगत होता है—वह हजार मस्तक, सहस्र शीर्षा, हजार आँखों तथा हजार पैर वाला 'पुरुष' चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर कर परिमाण में दस अंगुल अधिक है।[3] ब्रह्म की रहस्यात्मकता के विषय में ऋग्वेद में वर्णन है-मनुष्यों की मधुरवाणी में वही बोलता है पक्षियों के कलरव में वही चहकता है, विकसित पुष्पों के रूप में वही हँसता है, प्रचण्ड गर्जन तथा तूफान में वही क्रोधभाव को प्रकट करता है। नभोमण्डल में चन्द्र-सूर्य तथा तारागों को वही तत्तत् स्थान पर स्थिर कर देता है।[4] वैदिक महर्षियों द्वारा प्रस्तुत इस अभिव्यक्ति की तुलना में आज के विद्वानों की रहस्यवादी उक्तियाँ अधिक श्रेष्ठ नहीं प्रतीत होतीं। यही रहस्यात्मक अनुभूतियाँ अविच्छिन्नगति से उत्तरोत्तर उन्नत अवस्था को प्राप्त होती गईं जिनका निखरा हुआ रूप हम मध्यकालीन संत साहित्य में देखते हैं।

वैदिक साहित्य में अभिव्यक्त रहस्यभावना का निदर्शन विगत पृष्ठों में किया गया है। प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में उत्कृष्ट कोटि की रहस्यानुभूति अभिव्यक्त हुई है। वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार की सजातीय

---

१. को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाऽथ को वेद यत आबभूव।
ऋ० वे० १०।१२६।६

२. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।
ऋ० वे० १०।१२६।७

३. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ ऋ० वे० १०।६०।१

४. ऋ० वे० १०।१२१

भावनाओं की अनेक बार आवृत्ति हुई है। सच बात यह है कि इस प्रकार के साहित्य की रचना करने वाले वैदिक कालीन मनीषी उच्चकोटि के भावुक, तत्त्वदर्शी, तथा धार्मिक भावना से ओतप्रोत व्यक्ति थे। उनकी दृष्टि में संसार के अणु अणु में परब्रह्म परिव्याप्त है। सर्वत्र उसी की रहस्यमयी महिमा दृष्टिगत होती है।

वैदिक साहित्य में अभिव्यक्त रहस्य-भावना का अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम उपनिषद् साहित्य में प्रस्फुटित रहस्य-भावना का अध्ययन करेंगे। वैदिक साहित्य की भाँति ही उपनिषद् साहित्य प्रचुर विस्तृत एवं व्यापक है। इस समय सौ से अधिक उपनिषद् प्रामाणिक माने जाते है। परन्तु यहाँ पर हम केवल कतिपय प्रमुख उपनिषदों को ही अपने अध्ययन का आधार बनाएँगे। कारण कि सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य में अभिव्यक्त रहस्य-भावना एक स्वतंत्र ग्रन्थ का आलोच्य विषय है।

आस्तिक भारतीयों के लिए सत्य के सम्बन्ध में वेद प्रथम तथा अन्तिम शब्द है। आध्यात्मिक वरीयता के लिए वेदों को अंतिम प्रमाण स्वीकार किया गया है। इंद्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान उसके सम्मुख सब गौण स्थान प्राप्त करते हैं। उपनिषदों का ज्ञान ऋषियों का स्वानुभूत अतीन्द्रिय प्रातिभ ज्ञान अथवा साक्षात्कार है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में रहस्यमय ब्रह्मज्ञान का उपदेश पुत्र या शिष्य के अतिरिक्त किसी अन्य को न देने का आदेश है। सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को यही उपदेश दिया था।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी पुत्र या शिष्य तथा प्रशान्त चित्त वाले पुरुष को ही ब्रह्मविद्या देने का विधान है।[2] छान्दोग्य उपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि ज्येष्ठ पुत्र या अन्तेवासी शिष्य के अतिरिक्त यदि कोई अन्य व्यक्ति आचार्य को धन से परिपूर्ण तथा सागर परिवेष्टित समस्त पृथ्वी भी प्रदान करे, तो भी उसे ब्रह्मज्ञान न देना चाहिए।[3] एक ओर जहाँ आचार्य के लिए सर्वसाधारण को ब्रह्मज्ञान प्रदान न करने का निर्देश है, वहाँ शिष्य के लिए भी यह चेतावनी है कि आचार्य के बिना उसे ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकाम जाबाल का कथन है—मैंने श्रीमान् जैसे ऋषियों से सुना है कि आचार्य-प्रदत्त विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है।[4]

उपर्युक्त प्रसंगों से यह प्रकट होता है कि उपनिषद् काल तक आते-आते ब्रह्मविद्या पूर्णतया रहस्यमयी तथा गोपनीय मान ली गई थी, जिसकी पुष्टि में जरत्कारु और याज-

---

१. एतनु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्। बृ० ६।३।१२

२ वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ श्वे० ६।२२

३ नान्यस्मै कस्मैचन तद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां।
धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति॥ छा० ३।११।६

४. श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति॥ छा० ४।९।३

वल्क्य का संवाद द्रष्टव्य है। जरत्कारु के द्वारा ब्रह्मविद्या विषयक यह प्रश्न करने पर कि—उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है, याज्ञवल्क्य ने कहा—हे प्रियदर्शन आर्तभाग! तू मुझे अपना हाथ पकड़ा। हम दोनों ही इस प्रश्न का उत्तर जानेंगे। यह प्रश्न जन-समुदाय में विचारणीय नहीं है। तदनन्तर उन दोनों ने एकान्त में विचार किया।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् में हम देखते हैं कि अपरिचित स्थान में लाये हुए एक अनजान व्यक्ति के दृष्टान्त द्वारा आचार्य प्रदत्त ज्ञान की प्राप्ति का उपदेश दिया गया है। किसी ऐसे पुरुष को जिसकी आँखें बाँध दी गई हों गांधार देश से लाकर जनशून्य स्थान में छोड़ दिया जाय। उस स्थान में वह पूर्व, उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिम की ओर मुख करके चिल्लाये कि "मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और आँखें बाँधे हुए ही छोड़ दिया गया है।" उस पुरुष के बन्धन खोलकर कोई कहे कि "गांधार देश इस दिशा में है अतः इसी दिशा को जा" तो वह विद्वान् बुद्धिमान् पुरुष एक ग्राम से दूसरा ग्राम पूछता हुआ गांधार में ही पहुँच जाता है। इसी प्रकार इस लोक में आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानता है। उसके लिए मोक्ष प्राप्त करने में तभी तक विलम्ब है जब तक कि वह देह-बन्धन से मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न ब्रह्म को प्राप्त हो ही जाता है।[2]

कठोपनिषद् में आचार्य प्रदत्त आत्मज्ञान की दुर्लभता तथा आचार्य और शिष्य दोनों की ही महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—जो बहुतों को तो सुनने के लिए भी नहीं मिलता, जिसे बहुत से सुनकर भी नहीं समझते, उस आत्मतत्त्व का निरूपण करने वाला भी आश्चर्य रूप है, उसको प्राप्त करने वाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश दिया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्य रूप है।[3] जो पाप-कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शांत नहीं है, उसे ब्रह्मविद्या अथवा आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।[4] अनेक प्रकार से कल्पित की गई यह आत्मा नीच पुरुष द्वारा कहे जाने पर भली-भाँति जानी नहीं जा सकती। अभेददर्शी आचार्य द्वारा उपदेश किये जाने पर यह दुर्विज्ञेय आत्मा जानी जाती है।[5] यह आत्मा या आत्मज्ञान न प्रवचन से, न बुद्धि से, न अधिक

---

१ आहर सोम्य हस्तमार्तभाग आवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति। तौ होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्राते। बृ० ३।२।१३

२ यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः। छा० ६।१४।१
तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति। छा० ६।१४।२

३ श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ कठो० १।२।७

४ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्। कठो० १।२।२४

५. न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्। कठो० १।२।८

श्रवण से प्राप्त होने योग्य है। केवल आत्म-लाभ के लिए ही प्रार्थना करने वाले पुरुषों को आत्मा स्वयं वरण करती है। आत्मा के द्वारा ही आत्मा की प्राप्ति होती है।[1] सम्यक् ज्ञान के लिए शुष्क तार्किक से भिन्न शास्त्रज्ञ आचार्य द्वारा कही हुई यह बुद्धि जिसे कि नचिकेता प्राप्त हुआ है तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है।[2]

मुण्डकोपनिषद् में गुरु के द्वारा विद्या प्राप्त करने का विधान इस प्रकार किया गया है। कर्म द्वारा प्राप्त लोकों की परीक्षा कर ब्राह्मण निर्वेद को प्राप्त हो जाये। उस नित्य वस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही समीप जाना चाहिये।[3] गुरु-शिष्य सम्बन्ध की परम्परा में गुरु के विषय में तो सर्वत्र ही बहुत कहा गया है परन्तु मुण्डकोपनिषद् में शिष्य के गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है। एक ऋचा में कहा गया है जो अधिकारी क्रियावान्, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ और स्वयं श्रद्धापूर्वक एकर्षि नामक अग्नि में हवन करने वाले हैं तथा जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत का अनुष्ठान किया है, उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये।[4]

श्वेताश्वतर में परमेश्वर और गुरु में समान श्रद्धा-भक्ति रखने वाले शिष्य के प्रति किया गया उपदेश ही सफल माना गया है। जिसकी परमेश्वर में अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरु में भी है, उस महात्मा के प्रति कहने पर ही इन तत्त्वों का प्रकाश होता है।[5]

मुण्डकोपनिषद् में विद्याएँ दो प्रकार की मानी गई हैं—परा तथा अपरा। अपरा के अन्तर्गत वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि का ज्ञान है। दूसरी पराविद्या है जिसके द्वारा अक्षर परमेश्वर का ज्ञान होता है।[6] यह पराविद्या अर्थात् ब्रह्म-विद्या ही सर्वश्रेष्ठ कही गई है। केवल अपरज्ञान के द्वारा मनुष्य मोक्ष से रहित नहीं होता तथा समस्त शास्त्रों एवं वेदों का अध्ययन करके भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य मुक्ति

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ कठो० १।२।२३

२. नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ कठो० १।२।९

३. परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
मुण्डको० १।२।१२

४. क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥
मुण्डको० ३।२।१०

५. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वेता० ६।२३

६. तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।
मुण्डको० १।१।४
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डको० १।१।५

को प्राप्त नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद के कथन द्वारा ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता एवं वरेण्यता पर पूरा बल दिया गया है। नारद ने सनत्कुमार से कहा—भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद को जानता हूँ। इनके अतिरिक्त इतिहास-पुराण रूप पंचम वेद, वेदों का वेद, श्राद्ध, कल्प, गणित, उत्पात ज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षात्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, जनविद्या और नृत्य, संगीत आदि सब मैं जानता हूँ परन्तु हे भगवन्! मैं केवल मन्त्रवेत्ता हूँ आत्मवेत्ता नहीं। मैंने आप जैसे तत्त्व-दर्शियों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक से मुक्त हो जाता है और हे भगवन्! मुझे शोक होता है, अस्तु मेरा शोक से निस्तार कीजिए।[२] इस आख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि मंत्र और दर्शन के ज्ञाता तथा रहस्यमय दार्शनिक तत्त्व के प्रत्यक्षकर्ता में भेद है। दार्शनिक तत्त्व का बौद्धिक ज्ञान हो जाने पर भी साक्षात्कार के अभाव में मुक्ति एवं शान्ति नहीं मिलती।

इसी सन्दर्भ में बृहदारण्यक तथा ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो अविद्या रूपी कर्म की उपासना करते हैं, वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं परन्तु उनसे भी गहनतर अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं जो विद्या में रत हैं।[३] प्रस्तुत कथन "विद्या में रत गहनतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं" कुछ विचित्र सा अवश्य लगता है परन्तु विद्या यहाँ पर वैदिक कर्मरूपी विद्या के रूप में प्रयुक्त हुई है। यों तो विद्या में रत हुआ ही नहीं जा सकता। विद्या प्राप्त करके सबसे विरति स्वतः ही हो जाती है।

कठोपनिषद् का कथन है—अविद्या के भीतर रहने वाले, स्वयं बुद्धिमान् बने हुए तथा अपने को पंडित मानने वाले मूढ पुरुष नेत्रविहीन से ही ले जाये जाते हुए नेत्रविहीन की भाँति भटकते रहते हैं।[४] मनुष्य के निकट श्रेय और प्रेय दोनों ही उपस्थित रहते हैं। विवेकी पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय का वरण करता है किन्तु मूढ योग क्षेम के निमित्त प्रेय का वरण करता है।[५] इन्हीं अविद्याग्रस्त लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—उठो! अज्ञान-निद्रा से जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। तत्वज्ञानी लोग उस मार्ग को छुरे की धार के समान तीक्ष्ण तथा दुर्गम बताते हैं।[६]

---

१ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि। छा० ७।१।२

२ सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तं होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्॥ छा० ७।१।३

३ अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ बृ० ४।४।१०।ई०९

४ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः। कठो० १।२।५

५ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥ कठो० १।२।२

६. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति। कठो० १।३।१४

श्वेताश्वतर उपनिषद् में यौगिक साधना का जो वर्णन हुआ है, वह मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकृत हुआ प्रतीत होता है। तीनों सिर, ग्रीवा, वक्षस्थल को ऊँचा रखते हुए शरीर को सीधा रखकर मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट कर विद्वान् 'ओंकार' रूप नौका के द्वारा सम्पूर्ण भयानक जल प्रवाहों को पार कर जाता है।[1] योग में संलग्न साधक को उचित है कि युक्त आहार-विहार करता हुआ, प्राणों का निरोध करके जब प्राणशक्ति क्षीण हो जाय, नासिका रंध्र के द्वारा पुष्ट अश्व से युक्त रथ के सारथि की भाँति वह सावधान होकर मन का नियंत्रण करे।[2] जो समतल, पवित्र, शर्करा, अग्नि तथा बालुका से रहित, शब्द, जल तथा आश्रम आदि से भी शून्य हो, मन के अनुकूल हो, और नेत्रों को पीडा न देने वाली हो ऐसी गुहा आदि स्थान में मन को युक्त करे।[3] इस प्रकार प्राणायाम तथा अन्य यौगिक क्रियाएँ करने से प्राप्त सिद्धियों में प्रथम सिद्धि शरीर का हल्कापन, आरोग्य, विषयासक्ति की निवृत्ति, कान्ति की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता तथा मलमूत्र की न्यूनता बताई गई है।[4] यह सभी सिद्धियाँ वास्तविक रहस्य से सम्बन्धित नहीं हैं परन्तु उस रहस्यमय की प्राप्ति में सहायक कारण अवश्य हो सकती हैं। यौगिक क्रियाओं द्वारा तथाकथित मानसिक तथा शारीरिक स्थिति वाले के लिए उस परम सत्य के प्रत्यक्ष का मार्ग सुगम हो जाता है। इन्हीं यौगिक क्रियाओं की साधना आगे चलकर संत-साहित्य में हठयोग साधना के रूप में दृष्टिगोचर होती है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में हठयौगिक प्रक्रियाओं की साधना के साथ ही साथ ध्यानयोग का भी समावेश हुआ है। ध्यान के द्वारा ऋषियों को कारणभूता ब्रह्मशक्ति का साक्षात्कार हुआ।[5] परमात्म ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर अविद्या आदि सम्पूर्ण क्लेशों का नाश हो जाता है। क्लेशों का क्षय हो जाने पर जन्म-मृत्यु की निवृत्ति हो जाती है तथा ध्यान करने से शरीरपात के अनन्तर सर्वैश्वर्यमयी तृतीय अवस्था की प्राप्ति होती है, फिर आप्तकाम होकर कैवल्यपद को प्राप्त हो जाता है।[6]

---

१ त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥ — श्वे० २।८

२ प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥ — श्वे० २।९

३. समे शुचौ शर्करावह्निवालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥ — श्वे० २।१०

४ लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥ — श्वे० २।११

५. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ — श्वे० १।३

६ ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः। — श्वे १।११

पूर्ण ब्रह्म-साक्षात्कार के मार्ग में साधक को अनेक रंगों तथा शब्दों का प्रत्यक्ष होता है, जिसे हम अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कह सकते हैं। परन्तु यह प्रत्यक्ष अंतिम गति नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म-साक्षात्कार के मार्ग में आने वाली अनेक सिद्धियों में से ये भी है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्षानुभूति की अभिव्यक्तियों से हिन्दी-साहित्य तो भरा-पूरा है ही, उपनिषदों में भी इसका पर्याप्त वर्णन मिलता है। बृहदारण्यक में उस मोक्ष साधन रूप प्रत्यक्ष के विषय में मुमुक्षुओं के अनेक मत व्यक्त हुए है। अपने-अपने प्रत्यक्ष के अनुसार कोई उसे शुक्ल बतलाते है, दूसरे नील वर्ण कहते हैं तथा अन्य उसे पिंगल, हरित अथवा लोहित वर्ण बतलाते हैं, किन्तु यथार्थत: वह मार्ग केवल ब्रह्म के द्वारा अनुभूत है और पुण्य करने वाला ब्रह्मवेत्ता ही उसे प्राप्त करता है।[1] शांकर भाष्य में *इन्हें श्लेष्मादि रस से परिपूर्ण सुषुम्नादि नाड़ियाँ ही माना गया है।*[2] इसी उपनिषद् में अन्यत्र ब्रह्म के अचाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय में इस प्रकार कहा गया है—उस पुरुष का रूपरंग ऐसा है जैसे हल्दी में रंगा हुआ वस्त्र, श्वेत ऊनी वस्त्र, वीरबधूटी, *अग्नि की ज्वाला, श्वेत कमल तथा जैसे दामिनी की दमक।* अब इसके पश्चात् 'नेति नेति' ब्रह्म का आदेश है।[3] यह अनेक रंगों का वर्णन साधनावस्था में अनुभूत प्रत्यक्ष का यथावत् वर्णन है। इसके पश्चात् होने वाले पूर्ण साक्षात्कार का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता *तथा उस अनिर्वचनीयता को 'नेति नेति' के द्वारा व्यक्त किया गया है।*

केनोपनिषद् में कहा गया है—जो बिजली की कौंध के समान अथवा पलक मारने के समान प्रादुर्भूत हुआ, वह उस ब्रह्म का अधिदैवत् रूप है।[4] श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो यह बिलकुल स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है कि योगाभ्यास करते समय प्रथम अनुभव होने वाले नीहार, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत, स्फटिक मणि और चन्द्रमा—इनके रूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराने वाले होते है।[5] इन स्वरूपों को ब्रह्म का स्वरूप मान लेने पर भी इन्हें वास्तविक साक्षात्कार का पर्याय नहीं माना जा सकता। यह आंशिक प्रत्यक्ष *योग अथवा सिद्धि के मार्ग में एक दशा मात्र है।* वास्तविक एवं पूर्ण साक्षात्कार का स्वरूप उससे श्रेष्ठ तथा महान् है।

बृहदारण्यक तथा ईशावास्योपनिषद् में आवरण के पीछे पिहित सत्य-ब्रह्म को रहस्य

---

१. तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिंगलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तैजसश्च ॥ बृ० ४।४।६

२. तस्मिन् मोक्षसाधनमार्गे विप्रतिपत्तिर्मुमुक्षूणाम्; कथम्? तस्मिन् शुक्लं शुद्धं विमलमाहुः केचिन्मुमुक्षवः नीलम् अन्ये, पिङ्गलम् अन्ये, हरितं लोहितं च यथादर्शनम्। नाड्यस्त्वेताः सुषुम्नाद्याः श्लेष्मादिरससंपूर्णाः "शुक्लस्य नीलस्य पिंगलस्य" ।८।३।२०। इत्याद्युक्तत्वात्।
बृ० ४।४।६।शां० भा०

३. तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्। यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तं सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति" ॥ बृ० २।३।६

४ तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३ इतीन्न्यमीमिषदा३ इत्यधिदैवतम्। केनो० ४।४

५. नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ श्वेता० २।११

का प्रतीक माना गया है। सत्य का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। पूषन् से प्रार्थना करते हुए ऋषि का उद्गार है—सत्य सनक ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे संसार का पोषण करने वाले सूर्यदेव! तू मुझ सत्यधर्मा के प्रति उसका अनावरण कर दे। अपनी किरणों को हटा ले और तेज को समेट ले। तेरा जो अत्यन्त कल्याणमय रूप है, वह मैं देखता हूँ। यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है वही मैं अमृत-स्वरूप हूँ।[1] परम सत्य के विषय में छान्दोग्य उपनिषद में उल्लेख है कि प्रारम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसी के विषय में कतिपय लोगों ने ऐसा भी कहा है कि आरम्भ में एकमात्र अद्वितीय असत् ही था।[2] नासदीय सूक्त में सत्य के सदासद भिन्नरूप का वर्णन हम देख ही चुके हैं।

मोक्ष का मार्ग सूक्ष्म, विस्तीर्ण और पुरातन है। वह आत्मकामी ब्रह्मवेत्ता को स्पर्श किये रहता है और वही उसका फलसाधक ज्ञान प्राप्त करता है। धीर ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोक में जीवित रहते ही मुक्त होकर शरीर-त्याग के पश्चात् उसी मार्ग से स्वर्गलोक अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।[3] प्रत्यक्षकर्ता ब्रह्मवेत्ता की वास्तविक स्थिति तो यह हो जाती है कि उसके लिए अंत तथा बाह्य में कोई अंतर ही नहीं रह जाता। अपनी प्रिय भार्या का आलिंगन करने वाले पुरुष को जिस प्रकार अंत और बाह्य का किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिंगित होने पर अंत और बाह्य कुछ भी नहीं जानता। यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है।[4]

यह ब्रह्मवेत्ता की नित्य महिमा है जो कर्म से न तो बढ़ती है न घटती है। उस महिमा के स्वरूप का ज्ञान लेने से व्यक्ति पाप कर्म से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार जानने वाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है सभी को आत्मा देखता है। उसे पाप की प्राप्ति नहीं होती। वह सम्पूर्ण पापों को पार कर जाता है। उसे पाप ताप नहीं पहुँचाते। वह समस्त पापों को सन्तप्त करता है। वह पाप रहित, निष्काम, निःसंशय ब्राह्मण हो जाता है।[5] वैश्वानर ब्रह्म को जानने वाला उस

---

१ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्। समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। बृ० ५।१५।१

२ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत॥ छा० ६।२।१

३. तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गंलोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः। बृ० ४।४।८

४ तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्। बृ० ४।३।२१

५. तदेतदृचाभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति

स्थिति को प्राप्त हो जाता है कि उसका कोई दुष्कर्म भी उसे पाप मे लिप्त नही करता। वह समस्त विधि एव निषेधो से परे हो जाता है। उसके समस्त कार्य केवल उस परमात्मा के लिए ही हो जाते हैं। वैश्वानर अग्नि को जानने वाला यदि चाण्डाल को उच्छिष्ट भी दे तो वह अन्न वैश्वानर आत्मा मे ही हुत होगा।[1] छान्दोग्य उपनिषद् मे रहस्यदर्शी की श्रेष्ठता को सर्वोपरि रखते हुए कहा गया है कि सुवर्ण-चोर, मद्यप, गुरु स्त्रीगामी, ब्रह्म-हत्यारा ये चारो पतित होते है। *पाँचवाँ पतित वह होता है जो इनके कुसग मे रहता है।*[2] किन्तु जो रहस्य-तत्त्व को जानता है *वह उनके सम्पर्क मे रहता हुआ भी पाप से लिप्त नही होता।* वह शुद्ध, पवित्र, पुण्यलोक का भागी होता है।[3] ब्रह्मोपनिषद् के ज्ञाता के लिए न तो सूर्य का उदय होता है, न अस्त। वह सर्वदा एक आनन्दमय, नित्य-लोक मे विचरण किया करता है। उस अज्ञानान्धकार से रहित शाश्वत प्रकाश से परिपूरित स्थिति मे स्वय प्रकाश ज्ञान की किरणें अनवरत विकीर्ण हुआ करती है।[4]

बृहदारण्यक मे ब्रह्मवेत्ता अथवा आत्मवेत्ता के विषय मे बडे ही रहस्यमय उद्‌गारो की व्यजना हुई है। जिस समय ब्रह्मवेत्ता के हृदय मे स्थित सम्पूर्ण कामनाओं का नाश हो जाता है, उस समय यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और यही इस शरीर मे ही उसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है। सर्प द्वारा परित्यक्त केंचुल जिस प्रकार निरर्थक पडी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर निरर्थक पडा रहता है। यह अशरीर अमृत-प्राण तो ब्रह्म ही है, तेज ही है।[5] जहाँ द्वैत की भाँति भासित होता है, वही *अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य को* देखता है, *अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का अभिवादन करता है, अन्य अन्य का मनन करता* है तथा *अन्य अन्य* को जानता है। जहाँ इसके लिए सब *आत्ममय ही हो गया है*, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने। अरे विज्ञाता को किसके द्वारा जाने।[6]

विज्ञातो विजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोक सम्राडेन प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मा चापि सह दास्यायेति। बृहदा० ४।४।२३

१. तस्माद् हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यादिति तदेष श्लोक। छान्दो० ५।२४।४

२. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वार पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति॥ छान्दो० ५।१०।९

३. अथ ह य एतानेव पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्ध पूत पुण्यलोको भवति य एव वेद य एव वेद। छान्दो० ५।१०।१०

४. न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेव ब्रह्मोपनिषद वेद। छान्दो० ३।११।३

५. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति। तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृत प्राणो ब्रह्मैव तेज एव।। बृहदा० ४।४।७

६. यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतर पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरम

आत्मा के रहस्यमय स्वरूप के विषय में याज्ञवल्क्य का कथन है—तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते, श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते। तुम्हारी यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न नाशवान है।[1] आत्मा के रहस्यमय प्रत्यक्ष के विषय में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद द्रष्टव्य है। मैत्रेयी के प्रति याज्ञवल्क्य का कथन है—यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिय नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिए प्रिय होती है। सबके प्रयोजन के लिए सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए प्रिय होते हैं। प्रियतम आत्मा के लिए ही अन्य वस्तुएँ प्रिय होती हैं। यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से इस सबका ज्ञान हो जाता है।[2] वह अजन्मा आत्मा शुभ कर्म से बढ़ती नहीं, अशुभ कर्म से लघुता को नहीं प्राप्त होती। उस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। इसी को जानकर मुनि होता है। इस आत्म लोक की ही इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब-कुछ त्यागकर चले जाते हैं। 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश की गई आत्मा ग्रहण नहीं की जाती, उसका नाश नहीं होता, वह कहीं आसक्त नहीं होती व्यथित नहीं होती तथा उसका क्षय नहीं होता।[3] वह अणु से अणुतर, महान् से महत्तर इस जीव के अंतःकरण में स्थित है। उस महिमामय आत्मा को जो ईश्वर की कृपा से देखता है वह शोकरहित हो जाता है।[4] वह स्थित हुआ भी दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। हर्ष से युक्त और हर्ष से रहित

भिवदति तदितर इतर मनुते तदितर इतर विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥ बृहदा० २।४।१४

१ न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम। बृहदा० ३।४।२

२ स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। बृहदा० २।४।५

३ स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः ... सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष ... तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। ... स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः॥ बृहदा० ४।४।२२

४. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ श्वेता० ३।२०

उस देव को भला मेरे (यम) अतिरिक्त और कौन जान सकता है।[1] यह अगुष्ठ मात्र पुरुष अन्तरात्मा सर्वदा जीवों के हृदय मे स्थित है। ज्ञानाधिपति एव हृदय स्थित मन के द्वारा सुरक्षित है। जो उसे जानते हैं, वे अमर हो जाते है।[2] जो अगुष्ठ के समान आकार वाला, सूर्य के समान ज्योतिस्वरूप, सकल्प, अहकार, बुद्धि और शरीर के गुण से युक्त, वह अन्य (जीव) भी आरे की नोक के बराबर देखा गया है।[3]

यह आत्मा सर्वदा तप सत्य, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसे दोषहीन योगीजन देखते है। वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीर के भीतर रहता है।[4] जो कोई उस परमब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुल मे कोई अब्रह्म-वित नहीं होता। वह शोक से मुक्त हो जाता है, पाप से निर्लिप्त हो जाता है, हृदय-ग्रथियो के निर्बन्ध हो जाने से अमरत्व प्राप्त कर लेता है।[5] वह आत्मा न वाणी से न मन से और न नेत्र से प्राप्त की जा सकती। इससे भिन्न कहने वाले पुरुषो को किस प्रकार प्राप्त हो सकती है।[6] यह नेत्र द्वारा दृष्टिगोचर नही हो सकती। यह आत्मा तो मन का नियमन करने वाली हृदय मे स्थित बुद्धि द्वारा मनन रूप सम्यक् दर्शन से प्रकाशित है।[7] अणु से भी अणुतर, महान् से भी महत्तर आत्मा सम्पूर्ण समुदाय की हृदयरूपी गुहा म स्थित है। निष्काम पुरुष ईश्वर की कृपा से आत्मा की उस महिमा को जानकर शोकरहित हो जाते है।[8] इस महान् शरीर मे प्रविष्ट हुई आत्मा जिस ब्राह्मण को प्राप्त हो गई है वह कृतकृत्य है, वही सबका कर्ता है उसी का लोक है और स्वय वही लोक भी है।[9]

छान्दोग्योपनिषद् मे इसी सर्वात्म दर्शन के रहस्यमय ज्ञान को 'भूमा' कहा गया है।

---

१ आसीनो दूर व्रजति शयानो याति सर्वत ।
कस्त मदामद देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ कठो० १।२।२१

२ अगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनाना हृदये सनिविष्ट ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ श्वेता० ३।१३

३ अगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप सकल्पाहकारसमन्वितो य ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट ॥ श्वेता० ५।८

४ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्त शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो य पश्यन्ति यतय क्षीणदोषा ॥ मुंडको० ३।१।५

५ स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोक तरति पाप्मान गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ मुण्डको० ३।२।९

६ नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते ॥ कठो० २।३।१२

७ न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ कठो० २।३।९

८. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मन ॥ कठो० १।२।२०

९. यस्यानुवित्त प्रतिबुद्ध आत्मास्मिन् सदेह्ये गहने प्रविष्ट ।
स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोक स उ लोक एव ॥ बृहदा० ४।४।१३

'भूमा' की स्वरूप-व्यंजना बड़े ही रहस्यात्मक शब्दों में हुई है। जो 'भूमा' है, वही सुख है। अल्प में सुख नहीं है। सुख 'भूमा' ही है। 'भूमा' की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी श्रेयस्कर है।[1] स्वयं 'भूमा' क्या है? वह रहस्यमय ज्ञान है सर्वात्मदर्शन का।......जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह 'भूमा' है, किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, वह अल्प है। जो 'भूमा' है, वही अमृत है। जो अल्प है, वह मर्त्य है। वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है अथवा अपनी महिमा में भी नहीं है।[2] 'भूमा' ही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है। सब उसी में अहंकारादेश किया जाता है।[3] आत्मा रूप से 'भूमा' का आदेश किए जाने पर .. आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है .. आत्मा ही यह सब है। वह इस प्रकार देखने वाला, इस प्रकार मनन करने वाला तथा विशेष रूप से जानने वाला आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है। वह स्वराट् है और सम्पूर्ण लोकों में उसकी गति होती है।[4]

यह समग्र जगत् निश्चय ब्रह्म ही है। यह उसी से उत्पन्न होने वाला, उसी में लीन होने वाला और उसी में चेष्टा करने वाला है।[5] इस द्युलोक से परे जो परम ज्योति विश्व के पृष्ठ पर अर्थात् सबके ऊपर है, जिससे उत्तम कोई अन्य लोक नहीं है, ऐसे उत्तम लोकों में प्रकाशित हो रही है, वह इस पुरुष के भीतर स्थित ज्योति ही है।[6] इस मन्त्र के द्वारा आत्मस्थित ब्रह्म तथा विश्वब्रह्म दोनों का एकात्म्य प्रदर्शित किया गया है तथा यही भाव शांडिल्य मुनि के कथन द्वारा भी व्यक्त हुआ है। जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस इस सबको सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाक् रहित और संभ्रम-शून्य है, वह मेरी आत्मा हृदय-कमल के मध्य में स्थित है। यही ब्रह्म है।[7]

---

१. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति॥ छान्दो० ७।२३।१

२. यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति। छान्दो० ७।२४।१

३. स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति... । छान्दो० ७।२५।१

४. अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।... छान्दो० ७।२५।२

५ सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।... छान्दो० ३।१४।१

६. अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः॥ छान्दो० ३।१३।७

७ सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः... । छान्दो० ३।१४।४

श्वेताश्वतर उपनिषद् को रहस्यवादी अनुभूतियों एवं उपकरणों का कोष कह सकते हैं। ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है—यह सर्वव्यापी देव जगत्कर्ता और सर्वदा समस्त जीवों के हृदय में स्थित है। इसे जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।[1] ब्रह्म का स्वरूप नेत्रादि से ग्रहण करने योग्य नहीं है, उसे कोई भी नेत्र द्वारा नहीं देख सकता। जो इस हृदय स्थित परमात्मा को शुद्ध बुद्धि से इस प्रकार जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।[2] सब ओर नेत्रों, मुखों, भुजाओं और पैरों वाला है। वह एक मात्र देव द्युलोक एवं पृथ्वी की रचना करता हुआ वहाँ के मनुष्य, पक्षी आदि प्राणियों को दो भुजाओं और पंखों से युक्त करता है।[3] वह सहस्र सिर, नेत्र, चरण वाला तथा पूर्ण है। वह पृथ्वी, आकाश सबको व्याप्त करके उससे दस अंगुल ऊपर स्थित है।[4]

यह परमात्मा केवल स्थूल इन्द्रियों वाला ही नहीं है। वह अशरीर होते हुए भी समस्त कार्य सम्पादित करता है। वह बिना हाथ-पैर के भी ग्रहण करता है, बिना नेत्रों के भी देखता है, बिना कानों के भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वेद (जानने योग्य) को जानता है परन्तु उसका जानने वाला कोई नहीं है। उसे सबका आदि एवं महान् कहा जाता है।[5]

छान्दोग्य उपनिषद् में रहस्यमय शब्द ब्रह्म के विषय में कहा गया है कि यह जो उद्गीथ 'ओंकार' है, सम्पूर्ण रसों में रसतम उत्कृष्ट परमात्मा का आश्रय-स्थान और पृथ्वी आदि रसों में अष्टम रस है।[6] इस अक्षर परमात्मा की पूजा के लिए ही सम्पूर्ण कर्म हैं तथा इसकी महिमा व रस के द्वारा सब कर्म में प्रवृत्त होते हैं।[7] पत्ते जिस प्रकार ततुओं से व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार 'ओंकार' से सम्पूर्ण वाक् व्याप्त है, 'ओंकार' ही सब कुछ है।[8] कठोपनिषद् में 'ओम' को परम शब्द के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। समस्त वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, सम्पूर्ण तपों को जिसकी प्राप्ति का साधन कहते हैं जिसकी इच्छा से मुमुक्षु-जन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वह पद 'ओम्' ही है।[9] यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर

---

१. एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ श्वेता० ४।१७

२. न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ श्वेता० ४।२०

३. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ श्वेता० ३।३

४. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ श्वेता० ३।१४

५. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ श्वेता० ३।१९

६. स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ छान्दो० १।१।३

७. तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥ छान्दो० १।१।९

८. तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक्संतृण्णोंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम् ॥ छान्दो० २।२३।३

९. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ कठो० १।२।१५

है, इस अक्षर को ही जानकर जो जिसकी इच्छा करता है वही उसका हो जाता है।[1] इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद् में रहस्यात्मक ढंग से 'ओंकार' ही सब कुछ माना गया है। देश, काल आदि सबको व्याप्त करके उससे भी परे 'ओंकार की ही सत्ता है। यह 'ओम्' ही सब-कुछ है। यह जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान है उसकी ही व्याख्या है। इसके अतिरिक्त जो त्रिकालातीत है वह भी ओंकार ही है।[2] वह न अन्त:प्रज्ञ है, न बहि:प्रज्ञ है, न उभयत: प्रज्ञ है न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ है अपितु अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिंत्य, अव्यपदेश्य, एकात्म, प्रत्ययसार, प्रपंच का उपशम, शांत, शिव, अद्वैत रूप है। वही आत्मा है और वही जानने योग्य है।[3]

श्वेताश्वतर उपनिषद में ईश्वर अथवा ब्रह्म को मायापति अथवा मायावी कहा गया है। वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य, वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं, वह सब मायावी ईश्वर इस प्रकार से ही उत्पन्न करता है और उस प्रपंच में ही माया से अन्य-सा होकर बंधा हुआ है।[4] बृहदारण्यक में ईश्वर को माया से अनेक रूप प्रतीत होता हुआ कहा गया है।[5]

उस रहस्यमय ब्रह्म का प्रत्यक्ष केवल ज्ञान से सम्भव नहीं माना गया है। उसके लिए तप रूपी प्रयत्न तो आवश्यक है ही, उसकी सिद्धि के लिए ईश्वर की कृपा भी उतनी ही आवश्यक है। महर्षि श्वेताश्वतर ने तपोबल और परमात्मा की कृपा से ही उसका प्रत्यक्ष प्राप्त किया तथा ऋषि समुदाय से सेवित इस परम पवित्र ब्रह्म तत्त्व का उपदेश सन्यासियों को दिया।[6]

छान्दोग्य उपनिषद में इन्द्र और विरोचन के आख्यान से रहस्यात्मक प्रत्यक्ष की उत्तरोत्तर उन्नत होती हुई अवस्थाओं पर भली भाँति प्रकाश पड़ता है। अपनी प्रतिच्छाया को देखकर इन्द्र और विरोचन ने शरीर को ही आत्मा माना तथा विरोचन ने कहा—इस लोक में यह आत्मा ही पूजनीय है आत्मा ही सेवनीय है। इसकी परिचर्या करने वाला इहलोक तथा परलोक दोनों को प्राप्त कर लेता है।[7] विरोचन तो इस प्रत्यक्ष से संतुष्ट हो गया

---

१ एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ कठो० १।२।१६

२ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥ माण्डूक्यो० १

३ नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥ माण्डूक्यो० ७

४ छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः॥ श्वेता० ४।९

५ रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। बृहदा० २।५।१९

६ तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्॥ श्वेता० ६।२१

७ स ह विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति। छान्दो० ८।८।४

परन्तु इन्द्र को सतोष न हुआ। अपने गुरु प्रजापति के आश्रम मे पुन जाकर उनकी आज्ञानुसार ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वह एक सौ एक वर्ष तक गुरु की सेवा करता रहा। इन्द्र को स्वप्न मे स्थित आत्मा की रहस्यमयी अनुभूति हुई। तदनन्तर सुषुप्ति मे स्थित पुरुष मे भी उसी प्रकार की अनुभूति हुई। अन्तत ब्रह्म के सर्वात्मदर्शन रूप का प्रत्यक्ष हुआ जिससे वह परम तृप्त हो गया।

यह हम पहले देख चुके हैं कि साधक को सिद्धि की पूर्वावस्था मे अचाक्षुष प्रत्यक्ष होते है। 'नीहार', 'धूम', दामिनी की दमक आदि उसी के रूप कहे गये है। इसी अचाक्षुष प्रत्यक्ष के उपरान्त सर्वात्म दर्शन की स्थिति आ जाती है। परन्तु इस स्थिति से भी ज्ञानी पूर्ण सतुष्ट नही हो जाता। वह प्रभु की कृपा-कटाक्ष के लिए निरन्तर लालायित रहता है। उसकी उत्सुकता घटती नही, वरन् बढती ही जाती है। वह स्तुति करता है—हे रुद्र ! तुम्हारी जो *मगलमयी शात, पुण्यप्रकाशिनी मूर्ति है, हे गिरिसत ! उस पूर्णानन्दमयी मूर्ति के द्वारा तुम हमारी ओर दृष्टिपात करो।*[1] *यही वह स्थिति है जिसमे रहस्यवादी अपनी समस्त भावनाओ,* चेतनाओ तथा क्रियाओ को एक मात्र ब्रह्म मे केन्द्रित कर देता है। यही उसका परमानन्द है।

केनोपनिषद् मे ब्रह्म के अज्ञेयत्व तथा अनिर्वचनीयत्व के विषय मे रहस्यात्मक जिज्ञासा से युक्त उत्कृष्ट कोटि की अनुभूति व्यक्त हुई है। ऋषि स्वय नही जानता, उसकी समझ मे नही आता कि उस रहस्यमय का वर्णन अपने शिष्यो के प्रति किस भाँति करे। विदित से भी अन्य तथा अविदित से भी परे उस स्वरूप का वर्णन करने मे वह अपने को सक्षम नही पाता। जहाँ न दृष्टि जाती है, न वाणी जाती है और न मन ही जाता है, उसका *वर्णन कैसे हो ? जो इन्द्रियो की गति से परे है वही ब्रह्म है।*[2] *जो वाणी के द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता, वाणी जिसके द्वारा व्यक्त होती है वही ब्रह्म है, न कि जिसकी उपासना* लोक मे की जाती है।[3] जो मन के द्वारा मनन नहीं किया जाता, वरन् जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, वही ब्रह्म है।[4] जिसे नेत्र देख ही नही सकते अपितु जो नेत्रो को दिखलाने वाला है, वही ब्रह्म है।[5] जिसे कोई कान से नही सुन सकता बल्कि जिससे यह श्रोत्रेन्द्रिय सुनी जाती है, वही ब्रह्म है।[6] तथा जो प्राणो का विषय न होकर स्वय प्राणो

---

१. *या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।*
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ श्वेता० ३।५

२. *न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो*
अविदितादधि' ' '' । केनोप० १।३

३. *यद्वाचानभ्युदित येन वागभ्युद्यते ॥*
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥ केनोप० १।४

४. *यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ॥*
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥ केनोप० १।५

५. *यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूषि पश्यति ।*
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥ केनोप० १।६

६. *यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिद श्रुतम् ।*
तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥ केनोप० १।७

को ही अपने विषय मे प्रयुक्त करता है वही ब्रह्म है। जिसकी लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नही है।[1]

जो यह मानता है कि 'मैं ब्रह्म को भली-भाँति जानता हूँ' वह निश्चय ही ब्रह्म का थोडा सा ही रूप जानता है। इसका जो रूप विदित है तथा जिस रूप को देवता जानते हैं, वह भी अल्प ही है।[2] ब्रह्म जिनको ज्ञात नही है, उसी को ज्ञात है और जिसको ज्ञात है, वह उसे नहीं जानता, क्योंकि वह जानने वालो का बिना जाना हुआ अविज्ञात है। और न जानने वालो का जाना हुआ विज्ञात है।[3] आगे चलकर रहस्यात्मक अनुभूति का निखरा हुआ रूप इस प्रकार व्यंजित हुआ है—मैं न तो यह मानता हूँ कि ब्रह्म को अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि उसे नही जानता। इसलिए मैं उसे जानता हूँ और नहीं भी जानता। हम शिष्यो में से जो उसे 'न तो नही जानता हूँ और न जानता ही हूँ' इस प्रकार जानता है वही जानता है।[4] कितनी रहस्यात्मक उक्ति है ऋषि की।

केनोपनिषद् में रहस्यमय ब्रह्म का वर्णन उपर्युक्त प्रकार से हुआ है परन्तु श्वेताश्वतर मे इसके विपरीत वर्णन मिलता है। सिद्धावस्था की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् ज्ञानी कहता है कि ब्रह्मवेत्ता जिसे अजर अमर पुराण, सर्वशक्तिमान्, सर्वगत बताते हैं तथा जो अजन्मा है, उसे मैं जानता हूँ।[5] यद्यपि ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी की यह गर्वोक्ति होने के कारण कुछ सटकनी-सी है परन्तु रहस्यात्मक अनुभूति का कर्ता एवं रहस्यात्मक अभिव्यक्ति का अधिकारी होने के कारण उसका सब कुछ कहना उचित है। इतना ही नही, उस ब्रह्मवेत्ता का कथन है—मैं इस अज्ञानातीत प्रकाशस्वरूप महान् पुरुष को जानता हूँ। उसे ही जानकर पुरुष मृत्यु से निस्तार पा लेता है। इसके अतिरिक्त परम पद के लिए कोई मार्ग नहीं है।[6]

उपर्युक्त कथन रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के उत्कृष्टतम उदाहरण कहे जा सकते हैं। ज्ञानी को जिस प्रकार स्वरूपज्ञान हुआ, वह उसे व्यक्त करने मे सर्वथा असमर्थ दृष्टिगोचर होता है। वह वाणी मे सामर्थ्य नही पाता जिससे कि वर्णन कर सके। वह उस स्वरूप को

---

१. यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केनो० १।८

२. यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनम् । त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ केनो० २।१

३. यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ केनो० २।३

४. नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ॥
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ केनो० २।२

५. वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥ श्वेता० ३।२१

६. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ श्वेता० ३।८

इन्द्रियातीत मानता है। सभी इन्द्रियाँ उसके साक्षात्कार में अक्षम प्रतीत होती है। इतना होने पर भी उसका अन्त उस साक्षात्कार के ज्ञान से इतना ओतप्रोत है कि वह उसके वर्णन में पुनरावृत्ति करते भी नही थकता। उसे सन्तोष होता है कि वह कुछ जान सका और उसका कुछ जानना वह असाधारण ज्ञान कहा जा सकता है जो प्रत्यक्ष के पूर्व उसे प्राप्त नही था।

श्वेताश्वतर में उपनिषद्कार ने ब्रह्म साक्षात्कार की रहस्यमयी स्थिति का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया है—जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाशस्वरूप आत्मभाव से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है उस समय उस अजन्मा, निश्चल और समस्त तत्त्वो से विशुद्ध देव को जानकर सम्पूर्ण बंधनों से मुक्त हो जाता है।[1] जिस समय अज्ञान नही रहता, ज्ञान का साक्षात्कार होता है, उस समय न दिन रहता है, न रात्रि रहती है, न सत् रहता है केवल शिव ही रह जाता है। उसी से परम्परागत ज्ञान का प्रचार हुआ है।[2]

तैत्तिरीयोपनिषद् में सत्य के साक्षात्कार की रहस्यमयता तथा क्रमिक विकास का सुस्पष्ट प्रकाशन हुआ है। तप करने के पश्चात् महर्षि भृगु को यह ज्ञान हुआ कि अन्न ही ब्रह्म है क्योंकि अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते है अन्न से ही जीवित रहते हैं तथा प्रयाण करते समय अन्न में ही लीन हो जाते हैं।[3] तदनन्तर भृगु को क्रमश प्राण मन विज्ञान तथा आनन्द में परम सत्य ब्रह्म के दर्शन हुए। इस प्रकार ऋषि ने जिज्ञासा तथा उसकी पूर्ति के द्वारा जो निरन्तर तप रूपी एकाग्रचिंतन से होती है भिन्न भिन्न रहस्यमय स्वरूपों का प्रत्यक्ष किया।[4]

असत् ही पहले था। उसी से सत् की उत्पत्ति हुई। इसीलिए वह सुकृत कहा जाता है। जो रस है जिसको पाकर पुरुष आनन्दमय हो जाता है। जिस समय यह साधक इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्म में अभय स्थिति प्राप्त करता है, उस समय ही उसको अभय प्राप्त हो जाता है।[5] जहाँ से मन सहित वाणी उसे प्राप्त न करके लौट

---

१ यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै ॥ श्वेता० २।१५

२ यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवल ।
तदक्षर तत्सवितुर्वरेण्य प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥ श्वेता० ४।१८

३. अन्न ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्न प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तैत्तिरीयो० ३।२।१

४ प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् तैत्तिरीयो० ३।३।१
मनो ब्रह्मेति व्यजानात् तैत्तिरीयो० ३।४।१
विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्तिरीयो० ३।५।१
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्तिरीयो० ३।६।१

५. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।
यद्वै तत्सुकृत रसो वै स। यदा
ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभय प्रतिष्ठा विन्दते। अथ सोऽभय गतो भवति।
तैत्तिरीयो० २।७।१

आती है उस ब्रह्मानन्द के ज्ञाता को किससे भय हो। उसे पाप और पुण्य दोनों ही आत्म-रूप दिखाई पड़ते हैं। इसी से वह चिन्तामुक्त होकर परम आनन्दित होता है।[1] सत्यवेत्ता ऋषि इस लोक से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्मा के प्रति सक्रमण कर, इस विज्ञानमय आत्मा के प्रति सक्रमण कर तथा इस आनन्दमय आत्मा के प्रति सक्रमण कर इन लोकों में इच्छानुसार भोग भोगता हुआ कामरूपी होकर विचरता हुआ सामगान करता है—मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ मैं अन्न हूँ। मैं अन्नाद (भोक्ता) हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ। मैं ही श्लोक-कृत (अन्न और अन्नाद का सघातकर्त्ता) हूँ। मैं ही श्लोककृत हूँ, मैं ही श्लोककृत हूँ। मैं ही इस जगत् के पहले उत्पन्न हुआ हूँ, मैं ही विराट् एव अमृतत्व का केन्द्र रूप हूँ।[2]

यहाँ हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपनिषदों में केवल सत्य ज्ञान की बौद्धिक प्राप्ति का ही निरूपण नहीं हुआ है वरन् सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक व्यावहारिक उपकरणों एव साधनों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसीलिए स्थान-स्थान पर परा तथा अपरा विद्या को स्पष्टतया अकित किया गया है। परम सत्य मन बुद्धि आदि से प्राप्तव्य नहीं है। उसका साक्षात्कार परावौद्धिक ज्ञान तथा व्यावहारिक प्रयत्न के द्वारा ही सम्भव है। प्रारम्भिक यौगिक क्रियाओं के द्वारा प्राणों को नियत्रित कर लेने पर तथा अत करण के शुद्ध हो जाने पर आत्मा स्वय का प्रकाशन करती है। यथार्थ में न इन्द्रियों के द्वारा, न बुद्धि के द्वारा ही परमात्म प्राप्ति होती है, वह सबसे परे भिन्न माध्यम से ग्रहण किया जाता है।

सत्य ज्ञान की उपलब्धि के लिए सिद्ध आचार्य का उपदेश अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही ज्ञानार्थी का यह परम कर्त्तव्य है कि वह आचार्य के प्रति पूर्णतया श्रद्धावान् रहे तथा उसे ईश्वर सदृश मानता हुआ उसमें अडिग विश्वास रखे। जब तक साधक में इतनी अगाध क्षमता नहीं होती कि वह सिर पर अग्नि तक को धारण करके उसकी ज्वलनशीलता को सहर्ष सहन करता रहे तब तक वह रहस्यात्मक ज्ञान का अधिकारी नहीं होता।

एक ओर ईश्वर अन्तर्यामी है, शरीर के रोम-रोम में व्याप्त है उसी प्रकार जैसे दधि में घृत तथा तिल में तेल समाया रहता है। दूसरी ओर ईश्वर बहिर्यामी भी है। वह सत् असत्, दिवस, रात्रि, पृथ्वी, आकाश सभी में समावेष्टित होकर उससे भी परे (दस अगुल) ऊपर स्थित है।

साधनावस्था में अनुभव होने वाले रहस्यात्मक रूपों, रगों, शब्दों तथा ज्योतियों

---

१. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।
तैत्तिरीयो० २।९।१

२. स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा ३ वु हा २ वु हा २ वु॥
तैत्तिरीयो० ३।१०।५

* सुवर्णं ज्योतिः य एवं वेद। इत्युपनिषत्। तैत्तिरीयो० ३।१०।६

का निरूपण भी हुआ है। इन रूप रंगों का प्रत्यक्ष ईश्वर के आंशिक साक्षात्कार का व्यंजक है। आंशिक प्रत्यक्ष के पश्चात् ही पूर्ण साक्षात्कार की स्थिति आती है जिसमें साधक ब्रह्मानन्द की अनुभूति करके नखशिख उससे अभिषिक्त हो जाता है।

ब्रह्मज्ञान अथवा सत्य की रहस्यमय अनुभूति हो जाने पर आत्मा में सम्पूर्ण विरोधी तत्त्वों का अन्त हो जाता है। अणु से भी अणुतर, महान् से भी महत्तर श्रेष्ठ, निकृष्ट, सत्, असत् सबमें तथा सबसे परे एकमात्र उसी प्रभु की महिमा मंडित सत्ता का प्रत्यक्ष साधक को होता है जिसमें उसकी समस्त अज्ञानजन्य संशय-ग्रन्थियाँ कट जाती हैं तथा वह स्वयं परमात्मा की कृपा से परमात्मा में ही लीन हो जाता है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन ।
पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्ध गीतामृत महत् ॥

समस्त उपनिषद् गौ है, गोपालनन्दन कृष्ण स्वयं दोग्धा हैं, बुद्धिमान् अर्जुन भोक्ता वत्स है तथा जो दुग्ध दोहन किया गया है, वही श्रेष्ठ गीतामृत है। इस रूपक के द्वारा लेखक ने अत्यन्त कुशलता से श्रीमद्भगवद्गीता के वास्तविक रूप का प्रकाशन किया है। समस्त उपनिषदों का सारतत्त्व ही गीता है वरन् उससे भी कुछ अधिक तथा महान् है।

कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरव-पाण्डव सेनाओं के मध्य में उपस्थित किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन के प्रति योगिराज कृष्ण का पथ प्रदर्शन करने वाला उपदेश या कथन ही भगवत्-गीता है। अर्जुन अपने उन शत्रुओं को सम्मुख खडे देखता है। जिन्होंने उसके प्रति घोरतम अन्याय किया था तथा जिनके प्रति प्रतिशोध की प्रबल भावना उसके हृदय में होनी स्वाभाविक थी, अर्जुन के सगे सम्बन्धी, बन्धु बान्धव भी उसके सम्मुख खडे हैं जिनसे उसे अनिच्छापूर्वक युद्ध करना ही होगा। शत्रुओं को पराजित करके राज्य-प्राप्ति का लोभ भी उपस्थित है। अर्जुन वीरों में अग्रणी है। वह मृत्यु की भयंकरता से भी भयभीत नहीं है। जीवन-मृत्यु-विवेक से वह युक्त है, परन्तु उसका यह ज्ञान भी कि शत्रुओं के मारने से पाप नहीं होगा उसे शत्रुओं से युद्ध करने तथा उन्हें मारने की प्रेरणा नहीं देता। हतबुद्धि अर्जुन जिसका 'अहं' नष्ट हो चुका है कृष्णरूपी परमात्मा की शरण जाता है तथा उस ज्ञानरूप प्रकाश को प्राप्त करने की प्रार्थना करता है जिसके द्वारा उसे न केवल कर्त्तव्य का ज्ञान होगा वरन् कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए उत्साहमयी प्रेरणा भी प्राप्त होगी। अस्तु, परम ज्ञानी गुरु कृष्ण ने अर्जुन को इसकी द्वन्द्वात्मक मन स्थिति में जो रहस्यात्मक ज्ञान प्रदान किया तथा जिसे अर्जुन ने पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिया, वही गीता का ज्ञान है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि गीता के गंभीर दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं उपदेश युद्ध की अशान्त संकटापन्न स्थिति में कैसे सम्भव हुआ। हम तो यह कहेंगे कि हतबुद्धि अर्जुन को श्रीकृष्ण जैसे परम विवेकी गुरु के द्वारा उस उद्विग्नतापूर्ण वातावरण में गीता का उपदेश सम्भव ही नहीं अवश्यम्भावी था। महाभारत में एक स्थान पर यह प्रसंग आया है कि युद्ध के उपरान्त किसी समय अर्जुन ने पुन गीतामृत पान करने की इच्छा प्रकट की

परन्तु गीता के गम्भीर उपदेश के लिए समयोचित परिस्थिति न होने के कारण भगवान् कृष्ण अर्जुन की इच्छापूर्ति करने मे समर्थ न हो सके।[१] रहस्यवादी प्रत्यक्ष के लिए मानव मस्तिष्क की ग्राहिका शक्ति का जितना विकास सघर्षमय किंकर्त्तव्यविमूढावस्था म हो सकता है उतना आन्तरिक द्वन्द्व से रहित जीवन की सामान्य अवस्था म, सम्भव नही है।

युद्ध स्थल म खडा हुआ अर्जुन घोर मानसिक सघर्षो मे पडा हुआ है। वह स्वार्थी, लोभी तथा साधारण मनुष्य नही है। वह मित्रद्रोह कुलघातरूप हिंसा से बचना चाहता है।[२] अर्जुन को न विजय की, राज्य की और न सुखो की अभिलाषा है वह जीवित रहने का भी इच्छुक नही है।[३] आचार्य पिता पुत्र, पितामह मामा श्वसुर, पौत्र, साला आदि सम्बन्धियो के द्वारा मारे जाने पर भी अर्जुन उन्हे मारना नही चाहता। वह त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी यह पाप नही करना चाहता पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या।[४] अर्जुन की इस विषम परिस्थिति म जो द्वन्द्वात्मक मन स्थिति हो गई है उसे हम आत्मा की अन्धकारमयी रात्रि की (Dark Night of the Soul) स्थिति कह सकते है। इसी स्थिति के पश्चात् साक्षात्कार होता है।

अर्जुन का विवेक कुठित हो जाता है। वह निश्चय नही कर पाता कि उसके लिए क्या श्रेयस्कर है—शत्रुओ को पराजित करना अथवा स्वय पराजित हो जाना। वह अपने बधु कौरवो की हत्या करके जीवित रहना नही चाहता। वह कृष्ण से प्रार्थना करता है—दीनता से मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई है धर्मबुद्धि को मोह हो गया है। मैं शरणागत हूँ तुम्हारा शिष्य हूँ। जो श्रेयस्कर हो निश्चय करके मुझे बतलाओ।[५] अर्जुन के कुठित विवेक को श्रीकृष्ण अपने दार्शनिक उपदेशो के द्वारा जाग्रत करते हुए आत्मा की अमरता पर प्रकाश डालते हैं, यह आत्मा न जन्म लेता है न मृत्यु को प्राप्त होता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। वस्त्र परिवर्तन करने की भाँति

---

१ म० भा० अश्वमेध — अ० १६ श्लोक ६।१३

२ स्वजन हि कथ हत्वा सुखिन स्याम माधव ॥ — गी० १।३७
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतस ।
कुलक्षयकृत दोष मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ — गी० १।३८
कथ न ज्ञेयमस्माभि पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृत दोष प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ — गी० १।३९

३ न काङ्क्षे विजय कृष्ण न च राज्य सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ — गी० १।३२

४ आचार्या पितर पुत्रास्तथैव च पितामहा ॥
मातुला श्वशुरा पौत्रा श्याला सम्बन्धिनस्तथा ॥ — गी० १।३४

५ एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतो किं नु महीकृते ॥ — गी० १।३५
न चैतद्विद्म कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयु ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिता प्रमुखे धार्तराष्ट्रा ॥ — गी० २।६

मृत्यु तो आत्मा का विविध शरीरो में स्थानान्तरण मात्र है।[1] प्रारम्भ मे प्राणी अव्यक्त रहता है, केवल मध्य में व्यक्त होता है तथा अन्त मे मृत्यु के द्वारा फिर अव्यक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति मे शोक करना व्यर्थ ही है।[2] कोई इसको (आत्मा को) आश्चर्य की भाँति देखता, है, कोई इसको आश्चर्य की भाँति कहता है और कोई इसको आश्चर्य की भाँति सुनता है परन्तु देखकर, वर्णन कर, और सुनकर भी कोई इसे तत्त्वत नही जानता है।[3]

गीता मे कर्म का निरूपण करते हुए जीवन-पर्यन्त अनासक्त होकर लोकसग्रह के लिए उचित कार्य करते रहने की व्यवस्था की गई है।[4] केवल कर्म करने मे मनुष्य का अधिकार है, फल मे कदापि नही। अस्तु, निष्काम कर्म करना ही श्रेयस्कर है।[5] वेदो मे सिद्धान्त रूप से वर्णित त्रिगुणो से परे होकर आत्मनिष्ठ होने का उपदेश कृष्ण ने अर्जुन को दिया[6] और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा कि जलप्लावन होने पर जिस प्रकार कूप का प्रयोजन नही रह जाता उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त ब्राह्मण को वेदो से प्रयोजन नही रह जाता।[7]

जिज्ञासु अर्जुन केवल उपदेश मात्र से सतुष्ट नही हो जाता। वह कृष्ण के अलौकिक

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वा धर्मसम्मूढचेता ॥
यच्छ्रेय. स्यान्निश्चित ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मा त्वा प्रपन्नम् ॥ गी० २।७

१. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूय ।
अजो नित्य· शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ गी० २।२०

वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥ गी० २।२२

२ अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ गी० २।२८

३. आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्य शृणोति श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित् । गी० २।२९

४. तस्मादसक्तः सतत कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष. ॥ गी० ३।१९

कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसग्रहमेवापि सपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ गी० ३।२०

५. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि ॥ गी० २।४७

६. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

७. यावानर्थ उदपाने सर्वत सप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ गी० २।४६

रूप के प्रत्यक्ष दर्शन की आकांक्षा प्रकट करता है।[१]

गीता के ग्यारहवें अध्याय मे रहस्यात्मक अनुभूति अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। रहस्यवादी अनुभूति के विभिन्न स्तरो तथा प्रकारो की भलक भी यहाँ प्राप्त होती है। द्रष्टा अर्जुन परमेश्वर के सृष्टि सहाररूप कर्म मे स्वय को भी सम्मिलित अनुभव करता है। सम्पूर्ण सृष्टि व्यष्टि रूप म सम्मुख आती है, तुरन्त ही वह समष्टि मे अन्तर्लीन हो जाती है तथा परमेश्वर के लोक सहारक रूप म प्रविष्ट होकर नष्ट होती प्रतीत होती है। एक दृष्टा-मात्र ही शेष रह जाता है।

अर्जुन अपने उपदेशक एव पथ-प्रदर्शक से परमतत्त्व के विषय मे पर्याप्त सुन चुका है। नैतिक बल मे वह सामान्य स्तर से उच्चतर स्थिति पर पहुँचा हुआ है। गुरु प्रदत्त ज्ञान द्वारा उसमें दार्शनिक विश्वास भी उत्पन्न हो गया है। परमात्मा का स्वरूप साधारण चक्षु इन्द्रिय से द्रष्टव्य नही। चक्षु इन्द्रिय से साधारण दृश्य विषय ही देखे जाते हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष दिव्य दृष्टि द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए अर्जुन को भगवान् दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं। जिसके द्वारा वह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व मे परमतत्त्व का प्रत्यक्ष करता है।[२] अन्तत अर्जुन कृष्ण के उस विराट्, अलौकिक रूप को देखने मे समर्थ हुआ जिसके अनेक मुख और नेत्र है और जिसम अनेक अद्भुत दृश्य दीख पडते हैं।[३] वह अनेक प्रकार के दिव्य अलकारों से शोभित तथा नाना प्रकार के दिव्य अस्त्रो से सज्जित है। दिव्य पुष्पों और वस्त्रों को धारण किए हुए दिव्य सुगधि से सुवासित उस अनन्त सर्वतोमुख का सभी कुछ प्राय आश्चर्यजनक है।[४]

यदि आकाश मे सहस्रों सूर्य एक साथ प्रकाशित हो तो वह परमात्मा की कान्ति के सदृश कुछ-कुछ जान पडेगा।[५] अनेक भागो मे विभाजित जगत् उस स्वरूप मे एकत्रित दिखाई पडा। सारी व्यष्टि समष्टि मे अन्तर्हित हो गई।[६] इस प्रकार के दर्शन से ऐसा कौन होगा

---

१. एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मान परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वर पुरुषोत्तम ॥ गी० ११।३
मन्यसे यदि तच्छक्य मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्व दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ गी० ११।४

२. न तु मा शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्य ददामि ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ गी० ११।८

३. अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरण दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ गी० ११।१०

४. दिव्यमाल्याम्बरधर दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमय देवमनन्त विश्वतोमुखम् ॥ गी० ११।११

५. दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भा सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन ॥ गी० ११।१२

६. तत्रैकस्थ जगत्कृत्स्न प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ गी० ११।१३

जिसको विस्मित तथा पुलकित होकर रोमाञ्च न हो जाए।[1]

आश्चर्य तथा श्रद्धा से गद्गद अर्जुन स्वयं अपने प्रत्यक्ष का वर्णन करता है।[2] उस विराट् स्वरूप का न आदि है, न मध्य और न अन्त।[3] किरीट, गदा और चक्र धारण किये हुए, चारों ओर प्रभा विकीर्ण करते हुए, प्रचण्ड अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान, तेजपुंज दुर्निरीक्ष्य, और अपरम्पार तुम्हीं मुझे सर्वत्र दीख पड़ते हो।[4] प्रज्वलित अग्नियुक्त तथा चन्द्र और सूर्य के नेत्र वाले मुख तथा स्वतेज से दीप्तिमान स्वरूप को देखकर अर्जुन कहता है।[5] सम्पूर्ण धरती, आकाश, पाताल सभी दिशाओं को तुमने अकेले ही व्याप्त कर लिया है। त्रैलोक्य तुम्हारे उस अद्‌भुत और उग्र रूप को देखकर व्यथित हो रहा है।[6] देवताओं के समूह तुममें प्रवेश कर रहे हैं, कुछ भय से हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे हैं।[7] रुद्र इत्यादि सब विस्मित विमूढ़ होकर तुम्हारी ओर निहार रहे हैं, महर्षियों और सिद्धों के समुदाय अनेक प्रकार के स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं।[8] तुम्हारे इस अनेक हाथ, पैर, मुंह, दाढ़ों वाले विकराल स्वरूप को देखकर सब लोकों को तथा मुझे भी भय हो रहा है।[9]

आकाश पर्यन्त विस्तीर्ण, प्रकाशमान, जबड़े फैलाये हुए, चमकीले नेत्रों वाले तुम्हें देखकर मेरा धैर्य छूट गया है तथा शान्ति भी नहीं मिल रही है।[10] दाढ़ों के विकराल प्रलय-कालीन अग्नि के समान तुम्हारे इन मुखों को देखकर मुझे दिशाएं नहीं सूझतीं। हे

---

१. ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजय। — गी० ११।१४

२. प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ — गी० ११।१४

३. नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ — गी० ११।१६

४. किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ — गी० ११।१७

५. अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ — गी० ११।१९

६. द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ — गी० ११।२०

७. अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ — गी० ११।२१

८. रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ — गी० ११।२२

९. रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ — गी० ११।२३

१०. नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ — गी० ११।२४

जगन्निवास ! प्रसन्न होओ ।[1] राजाओं के समूह, कर्ण, भीष्म, द्रोण तथा सेनापतियों सहित कौरवों की तथा हमारी सेना तुम्हारे मुंह में प्रवेश कर रही है ।[2] कितने के ही मस्तक तुम्हारे दांतों से चूर्ण होते दृष्टिगोचर हो रहे हैं ।[3] बाढ़ग्रस्त सरिता जिस प्रकार सागर की ओर अतिवेग से प्रवाहित होती है उसी प्रकार तुम्हारे प्रज्वलित मुख में मानव-लोक के यह वीर प्रवेश करते जा रहे हैं ।[4] जिस प्रकार पतंगे मृत्यु का आलिंगन करने के लिए प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश करते हैं उसी प्रकार समस्त संसार तुममें प्रवेश कर रहा है ।[5] चारों ओर से सब लोगों को अपने प्रज्वलित मुखों से निगलकर तुम अपनी जिह्वा चाट रहे हो और तुम्हारी उग्र प्रभा अपने तेज से सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करती हुई देदीप्यमान हो रही है ।[6]

भगवान के इस विराट रूप के दर्शन कर चुकने पर अर्जुन को भगवान के इस रूप की वास्तविकता तथा उनकी इस प्रवृत्ति के विषय में जिज्ञासा हुई ।[7] भगवान कृष्ण ने अपने रहस्यात्मक ज्ञान के द्वारा यह व्यक्त किया कि लोक संहार करने के लिए बढ़े हुए काल वे ही हैं ।[8] द्रोण, भीष्म, कर्ण तथा बहुत से शूरवीर उनके (कृष्ण के) द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, अर्जुन को केवल निमित्तमात्र होकर उन्हें मारना शेष है ।[9] कृष्ण के इन शब्दों से हमारे सम्मुख एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है—क्या वास्तव में मनुष्य में किसी प्रकार की कर्तृत्व शक्ति नहीं है ? यदि मनुष्य केवल निमित्तमात्र होकर कार्य करता है उसमें न अच्छे कार्य और न बुरे कार्य करने की शक्ति है तो आचारशास्त्र Ethics की नींव

---

१ दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ गी० ११।२५

२ अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ गी० ११।२६

३ वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ गी० ११।२७

४ यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ गी० ११।२८

५ यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ गी० ११।२९

६ लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ गी० ११।३०

७ आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ गी० ११।३१

८ कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ गी० ११।३२

९ तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ गी० ११।३३
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ गी० ११।३४

ही डगमगा उठती है। आचारशास्त्र के अनुसार मनुष्य को पूर्ण कर्मस्वातन्त्र्य है, वह जो चाहे अच्छा या बुरा अपनी इच्छानुसार कर सकता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार आचारशास्त्र में कर्मों के औचित्य या अनौचित्य का विवेचन होता है। परन्तु इसके विपरीत गीता में मनुष्य को कठपुतली सदृश माना गया है जिसे विश्व का नियामक परमेश्वर मनचाहा नाच नचाया करता है।[1] परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् रहस्यवादी के लिए आचारशास्त्र विशेष महत्त्व नहीं रखता। आचारशास्त्र तो वह सोपान है जो रहस्यवादी को शिखर तक पहुँचाने में सहायक होकर निरर्थक हो जाता है।

कृष्ण के अवर्णनीय स्वरूप को देखकर अर्जुन अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करता है, अभी तक वह कृष्ण को अलौकिक नहीं समझता था। कृष्ण के साथ उसने सामान्य मित्र या सखा जैसा ही व्यवहार किया था।[2] अतः कृष्ण से क्षमा याचना करता हुआ कहता है जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के, सखा अपने सखा के समस्त अपराधों को क्षमा करता है उसी प्रकार प्रेमी आपको प्रिय मेरे सब अपराध क्षमा कर देने चाहिए।[3] अर्जुन कृष्ण के मानवी रूप को पुनः देखने का इच्छुक है।

ईश्वर के विराट् अनन्त रूप का प्रत्यक्ष केवल ईश्वर की कृपा से सम्भव है न वेदाध्ययन से, न यज्ञ अथवा दान से और न तप से ही।[4] विराट् स्वरूप का जो दर्शन अर्जुन को हुआ है उसके लिए देवता भी लालायित रहते हैं। अनन्य भक्ति से ही परमात्मा का रहस्यात्मक प्रत्यक्ष, उसका ज्ञान, तथा एकीभाव से प्राप्ति हो सकती है, अन्य किसी उपाय से नहीं।[5]

जो इस बुद्धि से कर्म करता है कि 'सब कर्म ईश्वर के ही हैं' अर्थात् जो ईश्वर परायण और संग रहित है, सब प्राणियों के प्रति निर्वैर है, वह भक्त परमेश्वर में लीन हो जाता

---

१ मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्। गी० ११।३३
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। गी० १८।६१

२. सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ गी० ११।४१
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ गी० ११।४२

३ तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ गी० ११।४४

४. न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ गी० ११।४८
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ गी० ११।५३

५. सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ गी० ११।५२

है।[1] इस प्रकार अर्जुन द्वारा विश्वरूप का दर्शन रहस्यात्मक प्रत्यक्ष की चरम सीमा है। परमात्मा के सभी स्वरूपों सृष्टा, पालक और संहारक का भी दर्शन उसे होता है। निमित्त रूप से कार्य करने वाले अभिमानी जीव का उसे ज्ञान होता है तथा समस्त स्थावर, जंगम, चेतन, अचेतन सत असत् सब एक साथ अर्जुन के अनुभव के विषय होते हैं।

सत्य के दार्शनिक तत्त्व के सम्बन्ध में गीताकार को सर्वव्यापक तथा सर्वोपरि स्वरूप मान्य है। जहाँ तक उस स्वरूप की उपलब्धि का प्रश्न है, ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुकम्पा से माना गया है। निरन्तर अभ्यास से सत् (नैतिक) कर्मों को करता हुआ, अनन्य भक्त श्रद्धापूर्वक सब कुछ ईश्वर को अर्पण कर देने के पश्चात् उसकी ही कृपा से उस परमतत्त्व को प्राप्त होता है।

गीताकार ने ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बताया है। यदि मनुष्य सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है तो भी ज्ञान नौका के द्वारा वह निःसंदेह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जायेगा।[2] इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को बहुत काल से अपने आप समत्व बुद्धिरूप योग द्वारा अच्छी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण हुआ पुरुष आत्मा में अनुभव करता है।[3] ज्ञान के द्वारा होने वाले इस अनुभव को हम रहस्यवादी अनुभव कह सकते हैं। यहाँ एक बात और है, गीताकार को केवल शुष्क तार्किक ज्ञान मान्य नहीं है। उसका कथन है कि जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्-प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।[4] भगवत् विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धा रहित और संशययुक्त व्यक्ति विनष्ट हो जाता है तथा संशययुक्त पुरुष के लिए न इस लोक में न परलोक में—कहीं भी सुख नहीं है।[5]

यद्यपि गीताकार के मत से ज्ञान और कर्म भी श्रेयस्कर हैं परन्तु उसका सबसे अधिक मान्य मत ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण ही ज्ञात होता है। भगवान् में मन को एकाग्र करके निरन्तर उसी के ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त

---

१ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥　　गी० ११।५४
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥　　गी० ११।५५

२ अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥　　गी० ४।३६

३ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥　　गी० ४।३८

४ श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥　　गी० ४।३९

५. अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥　　गी० ४।४०

हुए उस परमेश्वर को भजते है, वे योगियो मे भी अति उत्तम योगी भगवान् को मान्य है।[1] जो भगवत् परायण भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को भगवान् के प्रति अर्पण करके अनन्य ध्यानयोग से चिन्तन करते हुए उसकी उपासना करते है भगवान् उन प्रेमी भक्तो को ससार-सागर से शीघ्र ही पार कर देता है।[2] अबाध गति से ध्यानयोग मे लीन सुख-दुख लाभ-हानि मे समान रूप से सन्तुष्ट रहने वाला दृढ निश्चयवान जो व्यक्ति मन और बुद्धि दोनो को ही मुझ भगवान् मे अर्पण कर देता है वह निश्चय भक्त निश्चय ही भगवान् को प्रिय होता है।[3]

सक्षेप मे हमे यह कहना चाहिए कि गीता मे अर्जुन ही वह भक्त साधक है, जो सब प्रकार से श्रद्धावान होकर गुरु के बताए हुए मार्ग पर चलकर, सभी कर्मों मे आसक्ति त्याग कर, परमात्मा के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करके उसका साक्षात्कार करता है तथा उस अचाक्षुष, अतीन्द्रिय साक्षात्कार का वर्णन करता हुआ वह विस्मय, जिज्ञासा, भय तथा पुलक से गद्‌गद हो जाता है। यहाँ हम कह सकते है कि यही है परमात्मा का वह रहस्यात्मक प्रत्यक्ष जिसके लिए रहस्यवादी साधक निरन्तर लालायित रहता है। यही उसका साध्य तथा सिद्धि है।

भागवत् पुराण, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र और नारद भक्तिसूत्र रहस्यवादी प्रगति की मूल कृतियाँ है। ये तीनो रचनाएँ रहस्यवादी चिन्तन के विकास का प्रतिनिधित्व करती है, जो सम्भवत. एक ओर साम्प्रदायिक मतवादो के साथ और दूसरी ओर रहस्यवादी प्रगति के साथ-साथ चलती हैं। भागवत् से भारत के सभी आस्तिक दार्शनिक मत प्रभावित हुए। समय के साथ लोगो ने इसको सिद्धान्त-ग्रन्थ के रूप में भी ग्रहण किया। अतीत काल मे यह महानतम रहस्यवादियो के चित्रण व अभिव्यक्ति का कोष है। यद्यपि इसकी भाषा मे कुछ आधुनिकता का अश भी उपलब्ध होता है परन्तु इसकी भावाभिव्यक्ति और शब्द-विन्यास की प्राचीन पद्धति इसको ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो का ही सिद्ध करती है।

प्रोफेसर रानाडे ने भागवत को भारत के प्राचीन रहस्यवादियों के वर्णन एव भावोद्‌गारो का भण्डार कहा है।[4] यदि हम भागवत् मे रहस्यवादियों की कतिपय कोटियो का निर्धारण करें, तो हमे ऐसे रहस्यवादियों की एक अच्छी सख्या प्राप्त होगी जिन्होंने रहस्यवादी प्रगति के सम्पूर्ण क्रम को प्रभावित किया है। प्रथम स्थान मे राजकुमार बालक ध्रुव है, जो अपनी विमाता से अपमानित होकर राज्य और ससार का परित्याग कर देता है। अपमान से सतापित होकर वह वन को चला जाता है, जहाँ उसे आध्यात्मिक शिक्षक के

---

१. मय्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्तमा मता'। गी० १२।२

२. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ गी० १२।७

३. सन्तुष्ट: सतत योगी यतात्मा दृढनिश्चय:।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त: स मे प्रिय:॥ गी० १२।१४

४. Mysticism in Maharashtra, P. 8.

दर्शन होते हैं जिससे वह भगवत्-मार्ग का ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा का साक्षात्कार करने में सफल होता है।[1] भगवान् के प्रति विशुद्ध, निःस्वार्थ प्रेम का अन्य उदाहरण राक्षसराज हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद है, जिसका भगवत्-प्रेम विपत्तियों के बीच भी अक्षुण्ण बना रहता है। प्रथम पाठ में भी वह राम का नाम ही पढता है। अग्नि से जलाये जाने पर, पहाड़ से गिराए जाने पर भी उसकी भक्ति-भावना अजेय ही रही और भगवान् का दर्शन होने पर उसने और कुछ न मांग कर केवल यही वर मांगा कि उसमें कभी कोई इच्छा न उत्पन्न हो—वह सर्वदा निष्काम भक्त बना रहे।[2]

उद्धव भगवान् के मित्र हैं जिनका भगवान् के प्रति प्रेम दार्शनिक तर्कयुक्त है।[3] कुब्जा पहिले कृष्ण के प्रति वासनामय प्रेम से आकृष्ट हुई परन्तु उसकी वासना को कृष्ण ने पवित्र प्रेम में परिवर्तित कर दिया और अन्तत वह भगवान् की प्रिया हुई[4] यही नहीं, सागर में ग्राह द्वारा ग्रसित वह गजराज जिसने आर्त होकर भगवान् को पुकारा, एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार मूक ज्ञानहीन जड़बुद्धि पशु की भी भक्ति से रक्षा होती है और किस प्रकार भगवान् उनके संकटकाल में आकर उन पर भी अनुग्रह करते हैं।[5] निर्धन भक्त सुदामा, जिसके पास दो मुट्ठी तदुलों के अतिरिक्त कृष्णार्पण करने को कुछ नहीं था भगवान् के द्वारा वर प्राप्त करके सुवर्ण नगरी का अधिपति बना।[6] अधम पातकी अजामिल ने जो निम्नजाति की स्त्री में आसक्त था, मृत्यु के समय भगवान् के नाम-उच्चारण मात्र से मोक्ष-लाभ किया,[7] ऋषभदेव उस उच्च कोटि के रहस्यवादी हैं जिनकी पूर्ण आत्मविस्मृति उनके भगवत् साक्षात्कार करने का सबसे बड़ा चिह्न है। भागवत् में हम देखते हैं कि वे पृथ्वी का राज्य अपने पुत्र भरत को सौंपकर नेत्रविहीन, कर्णविहीन, मूक व्यक्ति की भाँति संसार से निर्लिप्त रहकर नगरों, ग्रामों उद्यानों, पर्वतों तथा जगलों में घूमते रहे। लोगों ने हर प्रकार से उन्हें अपमानित किया परन्तु वे भगवत्भक्ति से तनिक भी विचलित न हुए। वे पूर्ण आत्मविस्मृत हो गए थे। इन सब कष्टों के बीच भी उनका देदीप्यमान मुखमण्डल, उनका बलिष्ठ शरीर, शक्तिशाली भुजाएँ और उनका स्मित आनन अत्यन्त आकर्षक था। अन्त में उन्होंने अपने शरीर को पूर्णाहुति के रूप में भगवत्-अर्पण करके दावाग्नि में समर्पित कर दिया।[8] दत्तात्रेय एक अन्य रहस्यवादी हैं जो चौबीस गुरुओं से विभिन्न प्रकार के गुण ग्रहण करते हैं जैसे पृथ्वी से क्षमा, सागर से गाम्भीर्य, वन से परोपकार तथा वायु से अनासक्ति आदि। अन्त में इन विभिन्न गुणों का स्वयं अपने अद्वितीय जीवन में समन्वीकरण करके

---

१. भाग० स्कन्ध ४ अध्याय ८
२. भाग० स्कन्ध ७ अध्याय ८ और १०
३. भाग० स्कन्ध १० अध्याय ४६
४. भाग० स्कन्ध १० अध्याय ४२
५. भाग० स्कन्ध ८ अध्याय २ और ३
६. भागवत स्कन्ध १० अध्याय ८० और ८१
७. भागवत स्कन्ध ६ अध्याय १ और २
८. भागवत स्कन्ध ५ अध्याय ५ और ६

हैं।[1] शुकदेव जो भागवत् के दार्शनिक रहस्यवादी सिद्धान्तों के वक्ता हैं, एक उच्चकोटि के रहस्यवादी है जो उस दर्शन को व्यवहृत भी करते हैं जिसकी वे शिक्षा देते हैं। उनके रहस्यवादी उद्गारों से ही भागवत् की रचना हुई है। भागवत् के दशम स्कंध के अष्टम् अध्याय में उनकी वे शिक्षाएँ निहित हैं जिनमें वास्तविक रहस्यवादी जीवन के लिए अपेक्षित भक्ति आध्यात्मिक शिक्षक, सत्सग आदि की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।[2]

अन्त में भागवतकार ने भागवत् के दशम तथा एकादश स्कन्ध के नायक कृष्ण को हमारे सम्मुख सर्वोत्कृष्ट रहस्यवादी के रूप में प्रकट किया है। भागवत् में वर्णित समस्त रहस्यवादियों में कृष्ण का स्थान सर्वोच्च है। अपनी आध्यात्मिक शक्तियों के कारण वे भगवान् के अवतार माने जाते हैं। उनका सिद्धान्त भगवद्गीता के सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। उन्होंने सर्वोच्च दार्शनिक शिक्षा पर आधारित कर्ममय जीवन व्यतीत किया और जब उनके पार्थिव शरीर के नष्ट होने का समय आया तो एक बहेलिये के तीर का शिकार बन कर उन्होंने इहलोक लीला समाप्त की। कृष्ण तथा गोपियों के सम्बन्ध के विषय में एक अत्यन्त भ्रान्त धारणा यह प्रचलित है कि उनका प्रेम वासनामय है। इस धारणा का विद्वानों द्वारा निराकरण भी किया जा चुका है। इसी सम्बन्ध में प्रोफेसर रानाडे का कथन है 'कृष्ण का गोपियों के साथ कभी कोई वासनामय सम्बन्ध रहा हो ऐसी कल्पना करना भी कठिन है। परवर्ती पुराणकारों ने, जो आध्यात्मिक जीवन की यथार्थ प्रकृति से अनभिज्ञ थे, इस असत्य का आविष्कार किया।'[3]

क्या यह सम्भव नहीं है कि अपने रहस्यात्मक साक्षात्कार में प्रत्येक गोपी ने भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन किया हो और भगवान् ने अपने को उन सब के सम्मुख इस प्रकार प्रकट किया हो कि सब ने एक ही समय पर उनके आनन्द का उपभोग किया हो। यही रहस्यात्मक ब्रह्मानन्द है। भगवान् के साथ वासनामय सम्बन्ध सम्भव नहीं है और न रहस्यवाद में वासना के लिए कोई स्थान ही है। भागवत् से हिन्दी साहित्य जितना प्रभावित हुआ तथा जनता में इसका जितना प्रचार हुआ, उसे देखकर हम इसे पुराण साहित्य का प्रतिनिधि ही कहेंगे। इसीलिए यहाँ अन्य पुराणों का विवेचन न करके केवल भागवत ही आलोच्य विषय है।

हम देख चुके हैं कि वैदिक काल से उद्भूत ज्ञान की अबाध धारा सतत बहती ही रही। अनेक विचार तथा धारणाएँ जो हिन्दी सन्तकवियों द्वारा आत्मसात् की गईं, वैदिक काल में अस्तित्व ग्रहण कर चुकी थीं। आरुणि, जनक आदि जिन पात्रों के नाम वेदों में आये, वही आगे चलकर किसी नवीनता के साथ महाभारत में प्रयुक्त हुए। उनमें जो त्रुटि, जो अभाव

---

१. भागवत स्कन्ध ११ अध्याय ७

२. भागवत स्कन्ध १० अध्याय ८

३. That Krishna ever had any sexual relation with the Gopis is hard to imagine It is a lie invented by later mythologists, who did not understand the true nature of spiritual life

Mysticism in Maharashtra, Page 11

तथा जो अपूर्णता प्रतीत हुई वह शनैः शनैः पूरी होती गई। उदाहरण के लिए हम आरुणि, उद्दालक का नाम ले सकते हैं। आरुणि, उद्दालक दोनों नाम एक ही पात्र के लिए वेद में आये हैं परन्तु आरुणि का नाम उद्दालक क्यों, कैसे पड़ा इससे सम्बन्धित नवीन उपाख्यान महाभारत में आकर जुड़ा। जो न्यूनता वैदिक ऋषियों की ऋचाओं में दृष्टिगोचर हुई, वह नवीनता से समन्वित होकर पुराणकाल में पूर्णता को प्राप्त हुई।

वेदों के समय में स्मृति ही ज्ञान के प्रसार का एकमात्र साधन थी। इसलिए यह सम्भव है कि विविध आख्यानों के उपस्थित रहते हुए भी वे अक्षरशः स्मरण रखने की कठिनता के कारण वैदिक ऋचाओं में पूर्णतया वर्णित नहीं किये गये। पुराणों के लिखित रूप में होने के कारण उन आख्यानों का पूर्णरूपेण वर्णन सम्भव हो सका। इस भाँति कितने ही आख्यान तथा चरित्र पुराणों में सम्मिलित हुए होंगे।

महाभारत, रामायण तथा भागवत पुराण ऐसे ग्रंथ हैं जिनका प्रभाव परवर्ती संस्कृत साहित्य पर भी सब से अधिक पड़ा। यह ग्रंथ परम आदरित तथा सर्वसम्मानित तो हुए ही, इन्होंने साहित्य के लिए अनेक प्रकार के भाव, चरित्र तथा कथावस्तु प्रदान किये। संस्कृत साहित्य में उच्चकोटि का कहा जाने वाला शायद ही कोई ऐसा ग्रंथ हो जो पात्र तथा विषय के लिए महाभारत तथा भागवत् का ऋणी न हो। कालिदास को शाकुन्तलम् अथवा रघुवंश के लिए, भवभूति को उत्तररामचरित के लिए, श्रीहर्ष को नैषध के लिए, भारवि को किरातार्जुनीय के लिए तथा माघ को शिशुपाल वध के लिए पात्र तथा कथावस्तु एक स्रोत से ही प्राप्त हुए। वास्तव में भागवत भी महाभारत की ही देन है जो कि परवर्ती भक्ति-साहित्य की प्रगति में प्रमाण रूप से स्वीकृत हुई।

भागवत् की भक्ति-भावना का तो हिन्दी संत कवियों में समावेश हुआ ही, उन्हें वे पात्र भी भागवत् से ही प्राप्त हुए जो उन्हीं की भाँति भक्ति-भावना से पूर्ण थे। संत कवियों ने उन पात्रों को ग्रहण करके उनमें इच्छानुसार कुछ घटाया-बढ़ाया परन्तु चरित्र वही बने रहे जो भागवत् से प्राप्त हुए थे। उन चरित्रों की वास्तविकता, सत्यता अथवा ऐतिहासिकता ने किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित न किया।

प्रत्येक शब्द का लाक्षणिक अर्थ होता है, उस अर्थ से वह अपने साथ लगे हुए भावों का बोध कराता है। उन भावों में वस्तुगत सत्यता का होना अनिवार्य नहीं है, परन्तु अधिकांश में किसी न किसी प्रकार से वस्तुगत सत्यता होती अवश्य है। यों तो प्रत्येक शब्द की पूर्ण जानकारी प्रयोगकर्ता द्वारा जाने गये लाक्षणिक तथा वस्तुगत अर्थज्ञान पर ही आधारित है। सामान्य शब्दों से भिन्न कवि प्रौढ़ोक्तियों में वस्तुगत सत्यता का लेशमात्र न होने पर भी अपने लाक्षणिक प्रयोग के कारण वे सत्य समझी जाती हैं। चातक का स्वाति नक्षत्र के जल-पान बिना तृषित रहना, चकोर का अग्नि (अङ्गार) भक्षण करना, स्वाति जल के पड़ने से कदली, सीप तथा भुजंग मुख में क्रमशः कपूर, मुक्ता तथा विष का हो जाना, हंस का मुक्ताभोगी तथा नीरक्षीर-विवेक, चन्दन वृक्ष में सर्पों का लिपटे रहना आदि उसी प्रकार की कवि-प्रौढ़ोक्तियाँ हैं जो वस्तुगत सत्यता से सर्वथा रहित होने पर भी सत्य के रूप में जन-मस्तिष्क में घर किए

हुए है। साधारण शब्दों की अपेक्षा ये प्रौढोक्तियाँ अधिक मर्मस्पर्शी भाव तथा गहरी अनुभूति की व्यजना करती है। जिस प्रकार प्रौढोक्तियाँ कविकृतियो मे तथा जन-जीवन मे स्थान प्राप्त किए हुए हैं उसी प्रकार भागवत् मे उल्लिखित पात्रो ने हिन्दी के सत तथा भक्त कवियों की रचनाओं मे स्थान प्राप्त किया है। उन पात्रो मे सत्यता है अथवा नही, वे ऐतिहासिक व्यक्ति है अथवा नही इसकी किसी ने अपेक्षा नही की। ध्रुव, प्रह्लाद, ऋषभदेव, दत्तात्रेय, सुदामा आदि पौराणिक चरित्र ही है उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व के विषय मे हमे ज्ञात नही। उनके अतिरिक्त पशु पक्षी-जगत् से आने वाले गजराज तथा गीध को भी सत कवि भुला नही सके। गजराज तथा गीध के आख्यान म वस्तुगत सत्यता कितनी है इस ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हुआ। इन आख्यानो की वस्तुगत सत्यता के विषय मे कविगण सोच ही नही सकते। इनके विषय मे सोचना उनका अपनी आत्मा के प्रति विद्रोह करना होगा। अजामिल, गणिका, गीध, व्याध आदि अनेक ऐसे ही पात्र हैं जिन्होंने पुराणो से आकर भक्ति साहित्य मे चिरस्थायी स्थान प्राप्त किया तथा भक्तो के द्वारा मुक्ति के लिए एक आशा तथा विश्वास के स्रोत के रूप मे गृहीत हुए। भक्ति-भावना से ओतप्रोत सत तथा भक्त कवियो ने पौराणिक चरित्र आख्यानो को अपने भावोद्‌गारो म यथातथ्य रूप मे अकित किया।

हिन्दी साहित्य को पुराणो मे केवल पात्र और आख्यान ही नही मिले वरन् रहस्यवाद की सामग्री के रूप मे नाम-स्मरण की महिमा, गुरु की महत्ता, सत्सग की वाछनीयता, कुसग के दुष्परिणाम आदि भी उपलब्ध हुए। भक्तो की परम्परा मे पौराणिक रहस्यवादी भक्त पात्रो का नाम सदैव के लिए अकित हो गया तथा नाम-स्मरण, आध्यात्मिक गुरु सत्सग तथा कुसग का परित्याग आदि भारतीय रहस्यवाद के प्रधान उपकरण बन गये। इस प्रकार हमने देखा कि प्राचीन काल से चली आती हुई रहस्यवादी परम्परा के अन्तर्गत पुराणो का विशेषकर भागवत् पुराण का हिन्दी के मध्यकालीन सत तथा भक्तसाहित्य पर व्यापक तथा स्थायी प्रभाव पड़ा।

भगवद्‌गीता का भक्तितत्त्व सूत्रकाल मे आकर शाण्डिल्य और नारद-भक्ति सूत्रो मे प्रतिपादित हुआ। ये दोनो भक्तिसूत्र भगवद्‌गीता और परवर्ती भक्ति-साहित्य को जोडने वाली कड़ी का काम देते हैं। ये भागवत् की ही भाँति है, जो भारतीय रहस्यवाद की मौलिक कृति है। इन सूत्रो के रचना-काल की निश्चित तिथि का निर्णय करना बहुत सरल नही है। अपने प्राचीन शास्त्रीय ढग के कारण शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र प्राचीनतर प्रतीत होता है और यह स्पष्ट ही है कि अन्य दार्शनिक सूत्रो के आधार पर इसकी भी रचना हुई। यह अन्त-साक्ष्य इसकी प्राचीनता को सिद्ध करता है। नारद-भक्ति-सूत्र शाण्डिल्य का उद्धरण प्रस्तुत करता है परन्तु शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र नारद को उद्धृत नही करता। वस्तु-विषय के सम्बन्ध मे नारद-भक्ति-सूत्र अपनी सरल अभिव्यजना और प्रखर भक्ति के कारण न केवल शाण्डिल्य से अधिक श्रेष्ठ है वरन् भक्ति-साहित्य के उज्ज्वलतम रत्न की भाँति सम्माननीय है—ऐसा प्रोफेसर रानाडे का मत है।[1]

---

१. Mysticism in Maharashtra, P. 12

शाण्डिल्य-सूत्र नारद की अपेक्षा अधिक दार्शनिक है। यह ब्रह्म और जीव की प्रकृति, उनके पारस्परिक सम्बन्ध और सृष्टि के प्रश्न को प्रस्तुत करता है। नारद भक्ति-सूत्र भक्ति के सिद्धान्त से आरम्भ होता है उसके विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करता है और केवल शुष्क दार्शनिकता को कहीं नहीं आने देता। नारद और शाण्डिल्य दोनों भगवद्गीता को उद्धृत करते हैं। जहाँ तक भक्ति विषयक शिक्षा का सम्बन्ध है दोनों समान हैं। दोनों ही मुख्य तथा गौणी दो प्रकार की भक्ति मानते हैं। गौणी भक्ति के अन्तर्गत पूजा, कीर्तन, ध्यान तथा नाम स्मरण भी माने जाते हैं। मुख्य भक्ति का अर्थ है मनुष्य में भगवत्-प्रेम के पवित्र निर्झर का उद्भव। एक बार इस प्रकार का प्रेम उत्पन्न हो जाने पर कोई अन्य प्रयोजन नहीं रह जाता। केवल गौणी भक्ति प्राप्त करके यह नहीं कहा जा सकता कि हमने उस परम भक्ति को जान लिया है। इस अध्ययन के द्वारा शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करके अधिक महत्वपूर्ण नारद-भक्ति सूत्र का विवेचन करना यहाँ उचित होगा।

नारद भक्ति-सूत्र में भक्ति के लक्षणों के विषय में अनेक मत दिये गये हैं। महर्षि व्यास के मतानुसार भगवान् की पूजा आदि में अनुराग होना भक्ति है।[1] गर्गाचार्य के मत से भगवान् की कथा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है।[2] शाण्डिल्य ऋषि के विचार से आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है।[3] परन्तु नारद-भक्ति-सूत्रकार देवर्षि नारद के मतानुसार अपने सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करना और भगवान् का थोड़ा सा भी विस्मरण होने से परम व्याकुल होना ही भक्ति है।[4] सूत्रकार के प्रस्तुत मत से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि भगवान् की भक्ति में विरह का प्रमुख स्थान है। इस विरह भावना का विकसित रूप हिन्दी सन्त कवियों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है।

यह भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है।[5] और अमृतस्वरूपा भी है।[6] जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है तथा तृप्त हो जाता है।[7] इस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त हो जाता है और न उसे विषय-भोगों की प्राप्ति में उत्साह होता है।[8] इस प्रेमरूपा भक्ति को जानकर मनुष्य मस्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।[9] यह भक्ति कामना-युक्त न[illegible] है, क्योंकि वह निरोध-स्वरूपा है।[10]

---

१ पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः। ना० भ० सू० ।१६।
२ कथादिष्विति गर्गः। ना० भ० सू० ।१७।
३ आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः। ना० भ० सू० ।१८।
४ नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। ना० भ० सू० ।१९।
५ सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। ना० भ० सू० ।२।
६ अमृतस्वरूपा च। ना० भ० सू० ।३।
७ यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। ना० भ० सू० ।४।
८ यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। ना० भ० सू० ।५।
९. यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। ना० भ० सू० ।६।
१० सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्॥ ना० भ० सू० ।७।

कुछ आचार्यों का मत है कि भक्ति का साधन ज्ञान ही है।[1] अन्य आचार्यों के मत से भक्ति और ज्ञान परस्पर एक दूसरे के आश्रित है।[2] ब्रह्मकुमारों के मत से भक्ति स्वय फलरूपा है।[3] भक्ति का साधन विषय-त्याग और सग-त्याग है।[4] अखण्ड भजन से भक्ति का साधन सम्पन्न होता है।[5] लोक समाज में भी भगवद्गुण श्रवण और कीर्तन से भक्ति साधन सम्पन्न होता है।[6] परन्तु प्रेमाभक्ति की प्राप्ति का मुख्य कारण भगवत्कृपा का लेशमात्र तथा सज्जनों की कृपा एव सत्सग है।[7] सज्जनों का सग दुर्लभ, अगम्य, और अमोघ है।[8] भगवान् की कृपा से ही सज्जनों का सग भी प्राप्त होता है।[9] क्योंकि भगवान मे और उनके भक्त मे भेद का अभाव है।[10] अस्तु हर प्रकार से हरिकृपा ही भक्ति का साधन है।

भक्ति के साधन का निरूपण करने के पश्चात् सूत्रकार सदैव सत्सग करने तथा दुर्जन सग से दूर रहने का आदेश करता है।[11] दुःसग, काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रश, बुद्धिनाश एव सर्वनाश का कारण है।[12] काम क्रोधादि दुर्गुण पहिले तरग की भाँति क्षुद्र आकार मे आकर भी दुःसग से विशाल सागर का रूप धारण कर लेते हैं।[13] जो कर्म-फल का त्याग करता है, कर्मों का भी त्याग करता है, जो तीनो गुणो से परे हो जाता है, जो योग-क्षेम का परित्याग कर देता है तथा सब कुछ त्याग कर निर्द्वन्द्व हो जाता है, वह वैदिक कर्मों से सन्यास ले लेता है तथा अखण्ड असीम, भगवत् प्रेम प्राप्त कर लेता है।[14] वह स्वय तरता है तथा लोक को भी तारता है।[15]

इस भगवत् प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है।[16] गूगे के स्वाद की भाँति[17] किसी विरले योग्य पात्र मे ही यह प्रेम प्रकाशित होता है।[18] यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रति-

---

१ तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके । ना० भ० सू० ।२८।
२. अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये । ना० भ० सू० ।२९।
३ स्वय फलरूपतेति ब्रह्मकुमारा । ना० भ० सू० ।३०।
४. तत्तु विषयत्यागात् सगत्यागाच्च । ना० भ० सू० ।३५।
५. अव्यावृत्तभजनात् । ना० भ० सू० ।३६।
६ लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ।। ना० भ० सू० ।३७।
७ मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ।। ना० भ० सू० ।३८।
८. महत्सगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।। ना० भ० सू० ।३९।
९. लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव । ना० भ० सू० ।४०।
१०. तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ।। ना० भ० सू० ।४१।
११. दुस्सग सर्वथैव त्याज्य ।। ना० भ० सू० ।४३।
१२ कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ।। ना० भ० सू० ।४४।
१३. तरगायिता अपीमे सगात्समुद्रायन्ते ।। ना० भ० सू० ।४५।
१४. वेदानपि सन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुराग लभते ।। ना० भ० सू० ।४९।
१५. स तरति स तरति स लोकास्तारयति । ना० भ० सू० ।५०।
१६. अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम् ।। ना० भ० सू० ।५१।
१७. मूकास्वादनवत् ।। ना० भ० सू० ।५२।
१८. प्रकाशते क्वापि पात्रे । ना० भ० सू० ।५३।

क्षण बढ़ता रहता है, विच्छेद रहित है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और अनुभव रूप है।[1] इस प्रेम को प्राप्त कर प्रेमी एक प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है।[2] तात्पर्य यह प्रेमी का प्रत्येक कार्य प्रेम में ही सम्पादित होता है। उसके लिए जगत् प्रेममय हो जाता है। प्रेमासक्ति स्वयं प्रमाण है। इसके लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।[3] इसीलिए वह सुलभ है।[4]

अब महर्षि नारद द्वारा, प्रस्तुत भक्त के लक्षणों पर हम दृष्टिपात करेंगे। भक्त को लोक-हानि की चिन्ता नहीं होती, क्योंकि वह अपने सब प्रकार के कर्मों को तथा स्वयं को भगवान् के अर्पण कर चुका है।[5] स्त्री, धन, नास्तिक तथा वैरी का चरित्र नहीं सुनता[6] तथा अभिमान दम्भ आदि को त्याग देता है।[7] सब आचार भगवान् को अर्पण कर चुकने पर यदि काम, क्रोध, अभिमान आदि होते भी हैं तो उन्हें भी भगवान् के प्रति ही करता है।[8] भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि का भेद नहीं होता।[9] क्योंकि सब भक्त भगवान् के ही हैं।[10] प्रेमाभक्ति का साधक अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारों का भलीभाँति पालन करता है।[11] सब समय, सर्व-भाव से निश्चिन्त होकर केवल भगवान का ही भजन करता है।[12]

संक्षेप में कह सकते हैं कि तीनों (कायिक, वाचिक, मानसिक) सत्यों में अथवा तीनों कालों में सत्य भगवान् की भक्ति ही श्रेष्ठ है।[13] सनत्कुमार, वेदव्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्तितत्व के आचार्य लोकनिन्दा स्तुति की कुछ भी परवाह न करके एक मत से कहते हैं कि भक्ति ही श्रेष्ठ है।[14]

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवत् अनुग्रह से जिस योग्य साधक में प्रेमाभक्ति प्रकट होती है वह उसके समस्त भावों (Emotions) तथा ज्ञाने-

---

१. गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ना० भ० सू० ।५४।
२. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥ ना० भ० सू० ।५५।
३. प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात् ॥ ना० भ० सू० ५९।
४. अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ ना० भ० सू० ।५८।
५. लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात् ॥ ना० भ० सू० ।६१।
६. स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ॥ ना० भ० सू० ।६३।
७. अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम् ॥ ना० भ० सू० ।६४।
८. तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ॥ ना० भ० सू० ।६५।
९. नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ॥ ना० भ० सू० ।७२।
१० यतस्तदीयाः । ना० भ० सू० ।७३।
११ अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि । ना० भ० सू० ।७८।
१२ सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः । ना० भ० सू० ।७९।
१३ त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी । ना० भ० सू० ।८१।
१४ इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः । ना० भ० सू० ।८३।

न्द्रियों को व्याप्त करके अनिर्वचनीय चेतना से परिपूरित कर देती है। यह वर्णन से परे है। इस चेतना की प्राप्ति के पश्चात् साधक सभी लौकिक तथा वैदिक व्यापारों से पृथक् होकर सिद्ध, स्तब्ध, सतुष्ट तथा आत्माराम हो जाता है। इसी भावभूमि को हम रहस्यात्मक अनुभूति कहते हैं।

रहस्यवादी अनुभूति के लिए जो अनवरत अटूट स्मरण अपेक्षित है, वह नारद-भक्ति-सूत्र में विद्यमान है। समस्त चेतना को एक में केन्द्रीभूत करने की आवश्यकता साधक को होती है उसका भी आदेश यहाँ हुआ है। समस्त साधनों के एकत्र हो जाने पर ईश्वर अनुकम्पा से जो अनिर्वचनीय परम ज्ञानरूपा स्वयं प्रमाण अनुभूति होती है उससे तन्मय होकर भक्त का कंठ अवरुद्ध हो जाता है, रोमांच हो जाता है और नेत्र साश्रु हो जाते हैं।[१] यही है रहस्यात्मक अनुभूति जो रहस्यवाद की मूल भित्ति है। अस्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि नारद-भक्ति-सूत्र में भक्तिपरक रहस्यभावना का सुन्दर निदर्शन हुआ है।

---

१ कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभि परस्पर लपमानः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च। ना० भ० सू० ।६८।

तृतीय परिच्छेद

माया

साहित्य में माया शब्द का प्रयोग वैदिककाल से निरन्तर होता आया है। कालानुक्रम में माया के अर्थ तथा उसके सम्बन्ध में विद्वानों की धारणाओं में अन्तर होता गया है।

ऋग्वेद में इन्द्र अपनी माया के द्वारा अनेक रूपों को धारण करते हुए दिखाई पड़ते हैं।[1] प्रोफेसर दासगुप्ता के अनुसार माया शब्द ऋग्वेद में अलौकिक शक्ति और अद्भुत कौशल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को माया तथा परमेश्वर को महान् मायावी कहा गया है।[3] श्वेताश्वतर में उल्लेख है कि इसी माया-शक्ति के द्वारा परमात्मा संसार का सृजन करता है तथा आत्मा इसी माया से आबद्ध रहती है।[4]

इसके अतिरिक्त ध्यान के द्वारा जब तक परमब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो जाती, उससे एकाकार नहीं हुआ जाता, तब तक विश्वमाया से निवृत्ति नहीं होती।[5] प्रश्नोपनिषद् के अनुसार कुटिलता, अनृत तथा माया के त्याग के बिना ब्रह्मलोक की प्राप्ति असम्भव है।[6] उपनिषदों के कुछ अंशों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि यद्यपि उपनिषदों में कहीं-कहीं प्रत्यक्ष रूप से माया शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है परन्तु कुछ अंश स्पष्टतया माया की ओर इंगित करते हुए प्रतीत होते हैं। शंकराचार्य ने अपने मायावाद की वैदिक सिद्ध करने में इन अंशों में प्रतिपादित भावों को अपनाया है। हिरण्मय पात्र से सत्य का पिहित मुख[7], अज्ञान में रहते हुए भी स्वयं को बुद्धिमान् मानकर अन्धे के द्वारा अन्धे का नेतृत्व[8],

---

१. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ ऋ० ६।४७।१८, बृ० २।५।१६

२. The word maya was used in the Rig Veda in the sense of super-natural power and wonderful skill. *S N.D. Vol. I. P. 469.*

३. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥ श्वे० ४।१०

४. अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् ।
तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ श्वे० ४।९

५. तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् ।
भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः ॥ श्वे० १।१०

६. तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको ।
न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ प्र० १।१६

७. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ ई० ।१५

८. दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः । दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ क० १।२।४,५

अविद्या की ग्रन्थि की भाँति प्रतीति ।[1] ज्ञान को पौरुष तथा अज्ञान को उसके विरोधी की मान्यता ।[2] असत् तम तथा मृत्यु से सत प्रकाश तथा अमरता की ओर प्रस्थान ।[3] ऋषियो का इस संसार के अध्रुव मे ध्रुव न देखना ।[4] पृथ्वी के अन्दर छिपे हुए स्वर्ण के अदृष्ट होने की भाँति सत्य का असत्य के द्वारा आच्छादन ।[5] परमात्मा के द्वारा जाल बिछाकर संसार के समस्त जीवो को उसमे फँसाकर उन पर शासन ।[6] नाम रूप की अवास्तविकता ।[7] प्रभृति विचार जो उपनिषदो म द्रष्टव्य है अप्रत्यक्ष रूप से माया विषयक धारणा के अभिव्यंजक है । कुछ तो बिल्कुल भ्रम (Illusion) के ही अर्थ मे प्रयुक्त हुए है । इसी अन्त साक्ष्य के आधार पर शंकर ने अपने अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत मायावाद का प्रतिपादन किया है ।

गीताकार का मत है कि माया के द्वारा अपहृत ज्ञान के कारण दुष्कृती अधम व्यक्ति परमात्मा को भी नही भजते ।[8] एक और स्थल पर कहा गया है कि ईश्वर अपनी माया के द्वारा कठपुतलीरूपी सम्पूर्ण प्राणियो को सूत्रधार की भाँति नचाता है ।[9]

सूर्य पुराण म माया सत् असत सदासद तीनो से भिन्न अनिवचनीय नित्य मिथ्याभूता कही गई है

न सद्रूपानऽसद्रूपा माया न चोभयात्मिका ।
सदासद्भ्याम् अनिर्वाच्य मिथ्या भूता सनातनी ॥

यह धारणा शंकर के माया विषयक मत के अनुरूप है । अविद्या का सदासद भिन्न अनिर्वचनीय स्वरूप वस्तुत शंकर मतावलम्बियो द्वारा स्वीकृत हुआ है ।

बृहदारण्यक प्रश्न व श्वेताश्वतर उपनिषदो म इन्द्रजाल(Magic)जादू के अर्थ मे[10] और बुद्ध धर्म के प्राचीन पाली ग्रथो मे यही शब्द कपट या कपटपूर्ण आचरण के अर्थ म व्यवहृत हुआ

---

१ पुरुष एवेद विश्वम् एतद्यो वेद निहित गुहाया सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ॥ मु० २।१।१०

२ नाना तु विद्या च अविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तर भवति ॥ छा० १।१।१०

३ असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृतगमय ॥ बृ० १।३।२८

४ अथ धीरा अमृतत्व विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयते ॥ क० २।१।२

५ त इमे सत्या कामा अनृतापिधानास्तेषा सत्याना सताम अनृतमपिधान । छा० ८।३।१
यथा हिरण्यनिधि निहित मक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सचरन्तो न विन्देयु ॥ छा० ८।३।२

६ एकैक जाल बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे सहरत्येष देव ।
भूय सृष्ट्वा पतयस्तथेशा सर्वाधिपत्य कुरुते महात्मा ॥ श्वे० ५।३

७ यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मय विज्ञात स्याद्वाचारम्भण विकारो
नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ छा० ६।१।४

८ न मा दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमा ।
माययापहृतज्ञाना आसुर भावमाश्रिता ॥ गी० ७।१५

९ ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ गी० १८।६१

१० In the Brhadaranyaka, Prasna, and Svetasvatara Upanisads the word means magic. *S N D, Vol I. P. 964*

है।[१] आचार्य बुद्धघोष ने इस शब्द को ऐन्द्रजालिक शक्ति के अर्थ में लिया है।[२] नागार्जुन के मत से माया का अभिप्राय भ्रम या (Illusion) है।[३] शंकराचार्य ने माया को संसार की उत्पत्ति में शक्ति रूप से निमित्त कारण तथा दृष्ट सृष्टि की भ्रमात्मकता तथा मिथ्यापन के अर्थ में माना है।[४] नित्य आत्मा पर माया के अध्यास के द्वारा संसार की प्रतीति होती है—ऐसा गौड़पाद का मत है।[५] अष्ट साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता में सुभूति ने भगवान् बुद्ध से कहा है—वेदना (Feeling), संज्ञा (Concept) तथा संस्कार (Conformations) सभी माया हैं।[६] समस्त सृष्टि विषयक पदार्थों में कोई वास्तविक सार नहीं होता। वे न उत्पन्न होते हैं, न नष्ट होते है, न उनका आगमन होता है न गमन होता है। केवल माया अथवा अज्ञान के कारण दृष्टिगोचर होते हैं तथा प्रेक्षणीय मात्र है।[७] नागार्जुन के सुहृल्लेख में माया को क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए कहा गया है कि मात्सर्य, शठता, माया, कौसिद्य, मान, राग, द्वेष, मद आदि को शत्रुवत् समझना चाहिए।[८] समस्त दृष्ट सृष्टि पदार्थ और विषय, विषय और विषयी के रूप में माया के द्वारा ही भासित होते हैं।[९] संसार केवल माया और स्वप्न की भाँति है जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। जो न शाश्वत है, न क्षयशील, जिसका न अस्तित्व

---

१ In early Pali Buddhist writings it occurs only in the sense of deception or deceitful conduct *S N D, Vol I P 470*

२ Buddhaghosa uses it in the sense of magical power *S N D, Vol I. P 470*

३ In Nagarjuna and the Lankavatara it has acquired the sense of illusion *S N D, Vol I P 470*

४ In Sankara the word maya is used in the sense of illusion, both as a principle of creation as a sakti (Power) or accessory cause, and as the phenomenal creation itself, as the illusion of world-appearance. *S.N D, Vol I P 470*

५ The world subsists in the atman through Maya *S N D Vol I P 470*

६ Thus we find Subhuti saying to the Buddha that vedana (feeling) sangya (concepts) and the samskars (conformations) are all maya (illusion) *S N D, Vol I P 127*

७ As the phenomena have no essence they are neither produced nor destroyed, they really neither come nor go They are merely the appearance of maya or illusion *S N D, Vol I P 141*

८ View as enemies, avarice (matsaryya), deceit (sathya) duplicity (maya), Lust, indolence (Kausidya), pride (mana), greed (raga), hatred (dvesa) and pride (mada) concerning family, figure, glory, youth, or power *S N D, Vol I P 144*

९. It is only due to maya (illusion) that the phenomena appear in their twofold aspect as subject and object. *S N D Vol I. P. 146*

है न अनस्तित्व। केवल मूर्खों के द्वारा उसका अस्तित्व कल्पित किया जाता है[1]। वास्तव मे जब यह कहा जाता है कि ससार माया अथवा भ्रम है तो उसका अभिप्राय यह होता है कि माया की कोई स्थिति नही है और न उसका कोई वास्तविक कारण ही है।[2]

जैन दर्शन म कषायो का वर्णन करते हुए माया को भी एक कषाय माना गया है तथा उसे छल और कपटपूर्ण वृत्ति कहा गया है। जैनो के चार कषाय क्रोध अभिमान माया तथा लोभ है।[3] साख्य दर्शन के अनुसार ही परवर्ती वेदान्तियो ने माया को सत्व रज तथा तम गुणो से निर्मित माना है।[4] माया अपरिभाषिणीय अनिश्चित तथा अप्रमाण्य है।[5] माया शब्द वेदान्त दर्शन म सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है तथा अनेक दार्शनिक गुत्थियो को सुलझाने म उसका व्यापक प्रयोग किया गया है। अद्वैत वेदान्त दर्शन की मूल भित्ति आत्मा माया के द्वारा ही समस्त सृष्टि की निमित्तोपादान कारण है तथा उसी माया की निवृत्ति से एक ब्रह्म अथवा आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी शेष नही रहता। निम्न श्लोक म अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त के विषय मे इसी भाव की पुष्टि हुइ है।

> अद्वैते ब्रह्म सत्यम् जगत् इदमनृत मायया भासमान।
> जीवो ब्रह्म स्वरूपो ग्रहमिति ममचेत ग्रस्ति दहेभिमान।
> श्रुत्वा ब्रह्म ग्रहमस्मि ग्रनुभवमुदिते नष्ट कर्माभिमानात्।
> माया ससार मुक्ते इह भवति सदा सच्चिदानन्दरूप।

वेदान्त के विभिन्न आचार्यो ने माया के स्वरूप तथा गुणो के विषय मे मत व्यक्त किये है। महर्षि व्यास ने माया के रूप का चित्रण इस प्रकार किया है

> गुणानाम् परमम् रूपम् न दृष्टिपथ मृच्छति।
> यत्तु दृष्टि पथम् प्राप्तम् तन्मायैव सुतुच्छकम्॥ व्यास भाष्य ४।१३।

---

१ There is thus only non existence which again is neither eternal nor destructible and the world is but a dream and a maya things which are neither existent nor non existent are only imagined to be existent by fools *S N D Vol I P 149*

२ When it is said that the world is maya or illusion what is meant to be emphasized is this that there is no cause no ground *S N D Vol I P 151*

३ The four kasayas are krodha (anger) mana (vanity and pride) maya (insincerity and the tendency to dupe others) and lobha (greed) *S N D Vol I P 201*

४ In later times Vedanta also sometimes described maya as being made up of sattva rajas and tamas *S N D, Vol I P 492*

५ Maya however was undemonstrable, indefinite and indefinable in all forms it was a separate category of the indefinite there was only one soul or self which appeared as many by virtue of the maya transformations *S N D Vol I P 493*

यद्यपि सभी वस्तुएँ गुणों के द्वारा ही प्रतिभासित होती है परन्तु गुणों की वास्तविक प्रकृति इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नहीं है। जो कुछ भी इन्द्रियों का विषय है, वह सब इन्द्रजाल की भाँति माया तथा भ्रम है।[१] गौड़पादाचार्य ने सृष्टि सम्बन्धी कुछ सामान्य सिद्धान्ता का उद्धरण देते हुए कहा है कतिपय (मनीषी) सृष्टि को, स्वप्न तथा माया की भाँति कल्पना करते है।[२] यदि दृष्ट सृष्टि का अस्तित्व वास्तविक होता तो उसका विनाश भी सम्भव होता परन्तु समस्त द्वित्व केवल माया है। केवल एक ब्रह्म ही परमार्थत सत्य है।[3] समस्त संयुक्त पदार्थ जो दृष्टिगोचर होते है केवल माया (Magic) हैं।[४] स्वय गौड़पाद के अनुसार माया के द्वारा आत्मा मे ही समस्त जगत प्रतिभासित होता है।[५]

शकराचार्य ने सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए माया को कोई विशेष स्वरूप नहीं प्रदान किया है। यह काम उनके अनुयायियों द्वारा सम्पादित हुआ। शकराचार्य ने यह कभी भी सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया कि ससार माया है वरन् उन्होंने उसे स्वत सिद्ध ही माना। उनके अनुसार केवल आत्मा ही सत्य है और जब केवल आत्मा ही सत्य है तो यह निश्चित है कि शेष सब माया तथा भ्रम है। सब जगत माया का ही खेल है। शरीर को आत्मा मानकर उसके सुख-दुख आदि का ज्ञान तथा आत्मा पर आरोप अनादि अज्ञान माया के कारण है।[६] इसी कारण आत्मा के अतिरिक्त सभी कुछ माया है ऐसा समझ लेने

---

१ Though all things are but the modifications of gunas yet the real nature of the gunas is never revealed by the sense-knowledge What appears to the senses are but illusory characteristics like those of magic (maya), *S N D, Vol I P 273*

२ Others imagine that creation is like dream (svapna) and magic *(maya)* *S N.D, Vol. I P 424*

३ The world-appearance (prapancha) would have ceased if it had existed, but all this duality is mere maya (magic or illusion), the one is the ultimately real (parmarthatah) *S N.D, Vol I P. 425*

४ All things that appear as compounded are but dreams (svapna) and maya (magic) *S N D, Vol I.P. 426*

५. The world subsists in the atman through maya *S N D, Vol I P. 470*

६ Sankara never tries to prove that the world is maya, but accepts it as indisputable For if the self is what is ultimately real, the necessary conclusion is that all else is mere illusion or maya An identification of the self with the body, the senses, etc and the imposition of all phenomenal qualities of pleasure, pain, etc upon the self, and this with Sankara is a beginningless illusion *S N. D., Vol. I. P 435*

पर वैदिक विधि निषेधा का कोई महत्त्व नही रह जाता।[1] यदि ईश्वर को लीला के लिए सृष्टि का कर्ता मान लिया जाय तो वह भी सत्य नही है। वास्तव मे सम्पूर्ण सृष्टि भी माया तथा भ्रम है और साथ ही सृष्टा भी। ब्रह्म ही ससार का निमित्त तथा उपादान कारण है।[2]

माया तथा ब्रह्म के साहचय का आरम्भ चाहे वह व्यक्ति तथा जीव के रूप मे हो चाहे ससार या समष्टि के रूप मे किसी काल विशेष से नही हुआ। माया कोई सत्य वस्तु नही है अविद्या के द्वारा सब दृष्टिगत होता है। यथार्थ सत्य का ज्ञान हो जाते ही माया अविद्या तथा उसकी प्रतीति के साथ सब विलीन हो जाते है।[3] ब्रह्म और माया का कोई सम्बन्ध सम्भव नही। सत्य का असत से कोई सम्बन्ध नही हो सकता यह दिखावा मात्र (Appearance) है।[4] दृष्ट सृष्टि नियत सिद्धान्त अनन्त नाम रूपात्मक सत्ता सब अविद्या अज्ञान या माया जनित हैं तथा यह सब सुबोध नही है[5] यही नही माया सत तथा असत दोनो से भिन्न श्रेणी (स्वत सिद्ध कल्पना) मे मानी गई है। तर्क की किसी भी कोटि मे यह नही आती न अस्ति मे न नास्ति म न दोनो से भिन्न मे ही। इसे

---

१ When once a man realized that the self alone was the reality and all else was maya all injunctions ceased to have any force with him S N D V I I P 437

२ But it may be conceiv d that God (Isvara) created the world as a mere sport from the true point of view there is no Isvara who creates In real ty all creation is illusory and so the creator also is illusory Brahman the self is at once the material cause (*upadana karana*) as well as the efficient cause (*nimitta karana*) of the world S N D Vol I P 438

३ this association did not begin in time either with reference to the cosmos or with reference to individual persons Maya or illusion is no real entity it is only false knowledge (avidya) that makes the appearance which vanishes when the reality is grasped and found Maya or avidya has an apparent existence only so long as it lasts but the moment the truth is known it is d ssolved S N D Vol I P 442

४ Brahman the truth is not in any way sull ed or affected by association with maya for there can be no association of the real with the empty the maya the illusory It is no real association but a mere appearance S N D Vol I P 442

५ That all the phenomena of the world the fixed order of events the infinite variety of world forms and names all these are originated by this av dya ajnana or maya is indeed hardly comprehensible S N D Vol I P 461

"तत्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीया' कहा गया है।[1] संसार का दिखावा, माया या अविद्या को अनिर्वचनीय, अवर्णनीय माना गया है।[2] जगत् कार्य है। कार्य के सभी गुण माया के अवर्णनीय एवं अनिर्वचनीय अज्ञान हैं।[3]

शांकर मतावलम्बियों ने कभी कभी माया तथा अविद्या में भेद माना है। माया संसार के समष्टि भ्रम का कारण है तथा अविद्या उसी आच्छादक स्वरूप का जीव-गत भेद है।[4] वाचस्पति मिश्र के मतानुसार माया सहकारी है जिसके कारण एक ब्रह्म, जीव को लौकिक दृष्टि से बहुत प्रकार से दिखलाई पड़ता है।[5] प्रकाशानन्द ने जगत को माया का कार्य माना है जो कि जगत् के भ्रम का निमित्त तथा उपादान दोनों ही कारण है।[6]

इस प्रकार वेदों से लेकर वेदान्त दर्शन तक माया शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कभी वह अलौकिक शक्ति अद्भुत कौशल, कभी छल-कपट तथा भ्रम के अर्थ का द्योतक रहा है। कहीं धोखे व कपटपूर्ण आचरण के अर्थ से और कहीं द्विधा व मिथ्या ज्ञान के अर्थ से माया की धारणा समन्वित रही है। शांकर मतानुयायियों द्वारा अविद्या तथा माया में भी अन्तर मानते हुए ब्रह्म को आवरित करने वाली माया सृष्टि का कारण् मानी गई है। आगे चलकर हिन्दी सन्त कवियों ने भी माया के प्रायः उपर्युक्त सभी अर्थों एवं रूपों को ग्रहण किया है।

तुलसी के मानस में माया शब्द कहीं पर साधारण छल के अर्थ में[7] और कहीं पर इन्द्रजाल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नट बड़ा विकट कपट करके लोगों को मोहित कर लेता है। दर्शक उस ऐन्द्रजालिक प्रयोग से आकर्षित होकर वास्तविकता से भिन्न देखते हैं परन्तु

---

१ Maya therefore is a category which baffles the ordinary logical division of existence and non-existence and the principle of excluded middle For the maya can neither be said to be "is" nor "is not" *S. N D, Vol. I. P. 442*

२ the world-appearance, the phenomena of maya or ajnana, are indefinable or anirvacaniya *S N D, Vol I. P. 465*

३. All the characteristics of the effects are indescribable and indefinable ajnana of maya *S N. D, Vol I P 467*

४. Others however make a distinction between maya as the cosmical factor of illusion and avidya as the manifestation of the same entity in the individual or jiva *S N D, Vol I. P 469*

५ Maya is thus only a sahakari or instrument as it were, by which the one Brahman appears in the eye of the jiva as the manifold world of appearance *S N D, Vol I P 469*

६ the whole field of world-appearance, is the product of maya, which an[d] both the instrumental and the upadana (causal matter) of the [world] illusion. *S N D, Vol I P. 469*

७. सारस भ[illegible] गया। भव अविवेक मरीच भ्रमाया। तु० रा०, लं० का० १४-२

इस प्रकार के जादू का प्रभाव इन्द्रजालिक के साथ कार्य करने वाले उसके सेवक को प्रभावित नहीं करता। उससे वास्तविकता छिपी नहीं रहती।[1] खरदूषण युद्ध के समय राक्षसों ने उन तमाम युद्ध विधियों को ग्रहण किया था जो कि असाधारण होने के कारण सामान्य-जनों में कौतूहल उत्पन्न करने वाली थीं। समान आकृति के सहस्रों व्यक्तियों का युद्ध के लिए सन्नद्ध दिखाई पड़ना, उनका मृत्यु को प्राप्त कर युद्ध क्षेत्र में गिर पड़ना तथा पुनः शवों का उठकर युद्ध प्रारम्भ करना आदि ऐसे ही कौतुक पूर्ण कार्य थे। यथार्थ से भिन्नता के कारण यह ऐन्द्रजालिक भ्रम की भाँति ही है।[2] इस अवसर पर मायानाथ राम भला कब चुप रहने वाले थे। उन्होंने अपने कौतुक पूर्ण कार्य से सब राक्षसों को राम के समान स्वरूप वाला कर दिया और वे परस्पर एक दूसरे से युद्ध करते हुए लड़ मरे। इस प्रकार का अज्ञान भी (Optical Illusion) प्रकाशीय भ्रम ही है।[3] इसी अर्थ में अन्यत्र भी माया शब्द आया है

(१) देखि महा मर्कट प्रबल रावन कीन्ह बिचार।
अंतरहित होइ निमिष महुँ कृत माया बिस्तार॥

(२) "जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी।"

(३) "जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया।"

आदि पंक्तियों में माया छल तथा अविश्वास के पुट से समन्वित दिखाई पड़ती है। माया शब्द कपट के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[4] राक्षसी माया के द्वारा नागफाँस में समस्त वानर-सेना के बद्ध होने के प्रसंग में माया भ्रम के अर्थ में व्यवहृत हुई है। गरुड़ के द्वारा माया नागों के भक्षण कर लिये जाने पर समस्त वानर-समूह माया विगत हो भ्रम से मुक्त होकर अत्यन्त हर्षित हुआ।[5] इसी प्रकार कामदेव ने अपनी माया के द्वारा वसंत का सृजन किया, यह भी एक प्रकार का भ्रम ही है। यहाँ पर माया से तात्पर्य है सृजन शक्ति का।[6] पूर्व-वर्णित भ्रम (नागफाँस का प्रसंग) की भाँति काम का वसंत विस्तार भी भ्रम का ही द्योतक है। अन्तर केवल इतना है कि प्रथम प्रकार का भ्रम अत्यन्त क्षणिक तथा निम्नकोटि के पात्रों द्वारा समुत्पन्न हुआ था, जबकि यह भ्रम अपेक्षाकृत दीर्घकालिक तथा उच्चकोटि के

---

१ नटकृत बिकट कपट खगराया। नट सेवकहि न ब्यापइ माया। — तु० रा०, उ० का० १०३-४
हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं॥ — तु० रा०, उ० का० १०४ (ख)

२ महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवध धनी॥ — तु० रा०, अर० का० १९ ४

३ सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्‌यो।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्‌यो॥ — तु० रा०, अर० का० १९-४

४. बहुरि करउ किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया॥ — तु० रा०, अयो० का० ३२-२

५ खगपति सब धरि खाये माया नाग बरूथ।
माया बिगत भये सब हरषे बानर जूथ॥ — तु० रा०, लं० का० ७४ (क)

६ तेहि आश्रमहिं मदन जब गयऊ। निज मायाँ बसंत निरमयऊ।
कुसुमित बिबिध बिटप बहुरंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहिं भृंगा॥ — तु० रा०, बा० का० १२५-१

पाश द्वारा समुपस्थित किया गया है। भारतीय दर्शन मे माया के वास्तविक स्वरूप को स्थिर करने मे काल एव पात्र के इसी भेद का उपयोग किया गया है। परमात्मा की शक्ति व भ्रम को माया तथा जीवगत भ्रम को अज्ञान या अविद्या कहा गया है।

सिद्धान्त रूप स म मेरा तू तेरा अह तथा पर का भाव ही माया है और इसने सभी जीवो को वश मे कर रखा है ऐसा तुलसीदास ने माना है। जहा तक इन्द्रिया एव मन की गति है सब माया है।[1] इसी भाव की पुनरावृत्ति प्राय गुसाईं म भी हुई है। उनके मत से जो कुछ भी दृष्टिगत होता है सब माया ही है।[2] इस माया के दो स्वरूप है एक विद्या तथा दूसरी अविद्या। अविद्या माया अत्यन्त दुष्टा तथा दु खरूपिणी है जिसके वशीभूत होकर जीव भवकूप म पडा है। माया का यह अविद्यात्मक रूप जीव को आसक्त करने वाला है। दूसरी विद्यात्मक माया है जो कि जगत रचना की कारण है। यद्यपि माया के आधीन त्रिगुण है तथा माया जगत की निर्मात्री है परन्तु उसम स्वय का कोई बल नही है। वह परमात्मा की प्रेरणा से उसी से शक्ति प्राप्त कर के सृजन कार्य सम्पादित करती है।[3]

शकर के परवर्ती वेदान्तियों को माया के दो रूप मान्य थे। उपनिषदो मे वर्णित परा और अपरा विद्या ज्ञान की दो कोटिया कही गई है। इसी प्रकार तुलसी ने माया को दो श्रेणियो मे विभक्त किया है—विद्या तथा अविद्या। विद्या ईश्वर की उपाधि के रूप म तथा अविद्या जीव के आच्छादक रूप म मानी गई है।

माया ईश्वर की वशवर्तिनी तथा गुणो की खान है। परमात्मा की प्रेरणा से माया जीव को अपने मे रत रखती है। माया के वशीभूत होकर ही जीव मे 'अहम' का बोध होता है। यदि एक रस अखण्ड ज्ञान हो जाय तो जीव तथा ईश्वर म कोई भेद नही है। एक तथा अनेक का भेद माया का ही काम है।[4] जीव स्वय सच्चिदानन्द परमात्मा का अश है परन्तु माया के कारण ही कीर और मरकट की भाति स्वय अपने बन्धन का कारण होता है।[5]

---

१ मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई । तु० रा० अर० का० १४ १ २

२ जो कुछ इन नयननि लखि आ । सो सब माया सकल कहाई । गुसाईं पृ० १६६

३ तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा । जा बस जीव परा भवकूपा ।
एक रचइ जग गुनबस जाकें । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें । तु० रा० अर० का० १४ ३

४ ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ।
ग्यान अखण्ड एक सीतावर । माया बस्य जीव सचराचर ।
जौं सब कें रह ग्यान एक रस । ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस ।
माया बस्य जीव अभिमानी । ईस बस्य माया गुन खानी ।
परबस जीव स्वबस भगवन्ता । जीव अनेक एक श्रीकन्ता ।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया । बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया । तु० रा० उ० का० ७७-१ से ४

५ ईस्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ।
सो मायाबस भयउ गोसाईं । बंध्यो कीर मरकट की नाईं । तु० रा० उ० का० ११६ १ २

माया परमात्मा के दरबार की नर्तकी है एवं भक्ति परमात्मा की प्रियतमा पत्नी है। माया, ज्ञान-वैराग्य आदि (जिनकी कल्पना तुलसी ने पुरुष वर्ग की कोटि में की है) मुक्ति के साधनों को मोहित कर सकती है परन्तु भक्ति से वह सदा भयभीत और सकुचित रहती है। भक्त के ऊपर वह कोई प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकती।[1] तुलसी के इस भाव से मिलता-जुलता भाव कबीर में भी उपलब्ध है। जिसमें उन्होंने जगत् को हाट, विषय-रस को स्वाद तथा माया को वेश्या कहा है।[2] जिस माया के वशवर्ती होकर सम्पूर्ण जगत् विविध प्रकार के नाच नाचता है तथा जिसका चरित्र किसी को विदित नहीं, परमात्मा के भ्रू-विलास से—संकेत मात्र से—वही माया अपने समाज सहित नटी के समान नृत्य करती है।[3] माया परमात्मा की नर्तकी अथवा नटी ही नहीं, उसकी दासी भी है। परन्तु ज्ञान हो जाने पर यह दासी भाव भी मिथ्या हो जाता है। तात्पर्य यह है कि माया का अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक ज्ञान का प्रकाश नहीं हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि परमात्मा की कृपा से ही माया से मुक्ति संभव है।[4] सब प्रकार से गहन माया भगवान के सम्मुख सभीत तथा करबद्ध होकर उपस्थित रहती है परन्तु वही माया कठपुतली रूपी जीव को सूत्रधार की भाँति मन-चाहा नाच नचाया करती है।[5] इस भावना की तुलसी में कई बार आवृत्ति हुई है—जिस माया ने चराचर जीवों को वश में कर रखा है वही माया परमात्मा से भयभीत रहती है तथा उसी के इंगित पर स्वयं नृत्य करती है।[6]

ईश्वर की सत्ता से ही माया का अस्तित्व एवं कर्तृत्व तुलसी को मान्य था यह निम्न दोहे से और अधिक स्पष्ट हो जाता है—

> माया जीव सुभाव गुन काल करम, महदादि।
> ईस अंक ते बढ़त सब ईस अंक बिनु बादि॥ तु० ग्रं०, पृ० १००

ईश्वर का आधार प्राप्त करके ही माया जीव आदि अपना अस्तित्व धारण करते तथा वृद्धि को प्राप्त होते हैं। ईश्वर के अन्यथा कुछ भी नहीं रहता। यही नहीं पुरुष सूक्त

---

१. माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि बर्ग जानइ सब कोऊ।
पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी।
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई। तु० रा०, उ० का० ११५ २,३,४

२. जग हटवाड़ा स्वाद ठग माया बेसा लाइ।
राम चरन नीका गही जिनि जाइ जनम ठगाइ॥ क० ग्रं०, पृ० ३२

३. जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा।
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा। तु० रा०, उ० का० ७१ ३

४. सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥ तु० रा०, उ० का० ७१ (ग)

५. देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी।
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥ तु० रा०, बा० का० २०१-२

६. जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे।
भृकुटि बिलास नचावइ ताही। अस प्रभु छाड़ि भजिअ कहु काही। तु० रा०, बा० का० १९९-१,२

की शैली के समान तुलसी ने परमात्मा का वर्णन करते हुए माया को परम पुरुष का 'हास' कहा है।[1]

कमल सघन होकर जलराशि को इस प्रकार आच्छादित कर लेते हैं कि जल दृष्टिगोचर नहीं होता, इसी प्रकार माया ब्रह्म को इस प्रकार आच्छादित किये हुए है कि वह जीव को दिखलाई नहीं पड़ता। यदि ब्रह्म और जीव के बीच माया का आवरण न होता तो जीव ब्रह्म के स्वरूप का सदैव ही प्रत्यक्ष किया करता। माया से जिस प्रकार ब्रह्म परिछिन्न है, उसी प्रकार जीव भी माया से आवरित है।[2] दादू का भी यही मत है कि परमात्मा ने सृष्टि रचना करके और माया का परदा डालकर अपने को अदृष्ट कर दिया है। इसीलिए वह सर्व साधारण की आँखों से परे है।[3]

कबीर ने माया को छाया के सदृश माना है, जो पकड़ने का प्रयत्न करने पर तो दूर भागती है और पकड़ में नहीं आती परन्तु उससे दूर भागने वाले का वह पीछा नहीं छोड़ती—साथ ही लगी रहती है।[4] तुलसीदास के मत से माया की अभिवृद्धि अथवा न्यूनता उसके परमात्मा के समीप या दूर होने पर निर्भर है। सूर्य के आकाश में दूरस्थित होने पर छाया वृद्धि को प्राप्त होती है तथा निकट होने पर छाया अत्यन्त लघु हो जाती है। इसी प्रकार परमात्मा के निकटस्थ जीव को माया कम तथा दूरस्थ को अधिक प्रभावित करती है।[5]

माया का ठगिनी रूप में भी आलोच्य कवियों ने प्रस्तुत किया है। माया ठगिनी समस्त जगत् को ठगती रहती है, परन्तु परमात्मा के द्वारा वह ठगिनी भी ठगी जाती है।[6] माया ने किसी को ठगने से नहीं छोड़ा परन्तु इसको किसी ने नहीं ठगा। जो इसको ठग सके उसे ही सच्चा भक्त समझना चाहिए।[7] साथ ही साथ माया सबको मोहित करने वाली है जो कि प्राप्त करने का प्रयत्न करने पर नहीं मिलती परन्तु मिथ्या समझ कर त्याग देने

---

१ अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥ — तु० रा०, लं० कां० १४३

२ पुरइन सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म।
मायाछन्न न देखिऐ जैसे निर्गुन ब्रह्म॥ — तु० रा०, अर० कां० ३९ (ख)

३ बानी बिहर रचाइकै छाया अपरछन होइ।
माया पर परदा दिया तातैं लखै न कोइ॥ — दादू, भा० १, पृ० १२४

४. माया छाया एक सी बिरला जानै कोय।
भगता के पाछे फिरै सनमुख भागै सोय॥ — कबीर, स० बा० सं० भा० १, पृ० ५०

५. राम दूरि माया बढ़ति घटति जानि मन माँह।
भूरि होति रवि दूर लखि सिर पर पगतर छाँह॥ — तु० ग्र०, पृ० ६१

६. माया तो ठगिनी भई ठगत फिरै सब देस।
जा ठग या ठगनी ठगी ता ठग को आदेस॥ — कबीर, स० बा० सं० भा० १, पृ० ५०

७ माया ठगिनी जग ठगा इसको ठगा न कोय।
पलटू पहिले सो ठगै (सो) साँचा भक्ता होय॥ — पलटू, स० बा० सं० भा० १, पृ० २२१

पर पीछे लगी फिरती है।[1] माया का यह महामोहिनी रूप इतना प्रबलतम है कि वह जीव को किसी प्रकार छोड़ती ही नहीं। भ्रम, मोह आदि विकारों से रहित प्राणी को भी अपने आकर्षक एवं मोहक रूप से छलपूर्वक लुभा लेती है।[2] दादू ने माया को मृदुभाषिणी कहा है। देखने से वह बड़ी ही विनम्र प्रतीत होती है परन्तु अन्तर में प्रविष्ट होने का अवसर पाते ही राक्षसी के समान हृदय करने लगती है मर्म का भक्षण करती है।[3] माया ऐसी सर्पिणी के समान है जो जीवों का आगे पीछे जिधर से भी अवसर मिल, सब तरफ से भक्षण करने वाली है।[4] माया स्वयं तो सर्पिणी है ही, उसकी केंचुल पहनकर विषयों और कर्मों में आसक्त होकर मनुष्य सर्प की भाँति बन जाता है। केंचुल-रूपी माया के आवरण के कारण उसे सत्य दिखाई नहीं पड़ता और भटकता हुआ वह अपना सिर फोड़ता रहता है।[5] माया ने सारे संसार को अन्धा बना रखा है। स्वयं अदृष्ट होकर भी सबको भ्रम में डाले हुए है।[6]

नवनीत के समान मृदु हृदय माया रस के प्रभाव से पाषाणवत् कठोर हो जाता है।[7] माया मिश्री की छुरी के समान है जो कभी विश्वसनीय नहीं हो सकती। मौका पड़ने पर उससे आघात होना स्वाभाविक ही है। वास्तव में जीव तथा ब्रह्म अभिन्न है। माया ने ही स्वभाव के कारण इस अभिन्नता को मिटा कर दोनों की पृथक् स्थिति करके भेद उत्पन्न कर दिया है।[8] माया के द्वारा मनुष्य सब कार्य सम्पादित करता है। स्वयं उसकी शक्ति नहीं कि वह माया से विमुख हो जाय। जिस प्रकार कठपुतली नृत्य करती है परन्तु उसके अंग प्रत्यंगों का संचालन तथा विविध कार्य उसकी शक्ति तथा वश में नहीं होते वरन् उनका संचालक सूत्रधार होता है उसी प्रकार जीव के कार्य-कलापों का संचालन माया के द्वारा होता है।[9] संसार की प्रपंचपूर्ण स्थिति में माया ने जीव को घेर रखा है और लोभ, मोह आदि माया के अंगों के वशवर्ती होकर जीव आवागमन के चक्कर

---

१ कबीर माया मोहिनी मांगे मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि तब लागी डोलै साथि॥ — क० ग्र०, पृ० ६

२ भ्रम माया गुरु वचन सुनि मोह रहा नहिं लेश।
तब माया छल दिन किया महामोहनी भेष। — मलूकदास भा० २, पृ० ३२

३ माया मीठी बोलनी नै नै लागै पाइ
दादू पैसे पेट में काढ़ि कलेजा खाइ॥ — दादू, स० बा० स० भा० १, पृ० ६७

४ सापिणि एक सब जीव कौं आगे पीछे खाइ — दादू, भा० १, पृ० १२३

५ विषै कर्म की केंचुली पहिरि हुआ नर नाग
सिर फोड़ै सूझै नहीं को पाछिला अभाग॥ — क० ग्र०, पृ० ४१

६ उठे विहान पेट का धंधा। माया लाय किया सब अंधा।
तन मन छीन कुम्बे लाया। दिप रही आप लोग भरमाया॥ — मलूकदास, भा० २, पृ० १०

७ माखन मन पाहन भया माया रस पीया। — दादू, भा० १, पृ० ११८

८ माया मिसरी की छुरी मन कोइ पतियाय।
इन मारे सत्तार के मगहिं मध्य लड़ाय। — मलूकदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १०३

९ ज्यों नाचत कठपूतरी करम नचावत गात।
अपने हाथ रहीम ज्यों नहीं आपुने हाथ॥ — रहीम, पृ० ६

में पड़कर कष्ट उठाया करता है।[1] माया से कोई बचा नहीं है, वह आकर्षक जो ठहरी। माया के झूले पर सभी अपनी शक्ति और सामर्थ्य भर झूलते हैं परन्तु उसका अंत न पाकर थक कर चूर होकर वहीं गिर जाते हैं।[2] कबीर ने भी माया के इस झूले की कल्पना की है। परमात्मा ने क्रीड़ा (लीला) के लिए इस संसार की रचना की है। यहाँ कोई बिरला ही ऐसा होगा जो माया के झूल में झूलने की इच्छा न करे। रात-दिन, मास, ऋतु, युग, कल्प तथा अनन्त समय बीत गया, परन्तु इस झूलन से अवकाश न मिला। अनेक बार नीचे-ऊँचे पेंग पर चढ़कर अनेक सुखद एवं दुखद परिस्थितियों में रहता हुआ जीव निरन्तर भ्रम में भूला ही रहता है। कबीर इस झूलने से ऊबकर तथा श्रम से विराम-प्राप्ति के लिए माया से निवृत्ति चाहते हैं और इसी हेतु भगवान से प्रार्थना करते हैं क्योंकि माया का संचालक एवं नियंता एकमात्र वही है।[3] परमात्मा ही सब कुछ है चाहे एक कहा जाय या अनेक, व्यापक माना जाय अथवा पूरक वही सर्वत्र विद्यमान है। उसके विविध रूपों का कारण एकमात्र माया है। परन्तु इसे सब कोई नहीं जानता। बिरले को ही यह रहस्य विदित होता है।[4]

तुलसी के द्वारा माया नारी और दासी के रूप में गृहीत हुई है, उसी प्रकार उन्होंने माया को रमा का विलास भी माना है तथा राम अनुरागी भक्त के लिए माया को वमन की भाँति त्याज्य कहा है।[5] इसीलिए मलूकदास ने भी माया को भक्तों के मार्ग में न आने के लिए सावधान किया है। यदि भगवान राम को यह ज्ञात हो गया कि माया भक्तों के प्रशस्त पथ में अवरोध उत्पन्न करती है तो माया का कल्याण नहीं। क्योंकि उसका शासन-सूत्र प्रभु के हाथ में ही है। दीनों के रक्षक, अविनाशी भगवान् के भक्तों पर माया अपना प्रभाव डालने में समर्थ नहीं होती। इसलिए माया को अपने आकर्षक एवं मोहक रूप को त्याग कर, जिसमें कि वह सब प्राणियों को फँसाया करती है, भक्तजनों के सम्मुख अत्यन्त

---

१ जग रचना अपार नाच माया ने घेरा।
अरे हाँ तुलसी लोभ मोह बस परे करें चांगलमोचेरा। तुलसी साहब, स० बा० स० भा० २, पृ० २४०

२ माया रच्यो हिंडोलना सब कोउ भूल्यो आय।
पेंग मारि चढ़ि गिरि गये वाकू अन्त न पाय।। जगजीवन, स० बा० स० भा० १, पृ० ११८

३ बहु विधि चित्र बनायके हरि रच्यो क्रीड़ा रास।
जेहि न इच्छा झूलिबे की ऐसी बुधि केहि पास।
झूलत झूलत बहु कल्प बीते मन न छोड़ै आस।
रच्यो हिंडोला अहो निसि हो चारि जुग चौमास।
कबहू ऊँच से नीच कबहूँ सरग-भूमि ले जाय।
अति भ्रमत भरम हिंडोलवा हो नेकु नहि ठहराय।
डरत हौं यहि झूलिबे को राखु जादवराय।
कहै कबीर गोपाल बिनती सरन हरि तुम पास।। क० ग्र० का०, पृ० ३२८

४ एक अनेक बियापक पूरक जित देखौं तित सोई।
माया चित्र विचित्र बिमोहित बिरला बूझै कोई।। नामदेव, स० बा० स० भा० २, पृ० ३१

५ जेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा।
रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी।। तु० ग्रं०, अयो० का० ३२३।४

विनीत एवं सलज्ज रहना चाहिए।[1] माया तथा जीव दोनों ही ब्रह्म से उद्भूत हुए हैं। अस्तु जीव और माया में भाई-बहन का सम्बन्ध भी मान्य है। कबीर ने माया को भगिनी के रूप में भी देखा है। यदि कोई बहन चाहे कि वह अपने सहोदर को अपने नेत्र कटाक्षों से आकर्षित कर ले तो यह पूर्णरूपेण अस्वाभाविक और अनैतिक है। इसके अतिरिक्त बहिन का दुराचारिणी होना किसी भी भाई के लिए उसके हृदय का विषय न होगा। इन्हीं दोनों कारणों से कबीर माया के लुभावने कटाक्ष-जाल को विषय के समान हेय, त्याज्य तथा घातक समझते हैं।[2]

दरिया साहब की माया-विषयक धारणा एक विशेषता रखती है। उनके अनुसार माया शब्द का प्रयोग सभी लोग करते हैं परन्तु माया के वास्तविक स्वरूप की पहचान किसी को नहीं है। केवल परमात्मा के नाम के साथ जो कुछ है उसके अतिरिक्त शेष सब माया है।[3] तुलसीदास ने माया को जीव और ब्रह्म के बीच स्थित बताते हुए उपमा के द्वारा स्पष्ट किया है

आगे रामलखन पुनि पाछें। तापस वेष बिराजत काछें।
उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥

तु० रा० अयो० का० १२२-१

अब तक हमने माया के विभिन्न रूपों तथा अर्थों को देखा। हिन्दी साहित्य में माया शब्द धन या सम्पत्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और यह इस साहित्य की व्यक्तिगत मान्यता है। संस्कृत तथा पालि-साहित्य में माया शब्द इस अर्थ में कहीं भी नहीं आया। धन-सम्पत्ति से सम्बन्धित अनुराग, आसक्ति के अर्थ में भी माया यत्र तत्र आई है

आदि समय चेता नहीं, अन्त समय अँधियार।
मध्य समय माया रते, पाकड़ लिये गँवार॥

स० बा० सं० भा० १, पृ० १८६

इन पंक्तियों में माया शब्द आसक्ति के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है।[4] माया देखने में अत्यन्त विकट है और वह शरीर का साथ नहीं देती। शरीर नष्ट हो जाता है और वह यहीं छूट जाती है। इस प्रसंग में माया, धन, सम्पत्ति, सांसारिक ऐश्वर्य की प्रतीक है।

---

१. हमसे जनि लागै तू माया।
थोरे से फिर बहुत होयगो सुनि पैहैं रघुराया।
तर है चिन्ते लाज कर जनकी डाल हाथ की फाँसी।
जनते तेरो जोर न लहिहै रछपाल अविनासी।
कहै मलूका चुप कर ठगनी औगुन राखु दुराई। मलूकदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १०६
२. तुम धरि जाहु हमारी बहना। विष लागै तुम्हारे नैना। क० ग्रं०, पृ० १८०
३. माया माया सब कहै चीन्है नाहीं कोय।
जन दरिया निज नाम बिन सबही माया होय॥ दरिया सा० ५०, पृ० ४१
४. माया बिहडै देखता काया संग न जाइ।
कृत्तम बिहडै बावरे अजरावर ल्यौ लाइ॥ दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ६६

दादू ने माया का अस्तित्व मनुष्य की जीवितावस्था तक ही माना है। प्राणान्त हो जाने पर तथा परमात्मा का ज्ञान हो जाने पर माया से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता—स्पष्ट ही है कि मृत तथा भक्त के लिए सांसारिक विभूति का कोई मूल्य नहीं रह जाता।[1] कबीर की दृष्टि से माया ऐसी लता है जो मुक्ति तथा नरक दोनों को देने में समर्थ है। इसका सदुपयोग करते रहने से—खाने-खरचने से—यह मुक्ति की दात्री है परन्तु संचय करने से नरक की देने वाली है।[2] यहाँ पर भी माया शब्द द्रव्य या धन के लिए ही आया है।

बालापन सब खेल गँवाया तरुन भयो जब रूप घना।
वृद्ध भया जब आलस उपज्यो माया मोह भयो मगना॥

उपर्युक्त पंक्तियों में माया शब्द धन, सम्पत्ति पुत्र-कलत्र आदि का द्योतक प्रतीत होता है। वृद्धावस्था के उपरान्त जीवन का अंत हो जाने पर जब शरीर ही जीव का अपना नहीं होता तो माया—दारा, सुत, वित्त आदि ही जीव के किस प्रकार अपने बने रह सकते हैं।[3] इसीलिए सुन्दरदास ने माया मोह सांसारिक विषयासक्ति त्यागकर परमात्मा का स्मरण करने का उपदेश दिया है।[4] जगजीवन साहिब के द्वारा भी माया शब्द का यही अर्थ ग्रहीत हुआ है।[5]

आलोच्य कवियों ने जीव तथा ब्रह्म की अभिन्नता का दिग्दर्शन कराया है। जीव ब्रह्म ही है। अपने को भूल जाने के कारण ही उसकी तथा ब्रह्म की पृथकता प्रतीत होती है। जीव और ब्रह्म के पृथक्त्व का कारण और शुद्ध न होकर जीव की आत्मविस्मृति अर्थात् अज्ञान मात्र है। श्वान काच के कक्ष में अपना प्रतिबिम्ब देखकर और उसको अपना प्रतिद्वन्द्वी अन्य श्वान समझकर, ईर्ष्यावश भौंक भौंक कर प्राण दे देता है। सिंह कूप-जल में अपने ही प्रतिबिम्ब को देखकर उसे दूसरा सिंह समझकर अपने अहंकार पर आघात का अनुभव करता है और कुएँ में कूद कर जीवन का अंत कर देता है। मदमत्त हाथी स्वच्छ स्फटिक-शिला में अपने प्रतिबिम्ब पर ही क्रोधवश प्रहार करता है और इस प्रकार अपने ही अज्ञान के कारण दाँतों को तोड़ बैठता है। बन्दर जिह्वा-रस के कारण एक मुट्ठी अन्न के प्रलोभन में फँसकर स्वयं ही अपने बन्धन का कारण होता है। चाहते अथवा न चाहते हुए भी उसे उदर-पूर्ति के लिए आत्म सम्मान खोकर घर-घर नाच दिखाते हुए भीख माँगनी

---

१. जब लग काया तब लग माया रहै निरन्तर अनुराग।
अमर भये पर बैकुण्ठ वास छाया माया रहै उदास॥ — दादू, भा० २, पृ० १७०

२. कबीर माया रूखड़ी दो फल की दातार॥
खावत खरचत मुक्ति दे संचत नरक दुवार॥ — कबीर, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ५७

३. काया अपना है नहीं माया कहँ से होय।
चरन कमल में ध्यान रख इन दोनों को खोय॥ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २०२

४. सुन्दर भजिये राम को तजिये माया मोह।
पारस के परसे बिना दिन दिन छीजै लोह॥ — सुन्दरदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०८

५. सतनाम अनु जीवरा और कृपा करि जान।
माया तरि नहिं भूलना समुझि पाछिला बान। — जगजीवनसाहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ११६

पड़ती है। तोते के बंधन का कारण कोई बाहरी उपकरण नहीं होता स्वयं अपनी चंचु से वह अपने बंधन-पाश को पकड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य को माया के बंधन में डालने वाला कोई अन्य नहीं है। स्वयं उसकी हृदयस्थ दुर्वृत्तियाँ ईर्ष्या अहंकार क्रोध तृष्णा आदि उसको फँसाये हुए है।[1] अस्तु हमने देखा कि मनुष्य अज्ञानवश ईर्ष्या, क्रोध आदि माया के अंगों द्वारा बद्ध है।

मनुष्य को अपने में आसक्त कर उसकी आत्मविस्मृति का कारण बनने वाले माया के यह अंग एक नहीं अनेक हैं। ये इतने असीम और प्रबल हैं कि इनसे शिव और चतुरानन भी भयभीत रहते है अन्य जीव की गणना ही क्या। समस्त संसार माया के इस अवर्णनीय सैन्यदल से व्याप्त है काम क्रोध लोभ मोह मद दम्भ कपट पाखण्ड आदि माया के प्रधान गण हैं। विश्व में मोह किस प्राणी को विवेक शून्य नहीं बना देता काम किसको आतुर नहीं कर देता तृष्णा के वश होकर कौन बावला नहीं हो जाता क्रोध से किसका हृदय संतापित नहीं होता ? ज्ञानी तपस्वी वीर कवि विद्वान गुणवान ऐसा कौन है जिसकी लोभ के कारण विडम्बना न हुई हो। लक्ष्मी के मद से किसको गर्व नहीं होता और प्रभुता पाकर कौन मद रहित रहता है मृगनयनी के सौन्दर्य से कौन आकर्षित नहीं होता। सत्व, रज, तम गुणों के सन्निपात से कोई नहीं बचता अथवा यो भी कह सकते है कि अपने गुणों के कारण आत्मश्लाघा के सन्निपात से कौन बदहोश नहीं हो जाता। सम्मान के मद का कोई त्यागता नहीं यौवन के कामज्वर से सभी पीड़ित होते है ममता के वश होकर किसी को अपने यश अपयश का ध्यान नहीं रह जाता। मत्सर के कारण सभी कलंकित होते है। शोक से सभी का हृदय कम्पित हो जाता है संसार में कोई भी मनुष्य चिन्ता रहित नहीं तथा यहाँ ऐसा कौन है जो माया के इन उपकरणों में ग्रसित न हो। शरीर रूपी काष्ठ को मनोरथ रूपी कीट जर्जरित कर देता है सुत वित्त और लोकैषणा किसी की बुद्धि को भी मलिन करने से नहीं छोड़ती।[2] इसी ऐषणा त्रय का प्रतिरूप (Counterpart) हम लिबिडो

---

१ अपनपो आप ही बिसरो।
जैसे सोनहा काच मंदिर में भरमत भूँकि मरो।
जो केहरि बिंबु निरखि कूप-जल प्रतिमा देखि परो।
ऐसेहि मदगज फटिक शिला पर दसननि आनि अरो।
मरकट मुठी स्वाद ना बिसरै घर घर नटत फिरो।
कह कबीर ललनी के सुवना तोहि कवने पकरो॥ क० ग्र० क० पृ० ३४४

२ सुनहु तात मोह अहि खग साईं। जो नहि रघु आसरन गोसाईं।
नारद मिव बिरंचि सनकादि। जे मुनि नायक आतमवादी।
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही।
तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा। केहिकर हृदय क्रोध नहिं दाहा।
ग्यानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्ह न एहि संसार॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नयन सर को अस लाग न जाहि॥

सिद्धान्त में यौन (Sex) की तीन अवस्थाओं Self-Reproduction, Self-Preservation तथा Self-expression (आत्म पुनर्जनन, आत्मसंरक्षण, आत्म अभिव्यक्ति) में प्राप्त होता है। यही वृत्तियाँ मनुष्य को जीवन के विविध मार्गों में प्रवृत्त कराने वाली होती हैं। तुलसीदास ने माया के अंग तम, मोह आदि को चोर व बटमार कहा है। उनका मत हृदय परमात्मा का पवित्र निवास स्थान है जिसमें बहुत से चोरों ने आकर अड्डा जमा लिया है। वे इतने प्रबल व क्रूर हैं कि अनुनय-विनय से भी नहीं पसीजते हैं। इन तम, मोह, लोभ, अहंकार-मद, क्रोध आदि चोरों ने अपने शत्रु बुद्धि को भी हत कर दिया। जीव को एकाकी जानकर वे उसका मर्दन करते हैं और उन अनेकों के सामने एक की पुकार किसी को सुनाई नहीं पड़ती। भागने पर भी तो इन तस्करों से पीछा नहीं छूटता। तुलसीदास को सबसे बड़ी चिन्ता यह है कि माया के इन गुणों से उनका हृदय जो भगवान का परम धाम है कहीं जम न कर लिया जाय और इस प्रकार प्रभु भी अपयशी हों।[1]

मोह, काम, क्रोध, लोभ, ममता आदि माया के उपकरणों को तुलसी ने मानस-रोगों के रूप में चित्रित किया है। ये विविध प्रकार से मनुष्य को कष्ट देते हैं। इनमें से मोह तो सब व्याधियों का मूल है। काम, क्रोध और लोभ वात, पित्त तथा कफ रूप हैं। इनमें से किसी एक की भी वृद्धि कष्टकर होती ही है परन्तु यदि तीनों की ही वृद्धि हो जाय तब तो सन्निपात ज्वर की-सी घातकता उपस्थित हो जाती है। विषयों की अदम्य अभिलाषारूपी नाना प्रकार के शूल इतने अगणित एवं दुर्बोध हैं कि उनका जानना तथा नामकरण करना भी सहज नहीं है। ममता को दाद, ईर्ष्या को खुजली, द्वेष को यक्ष्मा, दुष्टता एवं मन की कुटिलता को कुष्ट, अहंकार को दुखद डमरुआ (एक रोग-विशेष) दंभ, कपट, मदमान को

गुन कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही।
जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा।
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा।
चिन्ता साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया।
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा।
सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन कृत न मलीनी।
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा।
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं।
ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥ तु० रा०, उ० का० ७१ (क)

१. मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा।
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा।
तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा।
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा।
मैं एक अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा।
भागेहुँ नहिं नाथ उबारा। रघुनायक करहु सँभारा।
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा।
चिन्ता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा। तुलसी, ग्र० ना० सं० भा० २, पृ० ५६

नहरुआ, तृष्णा को उदर-वृद्धि (जलोदर), ऐषणात्रय (सुत, वित लोकैषणा) को तिजारी, मत्सर, अविवेक को अनेक प्रकार के ज्वर तथा हर्ष विषाद को ग्रह प्रदत्त कष्ट कहा गया है। किसी एक रोग विशेष से पीडित होकर तो मनुष्य की मृत्यु हो ही जाती है फिर जो इस प्रकार के अनन्त असाध्य रोगो से निरन्तर पीडित रहे वह भला समाधि की आनन्दमयी स्थिति को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है।[1]

तुलसी द्वारा वर्णित अनेक मानस रोगो मे से काम क्रोध लोभ ये तीन अत्यन्त प्रबल दुष्ट है जो परम ज्ञानी मुनियो के शात पावन चित्त को भी क्षण भर म ही क्षुभित कर देते है।[2] ससार म ऐसा कोई भी दृष्टिगत नही होता जो इन तीनो से मुक्त हो। किनता ही ऐसा होता है जो नारी के नेत्र कटाक्षो द्वारा आबिद्ध नही किया जाता क्रोधाग्नि से प्रज्वलित मिथ्याभिमान की भट्ठी म जिसका मन दग्ध नही हो जाता तथा मुट्ठी भर दाने के लिए मदारी के कपि की भाँति लोभ के वशीभूत होकर नाना प्रकार का नाच नाचता हुआ दर-दर भटकता नही फिरता। इन तीनो से जो बच जाता है उस ही भगवान का सच्चा भक्त समझना चाहिए।[3] नामदेव न विषयो को वन कहा है ऐसा वन जहाँ पहुँच कर प्राणी विवेकशून्य होकर मतवाला हो जाता है। पानी मे रहने वाली मछली अपने अत की परवाह न करती हुई जिह्वा स्वाद के लिए वशी म लगे हुए खाद्य के साथ ही लोहे को भी खा लेती है और शिकारी के हाथो मे पडकर अपनी मृत्यु का कारण होती है। उसी प्रकार मनुष्य इन्द्रिय रस के लिए कचन और कामिनी के मोह मे फँसकर आत्मबन्धन का कारण होता है। मधुमक्षिका मधु का सग्रह करती हुई भी उसका उपभोग नही कर पाती। मधु किसी दूसरे के द्वारा अपहरण कर लिया जाता है। मधुमक्खी के हिस्से म धूम्र की

---

१ सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह ते दुख पावहि सब लोगा।
मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।
विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना।
ममता दादु कडु इरषाई। हरष विषाद गरह बहुताई।
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।
अहकार अति दुखद डमरुआ। दभ कपट मद मान नेहरुआ।
तृस्ना उदरवृद्धि अति भारी। त्रिविधि ईषना तरुन तिजारी।
जुग बिधि ज्वर मत्सर अविवेका। कह लगि कहौ कुरोग अनेका।
एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।
पीडहि सतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥ तु० रा०, उ० का० १२१ (क)

२ तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहि निमिष महुँ छोभ॥ तुलसीदास, स० बा० स० भा० १, पृ० ७८

३ भौंह कमान सँधान सुठान जे नारि बिलोकनि बान तें बाँचे।
कोप-कृसानु गुमान-अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आँचे।
लोभ सबै नट के बस ह्वै कपि ज्यों जग में बहु नाच न नाचे।
नीके हैं साधु सबै तुलसी पै तेइ रघुबीर के सेवक साचे। तु० ग्र०, पृ० ११०

बढ़ता मात्र ही पड़ती है। माया के संचय के लिए मनुष्य रात दिन अथक परिश्रम करता हुआ भी उसके उपभोग से अलग ही रह जाता है। इस संसार में सब कुछ क्षणिक है, जीव के साथ कुछ भी नहीं जाता। संचित माया अर्थात् धन वैभव सब इसी मर्त्यलोक में पड़ा रह जाता है।[१]

संसार में आकर मनुष्य माया जाल में ही फँसा पड़ा रहता है। काम और क्रोध ही जीव के परिधान हैं जो उसके यथार्थ रूप को आवरित किये रहते हैं। विषय की माला उसके कण्ठ में रहती है मोह के नूपुर में गुंजित निन्दा के कटु शब्दों को वह रसमय समझता है। अभिमान मन पखावज का काम देता है तथा हमेशा असंगत चाल चलता है। हृदय में स्थित तृष्णा नाना प्रकार के तान देकर नाद करती है। माया का फेंटा बाँधकर, लोभ का तिलक लगाकर मनुष्य अपने को सुसज्जित समझता हुआ देश और काल किसी की भी परवाह न करता हुआ करोड़ों प्रकार की कलाओं से युक्त नृत्य करता है। अविद्या के दूर होने पर ही इस मायिक नृत्य से मुक्ति मिल सकती है।[२] इसी प्रसंग में मीरा का कथन है कि मनुष्य का हृदय जब तक विकार रहित होकर निष्कलुष नहीं हो जाता, वह भक्ति मार्ग का पथिक बनने में अयोग्य रहता है। कृत्रिम बाह्याडम्बर बिल्कुल व्यर्थ हैं। सिर घोटकर तिलक लगा लेने मात्र से कुछ नहीं होता। मोह चाण्डाल ने काम कूकुर को लोभ की डोरी से बाँध रखा है। जो हृदय में किसी का (भगवान का) आगमन नहीं होने देता। इसके अतिरिक्त क्रोध कसाई भी हृदय में रहता है फिर भला भगवान से मिलन कैसे हो। जो विषय हैं वे लालची बिलार के सदृश हैं और मनुष्य सदैव इनकी क्षुधा शान्ति के उपकरण जुटाया करता है और राम का नाम एक बार भी नहीं लेता। पुजारी तथा महन्त आदि देवता के स्थान पर अपनी पूजा बराबर फूल नहीं समाते। हृदय में स्थित अभिमान टील के कारण भगवत् प्रेम जल वहाँ नहीं ठहरता। जो परमात्मा सबके हृदय को जानता है

---

१. काहे रे बिरथा जनम गाय। भूलो रे ठगमूरी खाय।
जैसे मीन पानी में रहै। काल जाल की सुधि नहिं लहै।
जिभ्या स्वादी लीलत लोह। ऐसे कनक कामिनी मोह।
ज्यों मधुमाखी संचै अपार। मधु लीन्हो मुख दीन्हीं छार।
गऊ बच्छ को संचै छीर। गला बांधि दुहि लेहि अहीर।
माया कारन स्रम अति करै। सो माया लै गाड़ै धरै।
अति संचै नहिं समझै मूढ़। धन धरती तन ह्वै गयो धूर।
काम क्रोध तृष्णा अति जरै। साधु संगति कबहूँ नहिं करै॥ नामदेव, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३२

२. अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत निंदा शब्द-रसाल।
भ्रम-भोयो मन भयौ पखावज चलत असंगत चाल।
तृष्णा नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ लोभ तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नंदलाल॥ सूरसागर १५३, पृ० ८१

उससे कपट नही चल सकता। मुख से माला के द्वारा जप करने से कोई लाभ नही यदि हृदय मे हरि का नाम नही आता।[1] काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान आदि माया के अंग भक्ति के मार्ग के बाधक कहे गये है। इन्ही सबमे फँसे रहकर जीवन का पटाक्षेप हो जाता है। नानक को इसी कारण आत्मग्लानि होती है कि उन्होने माया के मद मे अपना अमूल्य जन्म खो दिया और राम-भजन मे संलग्न न हो सके तथा मिथ्याभिमान को नही त्यागा।[2]

दादू का कथन है कि अपराधी मन परमात्मा या सतगुरु के उपदेशानुसार कार्य नही करता। कारण कि वह माया-मोह मे मदमस्त तथा कनक-कामिनी मे अनुरक्त रहता है। काम, क्रोध, अहंकार से युक्त विषय-विकार ही उसे रुचते है। उसे काल एवं मृत्यु की अन्तिम भयावह गति दृष्टिगत नही होती और न वह स्वयं को ही जानने का प्रयत्न करता है।[3] जो कुछ दिखलाई पडता है वह सब मृगजल की भाँति केवल मायाकृत भ्रम है। यह व्यर्थ ही अपनी चमक-दमक से मनुष्य को लुभाता है और इसी वाह्य तडक-भडक के वशीभूत होकर मनुष्य इसे सत्य मान लेता है।[4] मलूकदास के अनुसार मायाकृत प्रभुता की प्राप्ति के लिए सभी निरन्तर प्रयत्न करते है परन्तु यदि परमात्मा की प्राप्ति के लिए वे प्रयत्नशील हो जायें तो प्रभुता स्वयं उनकी दासी हो जायगी।[5] मलूकदास ने लोभ को सबसे बुरा कहा है। लोभ से व्यापार मे लाभ हो सकता है परन्तु साधना के मार्ग मे लोभ से दिन-दिन घाटा ही होता है। जब तक लोभ नही छूटता तब तक माया भी नही छूटती तथा माया

---

१. यहि विधि भक्ति कैसे होय।
मन की मैल हियते न छूटी दियो तिलक सिर धोय।
काम कूकर लोभ डोरी बाधि मोहि चण्डाल।
क्रोध कसाई रहत घर में कैसे मिले गोपाल।
बिलार विषया लालची रे ताहि भोजन देत।
दीन हीन ह्वै छुधारत से राम नाम न लेत।
आपहि आप पुजाय केरे फूले अंग न समात।
अभिमान टीला किये बहु कहु जल कहां ठहरात।
जो तेरे हिय अन्तर की जानै तासो कपट न बनै।
हिरदे हरि को नाउ न आवै मुखते मनिया गनै।

२. माई मैं मन को मान न त्यागो।
माया के मद जनम सिरायो राम भजन नहि लागो॥ नानक, स० बा० स० भा० २, पृ० ५३

३. बाबा मन अपराधी मेरा। कहा न माने तेरा।
माया मोह मद माता। कनक कामिनी राता।
काम क्रोध अहंकारा। भावे विषै विकारा।
काल मीच नहि सूझै। आतम राम न बूझै॥ दादू, भा० २, पृ० ४८

४. यहु सब माया मिरगजल झूठा झिलमिल होइ।
दादू चिलका देखि करि सति करि जाना सोइ॥ दादू, भा० १, पृ० ११६

५. प्रभुता ही को सब मरे प्रभु को मरे न कोय।
जो कोई प्रभु को मरे तो प्रभुता दासी होय॥ मलूकदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १०४

का वशवर्ती जीव सर्वत्र भटका करता है।[1] यद्यपि लोभ माया का ही (Constituents) अंग है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दादू ने लोभ के कुपरिणामों को भली-भाँति देखा था और इसीलिए लोभ को उन्होंने सर्वाधिक निकृष्ट कहा है। माया के अंग हर्ष और शोक की श्वान गति है। हर्ष और शोक से अभिभूत व्यक्ति श्वान के भौंकने की भाँति आवेश में प्रलाप करता है। सर्प अपने विषैले दाँतों से काटकर मनुष्य के जीवन का अंत कर देता है, उसी प्रकार संशय आदि माया के उपकरण मनुष्य के जीवन को विषाक्त और कटु बना देते हैं। राग-द्वेष आदि राजरोग हैं जो यम के बन्धन में बाँधने वाले हैं।[2] इस प्रकार गढ़रूपी शरीर में अगणित लुटेरे रहते हैं—सत्व, रज, तम युक्त शरीर में सर्वत्र माया ममता आदि का ही विस्तार है।[3] माया की शक्तिशाली असीम सेना के सम्मुख किसी का कोई उपाय नहीं चलता और मन के राजत्व में भक्ति कुछ नहीं कर पाती।[4] स्वप्नावस्था में मनुष्य अपने अज्ञान के कारण जाग्रत से भिन्न अन्य जगत् की सृष्टि कर लेता है। यदि जाग्रतावस्था के जगत् को ज्ञान दृष्टि से देखा जाय तो वह भी माया का ही कार्य है, वास्तविक नहीं।[5]

माया का अस्तित्व दिखाने के लिए पलटू ने चक्की पीसने का एक रूपक उपस्थित किया है। माया की चक्की चल रही है। जिसमें सारा संसार पिस रहा है। कोई लाख यत्न करने पर भी बचता नजर नहीं आता। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह यही इस चक्की के चलाने वाले हैं। निगुण उस चक्की में पिसने के लिए सभी को लाकर डाल देते हैं। कुबुद्धि ही उन पिसे हुए प्राणियों के चूर्ण को करम के तवे पर सेकती है। तृष्णा कुलटा स्त्री की भाँति जाकर सबका घर घालती है। इतना सब कुछ होने पर भी काल ऐसा बली है जो सबके कृत्यों पर पानी फेरकर अपने एक ग्रास में ही सबका सफाया कर देता है। माया की चक्की से निस्तार दिलाने वाला केवल भगवत्-भजन ही है।[6]

---

१ सबको लालच का मन रोग।
लालच तें बैपारी सिद्धी दिन दिन भावे ढोंग।
जब लग नित का लोभ न छूटै तब लग तजै न माया।
घर घर द्वार फिरै माया के पग गुरु नहिं पाया। — मलूकदास, भा० २, पृ० १६

२. हरष सोग है स्वान गति संसा सरप सरीर।
राग द्वेष बड़ रोग हैं जम के परे जंजीर। — गरीबदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १६२

३. रहजन कोटि अनन्त है काया गढ़ माहीं।
ममता माया विस्तरी त्रिगुन तन माहीं॥ — गरीबदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १६७

४. वाकी पौन पुरजना कुछ पार न पावै।
मन राजा के राज में क्या भक्ति करावै॥ — गरीबदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १६७

५. कोटि करम इक छिन लगैं ज्ञान दृष्टि जो होय।
बिसरि जगत भौरैं बनै सहजो सुपने सोय॥ — सहजोबाई, स० बा० सं० भा० १, पृ० १६२

६ माया का चकरा चलै पीसि गया संसार।
पीसि गया संसार बचै न लाख बचावै।
दोउ पाट के बीच कोउ ना साबित जावै।
काम क्रोध मद लोभ मोह चक्की के पीसनहारे।

मनुष्य की तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। कोई कृशकाय पसियारा जिसको रोटियों के भी लाले हों यदि स्वर्ण पर्वत के समान विशाल धनराशि प्राप्त कर लेता है तो उसका घर तो उस अपार धन से भर जाता है परन्तु उसकी तृष्णा की पूर्ति नहीं होती। धन का अभाव अथवा आधिक्य दोनों ही दुःखप्रद होते हैं। तृष्णा की इसी अपरिमित स्थिति को देखकर तुलसीदास को राम भक्ति ही एक सत्य मार्ग समझ पड़ता है।[1]

सुन्दरदास भी तृष्णा को कभी न शान्त होने वाला मानते हैं। यदि किसी को दस रुपये प्राप्त हो जाते हैं तो उसे बीस प्राप्त करने की इच्छा होती है, बीस प्राप्त हो जाने पर पचास, पचास हो जाने पर सौ सौ के बाद हजार फिर लाख करोड़, अरब, खरब भी उपलब्ध हो जाने पर समस्त धरती का राजा होने की इच्छा होती है। धरती का राज्य भी उसे सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं होता तथा स्वर्ग और पाताल में भी राज्य करने की लालसा बनी रहती है। तृष्णा का यही धर्म है कि एक चाह की पूर्ति से अन्य चाहें उसी प्रकार उद्दीप्त होती हैं जिस प्रकार घृत से अग्नि। तृष्णा केवल संतोष से शान्त हो सकती है।[2] नन्हा सा बीज अपने अन्दर विशाल वृक्ष का आकार छिपाये रहता है, उसी प्रकार नगण्य प्रतीत होने वाली चाह या तृष्णा के अन्दर ही सब मानस रोग समाये रहते हैं। तृष्णा ही अंकुरित होकर और वृद्धि को प्राप्त होकर विविध मानसिक विकारों का रूप धारण कर लेती है।[3]

धन, राज्य आदि भोगों के विषय में ही आशा-तृष्णा की निवृत्ति दुष्कर नहीं है वरन् सन्यास और योग के साधना मार्ग से भी तृष्णा या आशा उसी प्रकार सम्बद्ध है। एक

निरगुन हारे मोह पसारि कै सबै निकारे।
दुरमति बड़ी सयानि सानि कै रोगी पोवै।
करम तबा में धारि नेंकि कै सादिन होवै।
तृष्णा बड़ी छिनारि आइ उन सब घर घाला।
काल बड़ो बरियार किया उन एक निवाला।
पल्टू हरि के भजन बिनु कोउ न उतरै पार
माया की चक्की चलै पीसि गया संसार।   पल्टू, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २१६

१. कृशगात ललात जो रोटिन को घर बात घरै खुरपा खरिया।
तिन सोने के मेरु से ढेर लहे मन तो न भरो घर पै भरिया।
तुलसी दुख दूनो दसा दुहु देखि कियो मुख दारिद को करिया।
तजि आस भो दास रघुपति को दसरत्थ को दानि दया दरिया।

तु० ग्र०, पृ० १७५

२. जो दस बीस पचास भये सत, होइ हजार तो लाख मगैगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, पृथ्वीपति होन की चाह करैगी।
स्वर्ग पताल का राज करौं, तृष्णा अधिकी अति आग लगैगी।
सुन्दर एक सन्तोष बिना सठ, तेरी तो भूख कभी न भगैगी॥ सुन्दरदास, सं०बा०सं० भा० २, पृ० १२१

३ बीज के माहिं ज्यों वृक्ष विस्तार।
यों चाह के माहिं सब रोग भारे॥   मलूक, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २४

गृह-त्यागी जो स्त्री पुत्र के स्नेह-बंधन को तोडकर शरीर मे विभूति रमाता है, मूसलाधार वर्षा, कँपाते हुए शीत और प्रचण्ड ग्रीष्म में पचाग्नि के ताप को सहर्ष सहन करता है, वृक्ष के नीचे निवास करते हुए गृह विहीन होकर क्षुधा को भी सहता है, वस्त्रो का परित्याग करके कुशासन पर सोता है परन्तु खेद है कि ऐसे गृह-त्यागी विरागी जो भोजन, छादन और निवास की भी परवाह नहीं करते, आशा से मुक्त नही हो पाते।[1]

वन की हरियाली देखकर मृग मोह मे पडकर इस प्रकार अधा हो जाता है कि निकटवर्ती काल का फदा भी उसे नही दिखलाई पडता। वह सारे वन मे फूला-फूला घूमता है परन्तु शिकारी उसके सिर पर कमान ताने घूम रहा है, इस ओर उसका ध्यान नही जाता।[2] माया मे आवृत्त जीव ही यह भटकता हुआ मृग है। मन दसो दिशाओ मे दौडता है तथा परमात्मा जो अत्यन्त समीप है उसे नही देखता। यह मन विषयो के वश है, प्राणी के वश नही। जिह्वा स्वाद की ओर दौडती है, इन्द्रियाँ अपने भोग्य विषयो की ओर जाती है, श्रवणो को सत्य से प्रीति नही होती उन्हे आत्मश्लाघा एव चाटुकारी रुचती है, नेत्रो को जहाँ पर भी रूप दिखाई पडता है वही दृष्टि जमा लेते हैं। काम, क्रोध कभी कम नही पडता, लालचवश विषयो का रस मनुष्य पान किया करता है। अत मन मे विषय विकारो का वास होने के कारण हरि-रस अमृत की प्राप्ति नही हो पाती।[3]

विषयो को तुलसीदास ने परनारी कहा है। जीव तरुण अवस्था में पहुँच कर विषयो मे इतना अधिक लिप्त हो जाता है कि उसे न तो यम यातना का भय रह जाता है और न वियोग आदि दुखो को देखकर वह उनसे विरक्त ही होना चाहता है। जीवन के प्रलोभनो की ममता मे वह सब कुछ भूल जाता है। काल का सन्देश आ जाता है परन्तु जड जीव

---

१ गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेघ सहै सिर सीत सहै तन धूप समय जु पचागिनि बारी।
भूख सहै रहि रूख तरे पर सुन्दरदास सहै दुख भारी।
डासन छाड़ि कै कासन ऊपर आसन मारि पै आस न मारी॥ — सु० ग्र० भा० २, पृ० १२३

२ मोह्यो मृग देखि बन अधा। सूझत नाहिं काल के फधा।
फूल्यो फिरत सकल बन माहीं। सिर साधे सर सूझत नाहीं।
उनमद मातो बन के ठाठ। छाड़ि चल्यो सब बारह बाट।
फध्यो न जाने बन के चाइ। दादू स्वाद बधानो आइ॥ — दादू, भा० २, पृ० १४

३ क्योंकरि मिलै मो को राम गुसाईं।
यहु विषया मेरे बसि नाहीं।
यहु मन मेरा दह दिसि धावै। नियरे राम न देखन पावै।
जिभ्यास्वाद सबै रस लागै। इन्द्री भोग विषै को जागै।
श्रवणहु साच कदे नहि भावै। नैन रूप तहँ देखि सुभावै।
काम क्रोध कदे नहि छीजै। लालच लागि विषै रस पीजै।
दादू देखि मिलै क्यों साईं। विषै विकार बसै मन माहीं। — दादू, भा० २, पृ० ७

सचेत नही होता।[1] जो विषय सत जनो के द्वारा त्याग दिये गये है उनको मूढ जीव अपनाता है। यह बहुत ही त्याज्य तथा घृणित है।[2] विषयो से आकृष्ट प्राणी अपनी बुद्धि को ठिकाने नही रख पाता। विषयो से विमुख नही होता। अति दीन होकर दारा, सुत आदि मे फँसा हुआ स्वय अपने पैरो का बन्धन बना रहता है। वह नही जानता कि ससार का यह सब प्रसार स्वप्न की भाँति मिथ्या है। प्राणी अपने अज्ञानवश परमात्मा का स्मरण नही करता जिसकी माया दासी है।[3]

विषयो के अन्तर्गत कचन और कामिनी को सत कवियो ने निकृष्टतम कहा है। कबीर के मतानुसार कचन और कामिनी से उत्पन्न फल को देखने से ही विष चढ जाता है तथा उसके चखने से ही आत्मनाश हो जाता है।[4] कनक अर्थात् धन समस्त पापो का मूल है। परमात्मारूपी धनराशि को त्याग कर मनुष्य इन पापो के सग्रह म तल्लीन रहता है।[5] ससार म सर्वत्र कनक और कामिनी के ही विविध रूप दिखलाई पडते हैं और इन सब मे आसक्त जीव मानो अपने घर के कूप—माया म डूब रहा है।[6] काल* कामिनी और कनक का सग सर्वथा त्याज्य है क्योकि ससार इनसे आकृष्ट होकर इस भाँति जलकर नष्ट हो रहा है जैसे दीपक की ज्योति से आकर्षित होकर शलभ जल मरता है।[7] तन, धन आदि माया के प्रसार को देखकर मनुष्य भूला हुआ है परन्तु यह सब आजकल मे ही अति शीघ्र विनष्ट हो जाने वाला है।[8] कनक और कामिनी का रूप धारण कर मायारूपी सर्पिणी

---

१. विषया परनारि निसातरुनाई सु पाइ परयो अनुरागहि रे।
जम के पहरू दु ख रोग वियोग बिलोकत हू न विरागहि रे।
ममता बस तै सब भूलि गयो भयो भोर महा भय भागहि रे।
जठराइ दिसा रवि काल उयो अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे॥ — तु० ग्र०, पृ० १७२

२ जो विषया सतन तजि मूढ ताहि लपटान
ज्यो नर डारत बमन कर स्वान स्वाद सों खात॥ — रहीम, पृ० ६

३ विषयन सो अति लुभान मति नाहिन फेरी।
दारा सुत भयो दीन पगनु परी बेरी।
नानक जन कह पुकार सुपने ज्यों जग पसार।
सिमरत नहि क्यों मुरार माया जाकी चेरी। — नानक, स०बा० स० भा० २, पृ० ५४

४ एक कनक अरु कामिनी विष फल किया उपाय।
देखत ही तें विष चढ़ै चाखत ही मरि जाय। — कबीर, स० बा० स० भा १, पृ० ५६

५ सौ पापन को मूल है एक रुपया रोक।
साधू है संग्रह करै हारै हरि सा थोक॥ — कबीर, स० बा० सं० भा० १, पृ० ५७

६ बूड़ि रह्यो रे बापुरे माया गृह के कूप।
मोह्यो कनक अरु कामिनी नाना विधि के रूप। — दादू, भा० १, पृ० ११६

* जो जो मन में कल्पना सो सो कहिये काल।
सुन्दर तू निर्विकल्प हो छाडि कल्पना जाल। — सुन्दरदास, स० बा० स० भा० १, पृ० १११

७. काल कनक अरु कामिनी परिहरि इनका सग।
दादू सब जग जलि मुवा ज्यों दीपक ज्योति पतग। — दादू, भा० १, पृ० १२३

८. कुछ चेति रे कहि क्या माया।
इनमें बैठा फूलि करि तै देखी माया।

ने सबको डसा है। इससे त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु महेश भी नहीं बच सके हैं।[1] कनक और कामिनी के सम्पर्क में रहने वाला प्राणी माया की अग्नि में दग्ध हो जाता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रुई से लपेटी आग रुई को जलाकर राख कर देती है।[2]

माया के दो रूपों कंचन और कामिनी में सब कवियों ने कामिनी को अधिक हेय ठहराया है। कंचन से प्राणी चाहे किसी प्रकार बच भी जाय परन्तु कामिनी से बचना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। कारण यह है कि यौन (Sex) जीवन की सबसे प्रधान वृत्ति है, इसे कोई भी मनोविज्ञानवेत्ता अस्वीकार नहीं करेगा। कामवासना से मुक्त स्त्री ध्रुव प्रह्लाद जैसे भक्त शिरोमणियों की जननी के रूप में सर्वदा स्तुत्य है।[3] फिर भी कबीर ने साधक के लिए स्त्री का संग त्याज्य ही बताया है। यदि स्त्री खरे स्वर्ण की भी हो और स्वर्ण में न होने वाली सुगंधि से भी युक्त हो साथ ही यह निज जननी भी हो, तो भी उसके निकट बैठना उचित नहीं।[4] इतना ही नहीं पलटूदास का तो यहाँ तक कहना है कि अस्सी वर्ष की वृद्धा स्त्री भी विश्वसनीय नहीं होती। पुरुष के जीवन काल में वह उसके रक्त मांस की शोषिका बनी रहती है, तथा उसकी मृत्यु के बाद उसके नरकवास का कारण होती है।[5] स्त्री यदि पुरुष के समीप हो तो तीनों गुणों का नष्ट कर देती है। उसके कारण पुरुष भक्ति, मुक्ति ध्यान एवं आत्मज्ञान के कार्य में प्रविष्ट नहीं हो सकता।[6] यह है स्त्री के सान्निध्य मात्र का कुप्रभाव।

भगवान से विमुख कामी पुरुष स्त्री का त्याग नहीं कर सकते। विरक्त, धीरमति पुरुष ही ऐसा कर सकते हैं परन्तु परम ज्ञानी वे मुनि भी मृगनयनी के मुखचन्द्र को देखकर विह्वल हो जाते हैं। वास्तव में परमात्मा की मूर्तिमान माया ही नारी है अथवा विष्णुमाया

तू जिनि जानै तन धन मेरा सूरज दरि सुलाश।
ध्यान काल चलि जावै देहा ऐसा सुन्दर वाश। — दादू, भा० २, पृ० ११८

१ माया सांपणि सब डसै कनक कामिनी होइ।
ब्रह्मा विष्णु महेश लौं दादू बचै न कोइ॥ — दादू, भा० १, पृ० १३१

२ माया की झल जग जल्या कनक कामिनी लागि।
कहु धौं केहि विधि राखिये रुई लपेटी आगि॥ — क० ग्रं०, पृ० ३८

३ नारि निंदा जिनि करै नारी नर की खानि।
नारी तें सब होत हैं ध्रुव प्रह्लाद समान। — अज्ञात

४ सब सोने की सुंदरी आवै बास सुबास।
जो जननी ह्वै आपनी तऊ न बैठै पास॥ — कबीर, स० बा० सं० भा० १, पृ० ५८

५ अस्सी बरस की नारि को पलटू ना पतियाय।
जियत निचोरै तन को मुए नरक लै जाय॥ — पलटू, स० बा० सं० भा० १, पृ० २२३

६ नारि नसावै तीन सुख जो नर पासै होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में पैठि न सक्कै कोय॥ — कबीर, स० बा० सं० भा० १, पृ० ५८

संसार में स्त्री रूप में प्रकट है।[1] तुलसीदास ने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि माया के अंगों को अहितकर एवं कष्टप्रद कहा है परन्तु उनके मत से साक्षात् मायारूपिणी नारी अत्यन्त दारुण एवं दुखद है। वेद, पुराण, संत सभी एक मत हैं कि मोहरूपी वन को प्रफुल्लित करने वाली बसन्त ऋतु नारी है। स्त्री ग्रीष्म ऋतु बनकर जप, तप, नियमरूपी समस्त जलाशयों का शोषण करती है। काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि दादुरों के लिए स्त्री हर्षप्रद वर्षा ऋतु की भाँति है। दुर्वासनारूपी कुमुद समूह के लिए नारी शरद् के समान सर्वथा सुखदायक है। धर्म आदि समस्त आचरणरूपी पंकजों को हेमन्त की भाँति नाशक होती है। ममता आदि जवास नारीरूपी शिशिर को पाकर ही अंकुरित होते हैं। पाप उलूक-समूह के लिए स्त्री घनघोर काली रात्रि के समान सुखदायक है। बुद्धि, बल, शील, सत्य रूपी मछलियों के लिए स्त्री बंसी के समान मृत्यु स्वरूप है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्त्री समस्त अवगुणों की मूल, शूलप्रद तथा सब दुखों की खान है।[2]

मलूकदास ने तो नारी की ओर दृष्टिपात करने तक का निषेध किया है क्योंकि वह सदैव नेत्र कटाक्षों से आघात किया करती है। भगवान् का अवलम्ब लेकर ही कोई विरला इससे त्राण पाता है।[3] नारी को देखकर पुरुष को उसके नयन-बाण के प्रहार का भय चाहे कम हो परन्तु स्वयं अपनी प्रवृत्ति के कारण उसमें पतन का भय अवश्य है। सारा संसार स्त्रीरूपी मद का सेवन करने वाला है।[4] मयूरी को देखकर मयूर हर्षोल्लास से पंख फैलाकर नृत्य करने लगता है। इसी प्रकार मनुष्य न मालूम कितनी बार अपने गृह प्रांगण में

---

१ पुरुष त्याग सकै नारिहिं जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर॥
सोउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिकल होहिं हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट॥ तु० रा०, उ० का० ११५ (ख)

२ काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥ ४३
सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता।
जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी।
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरषप्रद बरषा एका।
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई।
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा।
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई।
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी।
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना।
अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि॥ तु० रा०, अर० का० ४४

३. नारी नाहिं निहारिये करै नैन की चोट।
कोइ एक हरिजन ऊबरै पारब्रह्म की ओट॥ मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०३

४ नारी पँटी अमल की अमली सब संसार। मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०३

स्त्री को देखकर हर्षोन्मत्त होकर नृत्य कर चुका है।[1] नारी नाना प्रकार के वेष धारण करके अपने मनोनुकूल पुरुष को ग्रहण करती है। योगिनी होकर योगी को, सर्पिणी होकर शेषनाग को, भक्तिमती होकर भक्त को प्राप्त करती है।[2] इस संसाररूपी सघन वन में मायारूपी हस्तिनी के साथ मतवाला मूर्ख मन निर्भय विचरण करता है तथा सावधान नहीं होता।[3] कीट जिस प्रकार काष्ठ को खाकर उसे जर्जरित कर देता है तथा जंग जिस प्रकार लोहे जैसे कठोर पदार्थ को भी काट देता है उसी प्रकार काम के द्वारा मानव शरीर जीर्ण होकर कहीं का नहीं रह जाता।[4]

स्त्री ही सर्वथा दोषी नहीं है और न वही केवल पुरुष की वैरिणी है। काम-वासना में स्त्री के लिए पुरुष का वही स्थान होता है जो पुरुष के लिए स्त्री का होता है। इसलिए पुरुष स्त्री का उतना ही वैरी अथवा अहितकर है जितना स्त्री पुरुष की। कुछ भी हो दोनों का ही अन्त मृत्यु में होता है। यहाँ किसी को भी अमरत्व प्राप्त नहीं।[5] अतः पलटू ने संसार-पुरुष को खरबूजा तथा नारी को छुरी कहा है। चाहे छुरी खरबूजे पर गिरे चाहे खरबूजा छुरी पर, परिणाम दोनों का एक ही होगा। नारी के सम्पर्क से संसार का—उसके प्राणियों का, पुरुषों का नाश अवश्यम्भावी है। यही नहीं नारी के नेत्र बाहर से न दिखाई पड़ने वाले बघनख के समान भयंकर तथा घातक होते हैं।[6] लोक के सम्मुख संन्यासी का वेष धारण करने वाले, जटाजूट और विभूति से युक्त योगी भी स्त्री माया से अलग नहीं दिखाई पड़ते। गृहस्थ के धर्म को पूरा करते हुए पुत्र को बगल में दबाये घूमते हैं और उस पर भी अपने को योगी बताते हैं।[7]

---

१ मोरा मोरी देखि करि नाचै पंख पसारि।
यों दादू घर आगणै हम नाचै कै वारि॥ — दादू, भा० १, पृ० १२७

२ जोगिण ह्वै जोगी गहै सोफणि ह्वै करि सेस।
भगतणि ह्वै भगता गहै करि करि नाना भेस॥ — दादू, भा० १, पृ० १२६

३ मन हस्ती माया हस्तिनी सघन बन ममार।
तामें निर्भय ह्वै रह्या दादू मुगध गँवार॥ — दादू, भा० १, पृ० १२१

४ ज्यों घुन लागै काठ कौं लोहे लागै काट।
काम किया घट जाजरा दादू बारह बाट॥ — दादू, भा० १, पृ० १२१

५ नारी वैरिणि पुरुष की पुरिषा वैरी नारि।
अंति काल दून्यूं मुए दादू देखि विचारि॥ — दादू, भा० १, पृ० १३२
नारि पुरुष को ले मरा पुरुष नारि के साथ॥ — पा० द० ब०, पृ० १८२

६. खरबूजा संसार है नारी छूरी बैन।
पलटू पंजा सेर का याँ नारी का नैन॥ — पलटू, म० बा० सं० भा० १, पृ० २२३

७. पलटू जग रुसाय भिर तन में लाये राख।
महत लिये हम जोगी लरिका दाबे काँख॥ — पलटू, म० बा० सं० भा० १, पृ० २२६

कवियों ने विविध रूपकों तथा उपमाओं द्वारा नारी के अनेक अवगुणों पर प्रकाश डाला है परन्तु यहाँ ध्यान देने की एक बात यह है कि यह अवगुण वही है जो कि साधक के भगवत्-प्राप्ति के मार्ग में किसी प्रकार से बाधक प्रतीत होते हैं। यह दोष अथवा अवगुण स्त्री पुरुष के यौन सम्बन्ध के कारण ही हैं न कि किसी स्त्री या पुरुष के जातीय गुण के कारण। पुरुष को जो कुफल स्त्री के सम्बन्ध से प्राप्त होता है वही कुफल पुरुष के साथ से स्त्री भी प्राप्त करती है। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। काम-वासना के सम्बन्ध से ही सन्तों द्वारा स्त्री की अवहेलना तथा निन्दा हुई है।

आज का मनोविज्ञान यौन (Sex) के महत्त्व को तथा उसके तीन स्वरूपों के द्वारा तीन प्रकार की अभिव्यक्तियों को भलीभाँति स्वीकार करता है। समस्त ज्ञान-विज्ञान, जप-तप, आत्मसाक्षात्कार आदि यौन के उन्नयन (Sublimation) के द्वारा सम्भव होते हैं तथा वही यौन-वासना विषय भोग के रूप में भी व्यक्त होती है। प्रसिद्ध यौन मनोवैज्ञानिक हैवलाक एलिस ने धार्मिक प्रवृत्ति और यौनवृत्ति को एक ही माना है। पर्याप्त निरीक्षण और अनुभव के द्वारा वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि अत्यन्त कामुक व्यक्ति किसी घटना अथवा परिवर्तन विशेष से अत्यन्त धार्मिक हो जाते हैं। इसके विपरीत अत्यन्त धार्मिक मनुष्यों का बहुत ही कामुक होते भी देखा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों रूपों के मूल में कोई रहस्यात्मक शक्ति अवश्य है। फ्रायड ने तो सार्वभौम यौनवाद का भी समर्थन किया है जिसके स्वरूप का अधिक स्पष्ट दर्शन हमें 'मानस' के काम-दहन प्रसंग में होता है। उस वातावरण में समस्त चेतन ही पुरुष-नारि भेद से एक दूसरे से आकृष्ट नहीं हो गये थे वरन् अचेतन भी केवल नाम के लिए भेद से ही परस्पर के आकर्षण से सम्मोहित हो गये थे।[1] हिन्दी संत-कवियों ने यौन की इसी महत्ता को स्वीकार करते हुए इस वृत्ति के निरन्तर उन्नयन (Sublimation) पर ही बल दिया है और इसीलिए स्त्री-पुरुष के वासनामय यौन सम्बन्ध को भगवत्-प्राप्ति के मार्ग में सब से जटिल विघ्न माना है।

माया अपने कटक अथवा परिवार के साथ समस्त संसार में व्याप्त है। इसने सब को अपने वशीभूत कर रखा है तथा जो वास्तविक धन परमात्मा है उससे संसार को पृथक् कर दिया है। माया ने, जिसे कबीर ने रमैया की दुलहिन कहा है समस्त सृष्टि में लूट मचा रखी है। पृथ्वीलोक ही नहीं, देवलोक तथा नागलोक भी उसकी लूट से नहीं बच सके हैं। वहाँ भी त्राहि-त्राहि मची हुई है। नारद, शृंगी, पाराशर आदि मुनियों को भी उसने नहीं छोड़ा तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि त्रिदेव भी उससे छुटकारा न पा सके। चिरत्रासी, योगेश्वर तथा ज्ञानमार्गी भी माया ठगिनी से अछूते नहीं रहे। रमैया की दुलहिन परमात्मा की अर्धांगिनी माया में वह शक्ति है जिसके द्वारा ठगे जाने से कोई भी जीव नहीं बचा।[2]

---

१. जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि भए सकल बस काम॥

२. रमैया की दुलहिन लूटा बजार।
सुरपुर लूट नागपुर लूटा तीन लोक मचा हाहाकार।
ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे नारद मुनि के परी पछार।

माया का त्याग करना बड़ा ही दुष्कर है। जो मनुष्य लौकिक सम्बन्धों को त्यागकर सन्यास ले लेते है वे घर छोड़कर आश्रमवास करते हैं, फिर उसे भी त्यागकर सर्वत्र भ्रमण करने लगते है, पुत्र के स्नेह को तिलांजलि देकर घर से चले जाते है परन्तु वह स्थान रिक्त नही रहता और उसकी पूर्ति शिष्य से हो जाती है। इस प्रकार माया वहाँ भी पीछा नही छोड़ती। माया की स्थिति वृक्ष पर लिपटी हुई लता की भाँति है जो बहुत प्रयत्न करने पर भी वृक्ष से पृथक् नही हो पाती। मनुष्य यदि प्रयत्न करके किसी प्रकार काम पर विजय भी प्राप्त कर लेता है तो क्रोध से नही बच पाता। क्रोध भी यदि किसी प्रकार छूट जाय तो लोभ बना ही रहता है तथा लोभ से मुक्ति मिलने पर भी मान, बड़ाई, शोभा आदि लोकैषणा पीछा नही छोड़ती।[1]

विषयों के सम्मुख बुद्धि की निर्बलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। बुद्धि की कृषि को विषय-मृगों ने उजाड डाला है, रात दिन वे अपने उपद्रव म लगे ही रहते हैं, भगाने से भी नही भागते। यह विषय मृग पृथक् पृथक् रस के लोभी हैं तथा अपने-अपने ढग से उनका सेवन करते हैं। उस पर भी अभिमानी इतने हैं कि किसी की परवाह ही नही करते। बहुत लोग प्रयत्न करके हार चुके हैं। इन विषय-मृगो से बुद्धि-कृषि को बचाने वाला गुरु तथा राम नाम ही है।[2] ऐसा कौन ज्ञानी है जिसे भगवान् की बलवती माया से मोह नहीं होता। भगवान् विष्णु का वाहन गरुड जो कि भक्तों म शिरोमणि है उसे भी माया ने मोहित कर लिया तो साधारणजन की बात ही क्या। और तो क्या शंकर और ब्रह्मा को भी माया मोहित कर लेती है बेचारे प्राणी की तो कोई गणना ही नही।[3] संसार मे ऐसा कोई

मिगा का भिगो करि डारी परास्मर के उदर विदार।
कनफूका चिदकान्ता लूट लूटे जोगेश्वर करत विचार। क० ग्र०, पृ० ६८

१ अजहूं माया तजी न जाइ।
गिरह तजि के वस्तर बाँधा वस्तर तजि के फेरी।
लड़िका तजि के चेला कीन्हा तहू मति माया घेरी।
जैसे बेल बाग में अरुझी माहि रह्यो अरुझाइ।
छोरे से वह छूटे नाही कोटिन करै उपाई।
काम तजे तें क्रोध न जाइ क्रोध तजे तैं लोभा।
लोभ तजे अहंकार न जाइ मान-बड़ाई-सोभा। ह० प्र० द०, पृ० २३४

२. अवन बिन मृगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निसि बासुर बिडरत नहीं बिडारे।
अपने अपने रस के लोभी करतब न्यारे न्यारे।
अति अभिमान बदत नहिं काहू बहुत लोग पचिहारे।
बुधि मेरी किरषी गुरु मेरा बिझुका अखर दुइ रखवारे। क० ग्र०, पृ० २१६

३ प्रभु माया बलवन्त भवानी। जाहि न मोह कवन अस ग्यानी।।
ग्यानी भगत सिरोमनि त्रिभुवन पति कर जान।

उत्पन्न ही नहीं हुआ जो भगवान् की अति प्रचण्ड माया के वशीभूत नहीं हुआ।[1] समस्त ब्रह्माण्ड का उत्पादनकर्त्ता ब्रह्मा अपने मन में माया की सर्वव्यापकता पर विचार-रत हैं। संसार में ऐसा कोई नहीं है जो माया से व्याप्त न हो, कवि, कोविद, ज्ञाता कोई भी उससे नहीं बच सका। जिन ब्रह्मा ने अखिल विश्व का सृजन किया है उन्हें भी माया न जाने कितनी बार मनचाहा नाच नचा चुकी है।[2] यही नहीं माया ज्ञानियों के चित्त-चैतन्य का अपहरण करके उन्हें बलात् विमोहित कर देती है। देवर्षि नारद इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन्हें माया अनेक बार भ्रम में डालकर नचा चुकी है।[3] अस्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सुर, नर, मुनि, ज्ञानी सभी माया के आकर्षण में फँसे हुए हैं।[4]

भगवान् की माया बड़ी ही प्रबल है। सुर, नर, मुनि सभी विषयों के वश हैं। ऐसा कोई दृष्टिगत नहीं होता जो नारी के नयन बाण से आहत न हुआ हो, घोर क्रोध से अभिभूत न हो तथा लोभ ने जिसके कण्ठ को बाँध न रखा हो। जो इन विषयों से मुक्त है उसे परमात्मरूप ही समझना चाहिए। यह गुण किसी साधन से प्राप्त नहीं होते, भगवान् की कृपा से विरले को ही इनकी प्राप्ति होती है।[5] भगवान् की माया विषम भी है। काल, कर्म और गुणों से युक्त सांसारिक मार्ग पर अहर्निश अनन्त समय तक भटकते सुर असुर, नाग, नर, स्थावर, जंगम सब इसी विषम माया के वशवर्ती हैं। इसमें निस्तार केवल प्रभु के अनुग्रह से ही मिल सकता है।[6] काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि विषयों ने तीनों लोकों

ताहि मोह माया नर पाँवर करहिं गुमान ॥६२ (क)
सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान ॥ — तु० रा०, उ० का० ६२ (ख)

१. अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया ॥ — तु० रा०, बा० का० १२७-४

२. मन महुँ करइ बिचार बिधाता। मायाबस कबि कोबिद ग्याता।
हरिमाया कर अमिति प्रभावा। बिपुल बार जेहिं मोहि नचावा ॥२
अग जगमय जग मम उपराजा। नहिं आचरज मोह खगराजा। — तु० रा०, उ० का० ६०

३. ब्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं। कहेसि जो संसय निज मन माहीं।
सुनि नारदहि लागि अति दाया। सुनु खग प्रबल राम कै माया ।२
जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई।
जेहिं बहु बार नचावा मोही। सोइ ब्यापी बिहंगपति तोही ।३
हरिमाया बल बरनत पुनि पुनि परम सुजान ॥ — तु० रा०, उ० का० ५९

४. सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामाया पतिहि ॥१ — तु० रा०, बा० का० १४०

५. अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया ।१
बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी ॥
नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।२
लोभ पास जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ॥३ — तु० रा०, कि० का० २०

६. तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।

को जय कर लिया है। इनसे छुटकारा दिलाने वाले केवल भगवान् ही हैं।[1] देव, मानव, ऋषि ऐसा कोई नहीं है जिसे प्रबल माया ने मोहित न किया हो। यह विचार कर भगवान् का स्मरण करना चाहिए क्योंकि वे ही मायापति हैं।[2]

भगवान् की माया बड़ी ही रहस्यमयी है, उससे कोई भी अछूता नहीं रह सका। मनुष्य को अपनी उत्पत्ति, जन्म तथा मृत्यु के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं। जो कार्य वह सम्पादित करता है उसका वास्तविक कर्ता वह नहीं है। जो अपने कर्मों का भरोसा करते हैं, 'अहं' भाव रखते हैं, उन्हें निश्चित ही नरक-यातना भोगनी पड़ती है। वास्तव में सब की कर्त्री तथा नियामिका भगवान् की रहस्यमयी महामाया ही है।[3]

मलूकदास ने माया को काली नागिनी कहा है जिसने संसार में छोटे-बड़े सभी को डसा है। इन्द्र, ब्रह्मा, नारद, व्यास सभी इसके द्वारा ग्रसित हो चुके हैं। भगवान् शंकर भी इससे नहीं बच सके। कंस, शिशुपाल, रावण जैसे अधिपति तथा महारथी भी इससे मुक्त नहीं रह सके। दस मस्तकों के अर्पण से बड़ी साधना तथा तपस्या से रावण को जिस लंका की प्राप्ति हुई थी वह क्षण भर में नष्ट भ्रष्ट हो गई। सर्प का विष उतारने वाले, माया से मुक्ति दिलाने वाले बड़े-बड़े महात्माओं तथा गोरख जैसे सिद्धों को भी माया ने अपने आकर्षणों से पृथक् नहीं रहने दिया। बड़े बड़े शूरवीरों को जिनसे जगत् को कुछ आशा थी इसने डस लिया।[4] जो 'जड़मूल' से त्यागी परम विरागी कहे जाते हैं, माया उन्हें भी नहीं

भव पथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिधि दुख ते निर्बहे। 　　तु० रा०, उ० का० १२ (ग) २

१ को न क्रोध निरदह्यो, काम बस केहि नहिं कीन्हों?
को न लोभ दृढ़ फन्द बाँधि त्रासन करि दीन्हों।
कौन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारि नयन सर?
लोचन जुत नहिं अंध भयो श्री पाइ कौन नर?
सुर-नाग-लोक महिमंडलहु को जु मोह कीन्हों जय न?
कह तुलसिदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिव नयन।।११७ 　　तु० ग्र०, पृ० १६०

२. सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं भजिय महा माया पतिहि।।७७६ 　　तु० ग्र०, पृ० १०५

३. साधो भाई अपनी करनी नाहीं।
जो करनी का करैं भरोसा ते जम के घर जाहीं।
ना जानूँ थीं कहाँ मुये थे ना जानूँ कहँ आये।
ना जानूँ हरि गर्भ बसेरा कौने भाँति बनाये।
महा कठिन यह हरि की माया या तें कौन बचावै।३ 　　मलूकदास, भा० २, पृ० १६

४. माया काली नागिनी जिन डसिया सब संसार हो।
इन्द्र डसा ब्रह्मा डसा डसिया नारद व्यास।
शिव कौन शिव को डसा जिन धरि एक बैठे पास हो।
कंस डसा शिशुपाल डसा उन रावन सिया जाय।

छोडती ।[1] इस रहस्यमयी माया के विषय मे एक और विशेष बात है। यही माया जो सुर, नर, मुनि, त्रिदेव सब पर नियमन एव शासन करती है वह साधु के पग तल गत धूलि की भाँति रहती है।[2]

माया के असीम बल को देखकर मनुष्य अहकारवश अधा हो जाता है तथा यह नही सोचता कि परमात्मा के सम्मुख उसकी क्या गति होगी।[3] इस मायारूपी डाकिनी ने कितनो का ही भक्षण किया है। जो इसके साथ गये वे पुन लौट कर नही आये, समूल नष्ट हो गये।[4] यह माया मन को उसी प्रकार बिगाड देती है जिस प्रकार काजी दूध को बिगाड देती है।[5] ऐसा कोई नही दिखाई पडता जो माया से बिगडे हुए मन को ठीक करदे। माया ने चौरासी लक्ष योनियों मे भी जीव को प्रभावित करना नही छोडा परन्तु जो जन परमात्मा मे अनुरक्त हैं उनका वह कुछ नही बिगाड सकती क्योंकि भगवान् मायापति हैं।[6] माया के रस मे मस्त होकर सारा ससार परमात्मा को भूल गया है। विषयो के रस को सत्य समझकर उसी मे सब अनुरक्त हो रहे है।[7] माया से आक्रान्त मन अपना स्वतत्र अस्तित्व नही रख पाता। वह सदैव काम, क्रोध, लोभ, मोह मद विकारो का वशवर्ती रहता है। ये विकार मन के वश म नही रहते। इसी कारण मानव-मन सदैव दुख और पीडा का साम्राज्य ही देखता है और इनसे त्राण के लिए वह जहाँ भी शरण लेता है, उसे सतापो का ही सामना करना पडता है।[8]

दस सिर दे लका मिली सो छिन में दइ बहाय हो।
बडे बडे गारड डसे कोउ रह सिर न रहाय।
कच्छ देश गोरख डसा जा का अगम विचार हो।
चुनि चुनि खाये सूरमा जाकी करे जग आस। — मलूकदास, भा० २, पृ० ६

१ जौन कहै जड़ मूलहि त्यागी निरसी हाथ लगावै। — मलूकदास, भा० २, पृ० १६

२ सुर नर मुनियर वसि किये ब्रह्मा बिस्नु महेस।
सकल लोक के सिर खडी साधू के पग हेठ।।७ — दादू स० वा० स० भा० १, पृ० ६७

३ माया का बल देखि करि आया अति अहकार।
अध भया सूझै नहीं का करि है सिरजनहार।।१६ — दादू, भा० १, पृ० ११७

४ माया के संगि जे गये ते बहुरि न आये।
दादू माया डाकिणी इन केते खाये।।२५ — दादू, भा० १, पृ० ११८

५ माया सों मन बीगड्या ज्यों कांजी करि दूध।
है कोइ ससार में मन करि देवै सुध।।२७ — दादू, भा० १, पृ० ११८

६ माया सब गहले किये चौरासी लख जीव।
ताका चेरी क्या करे जे रँगराते पीव।।१०१ — दादू, भा० १, पृ० १२५

७ दादू तेरा मरम न जाना रे, सब भये दीवाना रे।
माया के रस राते माते, जगत भुलाना रे।
को काहू को कह्या न मानै भये अयाना रे।
माया मोहे मुदित मगन खानखानाँ रे।
विषिया रस अरस परस साच ठाना रे।।१०६ — दादू, भा० २, पृ० ४५

८. मन पाचों के वसि परा मन के वसि नहि पंच।
जित देखूँ तित दौ लगि जित भागू तित आँच।। — क० ग्र०, पृ० ६७

माया-प्रेरित मनुष्य के लौकिक कार्यों की ओर संकेत करते हुए दूलनदास का कथन है कि "माया से रात दिन मेरा मन व्याकुल रहता है तथा हरि स्मरण करने की सुध ही नहीं रहती। मैं परमात्मा से स्नेहसूत्र जोड़ना चाहता हूँ परन्तु माया उसे तोड़ देती है तथा जब मैं उलझे हुए सूत को सुलझाने का प्रयत्न करता हूँ तब वह उसे और भी उलझा देती है। हमारे चित्त को सत्य के सम्मुख नहीं ठहरने देती, इधर-उधर भ्रमाया करती है। इस प्रकार नाचते-नाचते मैं थक गया हूँ, अब केवल तुम्हारी कृपा से ही मुक्ति लाभ हो सकता है।"[1] गरीबदास का विचार यह प्रतीत होता है कि साधना मार्ग से पतित कराने वाली तथा सम्पूर्ण दोषों की उत्तरदायी माया ही है। नारद जैसे ज्ञानी मन माया के कारण पथ-भ्रष्ट हुए तथा शृंगी और पाराशर जैसे विरागी भी गृही बने।[2] मनुष्य माया की विषयरूपी मिठाई में पगा हुआ है तथा काम, क्रोध आदि में पूर्णतया रत है। मनुष्य ही नहीं देव, नर, मुनि, गंधर्व सभी माया की मिठाई का थोड़ा-थोड़ा आस्वादन करते हैं। इसीलिए सभी त्रिविध ताप के फन्दे में बँधे हुए हैं और अपने सन्निकट भी सार को देखने में असमर्थ रहते हैं।[3]

पलटू ने माया को एक बड़ी ठगिनी के रूप में देखा है जो हर समय रात दिन सब को प्रवंचित किया करती है। अपार धन का संचय करने वाला व्यक्ति भी यहाँ से खाली हाथ ही जाता है तथा राजा और रंक सभी समान रूप से ही निर्वस्त्र होकर परलोक गमन करते हैं। माया का अपनत्व केवल प्रवंचना है।[4] इस प्रकार अपार बलशालिनी कठिन

---

१. राम तोरी माया नाच नचावै।
निसु बासर मेरो मनुवाँ व्याकुल सुमिरन सुधि नहिं आवै।
जोरत नेह सूत मेरो निरवारत अरुझावै।
केहि बिधि भजन करौं मेरे साहिब बरबस मोहि सतावै।
सत सन्मुख थिर रहै न पावै इत उत चितहि डुलावै।
आरत पवरि पुकारों साहिब जन फिरियादहि पावै।
थाकेउ जन्म जन्म के नाचत अब मोहि नाच न भावै।
दूलनदास के गुरु दयाल तुम किरपहिं ते बनि आवै।।१० — दूलनदास, भा० २, पृ० १६

२. मन के मारे मुनि बहे नारद से ज्ञाना।
सिंगी रिषि पारासरा कान्हें रचाना।।४६ — गरीबदास, स० बा० स० भा० १, पृ० १६७

मन की गति है अटपटी झट पट लखै न कोय।
जो मन की खटपट मिटै चटपट दरशन होय। —कबीर

३. पागा माया विषै मिठाई काम क्रोध रस बोर।
सुर नर मुनि गन गन्धर्व कछु कछु चाखत है सब कोई।
त्रिविध ताप को फंद परो है सूझत सार न पाई।
काल कराल बसे निकटहिं धरि मारि नर्क महँ डारा।। — [illegible], स० बा० स० भा० २, पृ० २०६

४. माया ठगिनी बड़ी ठगी यह जान है।
ठगे न यामें कोउ लगा दिन रात है।

माया सब के साथ लगी है। इसके कष्ट से कोई विरला ही बच पाता है और वही गगन मण्डलस्थ उच्च पद प्राप्त करने में समर्थ होता है।[1]

तुलसीदास के मतानुसार समस्त ब्रह्माण्ड की रचना माया करती है तथा वह अपनी शक्ति परमात्मा से प्राप्त करती है।[2] पुन वे समस्त ब्रह्माण्ड को तो माया की रचना कहते ही है परन्तु परमात्मा को मायातीत मानते है।[3] वह मायातीत जिसकी आज्ञा से माया क्षण के अल्पमात्र में समस्त लोकों का निर्माण करने में सक्षम होती है।[4] भगवान् की अर्द्धांगिनी माया केवल सृजन-कार्य ही नहीं करती, वह परमात्मा से संकेत पाकर जगत् का पालन तथा संहार भी करती है।[5] हरि-माया के गुण-दोष बिना हरि-भजन के नहीं मिटते।[6] यद्यपि माया-कृत अनेक गुण और दोष है परन्तु वे केवल अविद्या के कारण ही दिखलाई पड़ते है, उनमें वास्तविकता नहीं होती। वे केवल प्रतिभासित होते है।[7]

हरि-मायावश होने के कारण हृदय में उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता जैसा कि सती के विषय में प्रत्यक्ष द्रष्टव्य है।[8] राम की माया ने सती को प्रेरित करके उनको असत्य भाषण करने के लिए बाध्य किया।[9] परमात्मा की माया के वश होकर जड़ता को प्राप्त हुआ जीव निरंतर भूला हुआ फिरता है।[10] भगवान् अपनी माया के प्रेरक है जिसकी करनी अत्यन्त कठिन है।[11] माया के कारण आत्म-विस्मृत मनुष्य परमात्मा को पहचानने में सफल

कौड़ी नाहीं संग करोरिन जोरि कै।
अरे हाँ पलटू गये हैं राजा रंक लँगोटी छोरि कै।।६ — पलटू, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १३८

१ कठिन माया है अपरबल सब सबके लागि।
सूल तें कोइ बचे बिरले गगन बैठे भागि। — जगजीवन, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४२

२ सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया।। — तु० रा०, सु० का० २०-२

३. माया गुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनता। — तु० रा०, बा० का० १६१-२
ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै।। — तु० रा०, बा० का० १६१-३

४. लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया। — तु० रा०, बा० का० २२४-२

५. श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की। — तु० रा०, अयो० का० १२५-५

६. हरिमाया-कृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं। — तु० प्र०, पृ० ६५

७ सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अविवेक।। — तु० रा०, उ० का० ४१

८. लाग न उर उपदेश जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जिय। — तु० रा०, बा० का० ५१

९. बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहिं झूंठ कहावा। — तु० रा०, बा० का० ५५-३

१०. तव माया बस फिरउ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना।
तव माया बस जीव जड़ संतत फिरइ भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु कृपासिंधु भगवान। — तु० रा०, उ० का० १०८ (ग)

११. तब नारद हरि पद सिर नाई। चले हृदयँ अहमिति अधिकाई।
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी।। — तु० रा०, बा० का० १२८-४

नहीं होता। परमात्मा की माया से निस्तार उन्हीं की कृपा से सभव है।[1] हरि-मायावश भ्रमित सासारिक जीवों का कुछ भी कहना तथा करना अघटित नहीं है।[2] नेत्ररोग से पीडित व्यक्ति को जिस प्रकार श्वेत चन्द्र पीत दृष्टिगोचर होता है, दिग्भ्रम होने पर पूर्व में सूर्य को उदय होता देखकर भी वह उसे पश्चिम ही समझता है इसी प्रकार नौकारूढ मनुष्य भ्रमवश स्वय को स्थिर मानता है तथा ससार के अचल पदार्थ वृक्ष, पर्वत, तट आदि उसे गतिशील प्रतीत होते है। बालक जब घुमनी का खेल खेलते हैं तब उन्हे सम्पूर्ण वस्तुओं सहित गृह घूमता हुआ दिखाई देता है परन्तु वास्तव मे घर आदि नहीं घूमते, घूमते तो केवल बालक हैं। इसी प्रकार परमात्मा के सत्य स्वरूप को अपने अज्ञानवश न देखकर प्राणी भिन्न भिन्न कथन उस स्वरूप के सम्बन्ध मे करता है स्वय अपने अज्ञान का आरोप परमात्मा के स्वरूप म करता है। यह सब माया के द्वारा ही हो रहा है।[3]

तुलसीदास ने माया के कृत्यो का विवेचन करते हुए कहा है कि वह बुद्धि को लुभाने के लिए ऋद्धि सिद्धि को प्रेरित करती है वह किसी भी प्रकार से छल-बल करके विज्ञान-दीप को बुझाने का प्रयत्न करती है। इन्द्रियो के अधिष्ठाता देवगण भी विषय को शरीर मे प्रवेश दान देते है और वे विषयो के सम्मुख जीव की रक्षा नहीं करते, वरन् उनके द्वारा भक्षण होने को छोड देते है। इन्द्रियो एव उनके देवताओं को ज्ञान मे रुचि नहीं रहती, उनकी रुचि रहती है विषय भोगो म। भगवान् की माया ऐसी दुस्तर है कि सरलता से उसका पार नहीं पाया जा सकता।[4] माया की अज्ञानात्मिका शक्ति बडी ही प्रबल है तथा उसके कार्य जीव की बुद्धि को भ्रष्ट व भ्रमित करने वाले हैं। यही भाव निम्न दोहे म भी व्यक्त हुए है—

---

१ नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥ तु० रा०, कि० का० २-१

२ हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं॥ तु० रा०, बा० का० ११४-३

३ नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई।
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा।२
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा।
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्याबादी।३
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अग्यान प्रसंगा।
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदयँ जमनिका बहुबिधि लागी।४
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं। तु० रा०, उ० का० ७२.५

४ छोरन ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।३
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई।
कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा।
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।६
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई।
तब फिरि जीव बिबिधि बिधि पावइ संसृति क्लेस।
हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस॥ तु० रा०, उ० का० ११८(क)

जो न होहिं मंगल मग सुर विधि बाधक।
सो अभिमत फल पावहिं करि स्रमु साधक॥ तु० ग्र०, पृ० २७

अविनाशी जीव चेतन, अमल, सहज, सुखराशि, ईश्वर का ही अश है और वही माया के वश मे होकर कीर, मरकट की भाँति बँध गया है। इस प्रकार जड और चेतन के बीच ग्रथि पड गई है जो मिथ्या होने पर भी सरलता से छूटती नही।[1] मानव-मन माया मे इतना लिप्त रहता है कि वह किसी सीख को न मानकर मनमाने कार्य करता है, दुरमति से हटता नही तथा दूसरा को अपनी ही भाँति बनने की शिक्षा देता है। माया के वश मे होकर हरि यश का उच्चारण नहीं करता। जगत् के प्रपचो मे पडकर ही अपनी उदर पूर्ति किया करता है तथा श्वान की पूँछ की भाँति कुटिलता को त्यागकर सीधा नही हो जाता।[2]

मलूकदास के मत से तीनो लोक परमात्मा की माया है। परमात्मा के अतिरिक्त और कही से इसे कोई नही लाया। परमात्मा सभी का है और सब परमात्मा के है। उसे समस्त जीव जन्तु तक प्रिय है।[3] जादूगर की पुतली जिस प्रकार वदर को मोहित करती है, उसी प्रकार परमात्मा की माया ने सारे ससार को लुभा रखा है।[4] परमात्मा की माया के चरित्र से सभी स्थावर, जगम मोहित है, ब्रह्माण्ड मोहित है, खण्ड मोहित हैं पवन, पानी, परमेश्वर, मुनि, रवि, शशि, सप्त सागर, धरणीधर, पर्वत, मेरु आदि सभी मोहित है।[5]

माया स्वय परमात्मा बनकर बैठी हुई है जिसमे कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक आवागमन मे पडे हुए हैं।[6] राम बनकर बैठी हुई इस माया को कोई नही देखता वरन् ससार इसे

---

१ ईस्वर अस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायावस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई। तु० रा०, उ० का० ११६-२

२ यह मन नेक न कह्यो करै।
सीख सिखाय रह्यो अपनी सा दुरमति तें न टरै।
मद माया बस भयो बावरो हरिजस नहि उचरै।
करि परपंच जगत के डहकै अपनो उदर भरै।
स्वान पूछ ज्यों होय न सूधो कह्यो न कान धरै॥२ नानक, स० बा० स० भा० २, पृ० ५३

३ सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जन्तु मोहिं लगैं पियारे।
तीनों लोक हमारी माया। अन्त कबहु से कोइ नहिं आया॥२ मलूकदास, भा० २, पृ० २३

४ बाजीगर की पूतरी ज्यूँ मरकट मोह्या।
दादू माया राम की सब जगत बिगोया॥११२ दादू, भा० १, पृ० १२७

५ ये सब चरित तुम्हारे मोहनां मोहे सब ब्रह्मंड खंडा।
मोहे पवन पाणी परमेसुर सब मुनि मोहे रवि चन्दा।
सायर सप्त मोहे धरणीधर अष्ट कुली पर्वत मेर मोहे।
तीन लोक मोहे जगजीवन सकल भुवन तेरी सेव सोहे॥६३ दादू, भा० २, पृ० ४१

६. माया बैठी राम ह्वै कहै मैं ही मोहन राइ।
ब्रह्मा विष्णु महेश लौं जोनी आवैं जाइ॥१४३ दादू, भा० १, पृ० १२१

सत्य मान बैठा है। यह बड़े आश्चर्य की बात है।[1]

प्रत्यक्ष रूप से परमात्मा की प्राप्ति के साधन भी आत्मा के साक्षात्कार कराने वाले न होकर शक्ति के दाता बने रहते हैं तो वह सच्ची साधना न होकर माया का ही कार्य कहा जायगा। मत्स्येन्द्रनाथ ने इसी प्रकार के एक साधक के विषय में लिखा है कि संसार छोड़कर भस्म रमाकर वन में वास करता है, वज्रासन, खेचरी आदि मुद्राएँ धारण करता है, सिद्धि प्राप्त करके अदृष्ट हो जाने तथा इच्छित स्थान पर पहुँच जाने की कला में भी दक्ष हो जाता है। यही नहीं, शरीर से प्राण भी निकाल सकता है, योग में मग्न है, ब्रह्मरंध्र तक कुण्डलिनी को चढ़ा लेता है, पानी के ऊपर चलता है तथा उसकी वाणी से निकला हुआ वचन सत्य हो जाता है। सारी आयु तीर्थ, व्रत आदि में समाप्त कर दी, कंचन-कामिनी की ओर देखा तक नहीं, शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा वेद-विधि के मार्ग से चलकर शरीर को काष्ठ की भाँति जड़ बना लिया है परन्तु इतना होने पर भी वह कच्चा है। वास्तविक पक्वता उसमें नहीं आई।[2] गीता में भी वेदों को त्रिगुण कहा गया है तथा अर्जुन को निस्त्रैगुण्य होने का आदेश दिया गया है। त्रिगुणमयी समस्त साधना माया का कार्य है।

हिन्दू समाज में प्रचलित इस प्रकार की आडम्बरपूर्ण मायामयी पूजा-पद्धति की निःसारता समझाते हुए कबीर ने कहा है—मालिन पूजा के लिए पत्र-पुष्प तोड़ती है। वह नहीं जानती कि उस पत्ती-पत्ती में जीव है परन्तु जिस मूर्ति को अर्पित करने के लिए वह उन्हें तोड़ती है, वह मूर्ति निर्जीव है। विश्वास न हो तो देखलो मूर्तिकार मूर्ति को पैर से दाबकर उसकी गढ़ाई करता है। यदि उसमें कोई शक्ति होती, तो अपने वश पर

---

१ माया बैठी राम ह्वै ताहि लखै न कोइ।
सब जग मानै राम करि बड़ो अचम्भो मोहि॥ बानी कबीर, पृ० २१६

२ हो भा कच्चाके कच्चा वे।
नहीं गुरू का बच्चा॥
दुनिया तजकर खाक लगाई जाकर बैठा वन में।
खेचरि मुद्रा वज्रासन पर ध्यान धरत है मन में। १
गुप्त होके परगट होवे जावे मथुरा काशी।
प्राण निकाले सिद्ध भया है सत्य लोक का वासी। २
तीरथ कर कर उमर खोई जोग जुगत में सारी।
धन कामिनि को नजर न लावे जेंग कमाया भारी। ३
कुण्डलिनी को खूब चढ़ावे ब्रह्मरंध्र में जावे।
चलता है पानी के ऊपर मुख बोले सो होवे। ४
शास्त्रों में कुछ रहा न बाकी पूरा ज्ञान कमाया।
वेद विधी का मार्ग चलकर तन का लक्कड़ काया। ५
कहे महेन्द्र सुनो हो गोरख तीनो ऊपर जाना।
कृपा भई जब सतगुरु जी की भार आपको चीन्हा॥ ६
वो ही मच्चावे मच्चावे वही गुरू का बच्चा॥

पैर रखकर गढ़ने वाले का वह अनिष्ट अवश्य करती ।[1] पत्र पुष्प आदि से मूर्ति का पूजन करके भक्तगण उसे पतित-पावन, भवतारण कह कर संतोष-लाभ करते हैं परन्तु शायद वे नहीं जानते कि यदि पत्थर की मूर्ति में परमेश्वर का वास हो और वह अपार भवसागर को तारने में समर्थ हो तो फिर वह क्षुद्र जल को तैर कर क्या न पार हो जावे ।[2] निर्जीव मूर्ति को विविध प्रकार की भोग सामग्रियाँ अर्पित की जाती हैं परन्तु पुजारी उनमें से तनिक भी अंश मूर्ति को न देकर सब स्वयं ही ले लेता है ।[3] यदि पाषाण-प्रतिमा की पूजा करने से परमात्मा का मिलन संभव है, तो पाषाणों के अपार भण्डार पर्वत की पूजा से महत्तर फल की प्राप्ति होनी चाहिए, जैसा कि नहीं होता । इसी कारण श्रेयस्कर तो यह है कि पत्थर की मूर्ति के स्थान पर पत्थर की चक्की की पूजा की जाय जिससे आटा पीसकर प्राणियों की उदर-पूर्ति होती है, मूर्ति से तो किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती । वह पूर्णतया निष्प्रयोजन है ।[4] इस विचार के अंकुरण दर्शन हम मलूकदास में भी होते हैं ।[5] इस प्रकार के माया-जाल में एक दो नहीं, समस्त संसार भूला हुआ है ।[6] संसार में भेड़ियाधसान की स्थिति चल रही है । असत्य एवं मिथ्या मार्ग में चलकर चाहे सब विनष्ट ही हो जाय पर इसकी उन्हें किंचित मात्र भी चिन्ता नहीं ।[7]

मनुष्य यह भूल जाता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक ही अनन्त सत्ता के प्रतीक हैं । मनुष्य इनकी पृथक्-पृथक् सेवा आराधना करता है, वह उसका अज्ञान है । विभिन्नता की यह भावना भी माया का ही कार्य है ।[8] परमात्मस्वरूप आत्मा को यदि मनुष्य नहीं पहचानता तो निरंतर साधना करने, नग्न रहने अथवा चर्म धारण करने से कोई लाभ नहीं ।

---

१ भूली मालिनी है गोव्यंद, जागतौ जगदेव, तू करै किसकी सेव ॥
भूली मालिनी पाती तोड़ै पाती पाती जीव ।
जा मूरति कौं पाती तोड़ै सो मूरति निरजीव ।
टांचणहारै टांचिया दे छाती ऊपरि पाव ।
जे तू मूरति सकल है तो घड़णहारे को खाव । १६८ — कबीर, क० ग्र०, पृ० १५५

२ पानी तोड़ पूजि रचावे तारन तरन कहै रे ।
मूरति मांहि बसै परमेसुर तो पानी मांहि तिरै रे ॥ — बाता, पृ० २२

३ लाडू लावण लापसी पूजा चढ़े अपार ।
पूजि पुजारी ले गया दे मूरति के मुहि छार ॥१९८ — कबीर, क० ग्र०, पृ० १५५

४. पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार ।
ता तें ये चाकी भली पीसि खाय संसार ॥५ — कबीर, स० बा० सं० भा० १, पृ० ६२

५ देवल पूजे कि देवता की पूजे पहाड़ ।
पूजन को जाता भला जो पीस खाय संसार ॥३ — मलूकदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १०४

६ एक न भूला दोइ न भूला भूला सब संसारा ।१९८ — कबीर क० ग्र०, पृ० १५५

७ ऐसी गति संसार की ज्यों गाडर का ठाट ।
एक पड़ा जेहि गाड़ में सबै जाहिं तेहि बाट ॥२३ — कबीर, स० बा० सं० भा० १, पृ० ११

८. पाती ब्रह्मा पुहुपे विष्णु फूल फल महादेव ।
तीन देवौ एक मूरति करै किसकी सेव ॥१९८ — कबीर, क० ग्र०, पृ० १५५

यदि केवल नग्न रहने से मुक्ति मिल जाय तो काननचारी सभी पशु जो नग्न ही रहते हैं, जीवन-मुक्त हो जायें। यदि बिन्दु धारण करने मात्र से मुक्ति-लाभ हो तो जलाशयों को सर्वप्रथम परमगति प्राप्त होनी चाहिए क्योंकि वे अगणित जल-बिन्दुओं के आगार हैं। यदि पढ़ना-गुनना ही मुक्ति-प्राप्ति का साधन माना जाय, तो वह भी ठीक नहीं। केवल पढ़ना-गुनना भी अहंकार का वर्धक होता है।[1] उससे मुक्ति तो होती नहीं, अपबीच डूबने का भय अवश्य रहता है।[2] यदि मूड़ मुड़ाने से सिद्धि[3] हो तो भेड़ों को अवश्य ही स्वर्ग मिलना चाहिए क्योंकि उनका केवल सिर ही नहीं सम्पूर्ण शरीर बार-बार मूड़ा जाता है।[4] भला बेचारे केश कौन-सा अपराध करते हैं जिसके प्रायश्चित में भक्तजन उन्हें बार-बार मुड़ाते हैं। वास्तव में मूड़ना चाहिए उन्हें अपना मन जो सदैव विषय-विकारों से पूरित रहता है तथा जिसके मूड़ने, निर्विकार होने से परमगति की प्राप्ति हो सकती है।[5]

साधना के मार्ग में तीर्थ, व्रत, मूर्ति-पूजा, जप, तप, मूड़ मुड़ाना आदि कर्मकाण्ड जिस प्रकार महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं उसी प्रकार स्नान पर भी जोर दिया जाता है। हिन्दी सन्त कवियों ने इन सब बाह्याडम्बरों की निःसारता पर भरपूर प्रकाश डाला है। यह सब क्रियाएँ परमात्मा-प्राप्ति के वास्तविक साधन नहीं हैं। शरीर को जल से धोने, स्नान करने से कुछ नहीं होता। विष्णु ध्यानरूपी स्नान से ही शारीरिक तथा मानसिक पवित्रता होती है। सत्य के बिना हृदय परमात्म-रस से अभिषिक्त नहीं हो सकता। जीव माया के जंजाल में फँसा है, उसे अपनी सुधि नहीं है। कोई शरीर पर कितना ही जल क्यों न डालता रहे परन्तु वह अभ्यन्तर को भेदकर आन्तरिक पवित्रता का कारण नहीं होता। यथार्थ में, निष्कर्म नदी में ज्ञानरूपी जल से शून्य मण्डल में संयमरूपी घाट पर जहाँ पर पश्चिम-वाहिनी पवित्र गंगा की भाँति इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना उपस्थित हैं, वहाँ स्नान करने से तभी समस्त कल्मुष दूर होकर पवित्रता प्राप्त होती है।[6] इस प्रकार के अभ्यन्तर स्नान का प्रसंग महाभारत में भी एक स्थान पर आया है —

---

१. धन मद बल मद मान मद विद्या मद हद।

२. का नागे का बाँधे चाम जो नहि चीन्हसि आतमराम।
नागे फिरें जोग जे होई बन का मृग मुकति गया कोई।
मूंड़ मुंड़ाए जो सिधि होई स्वर्ग ही भेड़ न पहुँती कोई।
(*text as printed:*) बयर राखि जे खेलै है भाई तो धुपरे कौण परम गति पाई।
पढ़े गुने उपजै अहंकारा अधधर डूबे वार न पारा ॥१२॥ क० ग्रं०, पृ० १६०

३ तीरथ गये मुड़ाये सिद्धि।

४ मूड़ मुड़ाये हरि मिलै सब कोई लेय मुड़ाय।
बार बार के मूड़ते भेड़ न बैकुण्ठ जाय ॥

५. केसन कहा बिगाड़िया जो मूंडो सौ बार।
मन को क्यों नहि मूंडिये जामे भरे विकार ॥ क० ब०, पृ० ३६

६. विष्णु ध्यान सनान करि रे बाहरि अंग न धोइ रे।
साच बिन सीझसि नहीं कोई ग्यान दृष्टै जोइ रे।
जंजाल माहैं जीव राखै सुधि नहीं सरीर रे।
अभिअंतरि भेदै नहीं कोई बाहरि न्हावै नीर रे।

आत्मा-नदी सयम पुण्यतीर्थे सत्योदका शीलतटादयोमि।
तत्राभिषेक कुरु पाण्डु पुत्र न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥

आत्मारूपी नदी मे, सयमरूपी पुण्य तीर्थ पर, सत्यरूपी जल से शीलो की तट वाली भूमि पर स्नान करने को कहा गया है, जल से अन्तरात्मा की शुद्धि नही होती। कबीर ने आत्मा नदी के स्थान पर विष्णु ध्यानरूपी स्नान को महत्व प्रदान किया है। तथा योग की कुछ क्रियाओ को भी अत शुद्धि मे स्थान दिया है। वास्तव म प्रयत्न दोनो का बाह्य शारीरिक स्नान की गौणता तथा आतरिक पवित्रता की श्रेष्ठता प्रतिपादन करना ही है। योगी, यती, तपी, सन्यासी सब काशीवास करते हुए दिन म तीन बार स्नान करते है परन्तु जिस शरीर को वे बार बार धोते है उसके अतर की ओर उनका ध्यान नही रहता। मदिरा मे भटकने घूमते है परन्तु हरि नामस्मरण नही करते। वे लोग काशी इसलिए नही छोडते कि परमात्मा की सेवा पूरी तरह उनमे नही बन पडती। वे सेवा चोर है तथा उन्हे काशीवास से ही मुक्ति की आशा है, परमात्मा की भक्ति मे नही। कबीरदास नरक मे जाने को तैयार हैं परन्तु काशी मे शरीर त्यागकर मुक्ति लाभ के लिए राजी नही क्योकि उससे परमात्मा के यश को ठेस लगेगी और काशी का ही यश होगा।[1]

शारीरिक स्नान के द्वारा पवित्रता को सत रैदास ने भी व्यर्थ ही माना है क्योंकि हृदय जो अनेक विकारो से पूर्ण है शारीरिक स्नान के उपरान्त भी अपवित्र ही रहता है।[2] परमात्मा की भक्ति के बिना साधना के अन्य सभी साधनो को तुलसीदास ने भी व्यर्थ माना है। जप, तप, योग, विराग यज्ञ, दान, दया, दम, इन्द्र, गणेश, महेश आदि देवताओ की सेवा, वेद, शास्त्र, पुराण आदि के अध्ययन से दुःख की वास्तविक निवृत्ति नही होती।[3] विद्याभिमानी मूर्ख पण्डित जन करणीय और अकरणीय पठनीय और अपठनीय के परिणाम को ध्यान मे न रखकर भेद निरूपण पर विचार नही करते। सब कामनाओ की पूर्ति करने

निरकर्म नदी ग्यान जल सुनि मडल माहिं रे।
औधूत जोगी आतमा काईं पेखै सजमि न्हाहि रे।
इला पिंगला सुखमना पछिम गगा बाहिरे।
कहै कबीर कुसमल झडैं काईं माहिली अग पखालि रे।३६१ क० ग्र०, पृ० २१८

१ वे नर कामी तजै मुरारी। तेरा सेवा-चोर भये बनवारी ॥
जोगी जती तपा सन्यासी। मठ देवल बसि परसै कासी ॥
तीन बार जे नित प्रति न्हावैं। काया भीतरि खबरि न पावैं ॥
देवल देवल फेरी देहीं। नाव निरजन कबहु न लेहीं ॥
चरन बिरद कासी कौं न देहूँ। कहै कबीर भल नरकहि जैहूँ ॥१६० क० ग्र० क०, पृ० ३२८

२. बाहर उदक पखारिये घट भीतर विविध विकार।
सुद्ध कवन पर होइगो सुचि कुजर विधि ब्योहार ॥ स० बा० स० भा० १, पृ० ६६

३ जप, जोग, विराग, महा मख-साधन, दान दया, दम कोटि करै।
मुनि सिद्ध, सुरेस, गनेस, महेस से सेवत जनम अनेक मरै।
निगमागम, ग्यान पुरान पढ़ै तपानल में जुगन्जुग जरै।
मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै ॥ तु० ग्र०, पृ० १७६

वाले, राम के नाम को स्वार्थ और परमार्थ दोनों के लिए ही विस्मृत कर देते हैं। वाद-विवाद में फँसकर विषाद उत्पन्न करते हैं तथा तत्त्वबोध की प्राप्ति के स्थान पर अपने तथा दूसरों के हृदय को सन्तापित करते हैं। वे पण्डित जन चारों वेद, षट् शास्त्र, नव व्याकरण तथा अठारह पुराणों के पाठ को ईंधन के काष्ठ की भाँति फाड़ते हैं—उसके खण्ड-खण्ड करके मनमाने सत्य अथवा असत्य अर्थ लगाते हैं।[1] बहुत-से विद्वानों ने वेद आदि धर्म-ग्रन्थों को मृषा कहा है परन्तु कबीर के दृष्टिकोण से वेद, कुरान आदि असत्य नहीं हैं वरन् असत्य हैं वे लोग जो इनके विषय में उचित विचार नहीं करते। वेद आदि पवित्र धर्म-ग्रंथों के अनुसार ईश्वर सर्वत्र सब में विद्यमान है। यदि ऐसा है तो लोग जीव हिंसा (जिबह या बलिदान) क्यों करते हैं क्योंकि सभी जीवों में परमात्मा ही व्याप्त है। वेद पुराण के अध्ययन मात्र से कोई विद्वान् नहीं बन जाता। गधे पर लदा हुआ चन्दन का बोझ उसे सुवासित या पवित्र नहीं बना पाता। वह भार-वाहक ही बना रहता है। वेदों के अध्ययन का वास्तविक परिणाम यह होना चाहिए कि सर्वत्र सब कुछ राममय ही प्रतीत हो, राम से अन्य कुछ रह ही न जाय। जीव-हिंसा करने वाले भी धार्मिक कहलाते हैं तो अधार्मिकों की क्या स्थिति होगी। ऐसे लोग स्वयं तो त्यागी, तपस्वी, मुनि कहलाने का दम भरते हैं, भला कसाई किसे कहा जाय। जब कि वे वास्तव में कसाई का ही कार्य (जीव-हिंसा) करते हैं।[2]

दादू का कथन है कि जहाँ रूप, राग, गुण आदि होते हैं वहीं माया गमन करती है तथा विद्या-अक्षर-पण्डितों का वहीं निवास होता है।[3] इस प्रकार वेद-विधि का अनुगमन करने वाले कर्मों के भ्रम में उलझे हुए पण्डित जन मर्यादा के फेर में ही पड़े रहते हैं, उनसे यथार्थ रूप में हरिस्मरण नहीं होता।[4] इन पण्डितों को मुक्ति-लाभ नहीं होता। यदि हृदय निर्मल न हो तो ध्यान लगाने से कोई लाभ नहीं। यदि केवल ध्यान से ही मुक्ति हो जाती तो सम्भवतः कोई भी बगुला मुक्त होने से न बचता।[5] इन बगुला-भक्तों की यह स्थिति

---

१. कौवे बड़ा पढ़िबे को पढ़ा ? फल बूझि न वेद को भेद विचारैं।
स्वारथ को परमारथ को कहि बावद राम को नाम बिसारैं।
वाद विवाद विषाद बढ़ाइकै छाती पराइ औ आपनी जारैं।
चारिहु को छहु को नव को दस आठ को पाठ कुकाठ ज्यौं फारैं ॥१०४ — तु० ग्र०, पृ० १८७

२. वेद कतेब कहहु मत झूठे झूठा जो न विचारै।
जो सब मैं एकु खुदाइ कहतु हौ तौ क्यों मुरगी मारै।
वेद पुरान पढ़त अस पाँडे जन खर चन्दन भारा।
वेद पढ़या का फल यहु पाँडे सब घट देखहु रामा।
जीव बधत अरु धरम करत हौ अधरम कहा है भाई।
आपन तो मुनि जन ह्वै बैठे कासो कहौ कसाई ॥ — कबीर, स० बा० सं० भा० १, पृ० ४६

३. रूप राग गुण अणसरै जहँ माया तहँ जाइ।
विद्या अक्षर पंडिता तहाँ रहे घर छाइ ॥२७ — दादू, भा० १, पृ० ११८

४. दादू बाँधे वेद विधि भरम करम उरझाइ।
मरजादा माहै रहे सुमिरण किया न जाइ ॥१५८ — दादू, भा० १, पृ० १३१

५. ध्यान धरें का होत है जो मन नहिं निर्मल होइ।
तौ बग सबही उधरै जो इहि बिधि सिधि होइ ॥६ — दादू, स० बा० सं० भा० १, पृ० ८६

है कि कोई योग तथा ध्यान मे लिप्त है, कोई कुल की मर्यादा पालन करने मे दत्तचित्त है, कोई सर्व देवताओं की उपासना मे लगा है कोई सिद्धियां के लिए कामना करता हुआ उन्हे प्राप्त करता है, कुछ वेद-पुराणों मे मस्त है, कुछ देश-देशान्तर मे भ्रमण करते घूमते हैं, कोई ज्ञानी बनकर भाषण करते हैं, कोई तप के द्वारा नाना प्रकार से शरीर को कष्ट देते है तथा कुछ अनन्त जीवन की आशा मे तपस्या करते हुए गुफाओं मे निवास करते हैं, कुछ माया मे अनुरक्त है परन्तु सत्य मार्ग परमात्मा के नाम मे कोई रत नहीं।[1]

समस्त पथ तथा साधनाएँ माया ही का कार्य है। मनुष्य इन्ही प्रतिभासमानों मे उलझा हुआ सत्य के निकट नही पहुँच पाता। सत्य मार्ग वही है जो परमात्मा स्वय अपने भक्त को दिखलाता है अथवा जिस अपार पथ मे चलकर आत्मदर्शन होता है उसे ही परमात्मा की प्राप्ति होनी है, ससार मे कोई हिन्दू है कोई मुसलमान तथा कोई किसी अन्य मत का अनुयायी है। कोई सूफी, कोई सेवडे, तथा कोई सन्यासी कोई योगी, कोई जगम, कोई शक्ति पथ के अनुयायी है, कोई वेशभूषा को ही बहुत महत्त्व देते हैं परन्तु यह सभी माया के असत्य मार्ग को पकडे हुए है। दादू को ससार का सृजनकर्ता परमात्मा ही केवल मान्य है।[2] जिसमे मार्गों या दर्शनों की भिन्नता की भाँति कोई भेद नही है।

सारा ससार यथार्थ आराधना न करके पूजन की विधि व आचार (क्रिया) म व्यस्त है जो कि केवल अविद्या का कार्य है। सत्य काम आत्मा का साक्षात्कार है और उससे मनुष्य विमुख है। समस्त धर्मों का अध्ययन भी हमे इसी परिणाम पर पहुँचा देता है कि सभी धर्म अपने प्रारम्भ मे एक सत्य के स्वरूप के साक्षात्कार से उत्पन्न होते हैं। ऋषि, द्रष्टा, पैगम्बर अथवा अवतार सत्य का प्रत्यक्ष करता है तथा उसी को प्राप्त करने के लिए ज्ञान और विधि प्रदान करता है। कालान्तर मे धर्म का प्राण—मानव द्वारा सत्य का साक्षात्कार—उसमे निकल जाता है, केवल धर्म-प्रवर्तक द्वारा सम्पादित अथवा उपदिष्ट जीवन-यापन की विधियाँ शेष रह जाती है। उन्ही का पालन करना मात्र किसी धर्म का स्वरूप

---

१. केई जोग ध्यान गहि रहिया केइ कुल के मारग बहिया।
केइ सकल देव कौं ध्यावै केई रिधि सिधि चहैं पावै।
केई वेद पुरानां मातै केइ माया के मगि राते।
केइ देस दिसन्तर डोलैं केइ ग्यानी है बहु बोलैं।
केई काया कसै अपारा केई मरै खड्ग की धारा।
केई अनत जीवन की आसा केई करै गुफा में बासा ।३०८ दादू, भा० २, पृ० १३१

२. ए पथि एक अपार के मन और न भावै।
सोइ पथि पावै पीव का जिस आप लखावै।
को पथि हिन्दू तुरक के को काहू राता।
को पथि सोफी सेवडे को सन्यासी माता।
को पथि जोगी जगमा को शक्ति पथ धावै।
को पथि कमडे कापड़ी को बहुत मनावै।
को पथि काहू के चलै मै और न जानौं।
दादू जिन जग सिरजिया ताही कौं मानौं ।।१६८ दादू, भा० २, पृ० ८४

रह जाता है। किसी धर्म का अनुयायी होने से आजकल यही समझा जाता है कि वह व्यक्ति किसी विशेष अवतार, पैगम्बर अथवा धर्म ग्रन्थ का अनुयायी है। उसके धार्मिक तथा सामाजिक संस्कारों की रीति-नीति कुछ विशेष है। एक क्षण के लिए भी मनुष्य यह नहीं सोचता कि सत्य का जो साक्षात्कार उस आदि प्रवर्तक ने किया था तथा जिस तत्कालीन प्रचलित असत्य को दूर करने का उसने प्रयत्न किया था उस दिशा में वह कोई कार्य कर भी रहा है या नहीं। धर्म से सम्बन्धित यह सब धारणाएँ तथा क्रियाएँ अविद्या का ही कार्य हैं।

परमात्मा की खोज कहीं अन्यत्र नहीं करनी पड़ती। वह स्वयं सबके हृदय में, घट में निवास करता है। अज्ञानवश उसे कोई प्रयाग में ढूँढता फिरता है, कोई काशी में तथा बहुत लोग निर्जन स्थानों में भटक मारते घूमते हैं। अपने हृदयस्थ परमात्मा को नहीं खोजते।[1] वह सर्वव्यापक है। हाथी, चींटी, पशु मनुष्य सब में एक ही परमात्मा है। परमात्मा के समर्पण के लिए पशु का गला काटकर परमात्मा का ही गला काटते हैं तथा अपने को कृतकृत्य समझते हैं।[2] क्रिया, कर्म आचार सब भ्रम हैं तथा यही लौकिक मायाजाल है। अज्ञानान्ध मनुष्य सत्य और असत्य का भेद नहीं देख पाता।[3] दुनिया मंदिर में मस्तक झुकाने जाती है परन्तु वह नहीं जानती कि परमात्मा का निवास हृदय में ही है तथा उसी की आराधना करनी चाहिए। मंदिर में जाने की कोई आवश्यकता नहीं।[4] युग बीत गये भक्त जन माला फेरते रहे परन्तु उनके मन के विकार दूर न हुए इसीलिए हाथ की माला त्यागकर मन की माला फेरने अर्थात् मन को निर्विकार बनाकर परमात्मा का स्मरण करने के लिए कहा गया है।[5] लौकिक प्रथाओं में बंधकर कर्म करना अथवा आराधना या धर्म का प्रतिपादन करना भ्रम है। आचार-पद्धति के अनुकूल कार्य करने वाले काजी और मुल्ला दोनों माया में पड़े हुए हैं। वे हिंसा में रत हृदय में सत्य धर्म भूले हुए हैं।[6] सारा संसार अंधे की भाँति है। अपने निकटवर्ती वस्तु को नहीं देखता परन्तु दीपक जलाकर खोजने का उपक्रम करता है जब कि अंधे के लिए दीपक का कोई प्रयोजन नहीं होता। इस प्रकार अध-

---

१ राम राम घट में बसै ढूँढत फिरै उजाड़।
कोई काशी कोई प्राग में ढूँढत फिरै भखमार ॥७ — मलूकदास, म० बा० सं० भा० १, पृ० १०५

२. कुंजर चींटी पसु नर सब में साहिब एक।
काटै गला खुदाय का करै सूरमालेख ॥२ — मलूकदास, म० बा० सं० भा० १, पृ० १०२

३ किरिया करम अचार भरम है यही जगत का फंदा।
माया जाल में बाँधि अँदाया क्या जानै नर अंधा ॥१० — मलूकदास, भा० २, पृ० २०

४ कबिर दुनिया देहुरै सीस नवावण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै तू ताही सौं ल्यौ लाइ ॥११॥४३६॥ — क० ग्रं०, पृ० ४४

५ माला फेरत जुग भया पाया न मन का फेर।
करका मनका छाड़ि दे मन का मनका फेर ॥८ — क० ग्रं०, पृ० ४५

६. काजी मुल्ला भ्रमियां चल्या दुनीं के साथि।
दिल थैं दीन बिसारिया करद लई जब हाथि ॥७ — क० ग्रं०, पृ० ४२

कार मे फँसे हुए एक दो प्राणी नही है, सभी मनुष्य पेट के धधे में पड़े हुए इसी अधकार मे भटक रहे हैं।[1]

मनुष्य मिथ्याभिमान में इस प्रकार फँसा हुआ है कि यदि कोई तत्त्वदर्शी कुछ सार-पूर्ण कथन करता है तो उसको न कोई जानता है न मानता ही है। सभी अपने-अपने मार्ग के पथिक है और "मैं", "मेरी" मे इस शरीर को नष्ट करके भी तत्त्व को नही समझते।[2] प्रत्येक जीव के अन्तस्तल में परमात्मा की ज्योति जगमगा रही है परन्तु अविद्या से ग्रस्त मनुष्य उस सहज प्रकाश का साक्षात्कार नही कर पाते। यदि वह हृदयस्थ प्रकाश दृष्टिगोचर हो जाय तो आवागमन से मुक्ति प्राप्त हो जाय। यह ज्ञान-प्रकाश किसी क्रिया-कर्म अथवा कथन-श्रवण से प्राप्तव्य नही। योग मे लीन व्यक्ति परमात्मा के साक्षात्कार के बिना उसे अति दूर समझते हैं। यद्यपि वह परमात्मा अत्यन्त समीप, प्रत्येक श्वास मे स्थित है फिर भी उसे प्राप्त करने के लिए खजूर पर चढने के प्रयत्न की भाँति योग-साधना आदि मे व्यर्थ का श्रम करते है। ब्राह्मण घर-घर दीक्षा देता घूमता है, पत्थर की मूर्ति की पूजा का विधान करता है परन्तु इस प्रकार वह केवल घर घालता ही फिरता है, सत्य-शिक्षा का प्रयोजन तनिक भी हल नही होता। परमात्मा तो निकट ही है उसके लिए पत्थर की पूजा की कोई आवश्यकता नही। वह योग, जप, पुण्य, पाप किसी से प्राप्त होने वाला नही है।[3] यह सभी कार्य माया

---

१ या जग अंधा मैं केहि समुझावौं।
इक दुइ होयँ उन्हें समुझावौं सब ही भुलाना पेट के धंधा।
पानी कै घोड़ा पवन असवरवा ढरकि परै जस ओस के बुन्दा।
गहिरा नदिया अगम बहै धरवा खेवनहारा पड़िगा फन्दा।
घर की वस्तु निकट नहि आवत दियना बारि के ढूंढत अंधा। 		सं० बा० सं० भा० २, पृ० २५

२. दादू रे जे कहिये की होइ।
ना को जानै ना को मानैं तातैं अचिरज मोहि।
अपनें अपनें रंग के राजा मानत नाही कोइ।
अति अभिमान लोभ के घाले चले अपनपौ खोइ।
मैं मेरा करि यहु तन खोयौ समझत नहीं गँवार।
भौजलि अधबर थाकि रहे हैं बूड़े बहुत अपार॥३१८ 		क० ग्र०, पृ० १६६

३. घर घर दीपक बरै लखै नहि अन्ध है।
लखत लखत लखि परै कटै जम फन्द है।
कहन सुनन कछु नाहि नही कछु करन है।
जीते जी मरि रहै बहुरि नहीं मरन है।
जोगी पडे वियोग कहैं घर दूर है।
पासहि बसत हजूर तू चढ़त खजूर है।
बाम्हन दिच्छा देत घर घर घालि है।
मूर सजीवन पास तू पाहन पालि है।
ऐसन साहब कबीर सलोना आप है।
नहीं जोग नहीं जाप पुन्न नहीं पाप है।२१ 		हि० प्र० क०, पृ० २५१

या अविद्या के हैं, आत्मा के नहीं। तुलसीदास ने इसी प्रकार पेट के धंधे के लिए देश-देश के राजाओं से धन की याचना करने को गर्हित कहा है। उन्होंने अनेक देवताओं की सेवा तथा श्मशान आदि में तांत्रिक साधनाओं को भी माया का कार्य माना है। वे मनुष्य के विश्वास की अविद्या-जनित उस स्थिति का उल्लेख करते हैं जिसके वश वह मुक्ति-प्राप्ति के लिए प्रयाग में शरीर-त्याग करता है अथवा पुनर्जन्म में धनवान् होने की लालसा से कुरुक्षेत्र में दान करता है।[1]

बगुले की भाँति बाहर से उज्ज्वल दिखाई पड़ने वाले परन्तु अन्तर में कपट रखने वाले दुरंगे दुर्जनों की अपेक्षा एक ही रंग वाले कुटिल अधिक भले होते हैं क्योंकि वह जो कुछ हैं अपने सत्य रूप में हैं।[2] उनसे भ्रम में पड़ने की आशंका नहीं रहती। वेष का स्वांग बनाकर भ्रम में रखने वाले विनाश को प्राप्त होते हैं।[3] ज्ञानी अपने ज्ञान के गर्व के कारण अपने को ही कर्त्ता मान बैठते हैं। परमात्मा की शक्ति वह अपने में ही अन्तर्हित देखते हैं। इन ज्ञानियों की अपेक्षा वे सांसारिक मूर्ख जन श्रेष्ठ हैं जो परमात्मा के अस्तित्व को मानते हैं तथा उस शाश्वत शक्ति से भयभीत रहने के कारण असत्य-मार्ग से बचने का प्रयत्न करते हैं।[4] गरीबदास के मतानुसार संसार में आकर यदि शुकरूपी जीव ने शाल्मली रूपी लौकिक मायाजाल का ही सेवन किया तो उसका जीवन ही व्यर्थ हुआ।[5] भक्त का वेष बनाने वाले परन्तु परमात्मा से प्रीति न करने वाले को पलटूदास वेश्या की श्रेणी में रखते हैं जो दूसरे का धन हरण करने के लिए स्वशरीर विक्रय कर देती है, प्रीति के लिए अपना शरीर अर्पित नहीं करती।[6]

माया इस प्रकार अनिर्वचनीय है कि उसका वर्णन करने में कवि जन भी अपने को असमर्थ पाते हैं। जगजीवनदास को अपने में उतनी बुद्धि नहीं दिखाई पड़ती कि वह कुछ कह सकें। बन्दर के नाच में मदारी हाथ में रस्सी लेकर उसमें बन्दर को बाँधकर नचाता

---

१ काहे को अनेक देव सेवत जागै मसान
खोवत अपान सठ होत हठि प्रेत रे।
काहे को उपाय कोटि करत मरत धाय।
जाचत नरेस देस देस के अचेत रे।
तुलसी प्रतीति बिनु त्यागै तैं प्रयाग तनु,
धन ही के हेतु दान देत कुरुखेत रे।।२६२ तु० ग्रं०, पृ० २४४

२ बाहर से उज्वल दसा भीतर मैला अंग।
ता सेती कौवा भला तन मन एकहि रंग। दरिया बिहार, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १३२

३. बूड़े भेष अलेख स्वांग धरि बावरा धरि खाय। दरिया, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १२५

४ ज्ञानी मूल गंवाइया आपण भये करता।
ताथैं संसारी भला मन मैं रहै डरता।।२७।।४०४।। क० ग्रं०, पृ० ४१

५. संसार में आन करि वृथा कियो रे मूढ़।
सूवा सेमर सेइया लागे चोंचे दूद।।१० गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १८६

६. भेष बनावै भक्त का नहिं राम से नेह।
पलटू पर धन हरन को बिका बेचै देह।।८ पलटू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१६

है। कठपुतली के नृत्य मे सूत्रधार के हाथ मे सूत्र रहता है और उसी के सकेत से कठपुतली नाचती है। इस ससार मे मनुष्य बिना सूत्रधार के ही भ्रमित होकर नृत्य कर रहे हैं। परमात्मा सूत्रधार के इगित पर नाचने से तो मनुष्य का कल्याण ही होता। सभवत वह सूत्र ही खण्डित हो गया है जो कि सूत्रधार और कठपुतली के बीच मे सम्बन्ध स्थित रखता है। अपने अह भाव के कारण वे अवगुणो के शिकार होते है परन्तु अपने अवगुणो का दोष मढते हैं भगवान् के मत्थे। यही ससार की रीति है।[1] तुलसीदास भी इस विचित्र सृष्टि-रचना को देखकर अत्यन्त आश्चर्यचकित होते हैं। भगवान् की विचित्र माया को देखकर कुछ कहते नही बन पडता, मन मे ही उसका अनुभव किया जा सकता है। इस सृष्टि-रचना मे शून्य भित्ति पर रग आदि उपकरणो के बिना ही चित्रो का अकन हुआ है और उन चित्रो का चितेरा अशरीर है। यह चित्र धोने से नही मिटते, (जीव अमर है) केवल भित्ति नष्ट हो जाती है। इतना होने पर भी इन चित्रो को देखकर दुख ही उत्पन्न होता है। इस ससार के मृगतृष्णा जल म अत्यन्त भयकर मकर (अज्ञान) निवास करता है जो मुखहीन होने पर भी उस जलपान के लिए गये हुआ का भक्षण कर लेता है। कोई इस सत्य कहता है, कोई झूठ तथा कोई इसे सत्यासत्य दोनो ही मानता है।[2]

मनुष्य अपने आपको कर्त्ता मानता है। इसी अविद्या-जनित भावना के कारण कर्तृत्व के परिणाम का भोक्ता भी बनता है परन्तु यथार्थ म मनुष्य कर्त्ता नही है। मनुष्य की स्थिति उस श्वान की भाँति है जो कि रथ के नीचे केवल चलते रहने के कारण श्रम का अनुभव करता है और यह समझता है कि रथ का सम्पूर्ण भार वही वहन कर रहा है।[3] तुलसीदास ने भी कर्तृत्व मे जीव को विशेष स्थान नही दिया है। माया के वश मनुष्य ईश्वर की प्रेरणा से भले अथवा बुरे कार्यों का कर्त्ता होता है। वे किसी मनुष्य को ज्ञानी

---

१. साहिब अजब कुदरत तोर।
देखि गति कहि जात नाही थकित मति है मोर।
नाचत सब कोउ काछि काछनी भ्रमत फिरत बिन डोर।
होत औगुन आप तें सब देत साहिब खोर।
कौल करि जग पठै दीन्हो तौन डारयो तोर।
करत कपट सन सेना कहैं मोरी मोर।
ऐसो जग को रीति आहै कहा कहिये टेर।।१० — स० बा० स० भा० २, पृ० १३८

२. केशव कहि न जाय का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए।
सून्य भीति पर चित्र रग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति-दुख पाइय यह तनु हेरे।
रविकर नीर बसत अति दारुण मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं।
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै।।१११ — तु० ग्र०, पृ० ४३६

३. सुन्दर तेरा मति गई समझत नहीं लगार।
कूकर रथ नीचे चलै हू खैचत हौं भार।।३ — स० बा० स० भा० १, पृ० ११०

अथवा मूढ़ नहीं मानते। जिसको जब जैसा परमात्मा करना चाहता है वह उसी क्षण वैसा हो जाता है।[1] पलटू भी अपने को न कर्त्ता मानते हैं, न कर्तृत्व शक्ति ही मानते हैं। उनके अनुसार स्वयं परमात्मा अपनी माया के द्वारा कार्य करता है। कर्तृत्व का आरोप केवल अज्ञानवश ही जीव पर किया जाता है।[2]

तुलसीदास परमात्मा की माया को बुद्धिगम्य नहीं मानते। स्वप्न की अवस्था में मनुष्य जिस प्रकार स्वयं अपने भावजगत् का निर्माण करता है परन्तु वह दृष्ट जगत् की भाँति सत्य नहीं होता तथा निद्रा समाप्त होते ही विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार इस तथाकथित संसार की भी स्थिति है जो कि माया या अविद्या-पर्यन्त विद्यमान रहता है। अविद्या का आवरण मिटते ही उसका अस्तित्व शेष नहीं रह जाता।[3] अतएव माया अलक्ष है जिसका कार्य, जिसका स्वरूप दृष्टिगोचर होना सम्भव नहीं है, फिर उसका वर्णन किस प्रकार से हो सकता है। इसीलिए जगजीवनदास इस प्रकार की अनिर्वचनीय माया से इस लोक के भूले से अपने को न भुलाने के लिए प्रार्थना करते हैं।[4]

अब तक हमने हिन्दी कवियों द्वारा प्रयुक्त माया के विभिन्न अर्थ, स्वरूप, क्षेत्र, परिवार तथा उसकी अनिर्वचनीयता आदि का विवेचन किया। हिन्दी सन्त कवियों पर अपने परवर्ती दर्शनों तथा धारणाओं का प्रभाव तो निश्चित ही था परन्तु माया की धारणा में उन्होंने कुछ और नवीन जोड़ा। उन्होंने माया का दार्शनिक अर्थ में प्रयुक्त धारणा के रूप में ही प्रयोग नहीं किया वरन् उससे एक वैयक्तिक सम्बन्ध भी माना। परमपिता परमात्मा के सम्बन्ध से वे उसे बहिन आदि तक मानते को प्रस्तुत दिखलाई पड़ते हैं। माया को उन्होंने जिस प्रकार सम्बोधित किया है वह उनके अत्यन्त सान्निध्य के अनुभव द्वारा ही सम्भव हो सकता है। माया का धन-दौलत पुत्र-कलत्र के समुच्चय अथवा पृथक्-पृथक् एक के अर्थ में प्रयोग भी मध्यकालीन हिन्दी कवियों की ही देन है। माया का धन के अर्थ में व्यवहार ग्रामीण जनता में सर्वविदित है परन्तु इन कवियों ने साहित्य में भी इस अर्थ का प्रयोग धड़ल्ले से किया। माया उन्हें ग्राह्य भी थी और त्याज्य भी, इसीलिए उन्होंने दो प्रकार की माया एक राम को प्राप्त कराने वाली तथा दूसरी नरक ले जाने वाली मानी है।[5] इस प्रकार हिन्दी संत तथा भक्त कवियों ने माया के रहस्यमय स्वरूप का, जिसका उन्होंने प्रत्यक्ष

---

१. बोले बिहँसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ ॥ — तु० रा०, बा० का० १२४ (क)

२. ना मैं किया न करि सकौं साहिब करता मोर।
करत करावत आपु है पलटू पलटू सोर ॥ — पलटू, स० बा० सं० भा० १, पृ० २१७

३. झूठनहार झुठाने जग, सपने सब व्यवहार।
माया नाथनाथ को को जग जाननहार ? ॥४५ — तु० ग्र०, पृ० १०१

४. माया बहुत अपरबल अगम तुम्हार बनाउ।
जगजीवन विनवा करै बहुरि न फेरि भुलाउ। — जगजीवन, स० बा० सं० भा० १, पृ० ११८

५. माया है दुइ भाँति की देखो ठोंकि बजाय।
एक मिलावै राम को एक नरक ले जाय ॥ — कबीर, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ५८

लिया था, मनुष्य के दैनिक जीवन से सम्बन्धित भिन्न भिन्न उपमाओं तथा रूपकों के द्वारा स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया। माया का कोई एक रूप नहीं है न कोई एक अर्थ। कभी वह कुछ कही गई है, कभी कुछ। कहीं कहीं पर वह दो विरोधाभासों के मध्य में भी दिखाई पड़ती है। परमात्मा से पृथक् परमात्मा को जीव से दूर रखने वाली सृष्टि की सचालिका शक्ति, असीम बलशाली जो कुछ भी दृष्ट है, सब माया ही है। माया के इस रहस्यमय स्वरूप को अवर्णनीय तथा अनिर्वचनीय समझकर सतोष कर लेना ही पर्याप्त है।

चतुर्थ परिच्छेद

प्रवर्त्तक कारण

सामान्य जीवन मे अध्यात्म की ओर उन्मुख कराने वाले कौन से प्रवर्त्तक कारण है ? जीवन की किन कटु स्थितियों से प्रेरित होकर सत्यान्वेषी साधक सासारिक आकर्षणो एव प्रलोभनो से विरत होकर भगवत्-प्रेम मे प्रवृत्त होता है । क्या ससार का मोह-जाल उसे अपने मे लिप्त नही रख पाता अथवा उसकी प्रवृत्ति ही उससे दूर रहने की होती है ? वह अपने नित्य के जीवन मे घटित जरा, रोग और मृत्यु की अनिवार्यता, वीभत्सता तथा दुःख-मयता को देखकर तिलमिला उठता है और इन्ही से प्रेरित होकर आध्यात्मिक पथ का पथिक बन जाता है ।

जन्म लेते ही मनुष्य माया से आवृत हो जाता है जैसा कि तुलसीदास ने कहा है—"भूमि परत भा ढाबर पानी । जिमि जीवहि माया लपटानी ।"[1] यह माया मनुष्य को अपने वशीभूत करके नाना नाच नचाया करती है—('जो माया सब जगहि नचावा ।') यहाँ पर हमे उन कारणो का अन्वेषण करना अभीष्ट है जो माया का नाश करके तथा उससे मनुष्य को निवृत्ति दिलाकर भक्ति-मार्ग मे प्रवृत्त करने वाले है । पौराणिक साहित्य मे अनेक महान् व्यक्तित्व दृष्टिगत होते है जो किसी घटना विशेष से प्रभावित होकर ससार मे विरक्त हो गये और परमार्थ-पथगामी बन गये । बालक ध्रुव को विमाता के कटु-तीक्ष्ण व्यग ने उस मार्ग का पथिक बना दिया जिस पर चलकर वह स्वय तो मुक्त हो ही गया साथ ही उसे विस्तृत आकाश के मध्य वह शाश्वत पद प्राप्त हुआ जो चिरकाल से मानव का पथ प्रदर्शक बना चला आ रहा है । भगवान् बुद्ध ने जरा, रोग और मृत्यु से आक्रात मनुष्यो को देखा । उनके दुःखद अन्त पर सहृदयता से विचार किया फलत राज्य-सुख, ऐश्वर्य तथा सम्पूर्ण विभव को त्याग कर परिव्राजक हो गये । राज्य-पद की महत्त्वाकाक्षा, नाना भोग-विलासो का प्राचुर्य, सौन्दर्य की साकार मूर्ति गोपा का प्रणय-आकर्षण तथा शिशु राहुल की ममता भी उन्हे उस प्रव्रज्या से विरत नही कर सकी । इसी सम्बन्ध मे महात्मा भर्तृहरि का निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है :

> यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
>
> साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्त ।
>
> अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
>
> धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

भौतिक प्रेम की कुठाओ को देखकर, पश्चात्ताप की ज्वाला मे दग्ध होते हुए उन्होंने काम को धिक्कारा, स्वय को धिक्कारा तथा धिक्कारा अपनी प्रिया को और ससार का त्याग कर परमार्थ का मार्ग अपनाया ।

---

1. तु० रा०, कि० का० १३ ३ ।

नित्य ही हमारे सम्मुख जरा, रोग, मृत्यु के भयावह दृश्य उपस्थित होते हैं। जीवन में प्राय किसी न किसी प्रकार से सभी को अपमान, तिरस्कार आदि सहन करना पड़ता है। प्रेम-प्राप्ति में सफल न होने वालों की सख्या भी कम नहीं है। साधारण जन भी भौतिक वस्तुओं की क्षणभगुरता, विषयों की नि सारता तथा लौकिक प्रेम सम्बन्धों की मिथ्यावादिता के विषय में जानता है परन्तु कुछ विरले ही ऐसे होते हैं जो ध्रुव, भगवान् बुद्ध और भर्तृहरि का पदानुसरण करने में समर्थ होते है परमात्मा की एक नित्य शाश्वत, आनन्दमयी सत्ता के प्रति सबका सहज सामान्य विश्वास है परन्तु सहस्रों में एक ही उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए अग्रसर होता है। सब कुछ जानते हुए भी हम सासारिक माया-जाल, भोग-विलास, ऐहिक सुख में आकण्ठ निमग्न रहते हैं और उसी में परमसुख का अनुभव करते हुए भगवत् भक्ति की ओर कभी ध्यान नहीं देते।

यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है। प्रवर्त्तक परिस्थितियों के अतिरिक्त व्यक्ति की योग्यता, क्षमता एव सामर्थ्य का अपना विशिष्ट स्थान होता है। महर्षि पातजलि ने तीव्र सवेगानामासन्न के द्वारा शायद इसी धारणा की पुष्टि की है। सामान्य परिस्थितियों से परिवृत्त, सामान्य वातावरण में सामान्य विश्वासों को वहन करते हुए भी व्यक्ति-विशेष ही अपनी योग्यता के कारण जिज्ञासु साधक और फिर परमज्ञानी भक्त के पद पर आसीन हो जाते है। परन्तु साधारण व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है। सब कुछ समान होते हुए भी भेद होता है केवल पात्र का। प्रस्फुरण (अकुरण) शक्ति सम्पन्न बीज भी बिना उपयुक्त भूमि और जलवायु के उग कर वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। ठीक इसी प्रकार प्रवर्त्तक परिस्थितियाँ उपस्थित होने पर भी यदि पात्र का मानस-पटल उर्वर नहीं होता, उसमें नाना प्रकार के सकल्प विकल्प कल्पनाएँ, भावनाएँ उद्वेलित नहीं होतीं तो वह साधारण जन की कोटि से ऊपर नहीं उठ सकता।

ससार की नश्वरता से सभी परिचित हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह भली-भाँति जानता है कि ससार में कुछ भी स्थायी नहीं है, सबका अत अवश्यम्भावी है। यह जानते हुए भी कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनका जीवन तटस्थ भाव से एक निश्चित परिधि में ही चला करता है। इसके अतिरिक्त एक श्रेणी ऐसे सन्त हृदयों की होती है जो पीडित-लोक की व्यथा से स्वय व्यथित होकर उसकी निवृत्ति के लिए भगवत् प्रेम मार्ग के राही बन जाते हैं। उनके जीवन का उद्देश्य ही होता है "आप तरहिं अरु औरहिं तारैं"। एक तीसरी श्रेणी के लोग वे होते हैं जो जीवन के समस्त ऐश्वर्यों को नश्वर जानकर उनका नित्य नवीन उपयोग करने के प्रयत्न में निरन्तर लगे रहते हैं और इस प्रकार वे विषय भोगों में ही अपनी परमसिद्धि मानते हैं। उनके दृष्टिकोण से तेजी से बीतते हुए जीवन का अधिक से अधिक उपभोग करना जिसमें कि एक क्षण भी विलास-सुख से रहित न रह जाय, जीवन का चरमोत्कर्ष है। चार्वाक तथा आधुनिक भौतिकवादी दर्शनों के मूल में यही भावना कार्य करती हुई प्रतीत होती है। वास्तव में नश्वरता, क्षणभगुरता आदि उपकरण तो निमित्त अथवा सहकारी कारण मात्र हैं। उपादान कारण है वे पात्र जो उनसे प्रभावित होते हैं। पात्रों की चित्तवृत्ति के भुकाव

तथा उनकी ग्राहिका-शक्ति के अनुसार एक ही वस्तु उनके लिए विविध प्रकार के फलों की प्रदायिनी होती है। स्वाति की एक बूंद पृथक् पृथक् पात्रों में पड़कर पृथक्-पृथक् वस्तुओं को उत्पन्न करती है परन्तु इसका कारण वह स्वयं नहीं वरन् उसका कारण है पात्रों की चित्तवृत्ति का झुकाव तथा उनकी ग्राहिका शक्ति।[1]

जागतिक माया-जाल से दूर हटकर परमार्थ का मार्ग पकड़ने वाले व्यक्तियों की कई कोटियाँ हैं। कुछ लोग निर्धनता के कारण गृह-त्याग करते हैं, कुछ आलस्य-वश, कुछ क्रोध से अभिभूत होकर—कुछ विरल ही ऐसे होते हैं जो तथ्यातथ्य का विचार करके संसार-त्यागी परम विरागी बनते हैं।[2] इस प्रकरण में हम इन्हीं 'कोउ एक' के विचारों से सम्बन्धित भगवत् भक्ति का उद्रेक कराने वाले निमित्त कारणों का विवेचन करना है। सब प्रकार से महान् व्यक्तित्व सम्पन्न होने पर भी निमित्त कारण के बिना कार्य सम्भव नहीं होता। राइफल में गोली-बारूद सब मसाला भरा होने पर भी गोली चलने के लिए उसके घोड़े का दबाना आवश्यक है। राइफल की शक्ति को कार्यान्वित करने के लिए जो महत्त्व घोड़े का है, साधक को अध्यात्म-पथ में अग्रसर कराने के लिए वही महत्त्व प्रवर्तक परिस्थितियों का है। घोड़े के दबाने पर जिस मात्रा में तथा जिस प्रकार की बारूद राइफल में होगी उतनी ही तेज तथा दूर की मार वह करेगी। इसी प्रकार प्रवर्तक कारणों से उकसाये जाने पर साधक के हृदय में जितनी प्रबल तथा असीम भावनाएँ होंगी, उतनी ही शक्तिशालिनी उसकी वाणी होगी तथा उतनी ही दूर तक वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होगी।

प्रसिद्ध है कि महाकवि तुलसीदास को अपनी स्त्री से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। भयानक काली रात में स्त्री के प्रेम में आकर्षित तुलसीदास बरसात की उमड़ती नदी को पार करके जिस समय स्त्री के निकट पहुँचे तो उसके मुख से जो शब्द निकले उन्होंने तुलसी के जीवन में नया मोड़ ला दिया। यदि तुलसी को अस्थिचर्ममय देह के प्रति विराग की प्रेरणा न मिली होती और वह भी उनके निकटतम स्वजन से—जीवन-संगिनी से तो सम्भवतः उनकी काव्य-प्रतिभा ने अपने प्रकाशन का कोई अन्य मार्ग ग्रहण किया होता। वे प्रतिभावान् महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न थे परन्तु निमित्त कारण के बिना कार्य की पूर्ति अन्य ही प्रकार से हुई होती। इसी प्रकार बिल्वमंगल के भक्ति मार्ग में प्रवृत्त होने की कथा भी हमारे यहाँ लोक-प्रचलित है। उन्होंने पर-स्त्री पर आसक्त होकर तथा उसके उपदेश से प्रेरणा ग्रहण करके ग्लानि और पश्चात्ताप वश अपने रूपासक्त नेत्रों ही को फोड़कर हरिभजन का मार्ग अपनाया था—ऐसा कहा जाता है।

हिन्दी साहित्य में प्रायः सभी सन्त तथा भक्त कवियों ने आध्यात्मिक जीवन में प्रवृत्त कराने वाली परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। वे प्रवर्तक स्थितियाँ हैं—जरा, रोग और

---

१. कदली, सीप, भुजंग-मुख स्वाति एक गुण तीनि ॥२२   रहीम रत्नावली, पृ० ३
मुक्ताकर, कर्पूर कर, चातक जीवन जोय।
देतो बड़ो रहीम जल, ब्याल बदन विष होय ॥१४७   रहीम रत्नावली, पृ० १५

२. गृह तजै नर चारि एक निर्धन एक आलसी।
कोउ एक मर्रहि खिसि रि कहुबक तजिगे तामसहि ॥

मृत्यु । मानव-शरीर मे, रगीन यौवन के पश्चात् वृद्धावस्था आती है । शरीर के अग-प्रत्यग जर्जर हो जाते हैं, सभी कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ शिथिल पड जाती हैं । जिस समय बालक तरुण होने लगता है उसकी चित्तवृत्तियाँ विलास लालसा की ओर अग्रसर होती है परन्तु यौवन से जरा की ओर जाने पर सुख-भोग के अनन्तर दुख और व्यथा का साम्राज्य ही दृष्टिगत होता है । इस अवस्था मे आकर ही मनुष्य मे जीवन की कटुताओ के प्रति पूर्णतया जागरूक होने की क्षमता उत्पन्न होती है । बचपन तथा युवा काल के व्यस्त जीवन के कारण मनुष्य अनेक कार्य मुख्यतया सुकर्म, वृद्धावस्था मे सम्पादित करने के लिए स्थगित कर दिया करता है परन्तु वृद्धावस्था मे उन सब कार्यों को पूरा करने की शक्ति तथा सामर्थ्य ही उसमे शेष नही रह जाती । यही तथ्य व तत्त्व दूसरो के तथा अपने जीवन मे भी दिखाई पड़ता है ।

कबीर को वृद्धावस्था की दुखद असहाय दशा को देखकर मर्मान्तिक पीडा होती है और इसीलिए वे कहते हैं—बाल्यावस्था बाल्य क्रीडाओ म व्यतीत हो गई तथा युवावस्था भोग विलास मे बीत गई । बुढ़ापे के आने के साथ पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नही लगता । हाथ, पैर तथा सिर शिथिल होकर काँपने लगते हैं, नेत्रो से पानी बहने लगता है *तथा जिह्वा से सीधे शब्द भी नही निकलते । ऐसी दशा म युवावस्था म स्थगित किये हुए* सुकृतो को करने की बात करना भी व्यर्थ ही है । उनके विषय मे सोचना उसी प्रकार निरर्थक होता है जिस प्रकार तालाब के सूख जाने पर उससे सिंचाई करने की तैयारी करना, फसल कट जाने के बाद उसकी रक्षा के लिए बाड बनाया जाना अथवा घोडे के चोरी चले जाने के बाद मोरी की रक्षा के लिए व्यग्र रहना ।[1]

वृद्धावस्था की दुर्गति का वर्णन कबीर ने अनेक स्थलो पर किया है । बाल्यावस्था और युवावस्था खेल-खेल ही मे नष्ट हो जाती है । बुढापा आ जाता है, सिर म कम्प होने लगता है । चलने फिरने की शक्ति नही रह जाती । शरीर मे विविध पीडाएँ स्थान कर लेती हैं । इन्द्रियो के शिथिल हो जाने से आँखो से आँसू तथा नासिका मे द्रव बहने लगता है और मुख भी दुर्गन्धि से युक्त हो जाता है । कफ और पित्त कण्ठ को अवरुद्ध कर लेते हैं । जीवन की ओर ससार की सम्पूर्ण आशाएँ छूट जाती है ।[2] ऐसी स्थिति मे भी मनुष्य *को देखकर ईश्वर मे लौ क्यो नही लगती ।*

---

१. बारह बरस बालापन खोयो बीस बरस कछु तप न कियो ।
तीन बरस के राम न सुमिर्‌यो फिर पछितान्यो बिरध भयो ।
सूके सरवर पालि बँधावै लुणे खेत हठि बाडि करै ।
आयो चोर तुरग मुसि लै गयो मोरी राखत मुगध फिरै ।
सीस चरन कर कँपन लागे नैन नीर अस राल बहै ।
जिभ्या बचन सूध नहिं निकसै तब सुकरित की बात कहै ।२४३ क० ग्र०, पृ० १७०

२. तरुनापन गइ बात बुढापा आनि तुलाने ।
काँपन लागे सीस चलत दोउ चरन पिराने ।
नैन नासिका चूवन लागे मुखतैं आवत बास ।
कफ पित कठे घेरि लियो है छुटि गइ घर की आस ।।५ कबीर, स० बा० स० भा० २, पृ० २१

भक्त सूर ने भी वृद्धावस्था का यथावत् चित्रण किया है। बचपन आमोद-प्रमोद में बीत जाता है तथा युवाकाल विषय-रस में सराबोर रहता है। जब वृद्धावस्था आती है तब पुत्र-कलत्र सभी सम्बन्धी त्याग देते हैं। अधिक से अधिक निकटवर्ती आत्मीय जन भी वृद्ध से घृणा करने लगते हैं। यहाँ नहीं शरीर का साथ छोड़ कर त्वचा भी झुर्रियों में लटकने लगती है। श्रवण-शक्ति नष्ट हो जाती है। पैरों में बल नहीं रह जाता, नेत्रों से लगातार आँसू बहते ही रहते हैं, बाल सफेद हो जाते हैं तथा कफ कण्ठ को अवरुद्ध कर लेता है। ऐसी दीन दशा में दिन-रात उद्विग्नता ही रहती है। ऐसी दु:समय अवस्था में वह भगवान् का स्मरण करता है तथा दु:ख निवारणार्थ उसकी शरण में जाना चाहता है।[1]

दादू ने भी इसी प्रकार के भावों को व्यक्त करते हुए कहा है देखते ही देखते मृत्यु का समय आ गया, केश श्वेत हो गये कानों की सुनने की शक्ति चली गई, नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गई तथा स्मरण-शक्ति का भी ह्रास हो गया। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन बीत जाने पर केवल पश्चात्ताप ही हाथ लगा।[2] काले केशों के क्रमानुसार धूमिल तथा धूमिल से श्वेत हो जाने के विषय में नानक का कथन है—

कलियाँ थी धउले भये, धउलियाँ भये सुपेद।
नानक मता मनो दिया, उज्जरि गइया खेडु॥[3]

कवियों ने मानव-शरीर की उपमा फल से दी है। अन्य फलों की अपेक्षा इस फल में विशेषता है। साधारणतया कच्चे फल खट्टे होते हैं तथा पकने पर मधुर और स्वादिष्ट हो जाते हैं परन्तु मानव शरीररूपी फल में विशेषता है कि वह कच्चे में तो मनोहर लगता है, अधपके होने पर अत्यन्त मधुर होता है परन्तु पकने पर यह कटु हो जाता है।[4] यही इसकी सबसे बड़ी विषमता है। बालक की विनोदपूर्ण, चपल क्रीडाएँ अत्यन्त लुभावनी होती हैं, युवावस्था का विषयासक्त व्यक्ति अपने लिए तथा दूसरों के लिए अत्यन्त मधुरता (रस) का विषय होता है परन्तु वृद्धावस्था में वही मनुष्य सब के लिए तथा अपने लिए भी कटु सिद्ध होता है। यही मानव-जीवन की विषमता है।

---

१. बालापन खेलत ही खोयो जुवा विषय रस माते।
वृद्ध भये सुधि प्रगटी, मो को, दुखित पुकारत ताते।
सुतनि तज्यो तिय भ्रात तज्यो सब, तन ते त्वचा भई न्यारी।
श्रवन न सुनत चरन गति थाकी, नैन बहे जलधारी।
पलित केस कफ कण्ठ भर रुंध्यो कल न परै दिन राती ।४ सूरदास, मं० बा० स० भा० २, पृ० ६८

२. देखत ही दिन आइ गये। पलटि केस सब सेत भये।
आइ जुरा मीच अरु मरणा। आया काल अबै क्या करणा।
श्रवणों सुरति गई नैन न सूझै। सुधि बुधि नाठी कहया न बूझै।
मुख ते शबद विकल भइ बाणी। जनम गया सब रैनि बिहाणी।
प्राण पुरिस पछितावण लागा। दादू औसर काहे न जागा।२२१ दादू, भा० २, पृ० ६४

३. सं० बा० भा० १, पृ० ६८।२०१

४. कच्चे में नींबा लगै गदरे बहुत मिठाय।
एक फल ऐसा है भुगा पाकि गये कडुवाय॥

वृद्धावस्था की हीन दशा को भौतिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से देखकर मनुष्य भगवत् भजन में प्रवृत्त होता है। शारीरिक स्वास्थ्य और सौन्दर्य का नष्ट होकर कुरूपता का आ जाना, झुर्रियाँ, श्वेत केश, शिथिल अंग होना, नाक लार, आँसू आदि बहना, मुख से दुर्गन्ध आना तथा छोटे से छोटे कार्य के लिए भी अशक्त हो जाना आदि भौतिक पक्ष है। स्वजनों आदि के द्वारा उपेक्षित होना तथा सब का घृणापात्र बनकर भारस्वरूप जीवन व्यतीत करना सामाजिक पक्ष है। इन्हीं दोनों पक्षों से प्रेरित होकर मनुष्य अपने दुःखमय जीवन से विराम लेकर आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने के लिए उत्सुक होता है।

वृद्धावस्था का वार्धक्य तथा विविध रोगों का आविर्भाव शीघ्र ही मनुष्य को मृत्यु का आमंत्रण देते हैं। जरा की दयनीय दशा की अपेक्षा मरण का हृदय-विदारक दृश्य अधिक वैराग्योत्पादक होता है। ऐसी ही भावना का नाम श्मशान वैराग्य कहा गया है। यह शरीर क्षणभंगुर है उस पर भी अनेक प्रकार के मलों का भण्डार भी है। जिस शरीर के अन्दर यह जीव निवास करता है उसमें नवद्वार मलमूत्र आदि के स्थान हैं। इस शरीर की दो ही गतियाँ है—प्रथम तो अग्नि में भस्म होना तथा यदि दाह क्रिया न हुई तो जीव जन्तुओं का भक्ष्य होना। इस प्रकार के निकृष्ट तथा बालू के घर की भाँति क्षणिक और नश्वर शरीर को भी देखकर यदि प्राणी सावधान न हो तो उस मन्द बुद्धि के लिए क्या कहा जाय।[1] शरीर की इस नश्वरता को देखकर अन्यत्र भी कबीर ने कहा है—इस शरीर का शृंगार करने से कोई लाभ नहीं। यह तो जलकर खाक ही हो जायेगा। जिस शरीर को अधिक आकर्षक बनाने के लिए मनुष्य चन्दन आदि सुगंधित पदार्थों का लेप करता है वही चिता में काष्ठ के साथ जला दिया जाता है। इस शरीर के सौन्दर्य तथा स्वास्थ्यवर्धन के लिए चाहे जितना प्रयत्न किया जाय परन्तु वह निष्फल ही होगा। अन्तत इसे भस्म होना पड़ेगा या जीवों का आहार बनेगा। जिस मस्तक में शोभा की वृद्धि के लिए मनुष्य पगड़ी बाँधता है उसी मस्तक से कौवे मांस नोच-नोच कर खाते हैं। इस मिथ्या शरीर के मोह को त्यागकर हरिभक्ति ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।[2] इसी प्रकार मलूकदास भी मनुष्य के मिथ्या अहं की ओर इंगित करते हैं—जिस मस्तक पर मनुष्य बड़े यत्न से पगड़ी बाँधकर अपने को अधिक सुन्दर तथा आकर्षक समझता हुआ बड़े गर्व का अनुभव करता है शरीर के नष्ट

---

१ नऊँ दुवार नरक धरि मूँदे तू दुरगंधि को बेढ़ौरे।
जे जारे तौ होइ भसम तन रहित किरम जल खाइ।
फूटे नैन हिरदै नहीं सूझै मति एकै नहीं जाना।
माया मोह ममता सूँ बाँध्यो बूडि मुवो बिन पाना।
बारू के घरवा मैं बैठो चेतत नहीं अयाना।
कहै कबीर एक राम भजन बिन बूड़े बहुत सयाना।। ३११ क० ग्र० पृ० १६३

२ कारनि कौन सँवारे देहा यहु तन जरिबरि ह्वै है खेहा।
चोवा चन्दन चरचत अंगा सो तन जरत काठ के संगा।
बहुत जतन करि देह मुट्याई अगनि दहै कै जम्बुक खाई।
जा सिरि रचि रचि बाँधत पागा ता सिरि चंच सवारत कागा।
कहि कबीर तन झूठा भाई केवल राम रह्यो ल्यौ लाई। २६४ क० ग्र० पृ० १८८

हो जाने पर काग उसी को अपना भोजन बनाने की तैयारी मे चोंच पैनी करते हैं।[1]

प्रभुदास ने मानव शरीर की इसी क्षणभंगुरता पर बल दिया है। इस शरीर को सुन्दर बनाने के लिए मनुष्य नाना प्रकार के साधन जुटाता है परन्तु अंत मे सब व्यर्थ सिद्ध होते हैं। पगड़ी मे फूल लगाकर उद्यानों मे घूमना व्यर्थ है। आज जो यह मनुष्य विविध हास विलास मे पूर्ण आमोद-प्रमोद म व्यस्त है, वह सब शीघ्र ही समाप्त हो जाने वाला है। उस विषम स्थिति मे अपनी चौकड़ी भरना,[2] भूलकर काल के कराल गाल मे अनायास हो चला जायगा। दीपक की ज्योतिशिखा तभी तक प्रकाशित रहती है, जब तक उसमे तेल और बत्ती रहती हैं। जहाँ ये दोनो वस्तुएँ समाप्त हुईं वह प्रकाश सदैव के लिए बुझ जाता है। शरीर से जीव के निकलते ही शीघ्रातिशीघ्र श्मशान ले चलने की तैयारी होने लगती है।[3]

सुन्दरदास के मतानुसार मानव-शरीर वास्तव मे मलों तथा अस्वच्छताओं का स्थान ही है। इसका बाह्य सौन्दर्य, ऊपरी तड़क भड़क आकर्षण का विषय बने रहते हैं। मास मज्जा से बने शरीर की नस-नस मे रक्त भरा हुआ है। हाथ, पैर, मुख आदि अग जो कि अपने सौन्दर्य के कारण आकर्षण का विषय होते है, वास्तव म अस्थियों की खोखली नलिकाएँ मात्र हैं। पेट भी मल-मूत्र आदि का संग्रह-स्थान ही कहा जा सकता है।[4] इसी भाव का वर्णन हमे दादू मे भी मिलता है। प्राणी जिस शरीर का रच-रच कर शृगार करता था, काल-कवलित हो जाने पर वही मिट्टी मे पड़ा हुआ है। उसे अपने सुन्दर शरीर मे मिट्टी

---

१ सब भुलाने देह के, रचि रचि बाँधे पाग।
सो देहा नित देखि के, चोंच सँवारे काग ॥ ४. मलूकदास, स० बा० स० भा० १, पृ० १००

२. चौकड़ी भूलना —हिरन साधारणतया कुछ दूर भूमि पर सरपट दौड़ता है तथा कुछ दूर बाद चौकड़ी भरता हुआ उछलता हुआ दीखता है परन्तु शिकारियों आदि के द्वारा पीछा किये जाने पर बुद्धि खो देता है तथा चौकड़ी द्वारा आगे बढ़ने के बजाय उसी स्थान पर ऊपर उछलता है तथा नीचे गिर पड़ता है और शिकारियों द्वारा मारा जाता है। इसी को चौकड़ी भूलना कहते हैं।

३ कहा तन माजता रे इक दिन मिट्टी में मिल जाना।
छैला बनकर फिरे बाग में धर पगड़ी में फूल।
लगा थपेड़ा काल का गया चौकड़ी भूल।
जब लग तेल दिया में बाती जग मग जग मग होय
चुक गया तेल बिनस गइ बाती ले चल ले चल होय ॥ प्रभुदास

४. जा सरीर माहि तू अनेक सुख मानि रह्यो,
तांहि तू विचार या में कौन बात भली है।
मेद मज्जा मास रग रग में रक्त भर्‌यो,
पेट हू पिटारी सी में ठौर ठौर मलो है।
हाड़न सूँ भर्‌यो मुख हाड़न के नैन नाक, ·
हाथ पाँव सोऊ सब हाड़न की नली है।
सुंदर कहत याहि देखि जनि भूलै कोइ,
भीतर भंगार भरी ऊपर तो कली है।
सुन्दरदास, स० बा० स० भा० २, पृ० १२४

लग जाने की तनिक चिन्ता नही है। शरीर का मास नोचता हुआ काग निकट ही मे घूम रहा है परन्तु उसे भगाने वाले का भय नही रह गया है। जो शरीर अत्यन्त गर्व और हर्ष का विषय था, उसी ने साथ छोड दिया और जीव के साथ न रह सका। ऐसे नश्वर शरीर की क्या प्रशसा की जाय जो क्षण मे ही छिन्न-भिन्न हो जाने वाला है।[1]

कुसुम-कलिकाओ का जीवन जितना क्षणिक है प्राय उतना ही क्षणिक मानव जीवन भी है। कोई नही जानता कि डाल पर शोभित होने वाली कोमल कलियो का क्या भविष्य है। वे मलयाचल की शीतल, मन्द सुगधित वायु का स्पर्श प्राप्त कर सकेंगी अथवा नही। इसी प्रकार मानव जीवन का समय-असमय मे किस क्षण अन्त हो जायगा किसी को भी ज्ञात नही। जीवन वहन करने वाले श्वास-प्रश्वास किस समय उसका साथ छोड दें, कोई नही कह सकता। कराल काल मृत्यु का कठोर कुठार लिये हर समय, हर स्थान पर उपस्थित रहता है। कोमल मानव-शरीर किसी समय, किसी स्थिति म भी उसके वज्र प्रहार से चकनाचूर हो सकता है। पता नही अतिम समय मे उसकी जिह्वा से हरिनाम निकल सके या नही। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, युवावस्था मे स्थगित किए हुए सुकृत शारीरिक शिथिलता आदि के कारण वृद्धावस्था मे ही सम्पन्न होते हुए नही देखे जाते फिर अन्तिम समय मे तो उनके पूर्ण होने के विषय मे सोचना ही व्यर्थ है।[2]

वास्तव मे मानव का नश्वर शरीर ममता, मोह, अभिमान का विषय नही है। यदि यह ममता का पात्र होता तो जीवान्त हो जाने के बाद भी इससे लगाव बना रहता परन्तु मृत्यु के बाद पल भर भी तो शव को घर मे नही रहने दिया जाता। यही शरीर जिसका पोषण दूध दही, शक्कर, घी आदि पौष्टिक पदार्थों से होता है तथा जिसका शृगार चन्दन आदि सुगधित वस्तुओ से किया जाता है, प्राण निकल जाने के बाद काठ के साथ भस्म कर दिया जाता है। कबीर जैसे सत भी यह अनुभव करते है कि एक दिन उनकी भी यही दशा होगी और इसीलिए वे जगत् और जीवन के प्रति सावधान हो जाते है।[3] वस्तुत

---

१ कागा रे करंक परि बोलै, खाइ मास अरु लगही डोलै।
जा तन कौ रचि अधिक सँवारा, सो तन ले माटी में डारा।
जा तन देखि अधिक नर फूले, सो तन छाडि चल्या रे भूले।
जा तन देखि मन मैं गरबाना, मिल गया माटी तजि अभिमाना।
दादू तन की कहा बडाई, निमिष माहि माटी मिलि जाइ॥ दादू, स० बा० स०भा० २, पृ० ९३

२ क्षण भगुर जीवन की कलियाँ कल प्रात को जाने खिली न खिली।
मलयाचल की शुचि शीतल मन्द सुगन्ध समीर मिली न मिली।
कलि काल कुठार लिये फिरता तनु नम्र है चोट झिली न झिली।
कहि ले हरि नाम अरी रसना फिर अत समै पै हिली न हिली॥ तुलसी

३. झूठे तन कौ कहा गरबये मरिये तौ पल भरि रहण न पइये।
षीर खाड घृत प्यड सँवारा, प्रान गयें ले बाहरि जारा।
चोवा चन्दन चरचत अगा, सो तन जरै काठ के सगा।
दास कबीर यहु कीन्ह बिचारा, इक दिन ह्वै है हाल हमारा॥ ६३ क० ग्र० पृ० ११७

मनुष्य व्यर्थ ही शरीर को अमर समझता है। वह कुछ कार्य करता है तथा बहुत-सा करने की योजना बनाता है—यह न सोचता हुआ कि मरण भी ध्रुव निश्चित है। जलबिन्दु की भाँति इस संसार की स्थिति है जिसकी उत्पत्ति तथा नाश होने में विलम्ब नहीं लगता। यह पंच-तत्त्व का समूह ही शरीर है।[1]

कागज के पुतले के सदृश क्षणभंगुर मानव का अंत सहज ही में हो जाता है। फिर भी वह गर्व के वशीभूत होकर हवा में ही विचरण किया करता है।[2]

कबीर ने इस शरीर को पानी का बुदबुदा कहा है जिसके विनाश में क्षण मात्र का भी समय नहीं लगता।[3] प्रात कालीन नक्षत्रों की भाँति यह शरीर देखते ही देखते अदृश्य हो जायगा।[4] संसार की गति यही है कि जो उगता है वह अस्त होता है, जो फूलता वह कुम्हलाता भी है, जिसका निर्माण होता है एक दिन उसका नाश भी होता है तथा आने वाला निश्चय ही जाता है।[5] यही भाव तुलसी की निम्न पंक्ति में भी द्रष्टव्य है

धरा को प्रमाण यही तुलसी जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना।

मनुष्य का शरीर तो कच्चे कुंभ की भाँति है ही, उसमें स्थित मन भी अत्यन्त चंचल एवं अस्थिर है। फिर भी प्राणी सदैव स्थिर कामों के करने में संलग्न रहता है जैसे उसे कभी संसार छोड़ना ही नहीं है। इस प्रकार निर्भय होकर काम करने वाले नश्वर प्राणियों को देख कर काल उनकी मूर्खता पर अट्टहास करता है।[6]

इस शरीररूपी कच्चे घड़े में प्राणी बड़ी ही निश्चिन्तता से निवास करता है परन्तु यह शरीर किंचित् आघात भी सहन करने में समर्थ नहीं है।[7] मृत्यु को कोई रोक नहीं सकता, वह अवश्यम्भावी है। यह शरीर मिट्टी में मिल जायगा, जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही

---

१. नर जानै अमर मेरी काया, घर घर बात दुपहरी छाया।
   कछू एक किया कछू एक करणा, मुगध न चेतै निहचै मरणा।
   ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा, उपजत बिनसत लगै न बारा।
   पंच पखुरिया एक सरीरा ·· ··· १०४ — क० ग्र० पृ० १२१

२. कागद को सो पूतरा सहजहि में घुलि जाय।
   रहिमन यह अचरज लखो सोऊ खैंचत बाय॥३५ — रहीम, पृ० ४

३ यहु तन जल का बुदबुदा बिनसत नाहीं बार॥१२ — क० ग्र०, पृ० ७१

४. पाणी केरा बुदबुदा इसी हमारी जाति।
   एक दिनां छिप जाहिगे तारे ज्यूं परभाति॥१४ — क० ग्र०, पृ० ७१

५. जो ऊग्या सो आंथवै फूल्या सो कुम्हिलाइ।
   जो चिणियां सो ढहि पड़ै जो आया सो जाइ॥११ — क० ग्र०, पृ० ७१

६ काचा काया मन अथिर थिर थिर काम करंत।
   ज्यूं ज्यूं नर निधड़क फिरै त्यूं त्यूं काल हसंत॥३० — क० ग्र०, पृ० ७६

७ यहु तन काचा कुंभ है लियां फिरै था साथि।
   ढबका लागा फूटि गया कछू न आया हाथि॥३८ — क० ग्र०, पृ० २१

नाश को प्राप्त होगा।[1] सन्त धरमदास मानव-जीवन के अस्तित्व पर एक प्रश्नवाचक चिह्न लगाते हुए कहते है—मनुष्य को कितने दिन जीवित रहना है जिसके लिए वह मिथ्या गर्व मे मतवाला हो जाता है। कच्चे पान के पिंजड़े मे रहने वाले पक्षी का कोई ठिकाना नही कि किस समय वह उसे तोडकर उड जाय। उसी प्रकार यह नही कहा जा सकता कि जीव किस समय शरीर छोडकर चला जायेगा। कच्ची मृत्तिका से निर्मित घट, जल मे डाला गया बताशा, कागज की नाव आदि वस्तुएँ जिस प्रकार अति शीघ्र नष्ट होने वाली तथा बिना किसी प्रयोजन-सिद्धि के क्षणिक अस्तित्व वाली हैं उसी प्रकार मानव-शरीर भी अति शीघ्र नष्ट होने वाला तथा क्षणिक है।[2]

मनुष्य का शरीर केवल साधन है। यह सिंचाई के उस निर्जीव यन्त्र की भाँति है जो सींचने वाले की इच्छानुसार कार्य करता है। सींचने वाले के अभाव मे यह मशीन व्यर्थ ही हो जाती है। इसी प्रकार प्राण के अभाव मे यह शरीर निष्फल हो जाता है।[3] वास्तव मे शरीर तो केवल वाद्य-यन्त्र की भाँति है जिसके तार टूट जाने पर कोई राग नही निकलता परन्तु इसमे बेचारा यन्त्र क्या करे? उसको तो वाद्यकार की अपेक्षा होती है। यदि बजाने वाला जीव ही चला गया तो उससे स्वरलहरी कैसे झङ्कृत हो सकती है।[4] यहाँ भी शरीर साधन ही है।

विश्व मे मरण की स्थिति किसी एक के सम्मुख नही है। वह सबके लिए समान रूप से प्रस्तुत रहती है। जो आज है सम्भवत वह कल न हो। इसीलिए नवीन कोंपला के प्रति अन्योक्ति करते हुए कबीर ने कहा है—डाल मे झडते हुए पुराने पील पत्ते नवीन कोंपला से कह रहे है कि 'हम तो जा ही रहे है परन्तु तुम्हे भी इसी प्रकार समयानुसार जाना होगा। व्यर्थ मे बावली न हो यही सब की अंतिम गति है।[5] मनुष्य जन्म कही पर ग्रहण करता है, बाल्यावस्था किसी स्थान पर व्यतीत होती है तथा जीवन का अन्त कही अन्यत्र होता है।

---

१ दादू जियरा जायगा यहु तन माटी होइ।
जे उपज्या सो बिनसि है अमर नहीं कलि कोइ ॥२२ — दादू भा० १, पृ० २१७

२. कहौ केते दिन जियवो हो का करत गुमान।
कच्चे बासन का पिंजरा हो जा में पवन समान।
पंछी का कौन भरोसा हो छिन में उड़ि जान।
कच्ची माटी कै घड़ुवा हो रस बूँदन सान।
पानी बीच बतासा हो छिन में गलि जान।
कागद की नैया बनी डोरा साहिब हाथ ॥ — धरमदास, स० बा० सं० भा० २, पृ० ३८

३. सूरज लागा केवल लूँ अरहट-माल।
पाणी की कल जोवता गया ज सींचणहार ॥३५ — क० ग्र०, पृ० ७४

४. कबीर जत्र न बाजई टूटि गये सब तार।
जन्त्र बिचारा क्या करै चले बजावणहार ॥२० — क० ग्र०, पृ० ७४

५. पाती झड़ती देखि के हँसती कोंपलिया।
हम चली तुम भी चलिये धीरी बावलिया ॥

किसी को ज्ञान नहीं कि उसका अस्थिपंजर कहाँ, किस खड्ड में स्थान पावेगा। मनुष्य केवल इतना ही जानता है कि अस्थियाँ काष्ठ की भाँति तथा केश व रोम-समूह घास की भाँति क्षण भर में जलकर राख हो जायेंगे। समस्त संसार की यही गति है और भविष्य में भी ऐसी ही रहेगी—यह विचार कर कबीर जैसे संतों की आत्मा चीत्कार कर उठती है।[1] इसीलिए सुन्दरदास ने मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहा है—इस शरीर को दुर्ग की भाँति अभेद्य मानकर इसमें प्राणी सम्राट की भाँति गर्व और ऐश्वर्य से निवास करता है परन्तु उसको यह ज्ञात होना चाहिए कि काल शत्रु हर समय उसके सिर पर मँडरा रहा है।[2] अस्तु इस प्रकार के जीवन पर गर्व ही क्या करना और शरीर से प्रीति ही किस काम की। यह सब बालू की भित्ति की भाँति एक क्षण में ढह जाने वाला है।[3] यथार्थ में कहने सुनने, लेने-देने तथा समस्त क्रिया कलापों का करने वाला प्राण—जीव—है। उसी प्राण के शरीर से निकल जाने के बाद शरीर को मनुष्य न कह कर मिट्टी कहते हैं और उसका स्थान, गृह, उपवन आदि न रहकर श्मशान ही रह जाता है।[4]

यह संसार बकरी की भाँति है जिसे कालरूपी कसाई खंड-खंड करके जिन पंचतत्त्वों से यह निर्मित होता है उन्हीं पाँच तत्त्वों में इसे समाहित कर देता है।[5] इसीलिए जो मानव-शरीर घर का प्रकाश करने वाला दीपक कहलाता है जीवविहीन हो जाने के पश्चात् घर की अपवित्रता समझकर उसे ही शीघ्रातिशीघ्र बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाता है।[6]

मनुष्य को सबसे अधिक प्रिय होता है स्वशरीर। इसके अतिरिक्त उसको सबसे अधिक प्रिय, आकर्षक तथा अपने में आसक्त करने वाले होते हैं—आत्मीयजन, इष्ट मित्र आदि। मृत्यु के पश्चात् जिस प्रकार जीव और शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है उसी प्रकार सभी प्रिय सम्बन्धियों का नाता भी टूट जाता है। मनुष्य के जीवन काल में माँ उसे अपना पुत्र कहती है बहन भाई कहती है, भाई उसे अपनी सहायक बाहु कहकर अभिन्न अंग

---

१ देह जागे देह अपने सदा लगाये लाइ।
कहा बिगाने राज मो कौन राड़ में दाइ।
हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी केस जरै ज्यों घास।
सब जग जलता देखि कै कबिरा भया उदास॥

२ काल ग्रसत है बावरे चेतत क्यों न अजान।
सुन्दर काया कोट में होइ रह्यो सुल्तान॥१ — सुन्दरदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ११०

३ इस जाने का गर्व क्या कहा देह की प्रीति।
बात कहत दह जात है बारू की सी भीति — मलूकदास, सं० बा० सं० भा०, १, पृ० १०१

४ कहतो सुनतो देखतो लेतो देतो प्राण।
दादू सो कतहूँ गया माटी धरी मसाण॥४ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८०

५ सब जग छेली काल कसाई कद लिये कंठ काटै।
पंच तत्त की पंच भूतनी खण्ड खण्ड करि बाँटै॥ — दादू भा० १, पृ० २११

६ मंदिर माहिं झबूकती दीवा कैसी जोति।
हंस बटाऊ चलि गया काढ़ौ घर की छोति॥१० — क० ग्रं०, पृ० ७२

मानता है और स्त्री चिर-सहचरी होने का दावा करती है। जीवन का अन्त हो जाने पर सभी उसके लिए शोक प्रकट करते हुए रोते-चिल्लाते हैं परन्तु उसके साथ जाने वाला कोई दिखाई नहीं पड़ता। वह सम्बन्धी जो अत्यन्त प्रिय समझे जाते थे उसे चिता में रखकर होली की भाँति जला देते हैं। सुन्दर शरीर देखते ही देखते राख की ढेरी में परिणत हो जाता है। फिर कोई निकट आने वाला नहीं रह जाता।[1] ये सगे-सम्बन्धी भी कुछ ही काल तक रोते-धोते तथा विलाप करते हैं। जीवित रहने पर घर के अन्दर तक ही सब नाते-रिश्ते हैं—अधिक से अधिक श्मशान तक लोग अनुगमन करते हैं। इसके पश्चात् जीव अकेले ही प्रयाण करता है। सभी लोग यहीं छूट जाते हैं और फिर उनसे मिलने की कोई आशा भी नहीं रह जाती।[2] अन्य सन्तों की भाँति सूरदास भी इस उक्ति से सहमत हैं कि जीवितावस्था में जो बन्धु-बान्धव अत्यन्त प्रिय होते हैं मृत्यु के पश्चात् वही उस शरीर को घृणित समझते हैं तथा शीघ्र ही उसे घर से बाहर करने का उपक्रम करते हैं कि कहीं वह प्रेतात्मा भूत होकर घर के लोगों को कष्टित न करने लगे। बड़ी साधनाओं तथा अर्चनाओं के पश्चात् जिस पुत्र की प्राप्ति होती है उससे और कुछ न होकर केवल कपाल-क्रिया ही बन पड़ती है।[3] इस प्रकार के सम्बन्धियों का प्रेम वास्तविक कैसे कहा जा सकता है। नानक ने भी सभी सम्बन्धियों का अस्तित्व जीवन रहते ही माना है। शरीर से प्राण निकलते ही सब लोग उसे प्रेत कहकर पुकारने लगते हैं तथा उसे आधी घड़ी भी घर में नहीं रखने और अन्त्येष्टि के लिए रवाना कर देते हैं।[4] इस कथन को अधिक स्पष्ट करते हुए सुन्दरदास ने

---

१. मन फूला फूला फिरै जगत में कैसा नाता रे।
माता कहै यह पुत्र हमारा बहन कहै बिर मेरा।
भाई कहै यह भुजा हमारी नारि कहै नर मेरा।
पेट पकरि के माता रोवै बाँह पकरि के भाई।
लपटि झपटि के तिरिया रोवै हंस अकेला जाई।
चार गजी चरगजी मगाया चढ़ा काठ की घोड़ी।
चारों कोने आग लगाया फूँक दियो जस होरी।
हाड़ जरै जस लाह कड़ी को केस जरै जस घासा।
सोना ऐसा काया जरि गई कोई न आयो पासा।। स० बा० सं० भा० २, पृ० ४

२. प्राणी लाल औसर चल्यौ रे बजाइ।
देहरी लगि तेरी मेहरी सगी रे फलसा लगि सगी माइ।
मरहट लूं सब लोग कुटुम्बो हंस अकेलो जाइ।
कहाँ वे लोग कहा पुर पाटण बहुरि न मिलिबौ आइ।३१५ क० ग्रं०, पृ० १६४

३. जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
जिन लोगन सौं नेह करत है तेई देखि घिनैहै।
घर के कहत सबारे काढ़ो भूत होइ धरि खैहै।
जिन पुत्रनहि बहुत प्रतिपाल्यो देवी देव मनैहै।
तेई ले खोपरा बाँस दै सीस फोरि बिखरैहैं।

४. सब कछु जीवत को ब्योहार।
मात-पिता भाई सुत बान्धव अरु पुनि गृह की नार।

कहा है—माता-पिता, पत्नी, सुत, बान्धव सभी को मनुष्य अत्यन्त प्रिय होता है तथा वे कभी भी अपने से उस विलग नहीं करना चाहते परन्तु यह सभी सम्बन्ध तभी तक हैं जब तक मनुष्य जीवित है, बोलता है अथवा बोलने की आशा है। (रोग आदि से ग्रस्त होने के पश्चात्) शरीर में श्वास-प्रश्वास के बन्द होते ही वे सब सम्बन्धी चेतना-शून्य मृत शरीर को शीघ्र ही घर से निकालने के लिए उद्यम करते दिखाई पड़ते हैं।[1]

धरनीदास ने सारे संसार को भली भाँति खोज कर देखा परन्तु उन्होंने किसी को भी अपना न पाया और न अपने को किसी का पाया।[2]

सहजोबाई का भी यह मत है कि जीवित रहते ही प्राणी के सब लोग सगे हैं, मृत्यु के बाद कोई निकट भी नहीं आता। वे रोते भी हैं तो अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर ही क्योंकि जिनके लिए सब रोते हैं यदि मृत्यु के पश्चात् वे स्वप्न में भी दृष्टिगोचर होते हैं तो हर्ष तथा आनन्द के स्थान पर वे भयभीत हो उठते हैं।[3] शरीर के निर्जीव हो जाने पर माता-पिता आदि सब निकटतम सम्बन्धियों के सम्मुख ही मृत शरीर को अग्नि की विकराल ज्वालाओं के बीच महाशयन करा दिया जाता है। वे सब लोग स्वयं उस अन्त्येष्टि-क्रिया में सम्मिलित होते हैं जिसके लिए वे शोकाकुल दिखाई पड़ते हैं।[4] इसीलिए तो दरिया साहब ने कहा है कि मनुष्य के प्राण पखेरू-उड़ जाने के बाद सब सम्बन्धियों को रोते-कलपते तो देखा जाता है परन्तु एकाकी जाने वाले उस जीव का साथ देते कोई नहीं दिखाई पड़ता।[5]

रैदास का कथन है कि इस संसार में कोई भी सम्बन्ध यथार्थ सत्य नहीं है। शरीर के निर्जीव होते ही वे निर्मम स्वजन-परिजन आत्मीयता छोड़कर उसे भस्मसात् कर देते हैं।[6] यह समस्त पारिवारिक तथा सांसारिक सम्बन्ध नदी-नाव-संयोग के सदृश है। दैव-

---

तन तें प्रान होत जब न्यारे टेरत प्रेम पुकार।
आध घड़ी कोऊ नहिं राखत घर तें देत निकार। 　　नानक, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ४६

१ मातु-पिता युवती सुत बन्धव लागत है सबको अति प्यारो।
लोक कुटुम्ब सबै दिन राखत होत नहीं हमतें कछु न्यारो।
देह सनेह तहां लग जानहु बोलत है मुख शब्द उचारो।
सुन्दर चेतन शक्ति गई जब तो कहै घर बार निकारो। 　　सुन्दरदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १२४

२ धरनी चहुँ दिसि चरचिया फिरि-फिरि करत पुकार।
नाहीं हम हैं काहु के नाहीं कोउ हमार ॥४ 　　धरनीदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ११३

३ रहजो जीवत सब सगे मुए निकट नहिं जायँ।
रोवें स्वारथ आपने सुपने देखि डरायँ ॥७ 　　सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १५७

४. मात पिता सुत बान्धवा रोवें कुल के लोग।
जै नर दन्ता फूँकिये करते हैं सब सोग ॥२३ 　　गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १९०

५ मातु-पिता सुत बान्धव सब मिलि करें पुकार।
आखिर दम चलि जात है कोउ नहिं संग तुम्हार ॥३ 　　दरियासाहब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १२२

६. दारा कहा रहत है तेरो साथ नहिं नारि।
लोग कुटुम सब दूरि करिहैं दहिहैं तन जारि।
मन मरे कहो कौन लेत दस खोव विचार। 　　रैदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३२

वशात् सब राही एकत्र होते है तथा अपने अपने गन्तव्य के आ जाने पर अपनी-अपनी राह लेकर अलग हो जाते है।[1] इस सम्बन्ध मे तुलसीदास ने एक नवीन उपमा प्रस्तुत की है। जिस प्रकार तिजारी आदि ज्वरो को दूर करने के लिए अन्धविश्वासी लोग निराहे अथवा चौराहे पर टोना करते हैं और चलते समय भूलकर भी उसकी ओर दृष्टि नही डालते, इसी प्रकार शव की श्मशान मे अन्तिम क्रिया करने के पश्चात् घर की ओर लौटते हुए आत्मीय-जन फिर श्मशान की ओर देखते तक नही है।[2] सहजोबाई स्त्री स्वभाव की होने के कारण जीवन के अन्तिम प्रकरण का अधिक यथातथ्य चित्रण करती है। मृत्युशय्या पर पडे हुए व्यक्ति से घनिष्ठ जन उसके गडे हुए धन को पूछने का प्रयत्न करते है। मरने वाले की उन्हे चिन्ता नही परन्तु चिन्ता है इस बात की कि उसका गुप्त धन कही उनको प्राप्त होने से न रह जाय।[3] उनका सारा सम्बन्ध धन से है प्राणी से नही।

पिछले पृष्ठों मे हम देख चुके है कि मनुष्य का सबसे अधिक लगाव होता है अपने शरीर से, इसके बाद उसे माता-पिता, पुत्र-पत्नी, बन्धु बान्धव, इष्ट-मित्र आदि सबसे अधिक प्रिय होते है। इन दोनों के पश्चात् मानव-जीवन मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आकर्षक होता है धन ऐश्वर्य आदि। मनुष्य ऊँचे-ऊँचे प्रासाद खडे करता है। भाँति-भाँति के भोग-विलास के प्रसाधन जुटाता है, नाना प्रकार के यान उसकी सेवा मे उपस्थित रहते है फिर भी कभी भी न तृप्त होने वाली उसकी धनैषणा[4] निरन्तर बढती ही रहती है परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो सम्पूर्ण लौकिक विभूतियाँ निरर्थक ही सिद्ध होती है। प्राणान्त हो जाने पर जिस प्रकार समस्त स्वजन, परिजन इस आत्मा का साथ छोड देते है, वह अकेले ही महा प्रस्थान करता है, उसी प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण सचित द्रव्य तथा ऊँचे-ऊँचे भवन यही पडे रह जाते हैं। कुछ भी साथ नहीं जाता। इसका उपभोग बन्धु, पुत्र आदि वही आत्मीय जन करते है जो कि महायात्रा में प्राणी का तनिक भी साथ नही देते।[5] मनुष्य के जीवन मे रथ, घोडे, पालकी, हाथी आदि अनेक सुखदायक सवारियाँ उपलब्ध हैं। परन्तु मृत्यु के बाद बास की टिकटी ही शव का एकमात्र वाहन रह जाती है, जिसमे चढकर वह श्मशान की यात्रा करता है। इसी प्रकार रेशमी, ऊनी, जरी आदि बहुमूल्य वस्त्रों का भण्डार भरा होने पर भी मृतक के निमित्त गजो का कफन ही अपेक्षित

---

१. दूलन यह परिवार सब नदी नाव सजोग।
उतरि परे जहँ तँह चले सबै बटाऊ लोग ॥१ — दूलनदास, सं० बा० स० भा० १, पृ० १३६

२. स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो।७७। — तु०, म०, पृ० ४६४

३. सहजो धन मागे कुटुम्ब गाड्यो धरा बताय।
जो कुछ है सो दे हमें फिर पाछे मरि जाय ॥८ — सहजोबाई, स० बा० सं० भा० १, पृ० १५७

४. Insatiability of wants

५ बहु मन तुम सुधि पायो वा दिन की।
जा दिन तेरा देह छुटैगी ठौर बसौगे बन की।
द्रव्य गडे अरु महल खडे हो पूत रहैं घर माहा।
जिनके काज पचे दिन रातो सो संग चालन नाही। — चरनदास, स० बा० सं० भा० २, पृ० १८७

होता है।[1] अस्तु यदि मृत्यु निश्चित ही है तो विशाल चक्रवर्ती साम्राज्य के स्वामी होने से भी किसी प्रयोजन की पूर्ति नहीं हो सकती। मरणशील प्राणी के लिए धन, राज्य तथा सम्पत्ति सब व्यर्थ ही है।[2]

इसी कारण से संत जनों ने चार दिन के क्षणभंगुर जीवन में गर्व न करने का उपदेश दिया है कारण कि सुख समृद्धि के समस्त साधन भी मिट्टी में मिल जाने वाले हैं। सम्पूर्ण धन-वैभव का अस्तित्व जीवन भर ही है अन्ततः सबसे वियोग होना ही है।[3] यदि स्वप्न में किसी को राज्य प्राप्ति हो जाती है तो केवल स्वप्नावस्था में ही वह सुख का अनुभव करता है परन्तु निद्रा भंग होने पर जाग्रतावस्था में सब हर्षातिरेक नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार माया जन्य सुख भी है जिसे नष्ट होते किंचित् विलम्ब नहीं लगता।[4] यह विश्व का साम्राज्य बालूकाभित्ति की भांति अस्थिर तथा क्षणिक है तथा मृत्यु के उपरान्त मनुष्य के लिए किसी प्रकार भी उपादेय नहीं। शरीर नष्ट होता है, समय बीतता जाता है, यहां सब कुछ नाशोन्मुख ही है।[5]

तुलसीदास का कथन है—सभी धन धाम, दारा-सुत आदि को अपनाते हैं परन्तु संसार से जाते समय उस प्राणी को कोई नहीं अपनाता। यह सारी प्रीति केवल मिथ्या आडम्बर है।[6] जिन नृपों ने विश्व को जय करके यम को भी वशवर्ती बना लिया वे भी काल के चक्र से नहीं बच सके साधारण प्राणी की तो गणना ही क्या।[6] नित्य के जीवन में हम न जाने कितने जनविहीन महलों को देखते हैं जो कभी रागरंग से हर समय गुंजित रहते थे वही आज निर्जन तथा नीरव होकर कौओं के बैठने के अड्डे मात्र रह गये हैं।[7] अतः आत्मा-

---

१ रथ पाट सुखपाल पालकी हाथी औ वाहन नाना।
तेग टाठ बाट की ठाट यह चढ़ि चलना मनमाना।
रूप पाट पाटम्बर अम्बर और वस्त्र बहु बाना।
देखे बात गए गज नारिक सब रहे तोमापाना। — कबीर, स० बा० स० भा० २, पृ० ७

२ भरत रसन लौं दरब है उदर अन्न लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है तौ आवै केहि काज।।१ — तुलसी साहब, स० बा० स० भा० १, पृ० २२८

३. दिना चारि का जीवना का तुम करौ गुमान।
पलटू लिखिदे खाक में ऐसा बाज निसान। — पलटू, स० बा० सं० भा० १, पृ० २२५

४. माया का सुख पंच दिन गर्ब्यो कहा गंवार।
सुपिनै पायो राज धन जात न लागै बार।।२ — दादू, सं० बा० स० भा० १, पृ० ६७

५ बालू की भीत जैसो बसुधा को राज है।
नानक जन बहत दास किन्हि जैहै देही नास।
दिन-दिन करि गये कान्ह जैसे जात आज है। — नानक, सं० बा० स० भा० २, पृ० ४६

६ भवनि भवनि धन धाम सुहृद सुत को न इन्हहि अपनायो।
करे भाव गए मन बाते सब सनेह छल-छायो।
जिन्ह भूपन जग जीति बांधि जम अपनी बांह बसायो।
तेऊ काल कलेऊ कीन्हे तू गिनती कब आयो।।२०० — तु० ग्र०, पृ० ४६६

७ जाकी मन्दर तुबादे पंचिन्हरि होत राग।
ते मन्दिर खाली पड़े बैसण लागे काग।।१८ — क० ग्र०, पृ० २०

चुम्बी महलों म निवास करके मनुष्य क्यों गर्वोन्मत्त हो। मृत्यु के पश्चात् भूमि के नीचे ही शव को स्थान मिलेगा, इसमे सन्देह नही।[1]

समार मे आये हुए प्राणी को किसी न किसी दिन यहाँ से प्रस्थान करना ही है। यह ससार उसका वास्तविक आवास नही है। रात्रि मे पक्षी एकत्र होकर वृक्ष पर विश्राम लेते हैं, परन्तु प्रभात होते ही सब इधर-उधर उड जाते है। इस ससार मे भी सब प्राणी एकत्र होते हैं तथा निश्चित अवधि समाप्त होते ही बिना किसी के साथ की अपेक्षा किये अकेले ही इस लोक से विदा हो जाते है। इस जगत का मनोहर रूप मनुष्य के लिए शाल्मली पुष्प की भाँति आकर्षक है जिसमे बाह्य सौंदर्य के अतिरिक्त अन्त सौंदर्य का नाम भी नही। जीव का न शरीर ही है, और न धन ही। इनसे प्रीति करना बिलकुल व्यर्थ है।[2] धन की अधिकता तथा हीनता दोनो ही दुखप्रद होती है। अत ऐसी दुखप्रद वस्तु के ग्रहण से क्या लाभ।[3]

सूरदास मानव-जीवन को प्रवचना मात्र मानते है। मृग-तृष्णा मे फँसे हुए कुरग की भाँति मनुष्य विषय-रस मे आसक्त मिथ्या भ्रम मे दौडता रहता है परन्तु उसे यथार्थ जल की प्राप्ति नही होती, तृष्णा शान्त नही होती। सेमर के आकर्षक पुष्प को देखकर उसके समान ही सुन्दर तथा मधुर फल की आशा मे शुक रात दिन ध्यान लगाये रहता है परन्तु जब वह फल का स्वाद लेने के लिए चचु से आघात करता है तो वह रिक्त ही मिलता है। (रुई उड जाने से सेमल की खाली फली डाल मे लटकी रहती है।) बाजीगर के कपि की भाँति मनुष्य आत्म सम्मान को खोकर चारो ओर नाच रहा है तथा ईश्वर के भजन के बिना काल का ग्रास बना हुआ है।[4] लौकिक धन, वैभव, ऐश्वर्य आदि मृग-तृष्णा की भाँति

---

१ कबीर कहा गरबियौ ऊँचे देखि अवास।
काल्हि परयूँ भ्वै लोटणा ऊपरि जामैं घास।।१० क० ग्र०, पृ० २१

२ बटाऊ र चलना आजि कि काल्हि।
समझि न देखै कहा सुख सोवै रे मन राम सँभालि।
जैसे तरवर बिरष बसेरा पखी बैठे आइ।
ऐसैं यहु सब हाट पसारा आपु आपु कौं जाइ।
कोइ नहिं तेरा सजन सगाती जिन खोवै मन मूल।
यहु ससार देखि जिनि भूलै सब ही सैंबल फूल।
तन नहिं तेरा धन नहिं तेरा कहा रह्यो इहिं लागि।
दादू हरि बिन क्यों सुख सोवै काहे न देखै जागि।

३. उभय प्रकार प्रेत-पावक ज्यौं धन दुख प्रद श्रुति गायो।
छिन छिन हीन होत जीवन दुरलभ तहु वृथा गवायो।।१६६

४ धोखे ही धोखे डहकायो।
ज्यों कुरंग जल देखि अवनि को प्यास न गई दसो दिसि धायो।
ज्यों शुक सेमर फल आशा लगि निसिवासर हठि चित्त लगायो।
रीतो परो जबै फल चाख्यो उड़ि गयो तूल ताबरो आयो।

माया हैं और वास्तविक संतुष्टि का कारण न होकर केवल असन्तोष के जनक हैं। सांसारिक भोग तथा सम्पत्ति जिसके लिए मनुष्य को अपने मान-सम्मान से भी हाथ धोना पड़े फिर भी वह निष्फल हो और सन्तुष्टिदायक भी न हो तो वह किस अर्थ का। यह संसार सेमल के फूल की भाँति केवल प्रेक्षणीय है, उपादेय नहीं। इसीलिए प्राणी को जीवन की क्षणिक रंगीनी में आत्म विस्मृत न होना चाहिए।[1] इस विश्व का अस्तित्व ओस बिंदु के सदृश है जो देखने में मोती के समान सुन्दर प्रतीत होने पर भी क्षण भर में ही विनष्ट हो जाता है।[2]

पृथ्वी पर आकर किसी का अभिमान स्थायी नहीं रह सका। अल्प काल के जीवन के पश्चात् अंत में नाश होना ही है।[3] सुन्दरदास को यह संसार जलते हुए घर की भाँति दृष्टिगोचर होता है तथा जीव उस घर में सुखपूर्वक सोते हुए बावले की भाँति।[4] यहाँ आठों प्रहर लगातार महाप्रस्थान का नगाड़ा बजता रहता है, हर एक को समय अथवा असमय में चलना ही है।[5] वास्तव में सारा संसार जा ही रहा है, हर एक को एक न एक क्षण चलना ही है। यहाँ जिस काल तक जीव रहता है वह परमात्मा की कृपा के बल से ही।[6] इस जगत में आकर मनुष्य क्या करता है— कुछ नहीं। शाल्मली पुष्प से फल की आशा रखने वाले शुक की भाँति केवल अपनी चंचु को तोड़ लेता है—आत्मनाश की ओर ही अग्रसर होता है।[7] सांसारिक सुखों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् मलूकदास इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यहाँ सार वस्तु थोड़ी ही है, निःसार का ही आधिक्य है। जिस प्रकार कंकड़ों में मिले हुए चावलों में चावल कम कंकड़ ही अधिक होते हैं।[8] इतना ही

ज्यों कपि डोरि बाँधि बाजीगर कन कन कौं चौहटे नचायौ।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु काल व्याल पै आपु खवायौ॥

१ यह ऐसा संसार है जैसा सेंबल फूल
दिन दस के व्यौहार कौं झूठे रंगि न भूलि॥७३ — क० ग्र०, पृ० २१

२ जैसे मोती ओस को तैसो यह संसार।
बिनसि जाय छिन एक में दया प्रभु उर धार॥४ — दयाबाई, सं० बा० सं०, भा० १ पृ० १७०

३ दूलन यहि जग आइके कारो रहा दिमाक।
चंद रोज को जीवना आखिर होना खाक॥२ — दूलनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १३६

४ सुन्दर या संसार है डाँटे न निकसत भागि
सुख सोवत क्यों बावरे घर में लागी आगि॥ — सुन्दरदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १११

५. सदा नगारा कूच का बाजत आठो याम।
रहिमन या जग आइकै को करि रहा मुकाम॥२४६ — रहीम रत्नावली पृ० २४

६ यहु जग जाता देखि करि दादू करी पुकार।
घड़ी महूरत चालणा राखै सिरजनहार॥७१ — दादू, भा० १, पृ० २१६

७ सुमरन में मन लाइ कर कहा किया रे मूढ़।
सुआ सेमर सेवता लागै हाथे तूढ़॥१० — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १८८

८ जेते सुख संसार के इकठे किये बटोरि।
कन थोरे कांकर घने देखें फटकि पछोरि॥२ — मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १००

नहीं यह संसार क्षण-क्षण में परिवर्तनशील दृश्यों का आगार है। कभी सुखद घटनाएँ उपस्थित होती हैं कभी दुखद। जो कल तक भवन में बैठा दिखाई पड़ता था सम्भव है वह आज श्मशान में दिखाई पड़े।[1] अतः इस संसार को हरा भरा देखकर परम निश्चिन्त मृग की भाँति गर्वोन्मत्त होकर कालरूपी शिकारी का ध्यान करके असावधान न होना चाहिए।[2] इसीलिए तो दादू को संसार में जीवन का अस्तित्व ही नहीं दृष्टिगत होता। सर्वत्र मृत्यु का साम्राज्य ही प्रतीत होता है। कोई जलाया या दफनाया जा रहा है कोई जलाया या दफनाया जा चुका है, किसी के जलाने या दफनाने की तैयारी हो रही है। चारों तरफ जीवन का अभाव तथा विनाश का नग्न नृत्य दिखाई पड़ता है।[3]

किसी की मृत्यु पर शोक प्रगट करने वाले भी काल के ग्रास बनते हैं तथा अंतिम संस्कार में सम्मिलित होने वाले का भी अंतिम संस्कार होता है। यह क्रम निरन्तर अबाध गति से चला जा रहा है। यहाँ जीवित रहने वाला ही कौन है जिससे काल अहेरी की शिकायत की जाय।[4] मनुष्य अपने जन्म देने वाले माता पिता का अन्त देखता है अपनी वृद्धावस्था अपने प्रयाण की वेला भी देखता है तथा अपने परवर्तियों को भी महा प्रयाण के मार्ग से आगे नहीं देखता।[5] मनुष्य ही नहीं देवता असुर मुनि सभी काल के क्रूर करों में आबद्ध हैं। पता नहीं वह देश या विदेश में कहाँ कब अंत करेगा।[6] इसीलिए तो सहजोबाई संसार में स्नेह छोड़कर हरिभक्ति में रत होने का आग्रह करती है क्योंकि यहाँ पर मनुष्य का कोई भी सगा नहीं है यहाँ तक कि स्वयं अपना शरीर भी अपना साथ नहीं देता।[7] यहाँ किसी का निवास नित्य नहीं है। कागज की पुड़िया जिस प्रकार बूँद भर पानी पड़ने से भी

---

१ कबीर यहु जग कुछ नहीं खिन खारा खिन मीठ।
कालि जु बैठा मंडिया आजु मसाणा दीठ ॥१५ — क० ग्र०, पृ० ७३

२ यहु बन हरिया देखि करि फूल्यो फिरै गँवार।
दादू यहु मन मिरगला काल अहेड़ी लार ॥८ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८०

३ केइ गाड़े केइ गाड़िये केइ गाड़न नाहिं।
केइ गाड़न की करैं दादू जीवण नाहिं ॥६५
कोई जाले कोइ जलिये कोई जालण नाहिं।
कोइ जालण का करै दादू जीवण नाहिं ॥ — दादू, भा० १, पृ० २२१

४ रोवणहारे भी मुए मुए जलावणहार।
हाहा करते ते मुए कासनि करौं पुकार ॥३१ — क० ग्र०, पृ० ७६

५ जिनि हम जाये ते मुए हम भी चालणहार।
जे हमको आगै मिलै तिन भी बंध्या भार ॥३२।७२५ — २५ क० ग्र०, पृ० ७६

६ कबीर कहा गरबियौ काल गहै कर केस।
ना जाणै कहाँ मारिसी क्या घर क्या परदेस ॥१६ — क० ग्र०, पृ० ७४
कबीर सब सुख राम है और दुखा की रासि।
सुर नर मुनियर असुर सब पड़े काल की पासि ॥२६ — क० ग्र०, पृ० ७६

७ सहजो भज हरि नाम कूँ तजो जगत सूँ नेह।
अपना तो कोइ है नहीं अपनी सगी न देह ॥१ — सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १५६

घुल जाती है उसी प्रकार यह संसार लघु से लघुतम आघात से भी नष्ट हो सकता है। कंटकाकीर्ण जगत में नाना प्रकार की विपत्तियों एवं कठिनाइयों में उलझ कर मनुष्य का अंत हो जाता है। तथा यह संसार झाखरों की भाँति जलकर स्वयं नष्ट हो जाने वाला है।[1] इस संसार की उपमा बागड़ देश (मरुस्थल) से दी गई है जहाँ पर हमेशा झुलसा देने वाली गर्म-गर्म हवाओं तथा ज्वलनशीलता का ही साम्राज्य रहता है। यहाँ चारों ओर से उड़-उड़ कर पड़ने वाली धूल सर्वत्र छाई रहती है जिसे अज्ञानवश मनुष्य कष्टकारी न समझ कर रुचिकर तथा सुखद समझता है। यहाँ न कोई सरोवर है, न पानी के अन्य स्रोत ही हैं जिनसे व्यक्ति अपनी अतृप्त तृष्णा का शमन कर सके।[2]

काल की करालता को देखकर सचेत होने तथा भगवत्-भजन करने के लिए तुलसी का आग्रह है।[3] मरणप्राय व्यक्ति को राम नाम जपने का उपदेश सभी कोई देता है परन्तु मनुष्य को चाहिए कि मरण के अवश्यम्भावी परिणाम को समझकर समय रहते राम का भजन प्रारम्भ कर दे।[4] जो राम नाम जपने का उपदेश देते हैं वे स्वयं भी जप नहीं करते तथा जो इस प्रकार उपदेश सुनते हैं वे भी जप करते देखे नहीं जाते। अन्तिम समय में सबको राम कहने के लिए कहा जाता है, इसको पहले ही समझ लेना चाहिए।

संतों व भक्तों की साहित्य-परम्परा में जन्म के पहले गर्भावस्था में स्थित जीव की अत्यन्त कष्टपूर्ण स्थिति का वर्णन उपलब्ध होता है। मल के भण्डार में पानी की थैली में भरा हुआ जीव बारम्बार भगवान का स्मरण करता हुआ प्रार्थना करता है कि वह उसे कष्ट से मुक्त कर दे, फिर कभी भी स्मरण में उससे चूक नहीं होगी तथा ऐसा कार्य कभी नहीं करेगा कि जिससे उसे पुनः गर्भवास का कष्ट उठाना पड़े। राम भजन की प्रेरणा देने वाले अनेक कारणों में से एक कारण उदरवास का कष्ट भी माना गया है।

उदर दुसह सासति सही बहुबार जनमि
जग नरक निदरि निकस्यो है—

—आदि पंक्तियों से तुलसी ने इसी भावना को व्यक्त किया है। संत कबीर ने भी निम्न पंक्तियों में इसी भाव को स्पष्ट किया है—

---

१. रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ पुलझ मरि जाना है।
यह संसार झाड़ औ झाखर आग लगे बरि जाना है ॥१३० ह० प्र० क०, पृ० २०६

२. बागड़ देस लूवन का घर है तहँ जिनि जाय दाझन का डर है।
सब जग देखौं कोइ न धीरा परत धूरि सिर कहत अबीरा।
न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी न तहाँ सतगुर साधू बाणी ॥१२९ ह० प्र० क०, पृ० २०८

३. काल कराल बिलोकहु होइ सचेत।
राम नाम जपु तुलसी प्रेम समेत ॥४६ तु० ग्र०, पृ० २०

४. मरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम ॥५४ तु० ग्र०, पृ० २१

लख चौरासी जोनि में मानुष जनम अनूप।
ताहि पाय नर चेतत नाहीं कहा रंक कहा भूप।
गर्भवास में रह्यो कह्यो मैं भजिहौं तोही।
निसि दिन सुमिरौं नाम कष्ट से काढ़ौ मोहीं॥

हिन्दू-समाज में प्रचलित पुनर्जन्म तथा जीव का विभिन्न योनियों में पैदा होकर कष्ट उठाना रामनाम स्मरण में प्रवृत्त कराने वाले कारणों में से एक है। भगवत् भजन के द्वारा पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त हो सकती है और पुनर्जन्म आत्मा की नित्यता अथवा अमरता का द्योतक है। हिन्दुओं में प्रचलित इस धारणा से कबीर पूर्णतया प्रभावित थे। एक पद में उन्होंने पर्याप्त विस्तार के साथ कहा है कि भगवत्-भजन के बिना किस किस योनि में जीव की क्या-क्या गति होती है। ऐसा लोक विश्वास है कि वर्षा के समय जो जलबिन्दु वृक्ष के काँटों पर लटकी रह जाती है, प्रेतयोनि में वही तृषा-शान्ति के लिए उपलब्ध होती है। कूप-तडाग चाहे जो भरे रहें प्रेत उस जल का पान नहीं कर सकता। मृत्यु के बाद मनुष्य सर्वप्रथम भूतयोनि में जाता है। 'पहिला जन्म भूत का पैहो' आदि के द्वारा कबीर ने इसी भाव का प्रकाशन किया है। दूसरा जन्म तोते का कहा गया है जो जिह्वा-स्वाद के कारण बगीचों में बसेरा लेता है तथा उसी स्वाद के लिए स्वयं को बन्धन में भी डालता है। अपने निवास से दूर आकाश में बाज के द्वारा उसके प्राणों का अपहरण भी होता है। मदारी का बन्दर होकर लकड़ी के बल से विविध प्रकार का नाच नाचना पड़ता है। अपनी तथा स्वामी की उदरपूर्ति के लिए भिक्षा-याचना करने पर भी पेट भर भोजन नसीब नहीं होता। संसार की ओर से नेत्र बन्द किये हुए तेलो के बैल होकर घर में ही संसार को सीमित मानने वाले की अन्य कोई गति ही नहीं रह जाती। पाँचवाँ जन्म ऊँट का होता है जिस पर उसकी शक्ति और सामर्थ्य से बाहर बोझ लाद दिया जाता है और तब वह उठने में भी असक्त होकर बैठे ही बैठे प्राण गँवा देता है। इसके उपरान्त धोबी का गधा होकर उदरपूर्ति तो अपने परिश्रम से करनी ही पड़ती है, वस्त्रों का बोझ तथा उस पर भी धोबी का बोझ वहन करना होता है। अन्त में काग होकर अपनी कर्णकटु वाणी से लोगों के लिए कष्टकर होता ही है तथा साथ ही अपनी कुप्रवृत्ति के कारण हमेशा अस्वच्छ वस्तुओं में ही चोंच लगाना रहता है।[1] इन सब कष्टों से मुक्त करने वाला एक रामनाम ही है।

---

१ दिवाने मन भजन बिना दुख पैहो।
पहिले जनम भूत का पैहो सात जनम पछितैहो।
काँटा पर का पानी पैहो प्यासन ही मरि जैहो।
दूजा जनम सुआ का पैहो बाग बसेरा लैहो।
टूटे पंख बाज मड़राने अधफड़ प्राण गँवैहो।
बाजीगर के बानर होइहो लकड़िन नाच नचैहो।
ऊँच नीच से हाथ पसरिहो माँगे भीख न पैहो।
तेली के घर बैला होइहो आँखिन ढाँप ढपैहो।
कोस पचास घरै मा चलिहो बाहर होन न पइहो।

हिन्दी साहित्य के सन्त-कवियों में एक बड़ा विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है। एक ओर तो उनकी रचनाओं में संसार की क्षणभंगुरता, लौकिक पदार्थों की असारता, मानव की मरणशीलता तथा मानव-जीवन की निष्प्रयोजनता का चित्रण किया गया है, दूसरी ओर उन्होंने मानव-शरीर तथा मानव-जीवन को बड़ा ही सारगर्भित सप्रयोजन तथा महत्त्वपूर्ण कहा है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले यह विचार वास्तव में रहस्यवादी अभिव्यक्ति ही कहे जा सकते हैं। बड़े भाग्य से मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है। अहेतुकी कृपा करने वाला परमात्मा ही मनुष्य-शरीर का प्रदायक है। इस शरीर का फल विषय-भोग नहीं है। इसको पाकर भी जिसने भगवत्-भजन न किया वह मंदमति आत्महन्ता की गति को प्राप्त होता है। मानव-शरीर के द्वारा स्वर्ग, नर्क, मोक्ष, सभी प्राप्त किये जा सकते हैं।[२] इसलिए उसे सबसे अधिक कल्याणकर कार्य भगवत्-भजन में ही लगना चाहिए। इस संसार-रूपी कर्मक्षेत्र में मानव-शरीर के द्वारा मनुष्य मनचाहा खेल खेलकर जय या पराजय प्राप्त कर सकता है।[३] अपने सत्कर्मों के अनुसार मनुष्य सुगति तथा कुकर्मों के अनुसार कुगति को प्राप्त करता है। वरन् यह कहना अधिक उचित होगा कि मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-विधायक है। मानव शरीर तानपूरे के सदृश है जिससे इच्छित राग निकाला जा सकता है।[४] मनुष्य शरीर धारण करने का उद्देश्य ही है परमात्मा से मिलन।[५]

महत्त्वपूर्ण मानव-जीवन में 'अभी और यहीं' पर पर्याप्त बल दिया गया है। जो कुछ करना है अभी करना है और यहीं इसी लोक में मनुष्य-शरीर में रहते हुए करना है। 'सौदा

पचवाँ जनम ऊँट का पैहो बिन तौले बोझ लदैहो।
बैठे से तो उठै न पैहो घुरचि-घुरचि मरि जैहो।
धोबी के घर गदहा होइहो कटा घास ना पैहो।
लादी लादि आपु चढ़ि बैठे ले घाटे पहुँचैहो।
पच्छिन मा तो कउवा होइहो करर करर गुहरैहो।
उड़िके जाय बैठि मैले थल गहिरे चोंच लगैहो।

१. बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।४२.४
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।४३.३
एहि तनु कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।४३.१
सो कृत निन्दक मन्द मति आत्माहन गति जाइ॥ तु० रा०, उ० का० ४४

२. नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।
नरक स्वर्ग अपवर्ग नसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।५
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं विषय रत मंद मंद तर। तु० रा०, उ० का० १२०,६
३. जीते भी ले जीति जनम में यही गोय यही मैदाना॥
४. साधो यह तन ठाठ तम्बूरे का।
ऐंचत तार मरोरत खूँटी निकसत राग हजूरे का॥
५. वै दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबो अंग लगाइ।

करे तो यदि जुग करि ले आगे हाट न बनिया' से स्पष्ट यही ध्वनि निकलती है। काल हर समय, हर प्राणी के ऊपर मँडरा रहा है। जो कुछ करना है वह कल के लिए स्थगित न करके आज ही सम्पन्न करना अभीष्ट है।[1] जीवित अवस्था में ही मनुष्य विवेक के द्वारा ज्ञान तदनन्तर मुक्ति-लाभ करता है। यदि जीवित ही वह मुक्त न हो गया तो मृत्यु के पश्चात् मुक्ति की आशा एक दुराशा मात्र है। यदि जीवित अवस्था में मुक्त है—सत्य ज्ञान प्राप्त कर चुका है तो मृत्यु के बाद भी मुक्ति-लाभ करेगा अन्यथा मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता रहेगा।[2] इस प्रकार कबीर को जीवन्मुक्ति का दार्शनिक सिद्धान्त मान्य प्रतीत होता है।

कालरूपी कीड़ा शरीररूपी काठ को निरन्तर खा रहा है तथा एक-एक दिन करके मनुष्य की आयु क्षीण होती जा रही है। अस्तु यदि जीवन में कुछ करना है, अज्ञान निद्रा से जागृत अवस्था में आना है तो यही उपयुक्त समय है अन्यथा एक दिन तो परम निश्चिन्त होकर अनन्त निद्रा में महाशयन करना ही है।[3] और अधिक क्या आयु अजलिगत-जल की भाँति अबाध गति से समाप्त होती जा रही है। हर घड़ी घटा बजकर यही चेतावनी देता है कि जो घड़ी बीत गई वह कभी वापस आने वाली नहीं है। सूर्य और चन्द्र उदय होकर प्रति क्षण घटती हुई आयु का ही सदेश देते है। सरोवर के जल की भाँति तथा तरवर की छाया की भाँति अहर्निश आयु नष्ट होती जा रही है। अस्तु मनुष्य को अपने जीवन के प्रति सचेत हो जाना चाहिए।[4] क्योंकि समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, वह सतत आगे बढ़ता ही जाता है और कभी वापस नहीं लौटता। रहीम के निम्न दोहे में समय की यही महत्ता प्रदर्शित की गई है

समय लाभ सम लाभ नहिं समय चूक सी चूक।
चतुरन चित रहिमन लगी समय चूक की हूक॥

---

१. कबीर पलकी सुधि नहीं करै काल्हि का साज।
काल अच्यन्ता झड़पसी ज्यूं तीतर को बाज।६ — क० ग्र०, पृ० ७२

२. साधो भाई जीवत ही करो आसा।
जीवत समझे जीवत बूझे जीवत मुक्ति निवासा।
जीवत करम की फास न काटी मुये मुक्ति की आसा।
तन छूटे जिव मिलन कहत है सो सब झूठी आसा।
अबहु मिला तो तबहु मिलेगा नहि तो जमपुर वासा।

३. काल कीट तन काठ को जुरा जतन कूं खाइ।
दादू दिन दिन जीव की आयु घटती जाइ॥१२ — *दादू, भा० १, पृ० २१६*
जागो रे जिन जागणा अब जागणि की बारि।
फेरि कि जागा नानका जब सोवउ पाउ पसारि॥२ — नानक, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ६८

४. जागि रे सब रैनि बिहाणी। जाइ जनम अंजुली को पाणी।
घड़ी घड़ी घड़ियाल बजावै। जे दिन जाइ सो बहुरि न आवै।
सूरज चन्द कहैं समुझाई। दिन दिन आयु घटंती जाई।
सरवर पाणी तरवर छाया। निस दिन काल गरासै काया॥१५७ — दादू, भा० २, पृ० ६६

सत्संग

'सत' शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके प्रयोग पर कितने ही लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रकट किए हैं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के मत से सत शब्द की उत्पत्ति दो प्रकार से संभव है। वह सत् का बहुवचन हो सकता है जिसका हिन्दी में एकवचन में प्रयोग हुआ है अथवा शांत का अपभ्रंश रूप हो सकता है जैसा पाली भाषा में होता है। पहली व्युत्पत्ति से संत के माने होंगे जो सत् है अथवा जिसे सत् की अनुभूति हो गई है, दूसरे से जिसकी कामनाएँ शांत हो चुकी है। दोनों अर्थ संत पर ठीक उतरते हैं।[1]

प० परशुराम चतुर्वेदी 'संत' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसे अस् (होना) धातु से शतृ प्रत्यय लगाकर बना हुआ मानते हैं। इस प्रकार संत शब्द का मौलिक अर्थ शुद्ध अस्तित्व का ही बोधक है और इसका प्रयोग भी, इसी कारण, उस नित्य वस्तु या परमतत्व के लिए अपेक्षित होगा जिसका नाश कभी नहीं होता, जो सदा एकरस व अविकृत रूप में विद्यमान रहा करता है और जिसे सत्य के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है।[2] चतुर्वेदीजी ने उसी प्रसंग में पुनः कहा है कि संत शब्द इस विचार से उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत्रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो सत्यस्वरूप नित्य सिद्ध-वस्तु का साक्षात्कार कर चुका है अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया है वही संत है।[3] संत की परिभाषा के अन्तर्गत विषयों के प्रति निरपेक्ष रहते हुए केवल सत्कर्म करना, सद्रूप परमतत्त्व में एकान्त-निष्ठ रहा करना, सभी प्राणियों के प्रति सुहृद्भाव रखते हुए किसी के प्रति वैरभाव न प्रदर्शित करना तथा जो कुछ भी करना उसे निःसंग होकर, निष्काम भाव के साथ, करना समझे जा सकते हैं। सारांश यह कि संत लोग आदर्श महापुरुष हुआ करते हैं और इसके लिए उनका पूर्णतः आत्मनिष्ठ होने के अतिरिक्त, समाज में रहते हुए निःस्वार्थ भाव से विश्व-कल्याण में प्रवृत्त रहा करना भी आवश्यक है।[4] संत शब्द का यह अर्थ वस्तुतः बहुत व्यापक है। इसमें ऐसे व्यक्ति विशेष की रहनी एवं करनी के बीच एक सुन्दर सामञ्जस्य भी लक्षित होता है।[5]

सभी संतों का लक्ष्य, मानव-जीवन को समुचित महत्व प्रदान करने, उसको आध्यात्मिक आधार पर पुनर्निर्माण करने, उसे इसी भूतल पर जीवन्मुक्त बनकर सानन्द यापन करने, तथा साथ ही विश्व-कल्याण में सहयोग देने का भी जान पड़ता है।[6]

प्रोफेसर रानाडे के मतानुसार संत शब्द कालान्तर में रूढ़ि-सा बन गया और इस

---

१. योग प्रवाह, पृ० १५८
२. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ४
३. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ५
४. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ७
५. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ७
६. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ८

शब्द का प्रयोग उन व्यक्तियों के लिए सीमित हो गया जो विट्ठल सम्प्रदाय के अनुयायी थे।[1] यद्यपि ज्ञानेश्वरी मे विट्ठल भक्ति का उल्लेख नही है परन्तु उसमे व्यवहृत सत शब्द के बहुधा प्रयोग के अन्तसाक्ष्य से प्रो० रानाडे उसे निश्चिततया विट्ठल सम्प्रदाय का मानते हैं।[2] उनके विचार से अन्य सम्प्रदायो वाले सन्त नही थे, ऐसी बात नही है परन्तु वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी सतमणि थे यह निश्चित है।[3]

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित के अनुसार सत शब्द का प्रयोग आज सज्जन, साधु, भक्त, एव सत्पुरुष के अर्थ मे प्रचलित है। आज सत शब्द किसी भावना अवस्था या विशेष विचारधारा वाहक व्यक्ति का द्योतक नहीं रहा, जैसा कि पूर्व समय म था। इतना ही नही, आज सत शब्द का प्रयोग शिथिल होता जा रहा है और हिन्दी मे सत शब्द सगुण, निर्गुण, सूफी, बाउल तथा सभी प्रकार के महात्माओ के लिए प्रयुक्त होता है।[4] जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, हिन्दी सत कवियो ने इस शब्द का प्रयोग इसी विस्तृत अर्थ मे किया है। सत शब्द के भाव मे एक विशेषता अवश्य दृष्टिगत होती है कि उसमे 'रहनी' को विशेष महत्त्व दिया गया है। विद्वान विद्या के क्रियात्मक प्रयोग के बिना भी विद्वान बना रह सकता है परन्तु सन्त कहलाने के लिए सदाचरण का सक्रिय प्रयोग अति आवश्यक है। और यही सत की रहनी कहलाती है। पलटू साहिब ने सन्त की रहनी के विषय मे कहा है कि सत वही है जो हरिचर्चा म रत रहे अथवा एकान्त जीवन व्यतीत करे।[5] सामाजिक प्राणी होने के नाते ईश्वर-चर्चा मे समय यापन करे तथा अन्य सामाजिक विषयो मे लिप्त न होकर शेष समय स्वात्मीय एकान्तिक चिन्तन मे लगावे। प्रोफेसर रानाडे ने अन्तपरावर्तन (Introversion) को (Spiritual) आत्मिक तथा रागहीनता (Non-attachment) को वैयक्तिक गुण (Virtue) माना है।[6] यहाँ एकान्त वास्तव मे दोनो मे स किसी के पूर्णतया समान नही ठहरता परन्तु अधिकतर तुलसीदास ने भी सत के लिए एकान्त सेवन पर जोर दिया है।

---

१ Now Santa is almost a technical word in the Vitthala Sampradaya, and means any man who is a follower of that Sampradaya
M M P 42

२ Though the word Vitthala may not have been mentioned, the word Santa which is amply indicative of the Vitthala Sampradaya is mentioned very often
M M P 42

३ Not that the followers of other Sampradayas are not Santas, but the *followers of the Varkari Sampradaya are Santas par excellence*
M M P 42

४. सन्त दर्शन, डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० ?

५. की तौ हरि चर्चा मरै की तौ रहै रवन।
ऐसी रहनी जो रहै, पलटू सोइ सन्त ॥६ — पलटू साहिब, भा० बा० पृ० सा० १, पृ० ??६

६. "Pathway to God" PP. 89-90

विकार रहित शीतल स्वभाव वाले संत जन सदैव एकान्त में रहते हैं। हलाहल विष को धारण करने वाले भगवान शंकर को विषधर सर्प कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। उसी प्रकार शील को धारण करने वाले संतों का अहित दुष्टजन नहीं कर पाते। क्रोधादि से रहित संत सर्वदा सब से निर्लिप्त अन्तर्मुखी जीवन यापन करता है।[1]

दरियासाहब के विचार से वेशभूषा सन्त की महत्ता को किसी प्रकार प्रभावित नहीं करती। गृहस्थ या विरक्त वेशधारी होने से कोई अन्तर नहीं होता। सन्त का प्रमुख लक्षण है उसके विचारों तथा कार्यों में एकता होना। जैसे उसके विचार हों उसके अनुरूप ही उसके कार्य हों। सन्त के अन्तः और बाह्य में कोई भेद नहीं होता। वह सदैव निष्कपट तथा निःशंक रहता है।[2] शंकित तो वह रहता है जो दूसरों के साथ अनुचित व्यवहार करता अथवा सोचता है अथवा जिसके विचारों तथा कार्यों में अन्तर रहता है। यही अन्तर कथनी तथा करनी का भेद कहलाता है। निष्कपट, बाहर भीतर सर्वत्र एक रस रहने वाले सन्त को भला किसकी क्या शंका हो सकती है। गरीबदास ने भी अन्तर और बाहर की एकरसता को ही सन्त का लक्षण माना है। एक समान रहने वाले सब के कल्याणकारी संत जन उस अनादि शक्ति के ही अंग हैं।[3]

सन्त का एक लक्षण वैराग्य भी माना गया है। वैराग्य से तात्पर्य संसार से रागहीनता (Non-attachment) है। परमात्मा के चरण-कमलों में तो चित्त लगा ही रहना चाहिए अथवा भगवान् के प्रति अनुराग की कमी नहीं होनी चाहिए।[4] काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ममता आदि विकारों से रहित ब्रह्मभाव रस में लीन संत पथ कुपथ का भेद नहीं जानता।[5] पथ कुपथ का विचार तभी तक रहता है जब तक व्यक्ति ब्रह्मभाव में लीन नहीं हो जाता। पथ शब्द यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—मार्ग के सामान्य अर्थ में तथा किसी सम्प्रदाय या मत विशेष के अर्थ में। किसी भी सम्प्रदाय या मत का प्रभाव एक आध्यात्मिक स्थिति (ब्रह्मभाव-लीनता) पर पहुँच जाने के बाद व्यर्थ हो जाता है। सुमार्ग या कुमार्ग के विषय में तो यह निश्चित ही है कि सारी आचार सम्बन्धी चेतना (Consciousness) एक स्थिति तक ही रहती है, उसके पश्चात् सुमार्ग ही उसके लिए सहज हो जाता है। तथा सारा आचारशास्त्र (Ethical Code) उसकी चैतन्य अवस्था के नीचे ही रह जाता है।

---

१. तुलसी ऐसे शीतल सन्ता। सदा रहै एहि भाँति एकन्ता।
कहा करै खल लोग भुजंगा। कान्ह्यौ गरल शाल जो अंगा।

२. दरिया लच्छन साधका क्या गिरही क्या भेख।
निःकपटी निरसंक रहि बाहर भीतर एक ॥२ — दरिया (मारवाड़), सं० बा० सं० भा० १, पृ० १२८

३. साईं सरीखे सन्त हैं या में मीन न मेख।
कहा भये अनादि के बाहर भीतर एक ॥३ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १८८

४. ऐसा हो जो साध हो लिये रहै वैराग।
चरन कमल में चित धरै, जग में रहै न पाग ॥४ — चरनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४६

५. काम क्रोध मद लोभ नहिं खट विकार करि हीन।
पथ कुपथ न जानहीं ब्रह्म भाव रस लीन ॥३ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६७

सन्त साहित्य मे व्यक्ति की नम्रता, लघुता एव अहम् भाव की विपरीत भावना को महत्त्व प्रदान किया गया है। यह भावना हमे सर्वत्र सब सन्तो मे दृष्टिगोचर होती है। सन्तो ने अनेक उपमाओ द्वारा इस भाव को व्यक्त किया है। दरियासाहब ने साधु की उपमा मे जल को प्रस्तुत किया है जो स्वभाव से ही ऊँचाई की ओर न जाकर नीचे की ओर ही प्रवाहित होता है। सन्त जन की अहम् और अपनी महत्ता की ओर अग्रसर न होने मे वरन् लघु बने रहने मे ही प्रवृत्ति होती है। यह उनकी सहज गति है।[1] अपने नैतिक जीवन तथा समाज दोनो मे ही वे विनम्र रहते है। सहजोबाई नम्रता तथा लघुता की प्रशसा करती हैं, इसलिए कि विनीत और नम्र का कोई शत्रु नही होता फलत उसे किसी प्रकार की हानि की भी आशका नही होती। रूई अपनी कोमलता के कारण ही तलवार के द्वारा काटी नही जा पाती।[2] यही नम्रता तथा लघुता की महत्ता है जिसे सन्त जन अपनाते है। इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए नानक ने कहा है कि हम अपने को उतना ही नम्र तथा लघु समझना चाहिए जितना कि नन्ही दूर्वा। ग्रीष्म के प्रचण्डताप से जब सब हरियाली नष्टप्राय हो जाती है तब भी दूब ज्यो की त्यो हरित बनी रहती है।[3] अपने को बडा न समझने वाले एव अहम् भाव को न धारण करने वाले के नाश की सभावना नही रहती। शरीर मे मस्तक, वर्ण, नासिका आदि अग सर्वोच्च स्थान पर स्थित हैं और सर्वश्रेष्ठ समझे जाते है परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि इन सर्वश्रेष्ठ अगो का पूजन नही होता पूजन या वदन होता है चरणो का जिनकी जो शरीर मे सब से नीचे स्थिति है।[4] सहजोबाई चरणो की इस महत्ता का कारण उनका निम्न स्थान मे स्थित होना तथा लघु बना रहना समझती है।

अपने पराये, मेरा-तेरा' का भेद त्यागकर जो दीन भाव से परमात्मा का स्मरण करता है तथा जो गुरु होकर भी शिष्य के प्रति विनीत रहता है तुलसीसाहब उसी को साधु या सत मानते है।[5] साधारणतया गुरु शिष्य से अधिक ज्ञानी तथा सिद्ध होता है। गुरु का स्थान उच्चतर होता है तथा शिष्य गुरु के प्रति विनीत रहता है। सत के विषय मे यह साधारण नियम लागू नही। साधु सज्ञा को प्राप्त गुरु स्वय शिष्य के सम्मुख नत रहता है। इसीलिए सहजोबाई नम्रता अथवा दीनता की प्राप्ति को अतीव सौभाग्य का विषय समझती हैं क्योंकि साधक को अपकर्ष की ओर ले जाने वाले मान, अहकार आदि विकार इसके कारण

---

१ साधू जल का एक अग बरते सहज सुभाव।
ऊँची दिसा न सचरै, निवन नदी ढलकाव ॥६ दरिया (मारवाड) स० बा० स० भा० १, पृ० १२६

२ भली गरीबी नवनता सकै नहीं कोइ मार।
सहजो रूई कपास की, काटै ना तरवार ॥१२ सहजोबाई, स० बा० स० भा० १, पृ० १६१

३ ऐसी नही है रहो जैसी नान्ही दूब।
और घास जल जायगी दूब खूब की खूब ॥ नानक

४ सीस कान मुख नासिका ऊँचे ऊँचे नॉव।
सहजो नीचे कारने, सब कोउ पूजै पॉव ॥४ सहजोबाई, स० बा० स० भा० १, पृ० १६०

५ तुरको मै तू जो तजै भजै दास-गति होय।
गुरू नवै जो शिष्य को साध कहावै सोय ॥८ तुलसी साहिब, स० बा० स० भा० १, पृ० २३२

दूर हो जाते हैं।[1] समस्त जगत अहंकार की अग्नि में भस्म हो रहा है। राम का अवलम्ब ग्रहण करके इस अग्नि से बच जाने वाले को तुलसीदास संत मानते हैं।[2] संसार का प्रत्येक प्राणी किसी न किसी व्यथा से पीडित अवश्य है। किसी को मानसिक कष्ट है किसी को शारीरिक, सब प्रकार से सुखी कोई प्रतीत नहीं होता। केवल भगवान् का भक्त सत सब प्रकार से अपने को सुखी अनुभव करता है।[3]

गरीबदास ने सन्तों को सच्चा शूरवीर कहा है जो अन्तर के शत्रुओं—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से निरन्तर संघर्ष किया करते हैं और उस संघर्ष में विजयी होते हैं—राम-नाम के भरोसे।[4] कबीर ने संत के कार्यों की तुलना योद्धा तथा सती के साहसिक कार्य से करनी चाही परन्तु सन्त का कार्य उन्हें इन दोनों से अधिक विकट प्रतीत हुआ। वीर योद्धा संग्राम में दो चार क्षण ही के लिए अपनी शूरता की पराकाष्ठा पर पहुँचता है तथा सती के सतीत्व का चरमोत्कर्ष क्षणमात्र में ही समाप्त हो जाता है परन्तु संत को जीवन भर अविराम गति से मनोविकारों से युद्ध करते रहना पड़ता है।[5] अस्तु संत का कार्य अप्रतिम है।

चरनदास ने भौतिकता से निर्लिप्त रहने को साधु की रहनी में सम्मिलित किया है, संसार में रहते हुए भी उसमें आसक्त न होना ही वास्तविक रहनी है। जिह्वा सभी सुस्वादु भोगों का भोग करती है, इच्छित घृत-पान करती है परन्तु घृत की चिकनाहट उसमें व्याप्त नहीं होती—भोग करती हुई भी वह निर्लिप्त रहती है। इसी प्रकार साधक को संसार में रहते हुए भी उसके माया जाल में लिप्त नहीं होना चाहिए।[6]

पलटूदास ने सन्त-स्वभाव को दर्पणवत् कहा है। दर्पण में, मनुष्य अपना भला या बुरा, जैसा स्वरूप होता है वैसा ही, प्रतिबिम्ब देखता है। दर्पण उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं करता, उसका पूर्णतया निर्लिप्त भाव रहता है। इसी प्रकार साधु को हम अपनी भावना

---

१ सहजो पूरन जगत यूँ पाव लिये सुख दान।
नम मिन भाई दासना भये बढ़ाई मान ॥२५ — सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६१

२ अहंकार की अगिनि में दहत सकल संसार।
तुलसी बाँचे सन्त जन केवल राम अधार ॥५३ — तु० ग्र०, पृ० १३

३ कोई तो तन मन दुखी कोई चित्त उदास।
एक एक दुख सबन को सुखी सन्त का दास ॥३ — तुलसी साहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २३०

४ साचे सूरे सन्त हैं मरदाने जूझार।
लागे दोष व्यापे नहीं एक नाम की लार ॥६ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २०३

५ साध को खेल तो बिकट बेड़ा मती,
सती और सूर की चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चार का,
सती घमसान पल एक लागे।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना,
देह परजन्त का काम भाई ॥३७ — क० ग्र० क०, पृ० २६०

६ जग माहीं ऐसे रहो ज्यों जिभ्या मुख माहिं।
घीव घना भच्छन करै, तो भी चिकनी नाहिं ॥३ — चरनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४६

के अनुरूप ही श्रेष्ठ या निकृष्ट समझते हैं। साधु विकार-रहित तथा निलिप्त होता है।[1] सन्त में दोष अथवा अदोष-दर्शन वस्तुतः उसका दर्शन नही होता वरन् वह द्रष्टा के मनोभावों का ही प्रतिबिम्ब होता है। तुलसीदास ने सन्त की उपमा चन्दन वृक्ष से दी है। चन्दन वृक्ष अपनी सुरभि से अपने निकटस्थ अन्य वृक्षों को भी सुवासित कर देता है, परन्तु अपने तने में लिपटे हुए सर्पों को वह अपने गुणों से प्रभावित नही कर पाता—उनके विष में ही वृद्धि होती है। इसी प्रकार सन्त-जन सज्जन व्यक्तियों को तो अपने प्रभाव से अपने सदृश ही बना लेते है परन्तु उनके सम्पर्क में आने वाले दुर्जनों पर कोई सुप्रभाव नही पडता, उनकी दुष्टता ही बढ़ती है।[2] इसमें सन्तों का कोई दोष नही है, दोष है ग्राहक पात्र का जो अपने भावों की समानरूपता ही सर्वत्र देखता है।

तुलसीदास ने सन्त-स्वभाव के वर्णन में अन्य कई सुन्दर व्यापक अर्थ वाले रूपक प्रस्तुत किये हैं। यदि राम को सागर कहा जाय तो धैर्यवान सन्त मेघ है। सागर के जल को सर्वत्र समभाव से बरसा कर भूमि को उर्वरा एवं शस्यमयी बनाने का श्रेय मेघ को ही है। राम यदि चन्दन वृक्ष है तो सन्त वायु। चन्दन की सुगन्धि को चारों ओर बिखेरने वाली तथा सब के लिए सुलभ बनाने वाली वायु ही है।[3] मेघ के अभाव में असीम जलराशि उपस्थित होने पर भी, वर्षा संभव नही हो सकती तथा सुवास को सर्वत्र विकीर्ण करने वाली एकमात्र वायु ही है। इसी प्रकार राम की प्राप्ति कराने की क्षमता समदर्शी सन्तों में ही है। कोई धनी हो अथवा निर्धन, उच्च कुल का हो अथवा निम्न कुल का, विद्वान हो अथवा मूर्ख-अपढ सब के लिए राम-भक्ति को सहज तथा सुलभ बनाने वाले सन्त ही हैं। सन्तों के बिना हरि-भक्ति की प्राप्ति नही हो सकती। इतना ही नही तुलसी ने सन्तों को रामकथामृत निकालने वाले देवगण कहा है। देवों ने मंदराचल की मथानी के द्वारा क्षीर-समुद्र का मथन करके अमृत प्राप्त किया था, उसी प्रकार ब्रह्मरूपी सागर से ज्ञानरूपी मंदराचल की मथानी के द्वारा सन्तरूपी देवता रामकथारूपी अमृत प्राप्त करते हैं। ज्ञान के द्वारा ब्रह्म से प्राप्त की हुई राम-कथा भक्ति के माधुर्य से ओत-प्रोत रहती है।[4]

गरीबदास ने सन्त को नाम और भक्ति के समकक्ष माना है। जिस प्रकार नाम और भक्ति पापियों के उद्धारकर्ता हैं उसी प्रकार सन्त स्वयं तो निस्तार प्राप्त करता ही है पापियों का भी उद्धार करता है। गरीबदास का यह कथन नारदभक्तिसूत्र[5] "सतरति सन्तरनि स

---

१. पलटू ऐसा संत है सब देखै तेहि माहिं।
   देह सोभ मुह भावना ऐसा देखा नाहि ।।३ — पलटू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१४
२. निज सगी निज सम करत दुर्जन मन दुख दून।
   मलयाचल है सन्त जन तुलसी दोष विहून ।।
३. राम सिन्धु घन सज्जन धीरा, चन्दन तरु हरि सन्त समीरा।
   सब कर फल हरि भगति सुहाई सो बिनु सन्त न काहू पाई ।।
४. ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं।
   कथा सुधा मथि काढहिं भगति मधुरता जाहिं ।।
५. ना० भ० सू० ५०

लोकन्तारयति" का बरबस स्मरण करा देता है।[1] परमात्मा के तत्त्व को धारण करने वाले संतजनों को नामदेव पूजनीय मानते हैं क्योंकि उन परोपकारियों के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति होती है।[2] दादू ने संतों के जीवन का परम लक्ष्य परोपकार ही माना है। वे केवल इसलिए आविर्भूत होते हैं कि स्वयं तो रामरस का पान करें ही, दूसरों को भी करावें। स्वार्थ से रहित उनका जीवन परोपकार के लिए ही होता है।[3]

सुख-दुःख की कसौटी उपस्थित करते हुए तुलसीदास संत-मिलन को सुख की चरम सीमा मानते हैं। संतों का सहज स्वभाव मन-वचन-कर्म से परोपकार में रत रहना है। संत दूसरों के हित के लिए स्वयं कष्ट सहते हैं तथा बेचारे असंत दूसरों की हानि के लिए कष्ट सहते हैं। कष्ट दोनों ही सहते हैं परन्तु दोनों के उद्देश्य में आकाश-पाताल का अन्तर है। भोज वृक्ष की भाँति, जो परहित के लिए अपनी त्वचा तक दे देता है, संत भी दूसरों की भलाई के लिए घोरतम कष्ट सहते हैं। सूर्य-चन्द्र का उदय जगत के सुख एवं कल्याण के लिए होता है, इसी प्रकार संतों का उदय विश्व को शाश्वत सुख प्रदान करने के लिए होता है।[4] वृक्ष, सरिता, पर्वत, पृथ्वी का उपयोग दूसरों के हितार्थ ही होता है। तुलसी संतों को भी इन परोपकारी वस्तुओं के सदृश ही पाते हैं। कोमलता के लिए कवियों ने संत हृदय की उपमा नवनीत से दी है परन्तु तुलसी के विचार से यह उपमा भी फीकी पड़ती है। नवनीत कोमल है, स्निग्ध है तथा वह अपने ही ताप से द्रवित होता है परन्तु संत हृदय कोमल और विनम्र होने के साथ ही साथ दूसरे के संताप से द्रवित हो उठता है। यही है उसकी विशेषता। ऐसे ही संतों के दर्शन-प्रसाद से मनुष्य का जीवन सफल हो जाता है, तथा उसके सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।[5]

संतों की परोपकारिता तथा सहनशीलता के लिए तुलसी ने उनके चरित्र को कपास

---

१ संत उधारन भगति है अधम उधारन नाँव।
अधम उधारन संत है जिनके मैं बलि जाँव॥७ — गरीबदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १८७

२. पूजा करि साधू जनहि हरि को मन धारी।
इनते गोविंद पाइए ये पर उपकारी॥ — नामदेव, स० बा० सं० भा० २, पृ० १६

३. पर उपगारी संत सब आये यहि कलि माहिं।
पिवैं पिलावैं रामरस, आप सुवारथ नाहिं॥७ — दादू, स० बा० सं० भा० १, पृ० ८७

४ नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं, संत मिलन सम सुख जग नाहीं।
पर उपकार बचन मन काया, संत सहज सुभाउ खगराया॥७
संत सहहिं दुख परहित लागी, पर दुख हेतु असंत अभागी।
भूर्ज तरू सम संत कृपाला, परहित निति सह बिपति बिसाला॥८
संत उदय संतत सुखकारी, बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥ — तु० रा०, उ० का० १२०.११

५. संत बिटप सरिता गिरि धरनी, पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥३
संत हृदय नवनीत समाना, कहा कबिन्ह पर कहै न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥४
जीवन जन्म सुफल मम भयऊ, तव प्रसाद संसय सब गयऊ॥ — तु० रा०, उ० का० १२४.५

के समान कहा है जो स्वयं दुःख सहकर भी पर छिद्र आच्छादन करता है।[1] पलटूसाहब ने कुछ और आगे बढ़कर कपास के कष्टों का वर्णन विस्तार से उसके कपास रूप से वस्त्र रूप में परिवर्तित होने तक किया है। कपास को चरखी में ओटने के बाद उसे दोनों हाथ से नोचते हैं, धुनिया के द्वारा उसका रोम रोम धुन जाने पर नग्न में पूनी पकड़कर सूत निकाला जाता है। जुलाहा वस्त्र बुनता है, धोबी उसे भट्ठी पर चढ़ाता है, कुन्दीगर उस पर मुगरी से चोट करता है। इतने पर भी वस्त्र को अवकाश नहीं मिलता। दरजी उस वस्त्र को खण्ड खण्ड करके उसकी सिलाई करता है। कष्टों की यह लम्बी शृंखला कपास को पार करनी पड़ती है केवल दूसरों के हित साधन के लिए। उसमें उसका तनिक भी स्वार्थ नहीं होता। कपास के समान संत भी परहित के लिए जीवन पर्यन्त अनेक कष्ट तथा विपत्तियाँ झेलते हैं।[2] पृथ्वी सहनशीलता के लिए विख्यात है। वह खोदी जाती है अगणित प्राणियों के भार को वहन करती है बिल्कुल शांत भाव से। पेड़ों के कटने को और बाढ़ की भीषणता को सहन करते हैं वन। धरती और वन दोनों ही प्रकृति की सहिष्णुता के मापदण्ड हैं। कबीरदास ने संतों को भी इन्हीं दोनों की श्रेणी में रखते हुए मानव की सहिष्णुता का मापदण्ड प्रस्तुत किया है। दुर्जनों के कटु वचनाघातों को सहन करने में संत ही समर्थ होते हैं अन्य कोई नहीं।[3]

यदि साधु सब प्रकार से हीन हो तो भी उसकी समता बड़े से बड़े कुलीन नहीं कर सकते क्योंकि साधु रात दिन हरिनाम स्मरण करता है तथा कुलीन अहंकार तथा आत्म श्लाघा की अग्नि में जला करता है।[4] संतों में सभी श्रेष्ठ हैं परन्तु उनमें भी आत्मदर्शी श्रेष्ठतर है।[5] पलटूदास के उपर्युक्त कथन से यह प्रकट होता है कि प्रत्येक संत आत्मदर्शी नहीं होता, न आत्मदर्शी होना संत के लिए आवश्यक गुण ही माना गया है। कबीरदास ने अवगुणों का त्यागकर केवल गुणों को ही ग्रहण करने का आदेश दिया है। मधुमक्षिका

---

१ तु० रा० पृ० ६०

२ संत सासना सहत है जैसे सहत कपास।
जैसे सहत कपास नाय चरखा में ओटै।
रूई धरि जब तुमै हाथ से लोढ़ निसोटै।
रोम राम अलगाय धरि कै धुनिया धूना।
पिउनी नइ दे कातिं सूत ले जुलहा बूनी।
धोबी भट्ठी पर धरा कुन्दीगर मुगरी मारी।
दरजी टुक टुक फारि जोरि कै किया तयारी।
पर स्वारथ के कारने दुख सहै पलटूदास।
संत सासना सहत है जैसे सहत कपास॥ पलटू साहिब म० बा० सं० भा० २ पृ० २२७

३ खूँद तो धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ॥२ क० ग्रं०, पृ० ६३

४ जदपि साधु सबही बिधि हीना। तदपि समता कै न कुलीना।
यह दिन रैनि नाम उच्चरै। वह नित मान अगिनि मैं जरै॥८१ तु० ग्रं०, पृ० १०

५ संत सो सब बड़ हैं, पलटू कोऊ न छोट।
आतम दरसी मिही हैं, और चाम सब ओट॥१ पलटू साहिब म० बा० सं० भा० १ पृ० २१३

प्रत्येक पुष्प से उसका मधु ही संचित करती है, उसी प्रकार सत को प्रत्येक घट में व्याप्त अन्तर्यामी परमात्मा को पहचान लेना चाहिए।[1] दादू ने संत का लक्षण यही कहा है कि जो अवगुणों को त्यागकर गुण ग्रहण करे। जो गुण और अवगुण से रहित निर्गुण हो जाय, वह स्वयं ब्रह्म ही है।[2]

एक ओर भक्त तुलसीदास दूसरों से द्रोह करने वाले, दूसरे की स्त्री, दूसरे के धन तथा दूसरे की निन्दा में आसक्त पापीजनों को मनुष्य-शरीर धारण किये हुए साक्षात् राक्षस मानते हैं।[3] इसी भाव को नकारात्मक रूप में व्यक्त करते हुए सन्त नामदेव ने परधन तथा परदारा के त्यागने वाले के निकट परमात्मा का वास माना है। उसकी उन्होंने संत कोटि में गणना की है। वे उस असंत का दर्शन भी नहीं करना चाहते जो परमात्मा का भजन नहीं करता।[4]

साधुजन संसार में प्रत्यक्ष 'पारस' मणि के समान हैं। पारस मणि के स्पर्श होते ही लौह सुवर्ण हो जाता है, उसी प्रकार संत के सम्पर्क में आते ही मनुष्य का जगज्जाल से उद्धार हो जाता है।[5] असत्य और कपट से रहित परमात्मा का ध्यान करने वाले संत जनों का दर्शन शुभ पर्व पर गंगा स्नान की भाँति पुण्य तथा फलों को देने वाला है।[6]

संत की शीतलता की उपमा चन्द्रमा तथा चन्दन से दी गई है। संत, चन्द्र तथा चन्दन तीनों ही जगत के संताप के नाशक हैं। क्रोध की ज्वाला से दग्ध मनुष्य भी यदि संत के सम्पर्क में आता है तो वे उसे मधुर वाणी के द्वारा शांत कर देते हैं। उनके धैर्य, शील, सद्भाव, क्षमा अवर्णनीय हैं। वे अपने अत्यन्त विनम्र शब्दों से वज्र को भी आर्द्र कर देते हैं। उनका रहना-सहना, चलना फिरना सभी कार्य शान्ति की सुगन्धि से समन्वित रहते हैं। संत के दर्शन मात्र से त्रिविध ज्वालाएँ शांत हो जाती हैं। और क्या कहा जाय, संत के दर्शन

---

१ कबीर औगुण ना गहै गुण ही को ले बीनि।
घट घट महु के मधुप ज्यूं परआतम ले चीन्हि ॥३ — क० ग्रं०, पृ० ५५

२. औगुण छाड़ै गुण गहै सोइ सिरोमणि साध।
गुण औगुण थैं रहित है सो निज ब्रह्म अगाध ॥६ — दादू, स० बा० सं० भा० १, पृ० ८७
साधू ऐसा चाहिए जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाय।

३ परद्रोही पर दार रत पर धन पर अपवाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद। — तु० ग्रं०, उ० का० ३९

४. पर धन पर दारा परिहरी। ताके निकट बसहि नरहरी।
जो न भजंते नारायना। तिनका मैं न करौं दरसना॥ — नामदेव, स० बा० सं० भा० २, पृ० ३१

५ साधू जन संसार में पारस परगट गाइ।
दादू केते ऊधरे जेते परसे आइ ॥१ — दादू, स० बा० सं० भा० १, पृ० ८६

६. साहिब जिनके उर बसै झूठ कपट नहिं अंग।
तिनका दरसन न्हान है बड़े परब सिर गंग ॥८ — गरीबदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० २०३

से क्षुधा-तृषा तक शांत हो जाती है ।[1] संत का दर्शन करने वाला इतना भाव-विभोर हो जाता है कि उसे भूख-प्यास तक का अनुभव नहीं होता । मनुष्य अपने गुण तथा दूसरे के अवगुण सदैव देखता है । एक लोकोक्ति के अनुसार मनुष्य के कंधे पर एक अधारी पड़ी हुई है जिसके अगले भाग में मनुष्य के अपने गुण तथा दूसरों के अवगुण भरे रहते हैं और वही उसके 'दृष्टि-पथ' में सदैव आते हैं । अधारी के पिछले भाग में अपने अवगुण तथा दूसरों के गुण रहते हैं जो कभी भी दृष्टि में नहीं आते । इस सामान्य नियम के विपरीत संत कभी दूसरों के अवगुण नहीं देखता जिससे कि वह उनकी निन्दा कर सके और न वह अपने गुणों को ही देखता है और इसीलिए आत्म-सराहना नहीं करता । वह पिशुनता से पृथक् रहता है । काम, क्रोध, आशा, तथा तृष्णा से रहित संत, सत्य से परिचय प्राप्त करके कभी असत्य भाषण नहीं करता । वह एक परमात्मा को ही प्रत्येक घट में देखता है । ऊँच-नीच का भेद न मानकर सब को समान देखता है । अपने उपदेश से पथभ्रष्टों को सचेत करके उनमें बुद्धि और विश्वास उत्पन्न करता है । यहाँ एक बात ध्यान देने की और है, सभी संत उपरिवर्णित गुणों से समन्वित नहीं होते । कोई विरला ही संत इस कसौटी पर पूरा उतरता है । जो जीव हिंसा से बचने के लिए सँभल-सँभल कर पग धरते हैं वे संत ही आवागमन से मुक्ति दिलाने वाले तथा भवसागर से पार करने वाले परम परोपकारी हैं ।[2]

---

१. सीतल चन्दन चन्द्रमा तैसे सीतल सन्त ।
तैसे सीतल सन्त जगत की ताप बुझावैं ।
जो कोई आवै जरत मधुर मुख बचन सुनावैं ।
धीरज सील सुभाव छिमा ना जात बखानी ।
कोमल अति मृदुबैन बज्र को करते पानी ।
रहन चलन मुसकान ज्ञान को सुगन्धि लगावैं ।
तीन ताप मिटि जाय सन्त से दरसन पावैं ।
पलटू ज्वाला उदर की रहै न मिटै तुरन्त ।
सीतल चन्दन चन्द्रमा तैसे सीतल सन्त । पलटू, स० बा० स० भा० २, पृ० २२६

२ सोई साध अगाध है आपा न सरावे ।
पर निन्दा नहिं सचरे चुगली नहिं खावै ।।१
काम क्रोध त्रिस्ना नहीं आसा नहिं राखे ।
साचे सूं परचा भया जब कूड़ न भाखै ।।२
एकै नजर निरन्तरा सबही घट देखे ।
ऊँच नीच अन्तर नहीं सब एकै पेखे ।।३
सोई साध सिरोमनी जग तारे उपकारी ।
भूले कूं उपदेस दे दुर्लभ संसारी ।। ४
अकल यकीन पदारथ दे भूले कूं फेरे ।
सो साधू संसार में हम बिरले भेटे ।।५
मूरख खोवै सत कहै साचे सूं लावै ।
सो साधू संसार में हम बिरले पावै ।। ६
निरख निरख पग धरत हैं जिव हिंसा नाहीं ।

नानक ने अहंकार त्यागने तथा काम, क्रोध और दुर्जन की संगति से सदैव विरत रहने का आदेश दिया है। सुख दुख तथा मान-अपमान दोनों को समान समझने वाले हर्ष और शोक से रहित जो होते हैं, वे ही जगत् में तत्त्व को जानते हैं।[1] प्रस्तुत पद में यदि 'तिन' शब्द के स्थान में 'जिन' कर दिया जाय तो अर्थ में पर्याप्त अन्तर उपस्थित हो जाता है। 'जिन' के प्रयोग में अर्थ यह निकलता है कि जो लोग तत्त्व ज्ञान करते हैं उनमें सुख-दुख, हर्ष-शोक, स्तुति-निन्दा, मान अपमान आदि द्वन्द्व नहीं रह जाते अर्थात् प्रथम तत्त्वज्ञान होता है तत्पश्चात् निर्द्वन्द्वता आती है। इसके विपरीत 'तिन' के प्रयोग से यह प्रकट होता है कि प्रथमतः साधक हर्ष, शोक आदि से अतीत परम निर्द्वन्द्व हो जाता है तब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार निर्द्वन्द्वता प्राथमिक ठहरती है और तत्त्वज्ञान द्वितीय। अब प्रश्न यह है कि निर्द्वन्द्वता अर्थात् शोक राग विरतता प्राथमिक है अथवा तत्त्वज्ञान। यदि तत्त्वज्ञान को प्राथमिक मान लिया जाय तो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर समस्त द्वन्द्वों तथा संघर्षों से मुक्ति तो स्वतः ही मिल जाती है परन्तु द्वन्द्वरहित हो जाने पर भी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होगी अथवा नहीं यह सन्देहास्पद ही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि द्वन्द्वों से रहित साधक तत्त्वज्ञान के मार्ग पर अवश्य पहुँच जाता है। एक अन्य पद में नानक ने उस संत के हृदय में परमात्मा का निवास माना है जो सुख-दुख प्रेम-भय किसी से प्रभावित नहीं होता तथा अभिमान, लोभ, मोह मान अपमान स्तुति निन्दा हर्ष, शोक से निर्लिप्त रहता हुआ आशा, तृष्णा आदि को त्यागकर जगत के प्रति रागहीन रहता है। उसको काम, क्रोध आदि विकार स्पर्श तक नहीं कर पाते। वस्तुतः उसी हृदय में परमात्मा का निवास समझना चाहिए।[2]

तुलसीदास ने संत महिमा वर्णन करने में अपने को अयोग्य एवं असमर्थ ठहराकर उसकी उच्चता प्रदर्शित की है। क्रय-विक्रय जैसे अति निम्नकोटि के व्यवसाय को करने

सौगमा तारन तरन आवे जग माहीं ॥७
हम मोह कूं डारै सौदागर मोह।
भर जहाज उतारि दे सौदागर लोह ॥८　　　　　　पलटूदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १६८

१ साधो मन का मान तियागो।
काम क्रोध संगति दुर्जन की ताते अहनिसि भागो।
सुख दुख दोनों सम करि जानै और मान अपमाना।
हर्ष सोक तें रहै अतीता तिन जग तत्त पिछाना।
अस्तुति निन्दा दोऊ त्यागै खोजै पद निरबाना।
जन नानक यह खेल कठिन है किनहू गुरमुख जाना।　　　　　　सं० बा० सं० भा० २, पृ० ५२

२. जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाकै, कंचन माटी जानै।
नहिं निन्दा नहिं अस्तुति जाकै, लोभ मोह अभिमाना।
हर्ष सोक तें रहै नियारो, नाहि मान अपमाना।
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग तें रहै निरासा।
काम, क्रोध जेहि परसै नाहिन, तेहि घट ब्रह्म निवासा।　　　　　　नानक, सं० बा० सं० भा०, २ पृ० ४२

वाला एक शाक विक्रेता मूल्यवान मणियों के गुण आँकने के लिए पूर्णतया अयोग्य तथा असमर्थ होता है उसी प्रकार तुलसीदास भी संत महिमा वर्णन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। साधु-महिमा का वर्णन करने में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की वाणी भी अपनी अयोग्यता विचार कर सकुचित हो जाती है। संतों का चित्त हित अथवा अनहित सब में समान रहता है। अंजलि में ग्रहण किए हुए पुष्प बिना किसी भेद भाव के दोनों करों को समान रूप से सुगंधित करते हैं। वह कर पुष्प तोडने वाला हो अथवा ग्रहण करने वाला इस भेद से पुष्पों को कोई प्रयोजन नहीं। इसी प्रकार संतजन अपना हित अथवा अहित करने वाले दोनों के ही प्रति समान स्नेह भाव रखते है।[1] अन्यत्र तुलसी ने भगवान् राम के द्वारा संतों के लक्षणों का विस्तार से वर्णन कराया है।[2] संतों के इन्हीं गुणों के वशीभूत होकर भगवान् उनके हृदय में निवास करते हैं। संतों के इन लक्षणों को यदि हम वैयक्तिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक सदाचार में विभक्त करें तो हम देखते हैं कि निम्नलिखित इक्कीस लक्षण वैयक्तिक, बारह सामाजिक तथा पन्द्रह आध्यात्मिक सदाचार के उपलब्ध होते हैं।

---

१ सठ सुधरहि सतसंगति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई।
बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं।
फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं।५
बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी।
कहत साधु महिमा सकुचानी।
सो मो सन कहि जात न कैसें।
साक बनिक मनि गुन गन जैसें।६
बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहि कोइ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥ तु० रा०, बा० का० ३ (क)

२ सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ।
जिन्हते मैं उनके बस रहऊँ।३
षट बिकार जित अनघ अकामा,
अचल अकिंचन सुचि सुखधामा।
अमितबोध अनीह मितभोगी।
सत्य सार कबि कोबिद जोगी।४
सावधान मानद मद हीना,
धीर धर्मगति परम प्रबीना।५
गुनागार संसार दुख रहित बिगत सन्देह
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन कहुँ देह न गेह॥ ४५
निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं, पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं।
सम सीतल नहि त्यागहि नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती।१
जप तप ब्रत दम संजम नेमा, गुरु गोविन्द बिप्र पद प्रेमा।
श्रद्धा छमा मयत्री दाया, मुदिता मम पद प्रीति अमाया।२
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना, बोध जथारथ बेद पुराना।
दंभ मान मद करहिं न काऊ, भूलि न देहिं कुमारग पाऊ। तु० रा०, अर० का० ४५.३

वैयक्तिक	सामाजिक	आध्यात्मिक
१ षट विकाररजित	१ सुखधाम	१ योगी
२ अनघ	२ सत्यनिष्ठ	२ धर्मगति-प्रवीण
३ अकाम	३ मानद	३ ससार-दुखरहित
४ अचल	४ नीतिवान्	४ विगत-सदेह
५ सुचि	५ सब पर प्रीति	५ प्रभु पद-प्रीति
६ अमित बोध	६ विप्र-पद-प्रेम	६ जप
७ इच्छारहित	७ क्षमा	७ तप
८ मिताहारी	८ मैत्री	८ व्रत
९ विद्वान्	९ दया	९ नियम
१० सावधान	१० अमाया	१० गुरु-प्रेम
११ मदहीन	११ विनय	११ गोविंदप्रेम
१२ धीर	१२ पर-हित-रत	१२ श्रद्धा
१३ निज गुण श्रवण-सकोच		१३ मुदिता
१४ परगुण-श्रवण हर्ष		१४ प्रभु-पद प्रीति
१५ सम		१५ यथार्थ-बोध
१६ शीतल		
१७ सरल सुभाव		
१८ दम		
१९ विरति		
२० विवेक		
२१ विज्ञान		

वस्तुत वैयक्तिक तथा सामाजिक सभी सदाचार आध्यात्मिक सदाचार मे परिणत होते है जो कि मूल मे केवल भगवत् पद-प्रेम है । इस प्रकार हम देखते है कि तुलसी ने भक्त के जिन गुणो को प्रस्तुत किया है, यथार्थ मे वे सभी भगवत्-प्रेम से ही सम्बद्ध है। अस्तु सत का प्रमुख गुण भगवत्-पद-प्रेम ही ठहरता है। प्रत्येक देश और काल मे उसके अन्तिम लक्ष्य की एक धारा होती है। इसमे भी सन्देह नही कि किसी भी काल के अन्तर्गत एक धारा के साथ-साथ ही दूसरे प्रकार की धारा का भी जन्म होता है। जिसे तत्कालीन प्रचलित सिद्धात की क्रिया तथा प्रतिक्रिया के रूप मे आविर्भूत माना जा सकता है। हम देख सकते है कि वेदो म स्वर्गप्राप्ति चरमलक्ष्य (Summom Bonum) माना गया है उपनिषद्काल मे उसका स्थान सत्, चित्, आनन्द ले लेता है। बुद्धो मे निर्वाण, दु ख-निवृत्ति-चिन्तन ही जीवन की चरम सिद्धि बन गई। जैनो को आचार परिपुष्टि तथा अहिंसा ही सर्वमान्य प्रतीत होती है। दर्शनों के उदय के साथ सत्य के ज्ञान तथा प्रत्यक्ष पर बल दिया गया। योग दर्शन के योग, साख्य के त्रिगुण ज्ञान, वेदान्त के ब्रह्मानन्द, मीमासा के कर्म, तथा वैशेषिक न्याय के साथ के स्वरूप स्थिरीकरण ने सयुक्त रूप से मिलकर, एक नये जीवन-दर्शन को जन्म दिया,

उस दर्शन मे नैयायिक की तर्क शैली का आघात तथा कठोरता थी, मीमासा दर्शन की कर्मफल भावना थी, साख्य का त्रिगुणोत्पन्न जगत् था, योग की समाधि प्राप्ति मे साधना थी, उन सभी की परिणति होती थी—वेदान्त के ब्रह्मानन्द मे, जिसकी प्राप्ति के अन्य सब सोपान मात्र थे। श्रद्धा भक्ति के रूप मे परिवर्तित हो चुकी थी और भक्ति भिन्न भिन्न देवताओ से लेकर उस एक अथवा निर्गुण परब्रह्म तक मे केन्द्रित थी। परन्तु समाज केवल भक्ति से भी सतुष्ट न हो सका था। वह अपने आराध्य से, अपने प्रियतम से भौतिक सम्बन्धियो की ही भाति अथवा उससे अधिक तथा अलौकिक प्रेम करना चाहता था। नारद, शाण्डिल्य आदि भक्ति-सूत्रो तथा भागवत् आदि ग्रथो ने पहले ही वह सभव कर दिया था जो परवर्ती काल मे जायसी, कुतुबन, मझन, रहीम मयूर, मीरा आदि प्रेमी भक्तो के द्वारा पूर्णता मे विकसित हुआ। परन्तु मध्यकालीन हिन्दी भक्तिकाव्य मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही था, प्रेम, सख्य, दास्य, योग आदि सब उसके साधन मात्र थे।

तुलसीदास ने सत की वाणी को हृदयस्पर्शिणी सासारिक भ्रमो को दूर करने वाली तथा अनुभव-सुख उत्पन्नकर्त्री कहा है।[1] अनुभव अथवा प्रत्यक्ष-सुख का उल्लेख निर्गुणिया सतो ने ही अधिकतर किया है। परन्तु सत की वाणी उस आत्मानन्द का अनुभव कराने वाली है, इसे भक्तकवि तुलसी को भी स्वीकार करना पडा है। उन्होंने सत श्रेष्ठ का लक्षण 'अह' तथा 'पर' के मोहान्धकार के नष्ट हो जाने तथा आत्म भानु प्रकाश के उदय होने को माना है।[2] आत्मअनुभव तथा आत्मप्रकाश होने को तुलसी ने एक बहुत ही सम्माननीय उच्च अवस्था, जो सत शब्द से सम्बद्ध की जा सकती है, माना है। उस समय सत शब्द से जिन साधकों व सिद्धो का बोध होता था, उनमे से कुछ केवल नामधारी साधु या सत ही थे जो अपने आपको अन्त का ज्ञाता अथवा अत का प्राप्तिकर्ता कहते थे। ऐसे सतो की भर्त्सना करते हुए तुलसी ने उन्हे मिथ्यावादी तथा 'महा गँवार' कहा है।[3] उनकी विद्वत्ता अथवा सर्वज्ञता का मिथ्याभिमान उनकी मूर्खता का ही द्योतक कहा जा सकता है। अनेक मार्गों का अनुसरण करना तथा सिद्ध मुनियो द्वारा स्वय को ईश कहलाना भी तत्कालीन साधु नामधारी मिथ्यावादी सतो की प्रवृत्ति का द्योतक है जिसकी ओर तुलसी ने सकेत किया है।[4] तुलसी ने माया त्यागी सतो की उपलब्धि अत्यन्त विरल मानी है। कलियुग मे जो अगणित

---

१ अनुभव सुख उपजि करत भव भ्रम धरै उठाइ।
ऐसो बानी सत की जो उर भेदै आइ॥२० — तु० स०, पृ० १०

२ 'मैं तै' मेट्यो मोह तम ऊगो आतम भानु।
सतराज सो जानिए तुलसी या सहिदानु॥३३ — तु० स०, पृ० ११

३. 'झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग' सत कहत जे अत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक, काढ़त दत करत हहा है।
जानपनी को गुमान बडो, तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी जीवन जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यो कहा है॥३६ — तु० स०, पृ० १७४

४ अगम वेद पुरान बखानत मारग कोटिन जाहि न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने॥१०५ — तु० स०, पृ० १८७

सत दृष्टिगोचर होते हैं, वे मोर का स्वरूप धारण करने वाले काग की भाँति मिथ्या वेषधारी कुटिल जन हैं जो अपनी स्वार्थपूर्ति में ही सदैव संलग्न रहते हैं।[1] कवियों द्वारा प्रस्तुत संतों के गुणों एवं लक्षणों की कसौटी पर खरे उतरने वाले संतों की विरलता के विषय में गरीबदास का कथन है- -पंडित, ज्ञानी तथा श्रोता असंख्य हैं। परन्तु साधु-सन्त अत्यन्त कम हैं।[2] पलटू ने इन विरले सन्तों की परख उनकी रहनी से करने का संकेत किया है।[3] इसी प्रकार कबीर का यह दोहा—सिंहों के झुण्ड नहीं होते, हंसों की पंक्तियाँ नहीं होतीं, मणि-माणिक्यों की बोरियाँ नहीं होतीं तथा संत जमात बनाकर नहीं चलते, संतों की विरलता पर ही प्रकाश डालता है।[4]

तुलसी ने संतों को अनुभव-सुख का उत्पत्तिकर्ता कहा है। तथा सहजोबाई ने उन्हें अनुभव का नाद गर्जन करने वाला जिसके कारण कर्म भ्रम तथा अज्ञान आदि भाग खड़े होते हैं अथवा छिप जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जंगल में सिंह के गर्जन को सुनकर वाननचारी पशु भाग खड़े होते हैं अथवा छिप जाते हैं।[5] तुलसी के संत को अनुभव सुख होता है तथा वह दूसरों में भी उसकी उत्पत्ति करता है। परन्तु सहजोबाई का संत स्वयं ही अनुभव-ज्ञानयुक्त होता है।

धरमदास ने संत को प्रिय के अज्ञात देश के सन्देशवाहक का रूप प्रदान किया है।[6] यदि उस अज्ञात देश की कल्पना भी कर ली जाय तो उस सन्देश से मन का हो आनन्द संभव है। गरीबदास के मत से पृथ्वी आकाश, चन्द्र, सूर्य, जल, वायु तीर्थ, दान आदि का सृजन संतों के कारण ही हुआ है।[7] संभवत गरीबदास गीता के श्लोक "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे" से प्रभावित थे, जिसमें परमात्मा का अवतार धारण करना भी साधु के लिए ही कहा गया है। इसीलिए तुलसीसाहब ने संत की अपार महिमा के साथ साथ उन स्थान तक का गुणगान किया है। जहाँ संत निवास

---

१ बिरले बिरले पाइए माया त्यागी संत।
तुलसी कामी कुटिल कलि केकी-काक अनंत ॥३२ — तु० स०, पृ० ११

२. पण्डित कोटि अनन्त हैं ज्ञानी कोटि अनन्त।
श्रोता कोटि अनन्त हैं बिरले साधू संत ॥१६८ — गरीबदास, सं० बा० स० भा० १, पृ० १९९

३. साध परखिए रहनि में चेरे परखिए राम।
पलटू ऐसा बनै में मुठ परखिए दाम ॥२ — पलटू साहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१८

४ सिंहों के लहँडे नहीं हंसों की नहिं पाँति।
लालों की नहिं बोरियाँ साधु न चलै जमाति ॥ — कबीर

५ साधू सिंह समान है गरजत अनुभव ज्ञान।
करम भरम सब भजि गये 'दया' दुरो अज्ञान ॥५ — दयाबाई सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०८

६. वाहि देस का भेदिया रे लावै संत सुजान ॥ — धरमदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३९

७ संतौं कारन सब रच्या सकल जमी असमान।
चन्द सूर पानी पवन ज्ञान धरम औ दान ॥१३६ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १९९

करता है। ऐसी भूमि को महादेव शंकर तक प्रणाम करते हैं।[1]

आत्मा और परमात्मा के मिलन-प्रसंग में संत कवियों ने प्रायः विवाह के रूपक उपस्थित किये हैं। आत्मा की परमात्मा से सगाई जुड़ने में संत दूत का कार्य निष्पन्न करते हैं।[2] दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आत्मा को परमात्मा मिलन के लिए उत्प्रेरित करने वाले संत ही होते हैं।

संतों के लक्षण, गुण, महत्ता आदि के प्रतिपादन के अतिरिक्त हिन्दी संत कवियों ने *संतों और परमात्मा के बीच एक ऐसे गूढ सम्बन्ध को व्यक्त किया है जो सर्वदा अटूट* रहता है। सम्भवतः यह सम्बन्ध ही उनको महत्ता प्रदान करने वाला तथा चरमकोटि तक पहुँचाने वाला है। मलूकदास ने इस सम्बन्ध को गाय और वत्स के सम्बन्ध की भाँति कहा है। *गाय अपने बछड़े का साथ कभी नहीं छोड़ती।* जहाँ जहाँ संत जाते हैं वहाँ-वहाँ भगवान् उनका अनुगमन करते हैं।[3] गरीबदास ने भी बिलकुल यही भाव एक अन्य दोहे में व्यक्त किया है। भक्त वत्सल भगवान् संत के पीछे लगे घूमते हैं। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने देती, परमात्मा भी भक्त पर सदैव अपनी कृपा दृष्टि रखते हैं।[4] इसी उपमा को जगजीवन साहिब ने इस प्रकार रखा है गाय वन में तृण चरने के लिए जाती है परन्तु उसका चित्त घर में बँधे हुए बछड़े में ही लगा रहता है।[5] इसी प्रकार साधु संसार में भोग भोगता हुआ निवास करता है परन्तु उनमें लिप्त नहीं होता। उसका ध्यान सदैव परमात्मा में ही लगा रहता है। साधु से कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। वह हरिस्मरण का उत्प्रेरक है। साधु राम के समान ही है। श्री राम के शब्द हैं—*मैं साधु में तथा साधु मुझ* में है। इन दोनों में अन्तर नहीं है। जो इनमें भेद मानता है उसे नरक मिलता है।[6]

---

१ सुनु हिरदे कहुँ संत की महिमा अगम अपार।
 कर प्रनाम वहि भूमि को संकर बारम्बार ॥ ४ तुलसी साहिब, सं० बा० सं० भा १, पृ० २२६

२. म्हारे हरि जू सूँ जुरनि सगाई हो।
 सार संत मिलि कियो बसीठो सतगुरु लगन लगाई हो। ३
 केशवदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १७७

३. जहाँ जहाँ बच्छा फिरै तहाँ तहाँ फिरै गाय।
 कहैं मलूक जहँ संत जन तहाँ रमैया जाय। १ मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०२

४ ज्यूँ बच्छा गउ की नजर में यूँ साईं अरु संत।
 हरिजन के पाछे फिरै, भक्त बछल भगवन्त। १७ गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १९९

५ गऊ तिनहिं बन जाहीं, चाहइ तृन, पर दृ. माहीं।
 तृन चरहिं चित्त सुत पासा, यहि जुगति साध जग बासा। २
 जगजीवन, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४०

६. साध तें बड़ा न कोई, कहि राम सुनावत सोई।
 राम कहा सम साथा, हम एकमता सौं गाथा।
 हम साध साध हम माहीं, कोउ दूसर आने नाहीं।
 जिन दूसर करि जाना, तेहिं होइहि नरक निदाना। २ जगजीवन, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४०

कबीरदास ने नेत्रों से अलक्ष परमात्मा का दर्शन कराने वाले को सतगुरु सत कहा है।[१] पलटूसाहब ने संतों और परमात्मा के गुणों को प्रदर्शित करते हुए दोनों में जो बड़ा हो उसे पूजने का निर्देश किया है। परमात्मा गुण के मध्य में है, समस्त गुण उसी से उत्पन्न होते हैं। वह गुणनिधि कहा जाता है परन्तु संत गुणों से रहित है। संतजन प्रथम हैं, परमात्मा द्वितीय अस्तु संत ही महान् तथा पूजनीय हैं।[२] तुलसीदास,[३] गरीबदास,[४] कबीरदास[५] तथा पलटूसाहब[६] ने संत को परमात्मा के समान अथवा दोनों को एक ही माना है। इस प्रकार हमने देखा कि हिन्दी संत कवियों ने संत को परमात्मा से बढ़कर, उससे एक रूप, अथवा उसके समान ही कहा है।

सत्संग सज्जन अथवा दुर्जन का किसलिए ग्राह्य अथवा त्याज्य है? क्या सत्संग अपने आप में लक्ष्य है, अन्तिम गति है अथवा किसी लक्ष्य की प्राप्ति में साधन है? अधिकांश मत इसी पक्ष में हैं कि सत्संग मोक्ष अथवा भक्ति प्राप्ति के लिए माध्यम है और यही उसकी फलमयता तथा श्रेष्ठता है। कबीर ने इस शरीर की उपमा पक्षी से दी है, जिस प्रकार पक्षी जहाँ चाहता है उड़कर पहुँच जाता है तथा जिस प्रकार के मृदु अम्ल, अथवा तिक्त फल भोग करना चाहता है करता है। उसी प्रकार यह मनुष्य-शरीर मन के संयोग से कहीं भी चाहे जाकर जिस प्रकार के भोग करना चाहे, भोग कर सकता है। जिस प्रकार की संगति करेगा उसी प्रकार का फल उसे भोग करना होगा। चाहे वह संगति मन की हो, दूसरे प्राणियों की हो अथवा वस्तुओं की।[७] ऐसा कौन है जिसने कि सत्संग से बड़प्पन नहीं पाया। धूम्र का सहज धर्म है कटुता परन्तु अगरु के सुसंग से वह अपने उस सहज धर्म को छोड़कर मृदु सुगन्धयुक्त हो जाता है।[८]

---

१ भाइ कोइ सतगुरु संत कहावै नैनन अलख लखावै ॥ — क० ग्र० व०, पृ० २६७

२ हरि को लिहा निकारि बहुरि तिन मन विचारा।
हरि हैं गुन के बीच संत हैं गुन से न्यारा।
पलटू प्रथमै संतजन दूजे हैं करतार।
बड़ा होय तेहि पूजिए संतन करहु विचार ॥ १ — पलटू साहिब, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २२६

३ मम गुन गावहिं बिग्र अमाना।
जानेहु संत अनंत समाना। — तु० ग्रं०, उ० कां० १०८ ६
मन भावन भगत निरंतर नहीं किमपि मतिमलिन कह दास तुलसी ॥५७ — विनय पत्रिका

४ साईं सरीखे संत हैं या में मीन न मेख ॥ २ — गरीबदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १९८

५ कबीर बन-बन मैं फिरा कारणि अपणै राम।
राम सरीखे जन मिले तिन सारे सब काम ॥५ — क० ग्रं०, पृ० ४९

६ संत औ राम को एक कै जानिये।
दूसरा भेद ना तनिक आनै ॥६७ — पलटू साहिब, रेखता, पृ० ६

७ कबीर तन पंछी भया जहाँ मन तहाँ उड़ि जाय।
जो जैसी संगति करै सो तैसे फल खाय ॥ ७

८ को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई ...? [illegible]
धूम तजइ सहज करुआई, अगरु प्रसंग सुगंध बसाई ॥ ४ — तु० रा०, बा० कां० ६ ५

दरिया साहब का कथन है कि साधु का सग मजीठ के सदृश दूसरो को अपने रग मे रँग लेता है। मजीठ से रँगे जाने पर कपड़े में शोभायमान रगीनी आ जाती है।[1] जिस प्रकार सत को अपने रग मे रँग लेने वाले मजीठ की भाँति माना गया है उसी प्रकार उसे चन्दन की भाँति भी कहा गया है। जो कुकाष्ठ अरड तथा आक के मध्य मे उगकर उन्हे भी अपने समान चन्दन ही बना लेता है अपने से भिन्न नही रखता।[2] मजीठ केवल अपने रग का बना देता है परन्तु चन्दन स्वय अपने स्वरूप का ही बना देता है।

यह सत्सग का ही प्रभाव है कि काग भी हस के पद को प्राप्त कर लेता है और अपने स्वभाव अभक्ष्य भक्षण को त्याग कर मुक्ता भोगी हो जाता है।[3] स्वभाव को द्वितीय प्रकृति कहा गया है परन्तु साधुसग के स्थायी प्रभाव से स्वभाव भी बिना कष्ट व साधना के परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ कसाई की छुरी पारस मणि के स्पर्श से स्वर्ण की हो जाती है और उससे मास काटना जैसा निर्मम तथा कठोर कार्य नही हो पाता।[4] यहाँ पर कसाई की छुरी पात्र की अत्यन्त नीचता प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त हुई है। सगति करने वाले पात्र की नीचता प्रयोजन नही रखती, प्रयोजन रखता है सत्सग का प्रभाव जो उस पात्र मे आमूल परिवर्तन उपस्थित कर देता है।

सत्सग इस प्रकार का होना चाहिए जिस प्रकार मिश्री और जल का होता है। दोनो घुल मिलकर शरबत के रूप मे परिवर्तित होकर एकरूपता एव एकरसता प्राप्त कर लेते है।[5] पतितपावनी गगा में सभी प्रकार के नदी, नालो, नालियो आदि के अपवित्र जल का सम्मिश्रण होता है परन्तु वे सब उस पावन सरिता मे अपने अस्तित्व को खोकर उसी के समान पवित्र हो जाते हैं। उसी प्रकार जो नीच, कुत्सित, पातकी भी अपनापन त्यागकर सत्सग मे आ जाते है, वे उसी मे मिलकर सत की सज्ञा प्राप्त कर लेते है।[6] इसे अपने अस्तित्व का विलीनीकरण अथवा उच्चस्तरीय अस्तित्व का प्राप्तीकरण कहा जा सकता है।

ऐसे सत्सग की प्राप्ति इस ससार मे उसी प्रकार दुर्लभ है जिस प्रकार मानव शरीर

---

१ दरिया सगत साध की, सहजै पलटै अग।
जैसे सग मजीठ के कपड़ा होय सुरग ॥ ८ — दरिया मारवाड़, स० बा० स० भा० १, पृ० १२६

२ जहँ अरड अरु आक थे, तहँ चन्दन ऊग्या माँहि।
दादू चंदन करि लिया, आक कहै को नाँहि। २ — दादू, स० बा० स० भा० १, पृ० ८७

३ सहजो सगत साध की काग हस हो जाय।
तजि के भच्छ अभच्छ कूँ मोती चुगि चुगि खाय। ४ — सहजोबाई, स० बा० स० भा० १, पृ० १५८

४ दरिया छुरी कसाव की पारस परसै आय।
लोह पलट कचन भया, आमिष भखा न जाय। १ — दरिया मारवाड़, स० बा० स० भा० १, पृ० १२६

५ जल मिसिरी कोइ ना कहै सर्बत नाम कहाय।
यो घुल के सत्सग करै थाहे भरम समाय। २ — तुलसी साहिब, स० बा० स० भा० १, पृ० २३०

६. जो आवै सतसग में जाति बरन कुल खोय।
सहजो मैल कुचैल जल मिलै सु गगा होय। ३ — सहजोबाई, स० बा० स० भा० १, पृ० १५८

की प्राप्ति। सत्संग से ही दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों की पीड़ा से मुक्ति मिलती है।[१] भोजन, वस्त्र, स्त्री तथा पुत्र-सुख आदि लौकिक सुखोपभोग के उपकरण पापी मनुष्य के घर में भी सुलभ होते हैं परन्तु संत-मिलन तथा राम-धन ये दो वस्तुएँ अत्यन्त दुर्लभ हैं।[२] संसार में साधु संग का बड़ा ही महत्व है। वास्तव में यदि कोई संग करना जाने तो आधे क्षण का सत्संग भी समस्त कलुषों को धो डालने में समर्थ है।[३] एक घड़ी, आधी घड़ी अथवा आधी की भी आधी घड़ी–जितनी भी साधु की संगति की जा सके, वही जीवन का लाभ है।[४] तुलसी ने समय का उपयोग, जीवन की सार्थकता सत्संग में समझी है तथा सत्संग को अनेक व्याधियाँ हरने वाला माना है।[५]

नानक की यही कामना है कि उन्हें संतों का दास बनने का अवसर प्राप्त हो जिससे कि वे प्रात उनका चरण वन्दन कर सकें तथा अहर्निशि उनका दर्शन पाते रहें।[६] रैदास ने भी संत समागम के विषय में यही भाव व्यक्त किये हैं। संतजनों के आगमन से वे कृतार्थ हो गये हैं तथा उन पर वे तन मन, धन सर्वस्व न्योछावर करने को प्रस्तुत हैं। संतों के आगमन से—उनके हरि-यश गान से रैदास का घर-द्वार सब पवित्र हो गया है। वे संतजन स्वयं तो मुक्त होते ही हैं दूसरों को भी मुक्त करने की क्षमता रखते हैं। उनके मिलन से जन्म जन्म के बन्धन कट जाते हैं।[७] पलटू साहिब तन, मन, धन सब संतों पर वारने को तैयार हैं। वे संत के साथ भगवान् को संलग्न मानते हैं तथा उनके मन से स्वयं भगवान् भी संतों से भीत रहते हैं।[८]

---

१ साध संग संसार में दुर्लभ मनुष शरीर।
सत संगति सूं मिलत है त्रिविध ताप की पीर। ४ — दयाबाई, स० बा० स० भा० १, पृ० १७७

२. असन बसन सुत नारि सुख पापिहु के घर होइ।
संत समागम रामधन तुलसी दुरलभ दोइ। ११ — तुलसीदास, स० बा० स० भा० १, पृ० १४७

३. साध संग जग में बड़ो जो करि जाने कोय।
आधो छिन सतसंग को कलमष डारै खोय। १२ — दयाबाई, स० बा० स० भा० १, पृ० १७८

४. आध घड़ी की आध घड़ी आध घड़ी की आध।
साधू सेती गोष्ठी जो कीने सो लाभ॥ ६ — गरीबदास, स० बा० स० भा० १, पृ० १८६

५. एक घड़ी आधी घड़ी आधी हू की आध।
तुलसी संगति साधु की हरै अनेकन व्याधि॥ — तुलसीदास

६ प्रभु जी यही मनोरथ मेरा।
कृपा निधान दान मोहि दीजै करि संतन का चेरा।
प्रातकाल लागों जन चरनी निस बासर दरसन पावों। ३ — नानक, स० बा० स० भा० २, पृ० ५०

७. आज दिवस लेऊँ बलिहारे, मेरे घर आये राम के प्यारे।
आंगन बंगला भवन भयो पावन, हरिजन बैठे हरिजस गावन।
करूँ दंडवत चरन पखारूँ, तन मन धन उन ऊपर वारूँ।
कथा कहैं 'अरु अर्थ विचारैं,' आप तरैं औरन को तारैं।
कह रैदास मिलैं निज दास, जनम जनम के काटे पास॥ ६६ — रैदास बानी, पृ० ३२

८. जीवन है दिन चारि भजन करि लीजिए।
तन मन धन सब वारि संत पर दीजिए॥

दूलनदास का कथन है कि जिस दिन सतो को पीडित किया जायगा उस दिन समस्त सृष्टि उलट जायगी[1] अथवा यो भी कह सकते है कि सत म वह सामर्थ्य है कि जिस दिन वह किसी को सतावेगा उस दिन सब अनहोनी घटित होगी परन्तु सब पर समान भाव रखने वाला सन्त किसी को सतावेगा ही क्यो। उसके द्वारा किसी को सताया जाना स्वय एक अनहोनी होगी।

सत नामदेव इन पार्थिव नेत्रो से परमात्मा का प्रत्यक्ष करने के लिए हरिभक्ति तथा साधुसगति को आवश्यक मानते है।[2] वाष्ठजिह्वास्वामी 'देव' सत्सग के बिना मानव-शरीर के निरर्थक नष्ट होने पर मन ही मन पश्चाताप करते है अर्थात् मानव-शरीर की सार्थकता सत्सग मे ही है।[3] मीराबाई कुसग को त्यागकर सतो के सग मे बैठकर हरिचर्चा श्रवण करने को कहती हैं।[4] सतो मे हरिचर्चा के अतिरिक्त अन्य कोई चर्चा होती ही नही। सूरदास *गोपाल के अतिरिक्त किसी को अपना नही मानते तथा गोपाल की प्राप्ति देवताओ के लिए भी दुर्लभ है। यदि यह सभव हो सकती है तो केवल सत्सग के द्वारा।*[5] *कबीरदास अपने* समस्त जप-तप आदि सुकृतो का पुण्य दलाली के रूप मे सत को देने के लिए तैयार हैं जिनके सग से सहज सुख की प्राप्ति होती है।[6] मधुबाला मदिरा के भरे हुए चषको से पीने वाले को मदमस्त बना देती है परन्तु सहज सुख को उत्पन्न करने वाले सत केवल एक बूंद रामरस से ही पीने वाले को परितृप्त कर देते है।[6] काल का चक्र अविराम गति से चल रहा है। *रामभजन तथा सत्सग के बिना काल निरन्तर सब को लूट रहा है। केवल सत्सग तथा हरि-भक्ति मे लीन मनुष्य उससे त्राण पा सकता है।*[7] *कलियुग के समान श्रेष्ठ अन्य कोई युग नही है जिसमे सन्तजन अवतार के रूप म आविर्भूत हुए हैं जिनकी शरण मे आकर प्राणी*

सतहि से सब होइ जो चाहै सो करैं।
अरे हाँ पलटू सग लगे भगवान सत से वे डरैं॥ ६ — पलटू, स० बा० स० भा० २, पृ० २३३

१ जा दिन सन्त सताइया ता दिन उलटि खलक।
छत्र खसै धरनी धसै तीनिउ लोक गरक॥ २ — दूलनदास, स० बा० स० भा० १, पृ० १३६

२ माई रे इन नैननि हरि पेखो।
हरि की भक्ति साधु की सगति सोइ यह दिन लेखो॥ — नामदेव, स० बा० स० भा० २, पृ० ३०

३ मै तो मन ही मन पछिताय रह्यो।
यह नर तन यह काया उत्तम बिन सतसग नसाय रह्यो॥
वाष्ट जिह्वा स्वामी 'देव', स० बा० स० भा० २, पृ० २५३

४. तज कुसग सतसग बैठ नित, हरि चरचा सुण लाने। — मीरा, स० बा० स० भा० २, पृ० ७७

५. *बिना गुपाल कोउ नहिं अपना जप कीरति रहि जैहै।*
सो तो सूर दुर्लभ देवन को सतसंगति मैं पैहै॥ — सूरदास, सं० बा० स० भा० २, पृ० ५६

६ है कोई सन्त सहज सुख उपजै जाको जप तप देउ दलाली।
एक बूँद भरि देइ राम रस ज्यूँ भरि देइ कलाली। १५५ — क० ग्र०, पृ० १३८

७ साध संग और राम भजन बिन, काल निरन्तर लूटै॥
दरिया साहब मारवाड़, स० बा० स० भा० २, पृ० १५३

भवसागर पार हो जाते है ।[1]

समस्त गुणों के निधान सत-समाज की वन्दना करते हुए तुलसी ने साधु चरित्र की उपमा कपास से दी है। रसहीन होते हुए भी कपास का फल अत्यन्त उपयोगी होता है। स्वयं कष्ट सहकर वह दूसरो के छिद्रो का आवरण बनता है। इसी प्रकार सत यद्यपि देखने में सरस प्रतीत नही होते परन्तु उनके सुकृत अत्यन्त गुणमय तथा परम हितकारी होते हैं। अनेक विघ्न-बाधाओ विपत्तियों को झेलकर भी वे सदैव दूसरों के दोषों को अपने गुणों से ढक देते है। सतो की इसी महत्ता के कारण तुलसी ने सत समाज को गतिवान् (Dynamic) तीर्थराज प्रयाग कहा है। प्रयाग अचल है, एक ही स्थान पर स्थित है, उसका सेवन सब को सर्वत्र उपलब्ध नही हो सकता है परन्तु सत-समाज रूपी प्रयाग गतिवान् होने के कारण सर्वत्र, सदैव, सब को सुलभ है। यही नही कहते हैं प्रयाग-सेवन का स्वर्ग आदि फल जीवनोपरान्त प्राप्त होता है जब कि सत्सगरूपी अलौकिक तीर्थराज सद्य फलदायक है। सत्सग के माहात्म्य को सुनकर जो समझते है तथा प्रसन्नमन होकर सप्रेम इसका सेवन करते हैं, उन्हें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो फल शरीर रहते ही (मृत्यु के पश्चात् नही) प्राप्त होते हैं। इस तीर्थ मे अवगाहन करने से तत्काल फल प्राप्त होता है जिसके प्रभाव से काग जैसा कर्कश पिक के समान मधुरभाषी हो जाता है तथा बगुला सदृश कपटी और मासभक्षी, हस के समान नीर-क्षीर-विवेकी, मुक्ताभोगी हो जाता है। सत्सग के फल को सुनकर आश्चर्य करने की बात नही। इसकी महिमा किसी से छिपी नही है। बाल्मीकि, नारद, अगस्त, आदि ने सत्सग से प्रभावित अपनी जीवनवृत्ति का स्वय वर्णन किया है।[2] जलचर, थलचर तथा गगनचर जितने भी जड या चेतन जीव हैं उनमे जिसने जहां जिस प्रकार बुद्धि, कीर्ति, सद्गति, विभूति और भलाई प्राप्त की है वह सब सत्सग का ही प्रभाव कहना चाहिए। न लोक मे और न वेद म ही इनकी प्राप्ति का कोई अन्य उपाय है। सत्सग के बिना विवेक नहीं होता और रामकृपा के बिना सत्सग सुलभ नही है। सत्सग कल्याण और आनन्द का मूल है।

---

१. कलजुग सम नहिं आन जुग, जाँ नर करै बिचार।
जीव सरल होहिं सन्त के भव जल उतरै पार ॥ १ तुलसी साहिब, स० बा० स० भा० १, पृ० २१६

२ सुजन समाज सकल गुनखानी, करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी। २
साधु चरित सुभ चरित कपासू, निरस बिसद गुनमय फल जासू। ३
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा, बंदनीय जेहिं जग जस पावा।
मुद मंगलमय सन्त समाजू, जो जग जंगम तीरथराजू। ४
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा, सेवत सादर समन कलेसा। ६
अकथ अलौकिक तीरथराऊ, देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ।
सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज प्रयाग ॥ २
मज्जन फल पेखिअ ततकाला, काक होहिं पिक बकउ मराला।
सुनि आचरज करै जनि कोई, सतसंगति महिमा नहिं गोई। ९
बालमीक नारद घटजोनी, निज निज मुखनि कही निज होनी ॥ तु० रा०, बा० का० २।२

सत्सग ही सिद्धि है, फल है, अन्य सब साधन तो फूल की भाँति हैं। सत्सग से दुष्टो मे भी सुधार हो जाता है, जैसे पारस के स्पर्श से कुधातु लोहा भी मूल्यवान् स्वर्ण बन जाता है।[1] तुलसी ने अन्यत्र भी कहा है कि भगवान् की कृपा के बिना सतो का सग नही प्राप्त होता।[2] अस्तु तुलसी के विचार से सत परमात्मा की प्राप्ति के साधन तथा सत्सग परमात्मा की कृपा पर अवलम्बित है।

पूर्ण रूप से पुण्य अर्जित हो जाने पर ही साधु की सगति तथा गुरु सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता है और सत्सग से ही भक्त की आत्म-ज्योति परमात्मा की परमज्योति मे लीन हो जाती है।[3] अनुपम सुखो की मूल भक्ति भी सतो की अनुकूलता से प्राप्त होती है।[4] भक्ति समस्त सुखो की खान है तथा सत्सग के बिना भक्ति नही प्राप्त हो सकती और पुण्य-समूह के बिना सत्सग नही होता। सत्सग को ससार चक्र से मोक्ष ही समझना चाहिए।[5] पलटू सत्सग का वरदान माँगते हुए कारण प्रस्तुत करते है—*सत्सग के बिना हरिनाम कथन नही होता। बिना हरिनाम के मोह से निवृत्ति नही हो सकती। मोह के बिना नष्ट हुए* सासारिक जाल से मुक्ति नही मिल सकती और बिना मुक्ति मिले प्रभुपद मे अनुराग नही हो सकता। अनुराग तो भक्ति का प्रथम आवश्यक अग है। उसके बिना भक्ति कैसे सभव हो सकती है। भक्ति के बिना प्रेम सभव नही अथवा यो कहा जाय कि भक्ति की अतिम अवस्था प्रमाभक्ति बिना गौणीभक्ति के नही हो सकती और प्रेमाभक्ति ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है जो कि मूलत सत्सग पर ही निर्भर है।[6]

---

१ जलचर थलचर नभचर नाना, जे जड़ चेतन जीव जहाना। २
मति कीरति गति भूति भलाई, जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई।
सो जानब सतसग प्रभाऊ, लोकहुँ बेद न आन उपाऊ। ३
बिनु सतसग बिबेक न होइ, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।
सतसगति मुद मगल मूला, सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सतसगति पाइ, पारस परस कुधात सुहाइ।   तु० रा०, बा० क० २ ५

२ अहि तन इठ बरिहउँ पहिचानी, साधु ते होइ न का ज हानी। २
अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता, बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता।   तु० रा०, सु० का० ६-२

३ साधू की सगत पाये रे जाकी पूरन कमाई।
साधू की सगत गुरु जी की सेवा बनत बनत बन आये रे।
सुमरे नामा और कबीरा निभरे मुक्ता बाई रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर जोत में जोत मिलाये रे।   मी० प०, पृ० ८७

४. भक्ति सुतत्र सकल सुख खानी
बिनु सतसग न पावहिं प्रानी ।।
पुन्यपुज बिनु मिलहिं न सता
सतसगति ससृति कर अता ॥

५ भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो सत होइँ अनुकूला।

६ बिना सतसग ना कथा हरिनाम की,
बिना हरिनाम ना मोह भागे ॥
मोह भागे बिना मुक्ति ना मिलैगी,
मुक्ति बिनु नाहिं अनुराग लागे ॥

'मानस' में गरुड़ को उपदेश देते हुए भगवान् शंकर ने यही कहा है कि संशय भंग तभी हो सकता है जब कि कुछ काल सत्संग किया जाय। सत्संग में नाना प्रकार की हरि-कथाओं के श्रवण का अवसर मिलता है जिनमें कि आदि, मध्य, अन्त सब प्रतिपाद्य विषय भगवान् राम ही हैं। इस प्रकार की कथा श्रवण से सब सन्देह नष्ट होकर राम के चरणों में प्रीति होती है। परमात्मा की प्राप्ति योग, तप, ज्ञान, विराग किसी से संभव नहीं है। वह संभव है अनुराग या प्रेम से और उस प्रेम के लिए मोह का नष्ट होना आवश्यक है। मोह भगवत्कथा-श्रवण से ही नष्ट हो सकता है जो कि सत्संग पर निर्भर है। इस प्रकार भगवत्-प्राप्ति का मूल कारण सत्संग ही है।[1] जो बड़े भाग्य से प्राप्त होता है तथा जो बिना प्रयास ही संसार से मुक्त कर देता है। वेद, पुराण, सद्ग्रंथ, कवि-कोविद सब का यही कथन है कि सत्संग मोक्ष का मार्ग है जब कि कामी का संग जगज्जाल का मार्ग है।[2] महेश्वर ने उमा के सम्मुख सत्संग की महत्ता प्रदर्शित करते हुए कहा है—संत समागम के समान संसार में कोई लाभ नहीं है परन्तु बिना भगवान् की कृपा के संत समागम नहीं होता।[3] इसीलिए सत्संग के क्षणकालीन सुख की समता स्वर्ग का दीर्घकालीन सुख नहीं कर सकता वरन् शाश्वत मुक्ति का सुख तथा स्वर्ग-प्राप्ति का सुख दोनों मिलकर भी सत्संग के क्षणकालीन सुख की समता नहीं कर सकते।[4]

सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य दुर्जन के कुसंग से बचने के आख्यानों से भरा पड़ा है। बुद्ध जातक कथाएँ, पंचतंत्र, कथा सरित्सागर सभी में इसका स्पष्ट उल्लेख है। नारद-भक्ति-सूत्र में भी 'स्त्री, धन, वैरि नास्तिक चरित्राणि न श्रवणीयम्,' के द्वारा नास्तिकों व अभक्तों से

बिना अनुराग के भक्ति न होयगा,
भक्ति बिनु प्रेम उर नाहि जागै ॥
प्रेम बिनु राम ना राम बिनु संत ना,
पलटू सतसंग बरदान मांगै ॥ — पलटू, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २३०

१ तबहिं होइ सब संसय भंगा, जब बहु काल करिअ सतसंगा । २
सुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई, नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई ।
जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना, प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना । ३
जाइहि सुनत सकल संदेहा, राम चरन होइहि अति नेहा । ४
बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा, किएँ जोग तप ज्ञान बिरागा । — तु० रा०, उ०का० ६१-२

२ बड़े भाग पाइअ सतसंगा, बिनहिं प्रयास होहिं भवभंगा ।
संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ ।
कहहिं संत कवि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रन्थ ॥ — तु० रा०, उ० का० ३३

३ गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरिकृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान ॥ — तु० रा०, उ० का० १२५ (ख)

४ तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥ — तु० रा०, सु० का० ४

दूर रहने का आदेश है। हिन्दी भक्त तथा संत कवियों ने जहाँ एक ओर संत के महिमा-मंडित चरित्र का वर्णन किया और उनके संग के आशुफलकारी प्रभाव का वर्णन किया है वहाँ दूसरी ओर उन्होंने असत अथवा खल के कुसंग से बचने का भी आदेश दिया है। कबीर ने भक्ति रहित असत व्यक्तियों से भयभीत रहने के लिए कहा है। इस प्रकार के पुरुष स्वयं तो अपने पितरों को चुल्लू भर पानी जलदान में भी नहीं देते परन्तु महाराज भगीरथ की निंदा करते हैं जिन्होंने अपने अथक परिश्रम से अपने पितरों की स्वर्ग प्राप्ति के लिए पृथ्वी पर पावनी गंगा की अवतारणा की। वे लोग स्वयं डूबते हैं तथा दूसरों को भी डुबाते हैं जब कि भक्त स्वयं तरता है तथा लोक को तारता है।[1] वे अपने हाथों से अपने निवास स्थान में अग्नि लगाकर निश्चिन्त होकर सोते हैं। स्वयं नेत्रविहीन होते हुए भी काने का उसकी अयोग्यता पर उपहास करते हैं जब कि काना अंधों में राजा कहा गया है।[2]

सूरदास ने ऐसे असतजनों का जो हरि से विमुख रहते हैं संग करने का निषेध किया है। इन हरिविमुखों के संग से कुबुद्धि उत्पन्न होती है तथा भजन में विघ्न पड़ता है। महर्षि नारद ने नास्तिक का चरित्र तक न सुनने का आदेश दिया है।[3] इस प्रकार के दुष्टों पर संगति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मधुर दुग्ध का पान कराने पर भी सर्प विषहीन नहीं बनता वरन कहा तो यह जाता है कि उसके विष की वृद्धि ही होती है।

कपूर जैसे सुगंधित पदार्थ को चुगाने पर भी काग अभक्ष्य का खाना नहीं छोड़ सकता तथा धूल में लोटने वाले गधे पर चन्दन का शीतल सुवासित लेप व्यर्थ है तथा उपद्रवी नट-खट बन्दर को शोभनीय बनाने के लिए आभूषण धारण कराना व्यर्थ है। हाथी स्नान कराने के बाद भी शरीर पर धूल धारण कर लेता है। नीच प्रकृति पाषाण में बाण नहीं भिदते चाहे निषंग के सब बाण क्यों न छोड़ दिये जायें। दुष्ट जन काली कमली की भाँति है जिसमें कि दूसरा रंग चढ़ ही नहीं सकता।[4] वे अपनी प्रकृति को किसी प्रकार किसी स्थिति में

---

१ स तरति स तरति स लोकांस्तारयति। ५०   ना० भ० सूत्र, पृ० १३

२ ऐसे लोगनि सूं का कहिये।
 जे नर भये भगति थैं न्यारे तिनथैं सदा डराते रहिये।
 आप न देहि चुरवा पानी ताहि निन्दै जिन गंगा आनी।
 आपण बूडैं और को बोडैं अगनि लगाइ मंदिर मैं सोवैं।
 आपण अंध और कूं काना, तिनकौं देखि कबीर डराना। १४४   क० ग्र०, पृ० १३४

३ स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम्। ६३।   ना० भ० सूत्र, ६३

४ तजौ मन हरि बिमुखन कौ संग।
 जिनकें संग कुमति उपजति है परत भजन में भंग।
 कहा होत पय पान कराये बिष नहिं तजत भुजंग।
 कागहि कहा कपूर चुगाए स्वान न्हवाए गंग।
 खर कौ कहा अरगजा लेपन मरकट भूषण अंग।
 गज कौं कहा न्हवाये सरिता बहुरि धरे वहि छंग।
 पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतो करत निषंग।
 सूरदास खल कारी कामरि चढ़ै न दूजो रंग।   सूरसागर, पृ० १०२

नही छोडते। दुष्टो की ऐसी ही प्रभावित होने वाली प्रकृति पर गरीबदास का कथन है कि पाषाण का अतस जल मे रहने पर भी आर्द्र नही होता, उस पर जल का प्रभाव नही होता परन्तु उस पत्थर मे चकमक लगने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। जल की शीतलता से प्रभावित न होकर वह अपने स्वभाव से अग्नि का ही उत्पादक होता है।[1] दादू ने दुष्ट सग की हानि तथा दुष्ट की अपरिवर्तनीय प्रकृति का वर्णन उस आख्यान के द्वारा किया है, जिसमे कि एक चूहे को जलते हुए देखकर एक हस ने उसे दयावश अपने ऊपर बिठा लिया तथा उसके ताप शमन के हेतु मानसरोवर की ओर लेकर उड चला परन्तु उस नीच मूषक ने अपने दुष्ट स्वभाववश हस के पख काट डाले जिसके कारण दयालु हस को अपने प्राण गॅवाने पडे।[2] शायद इसीलिए परमार्थ-पथ के पथिक के लिए महर्षि नारद ने दु सग को सर्वथैव त्याज्य कहा है।[3] क्योकि उससे काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रम आदि उत्पन्न होते हैं, बुद्धिनाश तथा सर्वनाश होता है।[4]

तुलसीदास ने दुष्ट तथा दुष्टसग का विस्तार से वर्णन किया है व्याजस्तुति के मिस। दुष्टजन बिना प्रयोजन ही अपने हित करने वाले के प्रति भी प्रतिकूल आचरण करते है। दूसरो के हित की हानि ही उनकी दृष्टि मे लाभ है, दूसरो के उजडने मे उनको हर्ष तथा बसने मे विषाद होता है। वे हरि-हर-यशरूपी पूर्ण चन्द्र के लिए राहु ग्रह की भाँति कष्टकारी है। दूसरो का अनिष्ट करने मे सहस्रबाहु की भाँति वीर तथा समर्थ हैं। वे परदोष को हजार नेत्रो से देखते है तथा परहितरूपी घृत के लिए उनका मन मक्खिका के समान है। मक्खिका घृत मे गिरकर उसको तो दूषित कर ही देती है यद्यपि स्वय भी विनष्ट हो जाती है। वे दूसरो को जलाने वाले ताप मे अग्नि तथा क्रोध मे यमराज के समान हैं। पाप और अवगुणरूपी धन मे कुबेर के समान धनी हैं। अपनो की वृद्धि सर्वनाशकारी धूमकेतु के उदय के सदृश है। उनकी कुम्भकर्ण के समान चिरकालीन निद्रा मे ही हित है, उनकी जागृतावस्था लोकसहार का ही कारण होती है। वे दूसरो के कार्यनाश के लिए स्वशरीर को भी वैसे ही त्याग देते हैं, जिस प्रकार कि उपल हरी भरी कृषि को धराशायी करके स्वय भी विनष्ट हो जाते हैं। सहस्रमुखधारी शेष सहस्र मुखो से प्रभु-गुण-गान करते है, जब कि असत जन उन्ही की भाँति सहस्र मुखो से परदोषो का वर्णन करते हैं। कहा जाता है महाराज पृथु ने सहस्र कर्णों मे भगवान् का गुणानुवाद सुनने का वरदान प्राप्त किया था, उसी प्रकार दुष्टजन सहस्र कर्णों मे दूसरे के पापो का श्रवण करते हैं। इन्द्र को जिस प्रकार देवताओं की सेना प्रिय है, उसी प्रकार उन्हे वारुणी प्रिय है, यही नही इन्द्र के वज्र की भाँति उन्हें वचन-वज्र

---

१. ज्यूँ जल में पषान है, भाजन नाहीं अग।
चकमक लागे अगनि है, कहा करे सतसग। ११ — गरीबदास, स० बा० स० भा० १, पृ० १९९

२. मूसा जलता देख करि, दादू हस दयाल।
मानसरोवर ले चल्या, पखा काटे काल। ४ — दादू, स० बा० स० भा० १, पृ० ८८

३ दु सग सर्वथैव त्याज्य ॥४३॥ — ना० भ० सू०

४. कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥४४॥ — ना० भ० सू०

अत्यन्त प्रिय हैं जिससे कि वे दूसरों पर प्रहार करते हैं। इन्द्र जिस प्रकार सहस्र नेत्रों से प्रभु-छवि दर्शन करते है उसी प्रकार वे दुष्टजन हजार नेत्रों से परदोष-दर्शन करते हैं। वे मित्र, शत्रु अथवा उदासीन सभी का हित सुनकर जलते है।[1]

इस प्रकार के दुष्टों से विनती कर चुकने के बाद भी तुलसीदास यह आशा नहीं करते कि वे अपनी तरफ से कभी चूकेंगे। अत्यन्त अनुरागपूर्वक पाला गया काग भी निरामिष-भोजी नहीं होता। तुलनात्मक ढंग से साधु-असाधु की वंदना करते हुए तुलसी उनके गुण-दोषों पर प्रकाश डालते हैं। संत और असंत दोनों ही कष्टदायक हैं। संत में वियोग कष्ट-दायक होता है तथा असंत से मिलन दारुण दुख देता है। समान जन्मस्थान जल में उत्पन्न होने वाली जोंक तथा कमल के गुणों में जिस प्रकार महान अन्तर है उसी प्रकार असंत तथा संत में भी है। एक ही जलधि में सुरा तथा सुधा दोनों का जन्म हुआ है परन्तु दोनों अपनी श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता के कारण यश अथवा अपयश पाती हैं। यदि साधु की उपमा अमरत्व प्रदायक सुधा शीतल चन्द्र अथवा पतितपावनी सुरसरि से दी जा सकती है तो असाधु की उपमा विष की मारणशीलता, अग्नि की ज्वलनशीलता, कर्मनाशा नदी की पुण्य-फल-विनाशता तथा व्याध की नृशंसता से दी जा सकती है।[2] संत का आचरण चन्दन के सदृश तथा असंत का आचरण कुठार के समान है। कुठार चन्दन को काटता है परन्तु चन्दन प्रति-

---

१. बहुरि बंदि खलगन सति भाएँ, जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ।
परहित हानि लाभ जिन्ह केरें, उजरें हरष बिषाद बसेरें। १
हरि हर जस राकेस राहु से, पर अकाज भट सहसबाहु से।
जे परदोष लखहिं सहसाखी, परहित घृत जिनके मन माखी। २
तेज कृसानु रोष महिषेसा, अघ अवगुन धन धनी धनेसा।
उदय केतु सम हित सबही के, कुंभकरन सम सोवत नीके। ३
पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं, जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।
बंदउँ खल जस सेष सरोषा, सहस बदन बरनइ परदोषा। ४
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना, पर अघ सुनइ सहस दस काना।
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही, संतत सुरानीक हित जेही। ५
बचन बज्र जेहि सदा पियारा, सहस नयन परदोष निहारा। ६
उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।
जानि पानि जुग जोरि जन, बिनती करइ सप्रीति॥ तु० रा०, बा० का० ४

२. मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा।
बायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा। १
बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख दारुन देहीं। २
उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं।
सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू। ३
भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती।
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमलसरि ब्याधू। ४
गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई। तु० रा०, बा० का०, ४-५

बार मे उसे भी अपना गुण—सुगधि—प्रदान करता है। सभवत इसी से सर्व जगत् प्रिय चन्दन देवताओं के मस्तक पर स्थान प्राप्त करता है तथा कुठार को अपनी दुष्टता के कारण अग्नि मे तपाकर घन से पीटा जाता है।[1] साधारणतया लोग अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरो का अहित करने मे भी नही चूकते। परन्तु खलजन बिना किसी स्वार्थ के ही दूसरो का अहित करते है। वे सन के समान दूसरो का बन्धन बनने के लिए अपनी खाल तक खिचवा कर मृत्यु को वरण करते है।[2] पलटू साहिब ने सन और असत की उपमा का विस्तार के साथ वर्णन किया है। सन के पौधे को काट कर जल मे सडाया जाता है, उसे कूटकर चर्मरूपी सन निकाला जाता है। तथा उसे रज्जु के रूप मे तैयार किया जाता है इस प्रकार सन मनुष्य, पशु सब का बन्धन बनता है। वही सन जालरूप मे बनकर व मछलियो को फँसा कर उनका प्राणघातक बनता है। यद्यपि इस क्रिया मे सन को अत्यन्त कष्ट सहकर प्राण तक देने पडते है परन्तु सन का व असत का यही प्रण है कि वे कष्ट सहकर भी—प्राणो से हाथ धोकर भी—दूसरो को दुख देना चाहते है।[3]

सत्सग की महत्ता को प्राय सभी भक्त-कवियो ने एक मत से स्वीकार किया है। सतों के कल्याणकारी गुणो का गान करके उन्होंने अपने को गौरवान्वित किया ही, अज्ञानग्रस्त जनवर्ग को सचेत करने का भी प्रयत्न किया। सत्सग का महत्व ही कुछ ऐसा है। सत्सग के प्रभाव से साधारण निरा पतित मनुष्यो तक ने सत की सज्ञा प्राप्त की। उस प्रभाव को उन्होने मुक्त हृदय से स्वीकार किया है।

भारतीय दर्शन मे किसी वस्तु की प्रामाणिकता के लिए मान्य सभी नियमो—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द—को सत्सग की महत्ता के प्रतिपादनार्थ प्रयुक्त किया गया है। जैसा कि हम देखगे वाल्मीकि, नारद, अगस्त्य आदि का सत्सग के प्रभाव से सर्वथा बदल जाना स्वय उनके द्वारा कहा गया है तथा (Direct Testimony) प्रत्यक्ष साक्ष्य होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण के अतर्गत आता है। वेद पुराणो मे साक्ष्य को शब्द प्रमाण माना जायगा, इस प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण से "सो जानब सत्सग प्रभाऊ" के द्वारा अनुमान तथा उपमान प्रमाण सत्सग की फलमयता तथा महत्ता सिद्ध करने के लिए प्रयोग मे लाये गये हैं।

---

१. सत असतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी।
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगध बसाई।
"ताते सुर सीसन्ह चढत जगबल्लभ श्रीखड॥
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दड। तु० रा, उ० का० ३७

२. सन इव खल पर बधन करई। खाल कढाइ बिपति सहि मरई।
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी। ६
पर सपदा बिनासि नसाही। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाही।
दुष्ट उदय जग आरति हेतू। यथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥ तु० रा०, उ० का० १२०-१०

३. पर दुख कारन दुख सहै सन असन्त है एक।
जिव दे जीव मारते पलटू उनकी टेक।
पर दुख कारन दुख सहै सन असन्त है एक। पलटू, स० बा० स० भाग ३, पृ० २२८

तथा सत्संग की वास्तविक सिद्धि की सत्यता स्थापित हुई है।

अब देखना यह है कि सत्संग इस प्रकार प्रभावित क्या करता है। स्थान स्थान पर सतो की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए पारस चन्दन मजीठ गगा, जगम तीर्थराज आदि उपमेय प्रस्तुत किये गये हैं। इन उपमेयो को हम चार मुख्य विभागो मे बाँट सकते है (१) पारस तथा चन्दन (२) मजीठ, (३) गगा तथा (४) तीर्थराज प्रयाग। पारस लोहे मे आणविक अन्तर उपस्थित करके उसे अपने से भिन्न अधिक मूल्यवान स्वर्ण बना देता है जबकि स्वय प्रस्तर मात्र ही बना रहता है। चन्दन अन्य समीपवर्ती वृक्षो मे आणविक अन्तर सम्पादित करके उन्हे अपना जैसा ही बना देता है। दूसरा अतर (Change) मजीठ वस्त्र पर (Molecular-chemical) अन्तर करके करता है। वस्त्र म रग उसम रासायनिक क्रियाओ के द्वारा प्रभावित करता है। रासायनिक क्रिया आणविक क्रिया की भाँति स्थायी नही होती। फिर भी वाह्य लक्षणो से उसका स्वरूप भिन्न दृष्टिगत नही होता। तीसरा मिश्रण नदी-नालो का गगा के साथ है। यह रसायन की भाषा मे साधारण मिश्रण कहा जाता है तथा कभी भी वास्तविक नहीं होता। जल मे नमक का घोल या शकर का घोल इसी कोटि मे आते है। इस प्रकार के अन्तर म केवल नाम रूपात्मक अन्तर सम्पादित होता है, बाहर स साधारण एकरूपता हो जाने पर भी आन्तरिक एकता नही होती। गगा का जल वारुणी आदि के बनाने के उपयोग मे आने पर अपनी पवित्रता को खोकर अपने वास्तविक स्वरूप जल के ही रूप मे गिना जाता है। चौथे प्रकार के जगम तीर्थराज का प्रभाव उपर्युक्त सब प्रकारो से भिन्न है, उसमे आध्यात्मिक अतर होता है तथा जिसके प्रभाव से सम्पर्क मे आने वाले मे आत्मिक अन्तर हो जाता है। और वह पाप आदि से मुक्त होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी प्रकार के फलो को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार सतो का परिवर्तनकारी प्रभाव उसके सानिध्य मे आने वाले व्यक्तियो पर सतो की स्वय की सक्रियता के अनुसार पडता है। आजकल हम अणुसक्रियता के विषय मे बहुधा सुनते रहते है। अणुसक्रिय पदार्थ अपने सम्पर्क म आने वाले अन्य पदार्थों को भी किसी मात्रा मे अणु सक्रिय करने मे समर्थ होते हैं। इस प्रकार की अणुसक्रियता की सामर्थ्य स्वय प्रभाव उत्पन्न कराने वाले पदार्थ की सक्रियता शक्ति पर निर्भर है। उसी प्रकार कितनी दूर तक अणुसक्रियता प्रभावित करेगी वह भी उस केन्द्र की शक्ति पर निर्भर है। इसी प्रकार मन सक्रियता को भी समझा जा सकता है। व्यक्ति जितनी ही मन शक्ति से समन्वित होगा अपने सम्पर्क मे आने वाले को वह उतना ही प्रभावित कर सकेगा। यही नहीं तपोवन वासी जीवो का सहज वैर त्यागकर मृग और सिंह का एक साथ विचरण भी वहाँ के वातावरण मे व्याप्त ऋषियो की मन सक्रियता के आधिक्य का ही द्योतक कहा जा सकता है। परन्तु जहाँ सतो की मन सक्रियता सामान्य जनो को सरलता मे प्रभावित कर लेती है वहाँ यह उतनी ही अधिक विपरीत दिशा मे बढी हुई मन सक्रियता को प्रभावित नहीं कर पाती। बाण पाषाण को प्रविद्ध नही कर पाता तथा चन्दन विषधर सर्पों को विषहीन नही बना पाता। एक दूसरे को प्रभावित करने की क्षमता उनकी पारस्परिक क्रिया (Interaction) तथा सापेक्ष शक्ति पर निर्भर है।

पंचम परिच्छेद

गुरु

भारतीय चिन्तन एवं साधना के क्षेत्र में गुरु का स्थान अविवादग्रस्त एवं सर्वमान्य रहा है। पूर्वैतिहासिक काल से भारतीय समाज में गुरु का आदर होता रहा है। धर्म और समाज की नियामिका शक्ति उसी के हाथ में रही है, उसने अपनी शिष्य परम्परा के द्वारा अपने दर्शन तथा साधना का स्थिरीकरण किया है। वह आध्यात्मिक, सामाजिक अथवा वैयक्तिक क्षेत्र में ही प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुआ, उससे प्रेरणा ग्रहण करके उसके शिष्यों ने राजनैतिक क्रान्तियाँ तक की है। प्रत्येक विषय का ज्ञान तथा साधना दोनों शिष्य प्रशिष्य क्रम से चली आती हुई अनन्तता को प्राप्त होती है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि पुत्र, पौत्रादि के क्रम से किसी वंश की शृंखला चलती रहती है। एक पिता की सन्तानों में जिस प्रकार भ्रातृ सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार एक गुरु के सब शिष्य भी गुरुभाई के सम्बन्ध से आबद्ध रहते है। गुरु का महत्त्व चिन्तन के क्षेत्र से भी अधिक साधना के क्षेत्र में है जो कि सत्य के बौद्धिक ज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ सत्य के साक्षात्कार की कला भी कही जा सकती है। चिन्तन के क्षेत्र में गुरु एक भाव को अथवा ज्ञान की शृंखला को एक कड़ी तक पहुँचाकर छोड़ देता है तथा शिष्य का कार्य उसे अतिम कड़ी तक पहुँचा कर पूर्णता प्रदान करना होता है। साधना के क्षेत्र में भी एक निश्चित सीमा पर पहुँचने के बाद गुरु स्वयं आगे बढ़ने में असमर्थ होने पर भी अपने शिष्य को आगे बढ़ाने में प्रेरक होता है। केवल दो ही सम्बन्ध मानव-जीवन में ऐसे है—एक गुरु का तथा दूसरा पिता-माता का जिन्हे शिष्य अथवा सन्तान की उन्नति एवं उत्कर्ष को देखकर ईर्ष्या नहीं होती अपितु हर्ष होता है। सन्तान अथवा शिष्य की भी पिता अथवा गुरु की महत्ता स्वयं निज की महत्ता प्रतीत होती है।

हमारे पुराणों ने सृष्टि का क्रम ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवों से अंकित किया है तथा ब्रह्मा अथवा शंकर को आदि गुरु तथा दर्शन से लेकर नृत्य तक सभी विद्याओं का आदि प्रवर्तक भी कहा है। वेद साक्षात् ब्रह्मा के वाक्य हैं, व्याकरण शास्त्र भगवान् शंकर के डमरु से नि सृत नाद से उद्भूत है, नृत्य एवं गायन भी नटराज भगवान् शंकर से आरम्भ होकर अबाध गति से गुरु शिष्य क्रमानुसार चला आ रहा है। जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए गुरु की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इसी कारण जीवन में माता पिता जन्म से गुरु, दीक्षा गुरु, कुलगुरु, शास्त्रगुरु, शस्त्रगुरु, सद्गुरु, जगद्गुरु सभी का अपना स्थान तथा अपनी मर्यादाएँ हैं। सबके मूल में समाज में प्रचलित गुरु की भावना ही प्रमुखता रखती है। किसी समय गुरु के हाथ में समाज की नियामिका शक्ति थी, उसका समादर था, इसमें तनिक सन्देह नहीं। उसकी उपादेयता तथा अनिवार्यता ही उसके सम्मान को इस सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँचाने वाली थी।

भारतीय मानव-जीवन का कोई क्षेत्र गुरु से रिक्त नहीं था। वेद हमारे आदि ग्रंथ माने जाते है, ब्रह्मा आदि गुरु। वेदो का अध्ययन गुरु-शिष्य क्रम से होता था। वेदो के अंत: साक्ष्य से हम देख सकते है कि गुरु का क्या स्थान था तथा ब्रह्म-विद्या तक की किस प्रकार गुरु द्वारा प्राप्ति होती थी। अस्थि-चर्ममय मानव देहधारी के लिए ही गुरु का पद सुरक्षित नहीं था वह यम, अश्विनीकुमार आदि देव, यक्ष अथवा स्वय ब्रह्म तक भी हो सकता था। जीवित ही नहीं कोई भी पार्थिव तत्व गुरु बनने मे समर्थ था, दत्तात्रेय के चौबीस गुरु इसी प्रकार के थे। हम और कपोत आदि के गुरु बनने की कथा भी हमे पुराणों मे मिलती है। कागभुशुडि द्वारा गुरु के वरासन पर बैठकर विष्णु-वाहन गरुड को शिक्षा देने तक का दृष्टान्त भी हमारे सम्मुख है। गुरु कौन हो, इसका कोई ध्यान न था। गुरु का स्थान ग्रहण कर लेने के पश्चात् वह सब प्रकार से श्रेष्ठ एवं पूजनीय हो जाता था।

छान्दोग्य उपनिषद् मे हम एक आख्यान देखते है जिसमे हरिद्रुमत गौतम ने अपने शिष्य सत्यकाम से, जो कि ऋषभ, वायु, अग्नि, हंस तथा मद्गु से ब्रह्म-विद्या का ज्ञान पा चुका था, पूछा—तू ब्रह्मवेत्ता-सा भासित हो रहा है, तुझे किसने उपदेश किया है? सत्यकाम ने उत्तर दिया—मनुष्यों से भिन्न देवताओं ने। मनुष्य होने पर तो मुझे श्रीमान् के शिष्य को उपदेश करने का साहस ही कौन कर सकता है। अब मेरी इच्छा के अनुसार भगवन् ही मुझे उपदेश करें। औरो के कहे हुए से मुझे क्या लेना है। अभिप्राय यह है कि मैं उसे कुछ भी नहीं समझता।[1] तथा उसका कारण यह बतलाया कि मैंने श्रीमान् जैसों से सुना है कि आचार्य से जानी गई विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है तब आचार्य ने उसे उसी विद्या का उपदेश किया। उसमे कुछ भी न्यून नहीं हुआ।[2]

उपर्युक्त दोनों मंत्रो से यह ध्वनि निकलती है कि शिष्य के लिए गुरु के समान विद्वान मनुष्यों मे तो कोई है ही नहीं, गुरु की श्रेणी मे देववर्ग के प्राणी भी नहीं आते तथा उनसे किसी विषय की विद्या एवं ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी गुरुमुख से प्राप्त किये बिना वह विद्या साधुता को प्राप्त नहीं होती न फलवती ही होती है। दूसरा अर्थ यह निकलता है कि गुरुमुख ज्ञान ही साधुता को प्राप्त होता है, ऐसा सर्वमान्य था। अन्य विद्याओं की

---

१. ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य
इति ह प्रतिजज्ञे भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ छा० ४।९।२

स चाह सत्यकामोऽन्ये मनुष्येभ्यो देवा मामनुशिष्टवन्तः, कोऽन्यो भगवच्छिष्यं मां मनुष्यः सन्ननुशासितुमुत्सहेतेत्यभिप्रायः। अतोऽन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान्। भगवांस्त्वेव मे कामेऽमेच्छायां ब्रूयात्किमन्यैरुक्तेन नाहं तद्गणयामीत्यभिप्रायः ॥ शा० भा० छा० ४।९।२

२. श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ॥ छा० ४।९।३

......भगवत्समेभ्य, ऋषिभ्यः आचार्याद्धैव विद्याविदिता साधिष्ठं साधुतमत्वं प्राप्नोति प्राप्नोतीत्यतो भगवानेव यदिदुक्त आचार्योऽब्रवीत्तस्मै तामेव दैवतैरुक्तां विद्याम् ॥ शा० भा० छा० ४।९।३

भाँति ही गुरु शिष्य के परस्पर सम्बन्ध तथा गुरुमुख विद्या की श्रेष्ठता का प्रसार गुरु शिष्य परम्परा से चल रहा था।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में वेदान्त की परमगुह्य ब्रह्म विद्या का उपदेश सुपात्र पुत्र अथवा शिष्य के अतिरिक्त किसी को न देने का आदेश है।[1] इस प्रकार गुरु के लिए भी विद्यादान की मर्यादा निश्चित की गई है तथा शिष्य को पुत्र के समकक्ष माना गया है। गुरु पितृरूप में अथवा उसके समकक्ष मान्य है। श्वेताश्वतर में एक उद्‌गार है जिस व्यक्ति की परमेश्वर में अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरु में भी है, उस महात्मा के प्रति कहने पर ही इन तत्त्वों का प्रकाश होता है।[2] गुरु-भक्ति के विषय में इससे अधिक स्पष्ट आदेश और क्या हो सकता है। यही मत शांकरभाष्य में इस प्रकार है—परमात्मा के समान ही गुरु में भक्ति रखने वाले गुरुभक्त में परम गुह्य ब्रह्मविद्या स्वात्मनुभव का विषय होती है।[3] सम्भवतः यह गुरुभक्ति तथा उसके साथ जुड़ा हुआ स्वात्मनुभव परवर्ती संत-साहित्य में पराकाष्ठा पर पहुँचने में समर्थ हुए।

महाभारत में महर्षि अयोदधौम्य के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करने वाले शिष्य आरुणि तथा उपमन्यु की गुरुभक्ति अत्यन्त स्तुत्य है। महर्षि ने एक दिन आरुणि को खेत की मेड़ में बह जाने वाले पानी को रोकने की आज्ञा दी। कुछ देर पश्चात् आरुणि को न देखकर अन्य विद्यार्थियों से पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वह गुरु की आज्ञानुसार खेत की मेड़ बाँधने के लिए गया है। यह जानकर आचार्य शिष्यों के साथ खेत पर गये। बार-बार मिट्टी से पानी को रोकने के प्रयत्न में सफल न होने पर आरुणि स्वयं मेड़ के टूटे स्थान पर लेट गया था और अपने इस अपूर्व प्रयत्न से उसने जलप्रवाह को रोक दिया था। गुरुदेव के द्वारा आरुणि के पुकारे जाने पर वह मेड़ के स्थान से उठकर गुरुदेव के समीप गया और प्रणाम करके आज्ञा माँगी तथा पानी रोकने का रहस्य निवेदन किया। आरुणि के उठ जाने पर पानी के बह निकलने के कारण आचार्य अयोदधौम्य ने उसको 'उद्दालक' नाम दिया तथा बिना पढ़े ही सब विद्याओं का ज्ञान हो जाने का आशीर्वाद प्रदान किया।[4] अयोदधौम्य के दूसरे शिष्य उपमन्यु के विषय में कहा गया है कि उपमन्यु को उन्होंने गायें चराने के कार्य में नियोजित किया था। उसकी परीक्षा की कसौटी पर कसने के लिए उसके भोजन के सभी मार्ग बन्द कर दिये। इस पर भी वह विचलित न हुआ तथा अपना कार्य यथावत् करता रहा। क्षुधा से अत्यन्त व्याकुल होने पर उस सहज बुद्धि भोले बालक ने आक के

---

१ वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ श्वे० ६।६।२२

२. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वे० ६।६।२३

३. एवं गुरुरूपा विद्याय महाविद्या दुर्लभेति स्तागन्तितम्य गुरयाधिकारिणो महात्मन उच्यन्ते कथिता ह्यर्थाः कविनोपदिष्टा अथा प्रकाशन्ते स्वानुभवाय भवन्ति॥ शा० भा० श्वे० ६।८।२३

४ महाभारत आ० प० ३।२२ से ३३

पत्ते खा लिये जिससे कि वह नेत्रविहीन हो गया तथा संध्या समय आश्रम की ओर गायें ले जाते समय ठीक मार्ग न पाकर एक कुएँ में गिर गया। रखवाले के बिना गायों के आश्रम में पहुँचने पर आचार्य को चिन्ता हुई। उन्होंने यह भी सोचा कि कोमल हृदय बालक भोजन के अभाव के कारण भाग न गया हो, अस्तु वे उसको खोजते हुए वन की ओर चल पड़े। गुरु के द्वारा पुकारे जाने पर एक कूप के अन्दर से उपमन्यु ने उत्तर दिया तथा अपनी नेत्र-ज्योतिहीनता का निवेदन किया। गुरु की आज्ञा से उसने देवों के वैद्य अश्विनीकुमारों का स्तवन किया। अश्विनीकुमारों ने प्रकट होकर उसकी क्षुधा शान्ति के लिए भोजन प्रस्तुत किया परन्तु उस गुरुभक्त बालक ने गुरुदेव को अर्पित किये बिना खाने से इन्कार कर दिया। अश्विनीकुमारों द्वारा यह कहने पर कि उसके गुरु अयोदधौम्य ने भी पहले इसी प्रकार की स्थिति में बिना अपने गुरु को निवेदन किए हुए ही भोजन कर लिया था। उपमन्यु का यही आग्रह रहा कि उनके गुरु ने चाहे जो किया हो वह अपने गुरु की आज्ञा के बिना भोजन नहीं ग्रहण कर सकता। इस अटल गुरुभक्ति से प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने उसे नेत्र प्रदान किए तथा उसे आचार्य की अपेक्षा अधिक सौन्दर्यवान् बना दिया, उसके दाँत स्वर्ण के समान हो गये। गुरु की आज्ञा के बिना पुए खाने से उनके दाँत काले हो गये थे। इस भाँति गुरु द्वारा ली हुई परीक्षा में उपमन्यु सफल हुए।[1] ऐसे ही आख्यानों के कारण परवर्ती सन्तों की यह उक्ति लोक में प्रचलित है।

गुरु कहे सो कीजिए, करे सो करिये नाहिं॥

महाभारत के धनुर्वेदाचार्य द्रोण को कौन नहीं जानता। गुरुप्रदत्त विद्या ही श्रेष्ठ समझी जाती थी, इसका ज्ञान हमें एकलव्य के उपाख्यान से भलीभाँति हो जाता है। आचार्य द्रोण ने एकलव्य को अपने शिष्यमण्डल में स्वीकार नहीं किया परन्तु उसने वन में जाकर आचार्य की मृत्तिका प्रतिमा स्थापित कर उसे ही गुरु मानकर धनुर्वेद का निरन्तर अभ्यास किया। फल यह हुआ कि धनुर्विद्या में उसे जो दक्षता प्राप्त हुई उसने आचार्य के पटुतम शिष्य अर्जुन भी हतप्रभ हो गये। अपने प्रिय शिष्य अर्जुन की सर्वश्रेष्ठता को बनाये रखने के लिए गुरु द्रोणाचार्य द्वारा गुरु दक्षिणा में उसके दाहिने हाथ का अंगूठा माँगे जाने पर मन में बिना किसी विकल्प को लाये हुए उसने सादर समर्पित कर दिया और चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई अपनी धनुर्विद्या को सहर्ष दान सदैव के लिए कर दी[2]—अपनी असीम गुरुभक्ति के कारण। ऐसे कितने ही उपाख्यान महाभारत में विद्यमान हैं।

रामायण में भी महर्षि वशिष्ठ तथा महर्षि विश्वामित्र का प्रतिष्ठित गुरुपद तथा उसके साथ संलग्न गुरुभक्ति का वर्णन द्रष्टव्य है। किसी भी महत्वपूर्ण तथा विषम परिस्थिति में गुरुदेव के आदेश से ही परिस्थिति सुधरती दिखाई पड़ती है। कभी गुरुदेव का आगमन राजगृह में होता है परन्तु बहुधा राजा गुरुगृह की ओर प्रस्थान करते हैं। इस

१. आदि पर्व 'महाभारत' ३।३५ से ७७
२. आदि पर्व 'महाभारत' १३१।३४ से ५८
द्रोण पर्व 'महाभारत' १८१।१७

काल मे गुरु के वास्तविक दैहिक सान्निध्य से ही प्रेरणा प्राप्त होती जान पड़ती है। कालान्तर मे प्रेरणा की प्राप्ति अशरीरी गुरु तथा गुरु के मनोमय चिन्तन के द्वारा भी होने लगी। अपनी ग्राहिका शक्ति के अनुसार शिष्य पृथ्वी, जल, वायु, वृक्ष आदि भौतिक तत्वो एव पदार्थों से प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

वेदो से चली आती हुई गुरुभक्ति की धारा बौद्ध धर्म तथा दर्शन के अभ्युत्थान मे भी अक्षुण्ण बनी रही। प्राचीन बौद्धो मे गुरु को 'कल्याण मित्र' कहा गया है। वह शिष्य का मार्ग-प्रदर्शक था जिसका अनुगमन कर शिष्य अपना कल्याण कर सकता था। भगवान् बुद्ध स्वय मार्ग प्रदर्शक थे। महायान मे गुरु को सर्वज्ञ तथा उपायकुशल कहा गया है। तदनुसार गुरु के कत्तव्यो मे वृद्धि हुई तथा उसका कर्त्तव्य शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे उपायो के सफल प्रयोग का ज्ञान देना हो गया। वज्र तत्र ने गुरु को और भी अधिक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

बौद्ध धर्म के पतन तथा वैष्णव, शैव और शक्ति तत्रो के अभ्युदय के साथ बुद्धकालीन गुरु-परम्परा की महत्ता कम नही हुई वरन् दिनोदिन बढती ही गई। इसका कारण उन तत्रो मे प्रयुक्त कठिन साधना पद्धति थी। सिद्धो के द्वारा अपने शरीर मे प्राण एव अपान की पारस्परिक खीचातानी, इडा पिंगला की विषमता मे समता लाकर सुषुम्ना मे लीन कराने की चेष्टा तथा अत और बाह्य शक्तियों के रूपो मे सदा एक दूसरे को अभिभूत करने का प्रयत्न आदि जटिल साधनाओं ने गुरु की अनिवार्यता पर जोर दिया। सिद्धो की महामुद्रा आदि की साधना मे भी गुरु का माहात्म्य तथा आवश्यकता वैसी ही बनी रही।

घरण्ड सहिता मे गुरुप्रदत्त विद्या, गुरु माहात्म्य तथा गुरु-सेवा के सम्बन्ध मे स्पष्ट एव प्रामाणिक उद्धरण हैं। सहिताकार ने वही ज्ञान उपयोगी और सशक्त माना है जो गुरु के मुख से प्राप्त हो अन्यथा-ज्ञान निरर्थक, अशक्त और दुखदायी हो जाता है।[1] गुरु ही पिता है, माता है तथा देव (ईश्वर) भी है, इसमे सशय नही। इसीलिए मन, वचन, कर्म से गुरु की सेवा सब को करनी चाहिए।[2] गुरु की कृपा से सभी शुभ वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है। अत गुरु की सेवा नित्य करनी चाहिए अन्यथा मगल होने की सभावना नही है।[3] बौद्ध तथा शाक्त तत्रो, सिद्धो तथा नाथो की साधना मे जहाँ प्राणायाम, षटकर्म, अष्टागयोग-मुद्रा, श्वास-प्रश्वास का सचालन और नियत्रण, नादानुसधान आदि यौगिक प्रक्रियाओ की साधना करनी पडती थी, गुरु तथा मत्र आवश्यक ही नही अनिवार्य हो गये।[4] सिद्धयोग मे सिद्ध

---

१. भवेद्वीर्यवती विद्या गुरु वक्त्र समुद्भवा।
   अ यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यति दु खदा॥ घेरड सहिता ३।१०

२ गुरुर्पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न सशय ।
   कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वै प्रसेव्यते॥ घेरड सहिता ३।१३

३. गुरुप्रसादत सर्वं लभ्यते शुभमात्मन ।
   तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभ भवेत्॥ घेरड सहिता ३।१४

४ नाथदर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० ११६
   योगांक—शकर पुरुषोत्तम तर्थ, पृ० १७३—कल्याण

गुरु की कृपा से सहज ही में योगसिद्ध हो जाता है। किसी अन्य क्रिया की आवश्यकता ही नहीं होती। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य' की भूमिका मे यही मत प्रकट किया है कि नाथपंथी योगियो, सहज और वज्रयानियो, तान्त्रिको और परवर्ती सतो मे इसीलिए सद्गुरु की महिमा इतनी फैल गई है। सद्गुरु के बिना जगत् के चाहे और सभी व्यापार हो जावें पर यह जटिल साधना-पद्धति नहीं हो सकती।[1]

हिन्दी सत साहित्य की पृष्ठभूमि में यह गुरु-परम्परा अपने पूर्ण महिमामय विकसित रूप मे विद्यमान थी। यद्यपि गुरु का स्वरूप वज्रयानियो आदि के हाथ मे पडकर कलुषित भी हो गया था। परन्तु जगत् का भला देखने वाले सतो ने उसके पवित्र स्वरूप का ही अवलोकन करके उसी को ग्रहण किया। उन्होने योग से प्रभावित साधना के मार्ग को अपनाया तथा उसके लिए उन्हे गुरु की अनिवार्यता का अनुभव हुआ। वेदो से प्रवाहित होती हुई गुरुभक्ति की धारा अनेक कालो में होकर बृहत् रूप धारण करती हुई गुरु की धारणा के अनेक दृष्टिकोणो के साथ हिन्दी के मध्यकालीन सतसाहित्य मे सम्मिलित हुई। निगुरा होना सतसाहित्य मे हेय समझा जाने लगा और गुरु-महिमा-गान की महत्ता यहाँ तक बढी कि मगलाचरण में इष्टदेव के स्तवन के स्थान पर गुरु-महिमा वर्णन प्रयुक्त होने लगा। मगलाचरण मे गुरु-महिमा को स्थान मिलना उसकी व्यापक महत्ता का द्योतक है। कबीर की साखियों का प्रारम्भ गुरु-वदना से ही होता है। कबीर तो गुरु को गोविन्द से भी बडा मानते हैं। गुरु की कृपा से, उनके पथ-प्रदर्शन से ही गोविन्द से मिलन सम्भव है।[2] कबीर को सद्गुरु से अधिक अपना घनिष्ठ कोई नही दिखाई देता।[3] सद्गुरु की महिमा ऐसी अपरपार है कि वह अपने सदुपदेश से अल्पकाल मे ही मानव को देवत्व के उच्च पद पर पहुँचा देता है।[4] सत्गुरु की महिमा अनन्त है। अपनी अनन्त महिमा के द्वारा वह मनुष्य को अनन्त दृष्टि-सम्पन्न बनाकर उस अनन्त शक्ति का दर्शन कराकर जो उपकार करता है उसका अन्त नही।[5]

कबीर लोक-प्रचलित तथा वेद-प्रतिपादित मतो के अनुयायी नही थे। इन दोनो का अन्धानुसरण करना अधकार मे भटकना है। सद्गुरु के मिलन से ही साधक शिष्य को स्वयप्रकाश ज्ञानदीप प्राप्त होता है जो कि अधकारमय ससार मे उसके लिए उपयुक्त पथ-प्रदर्शन

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५

२. गुरु गोविंद दोऊ खड़े का के लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपकी जिन्ह गोविंद दियो दिखाय। ४ — स० बा० सं० भा० १, पृ० २

३. सतगुरु सँवान को हितू हरिजन सइँ न जाति। १ — क० ग्र०, पृ० २

४. बलिहारी गुरु आपणे द्यौं हाडी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता करत न लागी बार। २ — क० ग्र०, पृ० १

५. सतगुरु की महिमा अनँत अनँत किया उपकार।
लोचन अनँत उघाड़िया अनँत दिखावणहार। ३ — क० ग्र०, पृ० १

करने मे सहायक होता है।[1] वास्तव में गुरु तथा गोविन्द दोनो एक ही हैं। भेद आकार मात्र का है। 'वाचारम्भण विकारो नाम धेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्' के अनुसार सत्य तो केवल ब्रह्मतत्त्व है। मनुष्य का 'अहम्' मिट जाने पर, 'मैं' 'मेरा' का भाव विलीन हो जाने पर ही आत्मा और परमात्मा का मिलन सभव होता है।[2]

गुरु के सिवा अन्य किसी मे वह सामर्थ्य नहीं जो इस ससार मे मनुष्य का पथ-प्रदर्शन कर सके। भ्रांति, अहकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर तथा माया आदि विकारो से युक्त इस ससार मे राह दिखाने वाला केवल सद्गुरु ही है।[3] सद्गुरु मे ही वह क्षमता है जो विषय-कपाटो को उघार कर परम तत्त्व का दर्शन कराता है। जो निगुरा हो अर्थात् जिसके गुरु ही न हो उसके विषय मे क्या कहा जाय। उसका मार्ग प्रदर्शन कौन करे? एक ओर जब गुरु निर्दिष्ट मार्ग बतलाता है तब परमात्मा से मिलन होता है परन्तु दूसरी ओर परमात्मा जब स्वय कृपा करते हैं तभी गुरु की प्राप्ति होती है। सबसे अधिक ध्यान देने की बात तो यह है कि आत्मा ज्ञान के प्रकाश से तभी प्रकाशित होती है जब गुरुप्राप्ति का सौभाग्य मिलता है।[4] गुरुप्रदत्त इस ज्ञान-प्रकाश के द्वारा ही उस अवेद्य परमशक्ति को पहिचाना जा सकता है। प्रिय मिलन के असीम आनन्द का वर्णन होना असम्भव सा ही है। धन्य है वह सद्गुरु जिसकी कृपा-कटाक्ष से परमानन्द प्राप्त होता है। सद्गुरु की प्राप्ति के पश्चात् अन्य कुछ वाछित ही नहीं रह जाता। शेष सब आकाक्षित स्वत प्राप्त हो जाते हैं।

अपने रग मे रग कर अपने प्रभाव से प्रभावित कर साधक को अपने समान बना लेने वाला यदि कोई है तो वह है गुरु। भृगी अन्य जातीय कीटो को अपने प्रभाव से भृगी ही बना लेता है, ठीक यही स्थिति गुरु की है। पुनीता गगा मे अनेक नदी-नाले मिलकर अपना अस्तित्व खोकर भी महानता को प्राप्त करके गगा ही कहलाते हैं। मर्यादावान् सागर मे कितनी ही सरिताएँ मिलकर सागर का ही रूप ले लेती हैं, उसी प्रकार गुरु के महान् व्यक्तित्व से प्रभावित होकर शिष्य भी उसी के समान हो जाता है। गुरु मे ही यह क्षमता है कि वह

---

१ पाछै लागा जाइ था लोक वेद के साथि।
आगै थैं सतगुर मिल्या दीपक दीया हाथि॥ ११ — क० ग्र०, पृ० २

२. गुरु गोविंद तौ एक है दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै तौ पावै करतार॥ २६ — क० ग्र०, पृ० ३

३. गुरु बिन कौन बतावे बाट, बड़ा विकट यम घाट।
भ्रांति की पहाड़ी नदिया बीच में अहकार की लाट।
काम क्रोध दो पर्वत बीच में, लोभ चोर सघात।
मद मत्सर का मेह बरसता माया पवन बहै दाट।
कहत कबीर सुनो भाई साधो क्यों तरना यह घाट॥

४. ग्यान प्रकास्या गुरु मिल्या सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोविंद कृपा करी तब गुरु मिलिया आइ॥१३ — क० ग्र०, पृ० २

चंचल मन को निश्चल और एकाग्र बनाकर अगम्य को गम्य कराकर अप्राप्तव्य की प्राप्ति करा देता है।[1]

जीव (आत्मा) जीवनपर्यन्त विषय भोग मे ही लिप्त रहता है। बाल्यकाल विविध बाल-क्रीडाओ मे, युवावस्था यौवन की रंगीनियो मे तथा वृद्धावस्था रोग की दारुण व्यथा के सहने मे ही बीत जाती है। इन विषय-विकारो से युक्त ससार मे जीव आनन्द की निरर्थक खोज करने मे सलग्न रहता है परन्तु अपने अज्ञानवश वह नही जानता कि वह परम अन्वेषणीय तत्त्व स्वय उसी मे निहित है। जिस प्रकार कस्तूरी मृग की नाभि मे ही कस्तूरी होती है परन्तु वह कस्तूरी की ही खोज मे दौडा घूमता है, उसी प्रकार उसका जीवन भटकते-भटकते ही बीत जाता है। इन व्याधियो—इन कष्टो को दूर करने वाला एकमात्र गुरु है, ऐसा मत कबीर घोषित करते है। सासारिक धन-यौवन तथा सम्पूर्ण सुख साधन अत्यन्त क्षणिक है। यदि स्थायित्व है तो वह गुरु के ज्ञानमय उपदेश मे ही।[2]

कबीर के विचारो मे गुरु आत्मा और परमात्मा मे मध्यस्थ का काम करता है। वही दोनो का सयोग कराता है। सयोगावस्था मे चाहे गुरु की आवश्यकता न हो पर जब तक आत्मा और परमात्मा का सयोग नही होता तब तक गुरु का साथ सदैव आवश्यक है, अन्यथा मार्ग भूलकर आत्मा के अन्यत्र भटक जाने की आशका है। इस सम्बन्ध मे कबीर के सुन्दर रूपक पठनीय है। सरोवर के तट पर स्थित हसिनी तृषा मे व्याकुल हो रही है पर उसे वह युक्ति ज्ञात नही जिससे वह सरोवर का जल पीकर अपनी तृषा शान्त कर सके। परमात्मा के निकट ही जीव उससे मिलने के लिए आकुल है पर मिले कैसे, वह उस युक्ति को नही जानता। कुएँ के ऊपर खडी पनिहारिन के पास यदि पानी भरने के साधन रूप रस्सी नही है, तो उसका कलश रीता ही रह जायगा। गुरु द्वारा दिया हुआ ज्ञान ही वह युक्ति

---

१ गुरु बड़े भृंगी हमारे गुरु बड़े भृंगी।
कीटमों ले भृंग कीन्हा आपसा रंगी।
पांव औरै कोड सब भये भृंगा पंख औरै और रंग रंगी।
जाति कुल ना लखै कोई सब भये भृंगी।
नदीनाले मिले गंगे कहलावें गंगी।
दरियाव दरिया जा समाने संग में संगी।
चलत मनसा अचल कीन्ही मन हुआ पंगी।
तत्तमें नि:तत्त दरसा संगमें संगी।
बंधने निर्बंध कीन्हा तोड़ सब तंगी।
कहैं कबीर दिया अगम गम नाम रंग रंगी। १६७ 	क० ग्र० क०, पृ० ३३६

२. पलै प्याला हो मतवाला प्याला नाम अमीरस का रे।
बालापन सब खेलि गँवाया तरुन भया नारी बस का रे।
बिरध भया कफ बाय ने घेरा खाट पड़ा न जाय खसका रे।
नाभिकमल बिच है कस्तूरी जैसे मिरग फिरे बन का रे।
बिन सतगुरु इतना दुख पाया बैद मिला नहिं इस तन का रे।

है जिससे जीवरूपी हथिनी अपनी ब्रह्मपिपासा को शांत कर सकती है तथा वही ज्ञान गुणमय रज्जु है जो अमृत तत्त्व की प्राप्ति में साधन का कार्य करता है।[1]

आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए विह्वल है। उसे एक ऐसे दुर्गम पथ (प्रेम पथ) को पार करना है जिस पर एक-एक पग बड़े यत्न से सँभालकर रखना होता है। मार्ग ऊँचा-नीचा और विषम है उस पर भी फिसलन है जहाँ पैर ठहरना असम्भव सा ही प्रतीत होता है। लोकलज्जा और कुल की मर्यादा के कारण मन में संकोच हो रहा है। संसाररूपी पितृगृह में रहने वाली आत्मा प्रिय मिलन हेतु ससुराल जाने में लजा रही है। प्रियतम का निवास ऐसे दुर्गम स्थान पर है कि आत्मा को उसकी प्राप्ति के लिए बार-बार सदेह होता है। जीव प्रेम-मार्ग में उपस्थित इन विघ्नों को देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है। ठीक इसी समय उसकी सद्गुरु-रूपी दूती से भेंट होती है और वह प्रिय मिलन के सम्पूर्ण रहस्यों का उद्घाटन कर देता है। उस पथ प्रदर्शन को आधार बनाकर जीव प्रियतम तक पहुँच जाता है। आत्मा-परमात्मा का सुखद संयोग हो जाता है। आध्यात्मिक आनन्द के प्रबल वेग में आत्मा अनन्त सत्य से जा मिलती है जहाँ प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।[2] चरनदास ने भी गुरु को दूती के समान कहा है। प्रिय के मिलन में मध्यस्थ का कार्य करती है दूती, उसी प्रकार परमात्मा का साक्षात्कार कराने में गुरु मध्यस्थ का कार्य करता है। गुरु के बिना परमात्मा का प्रत्यक्ष संभव नहीं। यदि साधक की इच्छा हो तो वह जप, तप, तीर्थ-स्नान आदि सब बाह्य साधनों को अपनाकर देख ले परन्तु गुरु के बिना परमात्मा से संयोग होने की आशा नहीं। तात्पर्य यह, कि चरनदास जप, तप, तीर्थ व्रत आदि की अपेक्षा गुरु को ही सर्वश्रेष्ठता प्रदान करते हैं।

मात-पिता बंधु सुत तिरिया संग नहीं कोइ जाय सका रे।
जब लगि जावै रूप मुख लेगा धन जोबन है दिन दस का रे। २१७ — द० ग्र० क०, पृ० ३४८

[1] मन्दर तजि कृषिलेरी तिन्हाइ।
जुगति बिन हरि जल पिया न जाइ।
पिया चहै तो ले रस मारा, उड़ि न सके दोऊ पर भारी।
कुंभ लिये ठाढ़ी पनिहारा, गुण बिन नीर भरे कैसे नारी।
कहै कबीर गुरु एक बुधि बताइ, सहज सुभाइ मिले राम राइ। २१८ — क० ग्र०, पृ० १८१

[2] मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय जाय।
समुझि सोचि पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय।
लोक लाज कुल की मरजादा देखत मन सकुचाय।
नैहर वास बसा पीहर में लाज तजी नहिं जाय।
अधर भूमि जँह महल पिया का हम पै चढ़ी न जाय।
धन भइ बारी पुरुष भये भोला सुरत झकोरा खाय।
दूती सतगुरु मिले बीच में दीन्हों भेद बताय।
साहब कबीर पिया सो भेंट्यो सीतलकंठ लगाय। — कबीर वचनावली, पृ० १३७

समस्त ससार ब्रह्ममय है। ससार मे स्थित जीव भी ब्रह्म है। ब्रह्मरूपी हीरा जीवरूपी हीरे में व्याप्त है। उसी की आभा से सर्वत्र ज्योतिर्मय होता है पर उस गुप्त हीरे की पहिचान करने वाला हस के समान गुणग्राही यदि कोई हो तो वही इस रहस्य को जान सकता है। कबीर के अनुसार वह ब्रह्मरूपी हीरा जो कि सम्पूर्ण ससार मे परिव्याप्त होने पर भी किसी के द्वारा जाना नही जाता, तभी प्रकट हो जाता है जब कि गुरु के द्वारा उसके रहस्य का निदर्शन करा दिया जाता है।[1]

कुम्भकार मृत्तिका पात्रो को मनचाहा आकार प्रदान करता है। बनाते समय ऊपर मे वह मिट्टी पर चोट करता है पर भीतर से मिट्टी को हाथ का सहारा दिए रहता है जिससे कि पात्र सुडौल बने। इसी प्रकार गुरु अपने कठोर प्रतीत होने वाले आचरण के द्वारा शिष्य को अनुशासन मे रखता है पर साथ ही अपनी कृपा तथा उदारता का अवलम्बन शिष्य को प्रदान करके उसके वास्तविक चरित्र का निर्माण करता है। कबीर ने गुरु को साधक का चरित्र-निर्माता भी माना है।[2] इस प्रकार के महत्तासम्पन्न गुरु का मूल्य किसी प्रकार आँका नही जा सकता। यह मानव-तन विष की वेल है। क्षणभगुरता इसमे है ही, साथ ही घातक कटुता भी है। गुरु ही ऐसा है जो इसको मृदुता प्रदान करके शाश्वत बना सकता है। अत गुरु की उपलब्धि के लिए यदि सिर भी देना पडे—बडे से बडा बलिदान भी करना पडे तो वह उसके मूल्य के सम्मुख नगण्य ही है।[3]

जहाँ एक ओर सद्गुरु की महिमा के गीत गाये जा रहे थे वही सद्गुरु की शक्ति के प्रति जनता म अध विश्वास भी प्रचलित हो गया था। छद्मवेषधारी गुरु अपनी चमत्कारिक शक्ति का प्रदर्शन करके जनसाधारण को आतकित करते हुए उसे विविध प्रकार से धोखे मे डाल रहे थे। इस प्रकार के बनावटी गुरुओ से किसी को कोई लाभ नही था। इनकी दशा किसी से छिपी न थी। इस सम्बन्ध मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन विचारणीय है—"साधारण जनता को सद्गुरु की कृपा के नाम पर आतकित करने वाले और उन पर रौब जमाने वाले छोटे-मोटे योगियो की एक विराट वाहिनी जरूर तैयार हो गई होगी। ऐसा सचमुच ही हुआ था। ऐसे अलख जगाने वाले योगियो से सचमुच ही सारा देश भर गया था।[4]" ये अपने शिष्यो सहित दुष्कर्मों के कूप मे उसी प्रकार पतित होते थे जिस प्रकार

---

१. हीरै हीरा बेधि पवन मन सहजे रह्या समाई।
सकल जोति इन हीरै बेधी सति गुरु बचनो मैं।
हरि की कथा अनाहद बानी हस है हीरा लेइ पिछानी।
कहि कबीर हीरा अस देख्यो जग महि रह्या समाई।
गुपता हीरा प्रगट भयो जब गुरु गम दिया दिखाई। २२१ — क० ग्र०, पृ० ३३२

२. गुरु कुम्हार सिष कुंभ है गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै बाहर बाहै चोट। ९ — कबीर, स० बा० सं० भा० १, पृ० २

३. यह तन विष की बेलरी गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिलै तौ भी सस्ता जान। १६ — सं० बा० स० भा० १, पृ० ३

४. हिन्दी साहित्य की भूमिका — ह० प्र०, पृ० ६६

एक अंधा दूसरे अंधे को ठेलता है और दोनों कुएँ में गिरकर विनष्ट हो जाते हैं।[1] इस प्रकार के पतित जन न किसी के वास्तविक गुरु बन सकते हैं और न किसी को अपना शिष्य ही बना पाते हैं, केवल लोभ के वशीभूत होकर वे तरह-तरह के प्रपंच रचा करते हैं। पत्थर की नाव पर चढ़कर जल-प्रवाह को पार करने की इच्छा रखने वाले के सदृश कृत्रिम वेषधारी, कपटी गुरु और शिष्य दोनों ही मँझधार में डूब जाते हैं।[2] गुरु शिष्य के इस कपटमय सम्बन्ध की तुलसी ने भी कड़े शब्दों में भर्त्सना की है

> गुर सिष बधिर अन्ध कर लेखा, एक न सुनइ एक नहिं देखा।।
> हरइ सिष्य धन सोक न हरई, सो गुर घोर नरक महुँ परई॥
>
> तु० रा०, उ० का० ९८।४

स्वार्थी तथा कपटी एवं अज्ञानी गुरु और मूर्ख तथा अहंकारी शिष्य का जोड़ा अंधे और बहरे के जोड़े के समान है। अपने अज्ञान तथा स्वार्थपरता के कारण गुरु सत्य के स्वरूप को नहीं देख पाता तथा शिष्य गुरूपदेश के प्रति बधिर रहता है। ऐसे पामर गुरु शिष्य के धन का हरण करते हैं उसके संताप का नहीं और अपने इसी दुष्कृत्य के कारण नरक की घोर यातना भोगते हैं। प्रायः यही बात इस संस्कृत के निम्नलिखित श्लोक में भी दृष्टिगत होता है

> गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
> विरला गुरवस्ते ये शिष्यसंतापहारकाः॥

शिष्य के धन को हरने वाले गुरु बहुत हैं परन्तु शिष्य के संताप का हरण करने *वाले सच्चे गुरु विरले ही हैं। अनेक प्रकार के आडम्बर रचने वाले 'कान फूँकने वाले' गुरुओं* का क्षेत्र इस संसार तक ही सीमित है परन्तु उस असीम और अनन्त का ज्ञान कराने वाला गुरु दूसरा ही होता है। ऐसे सद्गुरु के मिलने से ही मनुष्य अपने वास्तविक निवास-स्थान (ब्रह्म) को प्राप्त कर सकता है।[3] जब तक पूर्णता की प्राप्ति, सद्गुरु का मिलन नहीं होता, शिक्षा अपूर्ण रहती है। कृत्रिम गुरुओं में न विद्वत्ता होती है, न उनके द्वारा दी हुई शिक्षा ही फलदायिनी होती है। केवल बाह्याडम्बर रचने से, यती का वेष धारण कर लेने से ही कोई गुरु नहीं बन जाता।[4] इन पाखंडी गुरुओं के बीच में सद्गुरु कौन है, किन लक्षणों से युक्त व्यक्ति को हम सद्गुरु कहकर समादरित कर सकते हैं, यह कबीर के निम्नलिखित पद में भलीभाँति देखा जा सकता है

---

१. जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़ंत॥ १५ — क० ग्रं०, पृ० २

२. ना गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव।
दून्यूं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव॥ १६ — क० ग्रं०, पृ० ३

३. कनफूँका गुरु हद का, बेहद का गुरु और।
बेहद का गुरु जब मिलै, लहै ठिकाना ठौर॥ ४ — सं०, क० स० भा० १, पृ० ४

४. पूरा सतगुरु ना मिला, सुनी अधूरी सीख।
स्वाँग जती का पहिरि कै, घर घर माँगी भीख॥

साधो सो सतगुरु मोहि भावै ।
सत नाम का भर-भर प्याला आप पिये मोहि प्यावै ।
मेले जाय न महंत कहावै पूजा भेद न लावै ।
परदा दूरि करै आँखिन का निज दरसन दिखलावै ।
जाके दरसन साहब परसै अनहद सब्द सुनावै ।
माया के सुख दुख करि जानै संग न सुपन चलावै ।
निसदिन सत संगति मे राचै शब्द मे सुरत समावै ।
कहे कबीर ताको भय नाही निरभय पद परसावै ।

नि सन्देह सत्‌गुरु वही है जो रामरस का पान स्वय करता है तथा अपने शिष्य को भी कराता है । वह शिष्य को प्रेम प्याला तब तक पिलाता रहता है जब तक उसकी पूर्ण तुष्टि नही हो जाती । वह मेलो म जाकर महन्त की पदवी धारण नही करता पूजा आदि बाह्याडम्बरो मे लिप्त नही होता तथा आत्म-परमात्मा मे भेद दृष्टि नही रखता । वह अज्ञान का परदा हटाकर आत्मदर्शन कराता है और इस आत्मदर्शन के द्वारा ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है । मायाजन्य सुख को सद्‌गुरु दु ख रूप में ही ग्रहण करता है और उनमे आसक्ति की तो बातें ही क्या स्वप्न मे भी उनका विचार नही करता । वह सदैव सत्सगति मे लगा रहता है तथा भगवत्प्रत्यक्ष मे रत रहता है । वह स्वय तो निर्भय रहता ही है, दूसरो के भी अभय पदप्राप्ति का कारण होता है । गुरु की प्राप्ति तभी सार्थक समझनी चाहिए जब साधक के मोह का नाश हो जाय तथा हर्ष और शोक आदि उसे आह्लादित तथा विषादित न कर सकें ।[1] इस प्रकार सद्‌गुरु के लक्षणो को प्रस्तुत करके कबीर ने कृत्रिम गुरुओ के धोखे मे पडने से जनता को सचेत किया । उस काल म गुरुओ की इतनी अधिकता हो गई थी कि उनम वास्तविक गुरु को पहिचानना भी एक समस्या थी ।

सस्कृत के एक श्लोक म ईश्वर की महत्ता का उल्लेख करने म साक्षात देवी शारदा को भी असमर्थ ठहराया गया है

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धु पात्रे, सुरतरुवर शाखा लेखनीपत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्व कालं, तदपि तव गुणानामीश पार न याति ॥

इसी प्रकार की प्रचलित उक्तियो से प्रभावित होकर कबीर ने गुरु का इस भाँति वर्णन किया है । वे गुरु को परमात्मा से किसी प्रकार न्यून नही समझते थे, इसीलिए सस्कृत श्लोक मे उल्लिखित ईश्वर के गुणो का आरोप उन्होने गुरु मे किया है । वे गुरु को उच्च से उच्च शब्दो से अभिनन्दित करते हैं फिर भी कुछ न कुछ कहने के लिए रह ही जाता है । कबीर सोचते है कि यदि समस्त पृथ्वी को स्वच्छ करके कागज के समान लिखने योग्य बना लिया जाय, सभी वृक्षो को छाँटकर लेखनी बना ली जाय, सभी सागरो मे स्याही घोल दी जाय

---

१ गुरु मिला तब जानिये मिटै मोह तन ताप ।
हर्ष सोक व्यापै नही तब गुरु आपै आप ॥ १४ स० क० स० भा० १, पृ० २

तत्पश्चात् कबीर को यदि लिखने का अवसर मिले तब भी वे गुरु की असीम महत्ता का, उसके अवर्णनीय महत्त्व का उल्लेख करने मे समर्थ न हों।[१] कबीर के गुरु के महान् व्यक्तित्व का उल्लेख करने की संसार मे किसी की भी सामर्थ्य नही है। इस साखी को पढने के बाद गुरु स्तवन मे और कुछ कहना शेष ही नही रह जाता।

मध्यकालीन संतसाहित्य मे गुरु-परम्परा का रूप इतना प्रबल हो गया था कि उसमे गुरु का महत्त्व-वर्णन तो था ही परन्तु उस शिष्य की महत्ता भी प्रतिपादित की गई थी जिसके गुरु होता था। सम्भव है कोई ज्ञान तथा बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति यदि 'सगुरा', न होता होगा तो उसे वास्तविक ज्ञानी तथा साधक की मान्यता न मिलती होगी। तत्कालीन कवियो ने इसीलिए 'सगुरा' तथा 'निगुरा' पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। गोरखनाथ ने 'सगुरा' की श्रेष्ठता को इस प्रकार व्यक्त किया है

गगनमण्डल मे जो अमृत का कूप है उससे मनचाहा अमृत वही प्राप्त कर सकता है जो 'सगुरा' होता है। सहज-सुलभ अमृत के होने पर भी 'निगुरा' तृषाकुल होकर ही अत को प्राप्त होता है। गुरु द्वारा निर्देशित यौगिक प्रक्रियाओं को साधकर ही साधक शून्यमण्डल मे स्थित अमृत को प्राप्त करता है। नाथपथ मे यद्यपि हठयोग की प्रमुखता है इसीलिए गोरखनाथ ने योग-साधना पर ही अधिक जोर दिया है।[२] हम भक्तिमती मीरा को कहते देखते हैं कि 'सगुरा' को अमृत की प्राप्ति होती है गुरु के अवलम्ब से, परन्तु 'निगुरा' को सहज सुलभ जल भी तृषा बुझाने के लिए उपलब्ध नही होता। सतगुरु के मिलन से ही परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।[३] इस संसार मे धन, धाम, परिवार सब कुछ छूट जाने पर भी मीरा को रामरत्न ऐसा अमूल्य धन प्राप्त होगया है जो व्यय करने से घटता नहीं, किसी से अपहरण नही किया जा सकता तथा जो उपयोग मे आने से नित्यप्रति बढता ही जाता है। यह सब गुरु के कारण ही सभव हो सका है। संसार सागर से जीव को मुक्त करने मे सद्गुरु कर्णधार ही समर्थ है।[४]

---

१ धरती सब कागद करूँ लेखनि सब बनराइ।
सात समुद का मसि करूँ गुरु गुन लिखा न जाइ॥ ८ — स० बा० स० भा० १, पृ० २

२ गगन मंडल में ऊँधा कुआ तहाँ अमृत का वासा।
सगुरा होइ सो भरि भरि पावै निगुरा जाय पियासा॥ — गोरखनाथ बानी, पृ० ६

३ मनखा जनम पदारथ पायो ऐसी बहुरि न आती।
अब के मोसर ज्ञान विचारो राम राम मुख गाती।
सतगुरु मिलिया सुज पिछाना ऐसा ब्रह्म मे पाती।
सगुरा सूरा अमृत पीवे निगुरा प्यासा जाती।
मगन भया मेरा मन सुख में गोविंद का गुण गाती।
साहिब पाया आदि अनादी ना तर भव में जाती।
मीरा कहै इक आस आपकी औरां सूं सकुचाती॥ १ — स० बा० स० भा० २, पृ० ६९

४. मैने राम रतन धन पायो।
पायो जी मैंने राम रतन धन पायो।
बस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु किरपा करि अपनायो।

तुलसी के 'मानस' का आरम्भ ही प्राय गुरु-वन्दना से होता है। तुलसी के शब्दों में गुरु मनुष्य के रूप में स्वयं करुणाकर भगवान् ही है। गुरु का उपदेश अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए अनेक सूर्यों के समान है। गुरु चरण-रज सुरुचि, सुगंधि तथा सरस अनुराग से पूर्ण है। सांसारिक व्याधियों का शमन करने के लिए गुरु पद रज संजीवनी औषधि के समान है। वह रज पुण्यवान् पुरुष शिव के शरीर पर सुशोभित निर्मल विभूति के समान सौन्दर्य, कल्याण और आनन्द की जननी है (सत्य, शिव सुन्दरम्) भक्त के मनरूपी दर्पण के मल को दूर करने वाली तथा मस्तक पर धारण करने से गुणों के समूह को वश में करने वाली है। गुरु के चरण नखों की प्रकाशमय ज्योति से हृदय में दिव्यदृष्टि उत्पन्न होती है, अज्ञान-अंधकार का नाश होता है, तथा उसकी प्राप्ति बड़े सौभाग्य का विषय है। गुरु-चरणों की भक्ति से हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं, संसार के समस्त क्लेश मिट जाते हैं तथा भगवान् की महिमा के सभी रहस्य विदित हो जाते हैं। जिस प्रकार सिद्ध अंजन को नेत्रों में लगाकर पृथ्वी में छिपी हुई धनराशि को जान लिया जाता है उसी प्रकार गुरु पद-रज रूपी अंजन को लगाकर भगवान् के व्यक्त तथा अव्यक्त सर्वकालीन चरित्र का ज्ञान हो जाता है। यह रज उस मृदु (आँखों को कडुवा लगने वाला नहीं) अंजन के सदृश है जो नेत्रों के समस्त दोषों को दूर करके उन्हें संजीवनी शक्ति प्रदान करता है। इसी रज को धारण करके तुलसी मानस रचना में संलग्न हुए।[1]

कबीर के समान ही तुलसी ने भी संसार सागर को पार करने के लिए गुरु की उपस्थिति आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य मानी है। साक्षात् ब्रह्मा और विष्णु के समान भी, बिना

जनम जनम की पूँजी पाई जग में सबै खोवायो।
खरचै नहिं कोइ चोर न लेवै दिन-दिन बढ़त सवायो।
सत की नाव खेवटिया सतगुरु भवसागर तरि आयो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर हरषि-हरषि जस गायो। १५७ मी० प०, पृ० ५५

१ बंदउँ गुरुपद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रवि कर निकर॥ ५
बंदउ गुरु पद पदुम परागा सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अमिय मूरिमय चूरन चारू समन सकल भव रुज-परिवारू। १
सुकृति संभु तन बिमल बिभूती मंजुल मंगल मोद प्रसूती।
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी किएँ तिलक गुन गन बस करनी। २
श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू बड़े भाग उर आवइ जासू। ३
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।
सूझहिं रामचरित मनि मानिक गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक। ४
जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान॥१
गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन नयन अमिय दृग दोष बिभंजन।
तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन बरनउँ रामचरित भवमोचन॥ १ तु० रा०, बा० का० १ १

गुरु के संसार से मुक्त नहीं हो सकता। सर्प से डसे हुए प्राणी को गारुडि के समान गुरु ही जीवनदाता है। वैनतेय गरुड को संशयरूपी सर्प ने डस लिया था तथा कुतर्करूपी लहरें उन्हें आ रही थी परन्तु उनके गुरु काग-भुशुण्डि के वचनों से उनका सम्पूर्ण संशय-विष एवं कुतर्क दूर हो गया। गुरु की कृपा से उनका सब मोहजाल नष्ट हो गया तथा भगवान् राम का अनुपम रहस्य विदित हो गया।[1] अस्तु, बिना गुरु के ज्ञान-प्राप्ति की आशा करना दुराशा मात्र है। इतना ही नहीं, तुलसी का तो यहाँ तक कहना है कि जिसे गुरु के वचनों में विश्वास एवं प्रीति नहीं, उसे स्वप्न में भी सुख और सिद्धि सुलभ नहीं। इसीलिए 'मानस' में उमा अन्य किसी बात की चिन्ता न करती हुई अपने गुरु नारद के वचनों में अडिग प्रीति रखती हैं तथा उनको न छोडकर शरीर-त्याग तक के लिए तत्पर हैं।[2] विषम परिस्थितियों से युक्त, अनेक विघ्न-बाधाओं से पूरित तथा नाना प्रकार के क्लेशों से आक्रान्त इस संसार-सागर में सद्गुरु ही ऐसा समर्थ कर्णधार है जो कि जीव का निस्तार कर सकता है।[3] अधिकांश सन्तकवियों ने गुरु को कर्णधार कहा है। दरियासाहब ने गुरु को तैराक रूप में देखा है जो लोभ, मोह की तरंगों से पूरित भवसागर में डूबते हुए को अपना अवलम्ब देकर पार कर देता है।[4] इसी प्रकार गुरु-स्तवन की परम्परा में प्रायः सभी कवियों ने गुरु को ईश्वर की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया है। कबीर को हम देख चुके हैं, तुलसी भी इस विषय में पीछे नहीं हैं। वे कहते हैं कि जो गुरु को भगवान् से भी अधिक मानकर सब प्रकार से सम्मानित कर उसकी सेवा करते हैं उनके हृदय में भगवान् का निवास है।[5] भक्त सुन्दरदास ने भी अनेक तर्कों से

---

१ पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा, जानि राम सम प्रेम बढ़ावा। २
गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।
संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता, दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता।
तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जियायउ जन सुखदायक।
तव प्रसाद मम मोह नसाना, राम रहस्य अनूपम जाना। ४
प्रभु अपने अविवेक ते बूझउँ स्वामी तोहि।
कृपासिंधु सादर कहहु जानि दास निज मोहि॥ तु० रा०, उ० का०, ९३ (ख)
बिनु गुरु होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु॥ १ तु० रा०, उ० का०, ८९ (क)

२. सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा, हठ न छूट छूटै बरु देहा। ३
नारद बचन न मैं परिहरऊँ बसउ भवनु उजरउ नहिं डरऊँ। तु० रा०, बा० का०, ७९।४
गुरु कें बचन प्रतीति न जेही, सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।

३. करनधार सदगुर दृढ़ नावा, दुर्लभ साज सुलभ करि पावा। तु० रा०, उ० का०, ४३।४

४. डूबत रहा भवसिंध में लोभ मोह की धार।
दरिया गुरु तेरू मिला कर दिया पैले पार। ३ दरिया साहिब, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १२६

५ तुमते अधिक गुरहिं जिय जाना, सकल भाव सेवहिं सनमानी।
सबु करि मागहिं एक फलु रामचरन रति होउ।
तिन्ह के मन-मन्दिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ। तु० रा०, अयो० का० १२९

द्वारा गुरु की महिमा को परमात्मा की महिमा से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया है। ईश्वर मनुष्य को इस संसार में जन्म देकर उसके शुभाशुभ कर्मानुसार उसके लिए स्वर्ग तथा नर्क की व्यवस्था करता है परन्तु गुरु का कार्य इसमें बढ़कर है। वह जीव को आवागमन के फंदे से मुक्त कर उसे परम स्वच्छन्द कर देता है। ईश्वर का बनाया हुआ यह प्राणी संसार-सागर में नाना प्रकार से डूबता उतराता है परन्तु गुरु ही ऐसा समर्थ है जो इस द्वन्द्वात्मक संसार से उसको मुक्त कर देता है। और अधिक क्या कहा जाय सुन्दरदास ने स्पष्ट कह दिया है 'गुरु की तो महिमा है अधिक गोविंद तें'।[1]

परमात्मा का वास ऐसे दुर्गम स्थल पर है जहाँ चींटी (जिसकी गति उर्ध्व, अध तिरश्चीन सर्वत्र है) भी नहीं चढ़ सकती तथा सरसों जैसी छोटी वस्तु भी नहीं ठहर सकती। ऐसे दुर्लभ स्थान पर रहने वाले प्रिय से मिलन कराने में सतगुरु ही सक्षम है। सहजोबाई अपने को परमात्मा के निकट अनुभव करती हैं।[2] सहजोबाई का कथन है गुरु के आदेश के बिना किसी मार्ग का ग्रहण न करे अर्थात् गुरु ही पथ प्रशस्तकर्ता है। गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। गुरु के बिना सब अधकारमय है तथा सब प्रकार से हानि ही हानि है। सतगुरु में वह शक्ति तथा योग्यता होती है जो व्यक्तित्व को भी परिवर्तित कर देती है। कटुभाषी, अविवेकी, काले काग को गुणग्राही, विवेकी, उज्ज्वल वर्ण हंस में परिवर्तित कर देने की सामर्थ्य गुरु में ही है।[3] परन्तु यह गुरु सतगुरु होना चाहिए। या तो बहुत-से गुरु इधर-उधर घूमते फिरते हैं जिनको ज्ञान ध्यान की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। ये हाथ तो बहुतों का पकड़ते हैं, बहुत से शिष्य बनाते हैं परन्तु स्वयं में सामर्थ्य इतनी भी नहीं रखते कि एक भी शिष्य को अपने ज्ञानोपदेश से जीवन-मुक्त बना सकें।[4]

भक्त दूलनदास को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने गुरु को ही ब्रह्मा, गुरु

---

१ गोविंद के किये जीव जात हैं रसातल को,
गुरु उपदेश में तो छूटे जम फन्द तें।
गोविंद के किये जीव बस परे कर्मनि के,
गुरु के निवाजे से फिरत स्वच्छन्द तें।
गोविंद के किये जीव बूड़त भवसागर में,
सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुख द्वन्द तें।
औरहू कहा लौं कछू मुख तें कहाइ कहौं
गुरु की तो महिमा है अधिक गोविंद तें। स० बा० सं० भा० २, पृ० १०७

२ चिऊँटी जहाँ न चढ़ि सकै सरसों ना ठहराय।
सहजो कूँ वा देश में सतगुरु दइ बसाय।।

३ गुरु बिन मारग ना चलै गुरु बिन लहै न ज्ञान।
गुरु बिन सहजो धुंध है गुरु बिन पूरी हान।। ३ सहजोबाई, स० बा० सं० भा० १, पृ० १५४
सहजो सतगुरु के मिले भये और सूँ और।
काग पलटि गति हंस ह्वै पाई भूली ठौर।। ८ सहजोबाई, स० बा० सं० भा० १, पृ० १५५

४. सहजो गुरु बहुतक फिरैं, ज्ञान ध्यान सुधि नाहिं।
तार सकैं नहिं एक कूँ गहैं बहुत बांह। ११ सहजोबाई, स० बा० सं० भा० १, पृ० १५८

को ही विष्णु, गुरु को ही शंकर (त्रिदेव) तथा गुरु को ही साधु माना है। गुरु गोविन्द की अपेक्षा श्रेष्ठतर है और उसका कथन अगम्य तथा अगाध है।[१] अन्य संतों की भाँति गरीबदास ने भी गुरु को पूर्ण ब्रह्म, अलेख, रमता राम आदि विशेषणों से सुशोभित किया है।[२] चरनदास के मतानुसार भगवान् की सेवा यदि सौ वर्ष की जाय और गुरु की सेवा यदि चार पल भी की जाय, तो यह चार पल की सेवा भगवान् की उस सौ वर्ष की सेवा से कहीं अधिक उत्तम तथा फलप्रदायिनी होगी।[३] कबीर के ही समान चरनदास ने गुरु के स्थान को अद्वितीय माना है। संसार क्या, तीनों लोकों में भी उसकी समता करने वाला उन्हें ऐसा कोई नहीं दिखाई पडता जिसके नामस्मरण मात्र से सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जायें तथा जिसके ध्यान करने से ध्यानी भी स्वयं हरि के समान हो जाय।[४] सत्गुरु के उपदेश से प्राणी आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर संसार में नहीं आता तथा ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है।[५]

अन्य मतों की भाँति चरनदास ने भी जनता के हित के लिए 'कनफूंका' और 'सत्-गुरु' में अन्तर दिखाते हुए कहा है—कनफूंका द्रव्य कमाने के लिए घर-घर कंठी बाँटते फिरते हैं और कोई नाम उन्हें नहीं रहता।[६] वे शिष्यों से कहते हैं कि कुछ मुझे लाकर दो और इसके विपरीत सतगुरु कहते हैं कि मुझे कुछ देने के स्थान में ईश्वर के नाम का स्मरण करो।[७] वास्तविक सतगुरु वही है जो मुक्ति का मार्ग दिखाये, कनफूंके गुरु तो बहुत मारे-मारे घूमा करते हैं।[८]

कबीरदास, सुन्दरदास आदि की भाँति सहजोबाई भी गुरु की महिमा को भगवान् की महिमा से अधिक महत्ता-सम्पन्न समझती हैं। वे भगवान् को त्यागने के लिए तैयार हैं, पर गुरु को भुलाने को भी तैयार नहीं है। वे गुरु के समान परमात्मा को भी नहीं मानतीं।

---

१ गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु हैं गुरु संकर गुरु साध।
दूलन गुरु गोविंद भजु गुरुमत अगम अगाध॥ १ — दूलनदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १३३

२ सतगुरु पूरन ब्रह्म है सतगुरु आप अलेख।
सतगुरु रमता राम है, या में मीन न मेख॥ २५ — सं० बा० सं० भा०, १ पृ० १८३

३ हरि सेवा कृत सौ बरस गुरु सेवा पल चार।
तौ भी नहीं बराबरी वेदन कियो विचार॥ ११ — सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४३

४ गुरु समान तिहुँ लोक में और न दीसै कोय।
नाम लिये पातक नसै ध्यान किये हरि होय॥ १ — सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४२

५. सतगुरु के मारे मुए बहुरि न उपजैं आय।
चौरासी बन्धन छुटै हरिपद पहुँचै जाय॥ १६ — सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४३

६ कनिफारे गुरु फिरत हैं घर घर कन्ठी देन।
और काज उनको नहीं द्रव्य कमावन हेन॥

७ गुरु मिलते ऐसे कहैं कछु लाय मोहि देव।
सतगुरु मिलि ऐसे कहैं नाम धनी का लेव॥

८. कनफूँका गुरु जगत का राम मिलावन और।
सो सतगुरु को जानिये मुक्ति दिखावन ठौर।

ईश्वर इस ससार मे मनुष्य को जन्म देकर उसको पच विकारो से (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह) ग्रस्त करता है परन्तु गुरु उनसे मुक्त कर देता है। ईश्वर कुटुम्ब की माया-ममता के बीच मनुष्य को उत्पन्न करता है परन्तु गुरु माया-मोह आदि बन्धनो को काटकर स्वच्छन्द कर देता है।

ईश्वर ने विविध प्रकार के रोगो और भोगो को जन्म दिया है, गुरु उनका नाश करके आत्मदर्शन कराने मे समर्थ होता है। परमात्मा ने अपने को जीव से छिपा रखा है परन्तु गुरु ज्ञानदीप देकर उस प्रच्छन्न रूप का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है। ईश्वर द्वारा प्रस्थापित मुक्ति और बन्धन के भ्रम को मिटाने वाला गुरु ही है। यही कारण है कि सहजोबाई अपने गुरु चरनदास पर तन मन वारने को तैयार हैं। वे गुरु का त्याग नही कर सकती, चाहे भगवान् उनसे छूट जायें।[1]

बुल्ला साहब उस सत्गुरु की बार-बार बलिहारी जाते है जो परमेश्वर की भक्ति प्रदान करता है।[2] दादू का मत है कि मानव-शरीर मे ही सब लोको की स्थिति है जिसे जीव नहीं जानता। गुरु इनका दर्शन करा देता है। गुरु के बिना मन, वचन अथवा कर्म से किसी प्रकार भी इनका दर्शन सभव नही।[3] सच्चा सत्गुरु वही है जो भगवान् से मिलन कराता है तथा काया मे ही सब कुछ अर्थात पिंड मे ही ब्रह्माण्ड का दर्शन कराता है।[4] दादू के कथन से यह व्यक्त होता है कि साधक को सर्वत्र भटकने की आवश्यकता नही। परमात्मा की प्राप्ति अथवा विश्वरूप का दर्शन उसे स्वशरीर मे ही होगा, आवश्यकता है केवल सत्गुरु की। आत्मा को भगवत्भक्ति मे नियोजित करने वाला गुरु ही है।

दयाबाई ने गुरु के गुणो की एक लम्बी तालिका प्रस्तुत करते हुए पूर्ववर्णित कवियो के कथनो का मानो सार उपस्थित किया है—गुरु के बिना ज्ञान और भक्ति दोनो ही

---

१. राम तजूँ पर गुरु न बिसारूँ, गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ।
हरि ने जन्म दियो जग माहीं, गुरु ने आवागमन छुटाहीं।
हरि ने पाँच चोर दिये साथा, गुरु ने लइ छुड़ाय अनाथा।
हरि ने कुटुम्ब जाल में गेरी, गुरु ने काटी ममता बेरी।
हरि ने रोग भोग उरझायो, गुरु ने आतम रूप लखायो।
हरि ने मोसूँ आप छिपायो, गुरु दीपक दै ताहि दिखायो।
फिर हरि बँध मुक्ति गति लाये, गुरु ने सबही भर्म मिटाये।
चरनदास पर तन मन वारूँ, गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ। स० बा० स० भा० १, पृ० १६२

२. बलिहारी बलिहारी बलिहारी सतगुरु की,
जिन ध्यान दिए परमेश्वर को। त्रिकुटी सगम जिन राह निबेरी॥
बुल्ला साहिब, स० बा० सं० भा० २, पृ० १७०

३ काया माहैं लोक सब दादू दिये दिखाइ।
मनसा बाचा कर्मणा गुरु बिन लख्या न जाइ। ३५९ दादू, भा०२, पृ० १५२

४ साचा सतगुरु राम मिलावै।
सब कुछ काया माहिं दिखावै॥ ३५७ दादू, भा०२, पृ० १५१

नहीं होते तथा गुरु के बिना जीव को मुक्ति नहीं मिलती, वह आवागमन के चक्र में भटकता रहता है। गुरु के बिना अशुभ कार्यों में विरति नहीं होती तदनुसार राम के प्रति रति जागरित नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति में रामभक्ति की भावना विद्यमान रहती है, आवश्यकता होती है उस भावना को जागृत एवं प्रेरित करने की और यह कार्य सम्पादित करता है गुरु। गुरु दीनों पर कृपा करने वाला स्वामी है। जो उसकी शरण में जाता है उसके सब मन सशयों को नष्ट करके, उसके दुष्प्रवृत्ति एवं कुस्वरूप को पूर्णरूपेण परिवर्तित करके सद्वृत्ति तथा स्वरूपवान् बना देता है। गुरु सब देवों का भी देव—महादेव है, उसका गूढ़ रहस्य किसी को विदित नहीं। करुणासागर, कृपानिधि गुरु ब्रह्मरूप भगवान् ही है। वह उपदेश देकर साधक शिष्य के भ्रमों का नाश करता है उसे शाश्वत आनन्द प्रदान करने हेतु। इसीलिए सदैव गुरु स्मरण में ही ध्यान लगाना चाहिए यथाविधि गुरु-पूजन में सलग्न रहना चाहिए, तन तथा मन से उसकी आज्ञा पालन करनी चाहिए तथा उसकी आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं करना चाहिए।[1] इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गुरु की स्थिति अनिवार्य मानी गई है।

हजारों लाखों वर्षों के मानव के बौद्धिक विकास का इतिहास किसी अर्थ में उसकी गुरु-परम्परा का इतिहास ही कहा जा सकता है। गुरु और शिष्य के बीच में क्रमानुसार युग-युग से चली आती हुई अजस्र वाहिनी ज्ञानगंगा अपने कलेवर को बढ़ाती हुई आज की स्थिति पर पहुँची है। पुस्तकों द्वारा अर्जित एवं श्रुत ज्ञान भी जीवन में अपना स्थान रखता है परन्तु सैद्धान्तिक ज्ञान के अतिरिक्त जब व्यावहारिक ज्ञान की ओर दृष्टिपात करते हैं तब गुरु

---

१ गुरु बिन ज्ञान ध्यान नहिं होवै,
गुरु बिन चौरासी मग जोवै।
गुरु बिन राम भक्ति नहिं जागै,
गुरु बिन असुभ कर्म नहिं त्यागै।
गुरु ही दीन दयाल गुसाईं,
गुरु सरनै जो कोई जाई।
पलटै करै काग सूं हंसा,
मन को मेटत हैं सब संसा।
गुरु है सब देवन को देवा,
गुरु को कोउ न जानत भेवा।
करुनासागर कृपा निधाना,
गुरु हैं ब्रह्म रूप भगवाना।
दे उपदेश करै भ्रम नासा,
दया देत सुखसागर बासा।
गुरु को अहि निसि ध्यान जो करिए।
विधिवत सेवा में अनुसरिए।
तन मन सूं आज्ञा में रहिए,
गुरु आज्ञा बिन कछु न करिये। दरियासार, म० बा० सं० भा० २, पृ० १२५

की अनिवार्यता को दृष्टि से ओझल नहीं कर पाते। यों तो ज्ञान की प्रत्येक शाखा-प्रशाखा के लिए भी गुरु अपेक्षित ही है। संस्कृत साहित्य का एक सुभाषित है "गुरूपदेशतः ज्ञेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः।" ज्ञान गुरु के उपदेश से जाना जाता है, करोड़ों शास्त्रों से नहीं।

कतिपय विद्वानों का मत है कि ज्ञान के विकास-क्रम में कोई समय ऐसा अवश्य रहा होगा जब कि मानव के ज्ञान का प्रारम्भ बिना गुरु के हुआ होगा तथा प्रत्येक नवीन ज्ञान पूर्व ज्ञान पर आधारित होता हुआ भी किसी न किसी के द्वारा प्रतिपादित किया गया होगा। यदि इस मत को सही भी मान लिया जाय तो यह गुरु के महत्त्व का अभिवर्धन ही होगा। गुरु के अभाव में ज्ञान का प्रसार किसी न किसी रूप में हुआ अवश्य होगा। हाँ, यह बात हो सकती है कि प्रसार की वह गति मंद रही हो। गुरु की उपस्थिति में ज्ञान के प्रसार की गति तीव्रतर हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं। यदि संचित ज्ञान पूर्व से पर की ओर अग्रसर न होता रहता तो आज भी हमारे ज्ञान की स्थिति वही होती जो हजारों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजों के ज्ञान की थी। पूर्व अर्जित ज्ञान पर स्वयं अर्जित ज्ञान की तहें चढ़ती गई तथा आज ज्ञान-समूह एक विशाल परतदार चट्टान की भाँति है जिसकी ऊपरी सतह ही दृष्टि के सम्मुख आती है, जिसे हम उपयोग में लाते हैं, परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि उस ऊपरी सतह का आधार अनन्त गहराई में विलीन वह परत हैं जो हमारी दृष्टि के सम्मुख नहीं आती।

गुरु का जो महत्त्व संतसाहित्य में वर्णित है, वास्तव में गुरु उससे भी अधिक महत्त्व का पात्र है। मनुष्य को मनुष्य बनाने वाले वस्तुतः गुरु ही हैं। संतों का एक ही लक्ष्य होता है आत्म-दर्शन अथवा ईश्वर-प्राप्ति। यह दोनों ही सैद्धान्तिक ज्ञान से भिन्न, व्यावहारिक ज्ञान के अन्तर्गत हैं। इसी कारण संतों में गुरु का महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। जब हम साधारण ज्ञान के क्षेत्र में गुरु की महत्ता स्वीकार करते ही हैं, तब कला के क्षेत्र में और वह कला भी भगवत्प्राप्ति की कला के लिए, गुरु के यश का जितना भी गान किया जाय कम ही है। अपने जीवन एवं सिद्धि के पथप्रदर्शक गुरु से संत जिस प्रकार अनुगृहीत हुआ तथा जितनी गहरी मनोभावना से उसने अनुभव किया वही उसकी वाणी में स्वतः प्रस्फुटित हुआ।

गुरु की प्राप्ति शिष्य के जीवन की एक विशेष (Event) घटना होती है। यह अवसर यदि न मिले तो सम्भवतः वह अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त ही न कर सके। मृत्तिका पात्र के रचयिता कुम्भकार की भाँति गुरु भी शिष्य के चरित्र का निर्माता होता है जिस पर कि उसकी छाप स्पष्टतया अंकित रहती है। गुरु की प्राप्ति ही ईश्वर की कृपा का प्रमाण है। बिना भगवान् की कृपा के सद्गुरु की प्राप्ति ही नहीं होती। संत के सभी गुणों तथा प्रभावों की अपेक्षा गुरु-शिष्य सम्बन्ध में दोनों के मध्य आत्मीयता तथा वैयक्तिक लगाव अधिक होता है। जिन विषयों पर संत-समाज में विवाद नहीं किया जा सकता वे भी गुरु के सम्मुख निःसंकोच भाव से रखे जा सकते हैं तथा उनके विषय में गुरु का आदेश शिष्य के लिए अत्यन्त हितकर तथा उपादेय होता है। इसी से गुरु की प्राप्ति अत्यन्त सौभाग्य का विषय मानी गई है जो अनेक पुण्य उदय होने पर जीव को प्राप्त होती है।

गुरु के कर्तृत्व के विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि मनुष्य जो कुछ है, वह गुरु का ही बनाया हुआ है। यह सम्भव है कि शिष्य गुरु से आगे बढ़ जाय जैसा कि प्राय होता भी है। सर्वदा ही महान् व्यक्तियों के गुरु उतने ही महान् नहीं हुए हैं। शिष्य की अपने से अधिक उन्नति होते देखकर गुरु को हार्दिक प्रसन्नता होती है। यूनानी दार्शनिक सुकरात का मत था कि मनुष्य में जिज्ञासा पैदा कर देनी चाहिए, उसकी पूर्ति के लिए चिन्तित नहीं होना चाहिए। गुरु का मुख्य कर्त्तव्य शिष्य में जिज्ञासा उत्पन्न करना है फिर वह स्वय तृप्ति के लिए प्रयत्नशील रहेगा। किसी विषय के सम्बन्ध में उसको मुख्य समस्या के प्रति जागृत कर देना गुरु का कार्य है। वह समस्या एकागी नहीं होती, वह समस्त जीवन की वास्तविक समस्या होती है। इसी समस्या तथा उसकी पूर्ति के विषय में, माया, दुःख तथा उसके निवारण की समस्त समस्याएँ गुरु प्रकरण में उपस्थित हो जाती हैं।

षष्ठ परिच्छेद

ईश्वर

मनुष्य मे विचार-शक्ति के उदय के साथ ही ईश्वर की भावना का भी उदय हुआ। अपने चारो ओर के प्राकृतिक उपकरणो से आश्चर्यान्वित होकर, रोग, पीडा और मृत्यु की विषम स्थितियों से व्याकुल होकर, तथा नवीन प्राणी के जन्म आदि से हर्षोन्मत्त होकर मानव ने यह अनुमान किया होगा कि इन समस्त दृष्ट-अदृष्ट पदार्थों के पीछे कोई अज्ञात रहस्यात्मक शक्ति अवश्य है जो सब का सचालन, नियंत्रण तथा विनाश करती है। यही भावना ईश्वर की धारणा के मूल मे स्थित है। अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा के कारण मानव ने उसे विविध रूप मे व्यक्त किया। यह विविध रूप ईश्वर विषयक विभिन्न धारणाओ के रूप मे हमारे सम्मुख आये।

वेदों के काल तक पहुँचते-पहुँचते ईश्वर-विषयक विचार पर्याप्त उन्नत हो चुके थे। ऋग्वेद मे स्पष्ट उल्लेख है कि सृष्टि के पहले यह जगत् अधकारमय था। उस तम के मध्य मे और उससे परे केवल एक ज्ञानस्वरूप स्वयंभू भगवान् विराजमान थे और उन्होने उस अधकार मे स्वय को प्रकट किया और अपने तप मे अर्थात् अपनी ज्ञानमयी शक्ति के सचालन से सृष्टि की रचना की।[1] यही नही, वेदों में हम किसी अन्य तत्त्व या वस्तु की वास्तविक सत्ता की उपस्थिति मे ईश्वर को कर्ता मानने से लेकर उसको ही सृष्टि का निमित्तोपादान कारण तथा केवल एक सत्य की स्थिति मे पहुँचा हुआ तक देखते हैं।

यहाँ निम्नाकित मत्र द्रष्टव्य है

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात. पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथ्वीद्यामुतेमां कस्मैदेवाय हविषा विधेम ॥ ८।७।३।१

यइमा विश्वा भुवनानि जुहृदृषिर्होता न्यसदित् पिता न. ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमान. प्रथमच्छदवरां आविवेश ॥ ८।३।१६।१

विश्वतश्चक्षुरत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयत् देव एकः ॥ ८।३।१६।२
यो न· पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ ऋ० वे०, ८।३।१७।३

इन मत्रो मे ईश्वर के सर्जक, धारक, पोषक, नियामक, कर्ता प्रभृति अनेक रूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। वेदों के दार्शनिक विकासक्रम मे उन्नत, परिष्कृत तथा सुसम्बद्ध

---

१. तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमाइदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ ऋ० वे०, ८।७।१७।३

धारणाओं के अभिव्यंजक उपनिषद् हैं। उपनिषदों में 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ १ १ १) अथवा 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि ईश्वर-विषयक उद्गारों की सर्वत्र प्रचुरता है। उपनिषदों के यह उद्गार प्रत्येक आस्तिक दर्शन के ईश्वर विषयक सिद्धान्तों के मूल में स्थित हैं।

भगवत्गीता में भगवान् कृष्ण का कथन है कि ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर अपनी माया से प्राणिमात्र को यंत्र पर आरूढ़ की भाँति घुमा रहा है।[1] उनका उसी परमात्मा की शरण में जाने का आदेश है क्योंकि उसी के प्रसाद से परम शाश्वत शांतिस्थान की प्राप्ति होती है।[2] वैष्णवों के ग्रंथ भागवत् महापुराण में ईश्वर का उल्लेख इस प्रकार है "सृष्टि के आदि में कार्य और कारण, स्थूल और सूक्ष्म से अतीत एकमात्र मैं ईश्वर ही था। मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं था। सृष्टि के पश्चात् मैं ही रहता हूँ और जो यह जगत्-प्रपंच देख पड़ता है वह भी मैं ही हूँ। सृष्टि का संहार हो जाने पर जो कुछ शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।"[3] वह एक ही आत्मा पुराणपुरुष, स्वयं प्रकाशस्वरूप, अनन्त, सबका आदि कारण, नित्य अविनाशी निरन्तर सुखी, माया से निर्लिप्त, अखण्ड, अद्वितीय, निरुपाधि तथा अमर है।[4]

शैवों के धर्म-ग्रंथ शिवपुराण में परम सत्ता शिव के सम्बन्ध में इस प्रकार का वर्णन है उस समय एक रुद्र ही थे दूसरा कोई नहीं। उन जगत् रक्षक ने ही संसार की रचना करके अन्त में उसका संहार कर दिया। उनके चारों ओर नेत्र हैं, चारों ओर मुख है, चारों ओर भुजाएँ हैं तथा चारों ओर चरण हैं। पृथ्वी और आकाश को उत्पन्न करने वाले एक महेश्वर ही हैं। वे ही सब देवताओं के कारण और उत्पत्ति के स्थान हैं। जो नेत्र तथा कर्ण के बिना ही देखते तथा सुनते हैं, जिन्हें सब ज्ञात है परन्तु जो किसी को ज्ञात नहीं, वे ही परम पुरुष कहे जाते हैं।[5] ईश्वर-विषयक इस प्रकार की अनेक धारणाएँ वैदिक तथा पौरा-णिक साहित्य में विद्यमान हैं।

दर्शनों के क्रमिक विकास में ईश्वर या परमात्मा के ज्ञान के विषय में पर्याप्त विवे-

---

१. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गी० १८।६१

२. तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ गी० १८।६२

३. अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ भा० २।९।३२

४. एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥ भा० १०।१४।२३

५. एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन।
संसृज्य भुवनं गोप्ता स संचुकोच सः॥ शि० पु० ७।१।६।१४
विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतोमुखः।
तथैव विश्वतोबाहुर्विश्वतः पादसंयुतः॥ शि०पु० ७।१।६।१५

चन हुआ है। ईश्वर के अस्तित्व, उसके स्वरूप, उसके कार्य और उसकी आवश्यकता आदि को लेकर भारतीय दर्शनो मे पर्याप्त मतभेद रहा है। भारतीय दर्शनो की आस्तिकता तथा नास्तिकता का मापदण्ड परमात्मा की सत्ता मे विश्वास अथवा अविश्वास नही रहा है। यहाँ पर दर्शनो का आस्तिक या नास्तिक होना दर्शन-विशेष के वेदो को प्रामाण्य मानने या न मानने पर निर्भर रहा है। वेदो की प्रामाणिकता तथा अपौरुषेयत्व स्वीकार कर लेने के पश्चात् ईश्वर का न मानना एक आत्मविरोधी (Self-contradictory) विश्वास मात्र रह जाता है। इसलिए ईश्वर को 'अजागलस्तनवत्' मानकर भी आस्तिक कहलाना विडम्बना मात्र है।

साधारणतया सत्य के निश्चय के लिए प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण स्वीकृत हैं। दर्शनो ने इन प्रमाणो का कोटि निर्धारण करते हुए इनको कम या अधिक संख्या मे स्वीकार किया है। ईश्वर के अस्तित्व तथा सत्य के विषय मे भी यही प्रमाण व्यवहृत हुए हैं।

वेदो को न मानने वाले चार्वाक-दर्शन मे शब्द तथा अनुमान की अप्रामाणिकता होने के कारण ईश्वर की भी असिद्धि मानी है। उनके मत से ईश्वर की सत्ता के विषय म बतलाने वाले वेद न तो प्रामाणिक ही हैं और न अनुमान पर ही विश्वास किया जा सकता है। इन्द्रियप्रत्यक्ष जिसकी प्रामाणिकता स्वीकार की जा सकती है, ईश्वर उस इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नही है। इसलिए ईश्वर की सत्ता की सिद्धि नही मानी जा सकती।

भगवान् बुद्ध ने ईश्वर-सम्बन्धी दार्शनिक गुत्थियों पर विचार करने को समय व शक्ति का ह्रास माना है। कालान्तर मे उनके शिष्यों ने उन्हें ही अवतार मान लिया। यही दशा बहुत कुछ जैन धर्म की भी हुई।

वेदो को प्रामाण्य मानते हुए भी मीमासा तथा न्याय मे ईश्वर के विषय मे पर्याप्त मत-वैभिन्य है। यदि न्याय वेदो को ईश्वर-रचित मानता है, तो मीमासा वेदो को अपौरुषेय मानता है। न्याय जगत-कर्तृत्व के भाव से ईश्वर को स्वीकार करता है। ईश्वर-सिद्धि के प्रमाणो के उल्लेख मे नैयायिक दार्शनिक उदयन ने जो चातुर्य प्रदर्शित किया है, वह निश्चय ही श्लाघ्य है। उन्होने बडे तर्कसगत ढग से निम्नलिखित नव कारण ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किये हैं:

१ कार्यात् — घट का निर्माता कुम्भकार होता है। केवल मृत्तिका घट के निर्माण का कारण नही होती। उसी प्रकार कार्यरूप जगत् का कर्ता चैतन्य ईश्वर अवश्य होना चाहिए।

द्यावा भूमी च जनयन् देव एको महेश्वरः।
स एव सर्वदेवानां प्रभवश्चोद्भवस्तथा॥ शि० पु० ७।१।६।१६

अचक्षुरिन्द्रियः पश्य यत्कर्णोऽपि शृणोति यः। सर्वं वेत्ति न वेत्तास्यास्त्यस्मात् परम परम॥
शि० पु० ७।१।६।२३

२ आयोजनात — वैशेषिक की भाँति सृष्टि का कारण अणुओं के आयोजन द्वारा मानते हुए उस आयोजन कार्य के आदि उत्पादन ईश्वर चेतन के द्वारा ही सम्भव है।

३ धृत्यादे — संसार का धारण करने वाला तथा प्रलय के समय नाश के लिए ईश्वर की सत्ता की सिद्धि मानी है।

४ पदात् — सृजन के विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए किसी ज्ञानवान् व्यक्ति की कल्पना अत्यन्त आवश्यक है।

५ प्रत्ययत — श्रुति का ज्ञान ईश्वर का परिचायक है। ईश्वर के रचे बिना इतना उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान सम्भव नहीं।

६ श्रुते — श्रुति स्पष्ट शब्दों में ईश्वर की सिद्धि बतलाती है। (श्वे० ६ ११) (गी० ९ १७)

७ वाक्यात — महाभारत आदि के रचयिता की भाँति वाक्यभूत वेदों का भी कोई न कोई रचयिता अवश्य होगा।

८ संख्याविशेषात् — द्व्यणुक में परिमाण की उत्पत्ति परमाणुगत संख्या द्वय से होती है। यह द्वित्व संख्या अपेक्षया बुद्धिजन्य होती है जो चेतन व्यक्ति के द्वारा ही निष्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति में द्व्यणुकों में संख्या (स्पन्दन) की उत्पत्ति ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करती है।

९ अदृष्टात् — धर्म करने से पुण्य तथा अधर्म करने से पाप होता है। धर्माधर्म का दूसरा नाम अदृष्ट है। जड़ अदृष्ट में फलोत्पादन-शक्ति बिना चेतन की प्रेरणा के सम्भव नहीं है। अतः अदृष्ट की फलवत्ता के लिए ईश्वर को मानना ही न्यायसंगत है।

उपर्युक्त कारणों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि ईश्वर का कर्तृत्व ही उसकी सत्ता की सिद्धि के लिए शब्द प्रमाण के बाद शेष रहता है। कालान्तर में इसी कर्तृत्व पर सन्तों तथा मनीषियों ने बहुत बल दिया है। ईश्वर के गुणों का चिन्तन करने में यही विचार हमारे सम्मुख बराबर आते रहेंगे। न्यायदर्शन में मोक्ष के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक माना गया है। योगदर्शन में स्वीकृत धारणा, ध्यान आदि आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि के लिए श्रेयस्कर है।

वैशेषिकदर्शन—सृष्टि के आदि में ईश्वर की सिसृक्षा को ही जड़ परमाणुओं में आद्यस्पन्दन का कारण मानता है। इस प्रकार सृष्टि का क्रम ईश्वर की सत्ता को मानने का कारण है। भक्ति से सन्तुष्ट ईश्वर का अनुग्रह भी मोक्ष-सम्पादन में साधन माना जाता है।

सांख्यदर्शन—में ईश्वर की सत्ता के विषय में उपर्युक्त कारण ग्राह्य नहीं हैं। उसके अनुसार ईश्वर स्वयं निर्व्यापार है इसलिए परिवर्तनशील जगत् का वह कारण नहीं हो सकता। ईश्वर पूर्णकाम है इसलिए उसकी इच्छा नहीं हो सकती कि वह सृष्टि के कार्य में

संलग्न हो । इसके अतिरिक्त उसके लिए कारुण्य की भी आवश्यकता नहीं थी कि वह सृष्टि के आदि कार्य में जुटता तथा उससे निवृत्ति के लिए कारुण्य की अपेक्षा होती । इतने पर भी उन्हें ईश्वर जगत् के साक्षीरूप में ग्राह्य है जिसके सान्निध्य मात्र में प्रकृति जगत् के व्यापार में निरत होती है, जिस प्रकार चुम्बक अपने सान्निध्य मात्र से लोहे में गति उत्पन्न कर देता है । अस्तु सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् की रचना तथा कर्म-फल प्रदान आदि के लिए ईश्वर की सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

योगदर्शन--सांख्य के पचीस तत्त्वों के अतिरिक्त एक ईश्वर तत्त्व को अधिक मानता है । क्लेश-कर्म विपाक (कर्मफल) तथा आशय (विपाकानुरूप संस्कार) से शून्य पुरुष विशेष ईश्वर है ।[1] ऐश्वर्य और ज्ञान की जो पराकाष्ठा है, वही ईश्वर है । वह नित्य है इसलिए कालावच्छिन्न है । गुरुओं का भी गुरु तथा वेदशास्त्र का प्रथम उपदेष्टा है । जो समाधि अभ्यास और वैराग्य द्वारा कठिनता से सिद्ध होती है वह ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर में सानुराग दत्तचित्त होने अथवा प्रेमपूर्वक कर्मफलों को ईश्वर को अर्पण करने से सुगमता से प्राप्त हो जाती है । सारे ज्ञान का दाता साक्षात् ईश्वर है । भगवान में सप्रेम चित्त लगाने से वह प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर विघ्नरूप क्लेशों का नाश कर समाधि की सिद्धि कर देते हैं ।[2] ईश्वर प्रणिधान विषयक धारणा हिन्दी सतकवियों द्वारा व्यापक रूप में प्रयुक्त हुई है । ईश्वरार्पित कर्म तथा ईश्वर कृपा के द्वारा मोक्ष लाभ सामान्यतया सभी हिन्दी सन्तों को मान्य है ।

मीमांसादर्शन--केवल यज्ञ को मानने वाला था ईश्वर को नहीं । आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते हैं । परवर्ती मीमांसकों ने ईश्वर को यज्ञपति का रूप प्रदान किया और इस प्रकार ईश्वर की धारणा में जो अत्यन्त खटकने वाली न्यूनता थी, वह बहुत कुछ कम हो गई ।

आचार्य शंकर के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है । उसी की सत्ता है शेष जगत्-सृष्टि आदि सब मिथ्या है । जब सृष्टि मिथ्या है, तब सृष्टा की धारणा भी अनावश्यक एवं मिथ्या ही है । ब्रह्म के सत्यज्ञान हो जाने से मुक्ति हो जाती है । ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर नहीं है ।

रामानुज ने ईश्वर को नियामक तथा प्रधान विशेष्य-रूप में ग्रहण किया है जिसके कि जीव और जगत् विशेषण हैं । ईश्वर केवल लीला के लिए जगत् की रचना करता है । वह इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है । भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने तथा जगत् की रक्षा करने के पवित्र उद्देश्य से ईश्वर पाँच प्रकार के रूप धारण करता है—पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी तथा अर्चावतार । ईश्वर में स्वभाव से ही अप्राकृत पाप्मत्वादि कल्याण गुणों की सत्ता है । प्राकृत हेय गुणों से वह सर्वथा रहित है ।

---

१ क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । यो० सू०, १।२४
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ यो० सू०, १।२६

२. प्रणिधानादीश्वर प्रसन्न सन् अन्तराय रूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधि सम्बोधयति । भो० वृत्ति, २।४५

निम्बार्क ने ब्रह्म की कल्पना सगुण-रूप में की है। वह समस्त प्रकृत दोषों (अविद्या आदि) से रहित और अशेष, ज्ञान बल आदि कल्याण गुणों का निधान है। इस जगत् में जो कुछ दृष्टि अथवा श्रुतिगोचर है नारायण उसके अन्तर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान हैं। प्रपत्ति के द्वारा भगवत् अनुग्रह जीवों पर होता है। अनुग्रह से भगवान् के प्रति नैसर्गिक अनुरागरूपिणी भक्ति का उदय होता है। यह भक्ति भगवत्-साक्षात्कार को उत्पन्न करती है जिससे जीव भगवत् भावापन्न होकर समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

वल्लभाचार्य के मत से ईश्वर की महिमा अनवगाह्य है। जो अणु से भी अणुतर है, वही महान् से भी महत्तर है।[१] ईश्वर अनेकरूप होकर भी एक है, परम स्वतन्त्र होने पर भी वह भक्तों के आधीन (वश में) है। यह संसार लीला निकेतन ब्रह्म की ललित लीलाओं का विलास मात्र है और साथ ही वास्तविक भी है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले भाव ईश्वर में समाहित हो जाते हैं। कार्य-कारण में अभेद होने से कार्यरूप जगत् कारणरूप ब्रह्म ही है।

दार्शनिकों के उपर्युक्त विवेचन में किसी भी धारणा-विशेष को अभिव्यक्त करके उसको तर्कसम्मत ढंग से सिद्धांत-रूप में प्रस्तुत करने का तथा उस धारणा विशेष को उस दार्शनिक पूर्णता में उचित स्थान पर रखने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। ईश्वर-विषयक धारणा भी उनके लिए अपवाद नहीं है। ईश्वर का उसके स्वरूप, कार्यों, गुणों आदि के साथ-साथ जीव, जगत्, ज्ञान आदि के साथ भी विचार किया गया है तथा जगत् जीव आदि विषयक धारणा का दार्शनिक की धारणा के साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया गया है। ऐसा बहुत कम हुआ है कि विभिन्न विषयों पर उनके विचार परस्पर विरोधी हो गये हों।

मध्यकालीन हिन्दी-सन्तकवि अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों की धारणाओं से प्रभावित अवश्य हुए हैं, परन्तु उनका प्रयत्न किसी विशेष दार्शनिक मतवाद की पूर्णता स्वीकार करके उसकी स्वरूप-सिद्धि करना नहीं था। जो धारणा संतों की अनुभूति का विषय हुई वही उनकी वाणी से स्वतः प्रस्फुटित हुई। सभी दर्शनों में व्यक्त ईश्वर-सम्बन्धी विचार कम-से-कम तद्विषयक आंशिक सत्य के द्योतक तो हैं ही, पूर्णता शायद उनके समन्वीकरण में प्राप्त हो।

अब तक हमने अनेक भारतीय दर्शनों की ईश्वर-विषयक धारणाओं पर संक्षिप्त विचार किया। अब हम हिन्दी के सन्त तथा भक्त कवियों की ईश्वर-विषयक विविध धारणाओं के सम्पर्क में आकर यह देखेंगे कि वस्तुतः ईश्वर का रूप कितना रहस्यमय तथा अनिर्वचनीय है।

सन्त नामदेव परमात्मा को एक, अनेक, व्यापक, पूरक तथा सर्वत्र विद्यमान मानते हैं। चित्र-विचित्र माया के द्वारा ही सब जीव विमोहित हो रहे हैं। कोई विरला मनुष्य ही विवेक के द्वारा उससे बच पाता है। सब सृष्टि गोविन्दमय है, परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। घट-घट में अन्तर में सर्वत्र सदैव एक परमात्मा ही विद्यमान है। एक ही

१ अणोरणीयान् महतो महीयान् कठो० १।२।२०

सूत्र मे अनुस्यूत सहस्रों मणियों के समान एक परमात्मा में समस्त सृष्टि के जीव अनुस्यूत हैं। जल मे उठने वाली तरंगावलियाँ, फेन-राशि अथवा बुद्बुद-समूह आकार से भिन्न दृष्टिगोचर होते हुए भी जल से भिन्न नहीं होते। यह सब प्रपंच परब्रह्म की ही लीला है, उसी के द्वारा उसकी रचना हुई है। उस सब मे विद्यमान सक्रिय तत्त्व भी उससे भिन्न नहीं हैं। स्वप्न के मनोरथों की भाँति यह मायाप्रपंच भी असत्य है परन्तु अज्ञान-निद्रा के कारण मनुष्य ने भ्रम-वश उसे सत्य पदार्थ मान रखा है।[१] यहाँ ईश्वर-विषयक अनेक धारणाओं का समन्वित वर्णन मिलता है जो कि सम्प्रदायों के जंजाल से मुक्त किसी सन्त हृदय के उद्‌गारों में ही सम्भव है। ईश्वर एक, अनेक, व्यापक, पूरक तथा 'सूत्रे मणिगणाइव' है। ब्रह्म तथा सृष्टि एक-दूसरे से उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार तरंग बुदबुद आदि जल से। समस्त प्रपंच परमात्मा की लीला तथा रचना है। सर्वत्र सब के अन्दर परमात्मा की ही सत्ता विद्यमान है।

सन्त कबीर के अनुसार परमात्मा घट घट मे व्यापक है। किसी भी जीव का अस्तित्व परमात्मा की सत्ता के बिना सम्भव नहीं, परन्तु वह सर्वव्यापी होता हुआ भी सर्वत्र प्रकट नहीं है। वह व्यक्ति अतीव सौभाग्यवान् होता है जिसके प्रति परमात्मा अपने स्वरूप को अनावरित करता है अर्थात् जो परमात्मा के प्रत्यक्ष का सुयोग प्राप्त करता है।[२] कबीर का प्रभु सब मे समाया हुआ है, उससे पृथक् कुछ भी नहीं।[३] वह जगत् में व्याप्त है और जगत् उसमे व्याप्त है। घट-घट उसी से पूरित है।[४] जहाँ तक दृष्टि की गति है, सर्वत्र एक ही विभु का दर्शन होता है।[५] हम सबके हृदय मे भी परमात्मा का ही निवास है। मंदिरों में उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना मिथ्या भ्रम है।[६]

---

१ एक अनेक बियापक पूरक, जित देखौं तित सोई।
माया चित्र बिचित्र बिमोहित, बिरला बूझै कोई।
सब गोबिंद है, सब गोबिंद है गोबिंद बिन नहिं कोई।
सूत एक मणि सत सहस्र जैस, ओत पोत प्रभु सोई।
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जल तें भिन्न न होई।
यह प्रपंच परब्रह्म की लीला, बिचरत आन न होइ।
मिथ्या भ्रम अरु स्वपन मनोरथ, सत्य पदारथ जाना।
सुकिरत मनसा गुरु उपदेसी, जागत ही मन माना।
कहत नामदेव हरि की रचना, देखो हृदय बिचारी।
घट-घट अंतर सर्व निरंतर, केवल एक मुरारी॥ म० वा० स० भा० २, पृ० ३१

२ सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोइ।
भाग तिन्हौं का है सखी जिहि घट परगट होई॥ क० ग्र० १८, पृ० ५९

३. मुसलमान कहै एक खुदाई। कबीर का स्वामी घटि घटि रह्यो समाई। क० ग्र० ३३०, पृ० २००

४. खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई। क० ग्र० ५१, पृ० १०८

५. जहँ देखो तहँ एक ही साहिब का दीदार॥ स० वा० स० भा० १, पृ० ३३

६ कबीर दुनिया देहुरे सीस नवावण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै तू ताही सौं ल्यौ लाइ॥ क० ग्र० ४३६, पृ० ४४

परमात्मा का वर्णन किसी भी लौकिक मानदण्ड के द्वारा नहीं किया जा सकता, वाणी से निःसृत शब्द उसका वास्तविक रूप निदर्शन नहीं करा सकते। न वह भारी कहा जा सकता है, न हलका कहा जा सकता है और न चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय ही हो सकता है। उस अनिर्वचनीय के रूप के विषय में कोई भी कथन सत्य नहीं है। अस्तु इस अद्भुत रूप के विषय में कुछ न कहकर मौन रहना ही अच्छा है। जिसने परमात्मा का साक्षात्कार किया भी है वह उस परमानन्द को कहने में समर्थ नहीं होता और जो किसी प्रकार उसे अभिव्यक्त करने में समर्थ भी होता है तो सर्वसाधारण उस पर विश्वास नहीं करता।[1] क्योंकि परमात्मा की गति बड़ी ही अगम है, वह सहज, सरल तथा सुगम नहीं। वह जनसाधारण की पहुँच के परे है। वेद, कुरान आदि की भी गति उसमें नहीं है। साधक को बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे पग रखते हुए अपने अनुमान के सहारे भगवत्-प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होना चाहिए तभी वह अपने लक्ष्य स्थान को प्राप्त कर सकेगा।[2]

राम के सत्य स्वरूप का रहस्य किसी को विदित नहीं है। दशरथ सुत राम साधारण मनुष्यों की भाँति गर्भ में शरीर धारण करके उनके गुणों के अनुसार सब कर्मों के फलों को भोगते हैं परन्तु कबीर के राम गर्भ में वास करके जन्म ग्रहण नहीं करते और न क्षुधा और तृषा से पीड़ित होते हैं। उनके राम घट घट वासी, अलक्ष्य एवं अगम्य हैं। वेद भी उनका यथावत् वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं। पाप और पुण्य में वे किसी प्रकार भी लिप्त नहीं होते। स्थूल और सूक्ष्म अथवा शून्य से भी भिन्न ज्ञान एवं ध्यान से परे परमात्मा है। त्रैलोक्य के सभी तत्त्वों से भिन्न वह अनुपमेय तत्त्व ही राम है।[3] यहाँ पर यह ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि कबीर के राम दाशरथि राम नहीं हैं। यद्यपि दशरथ सुत राम ही सर्वत्र विख्यात हैं परन्तु कबीर के राम-नाम का मर्म ही कुछ और है।[4] उनके राम गुणरहित होने

---

१ दीठा है तो कस कहूँ कह्या न को पतियाइ। क० ग्र० १७८, पृ० १७

२ भारी कहौं तो बहु डरौं हलका कहौं तो झूठा।
मैं का जानौं राम कूँ नैनूँ कबहुँ न दीठा।
ऐसा अद्भुत जिनि कथै अद्भुत राखि लुकाइ।
वेद कुरानौं गमि नहीं कह्या न को पतियाइ।
करता की गति अगम है तू चल अपने उनमान।
धीरै-धीरै पाँव दे पहुँचैगे परवान॥ क० ग्र० सा० १२६, पृ० ३१३

३ राम कै नाइ नीसान बागा ताका मरम न जानै कोइ।
भूख त्रिषा गुण वाकै नाहीं घट-घट अंतरि सोइ।
वेद बिवर्जित भेद बिवर्जित बिवर्जित पापरु पुन्य।
ग्यान बिवर्जित ध्यान बिवर्जित बिवर्जित अस्थूल सुन्य।
भेष बिवर्जित भीख बिवर्जित बिवर्जित ड्यंभक रूप।
कहै कबीर तिहूँ लोक बिवर्जित ऐसा तत्त अनूप॥ क० ग्र० २२०, पृ० १६३

४ दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥ र० ४, पृ० ७

पर भी पान करते हैं, चरणों के बिना भी चलते है जिह्वा के न रहते हुए भी गुणों का गान करते है तथा वह एक ही स्थान मे स्थिर रहते हुए भी दसों दिशाओं का भ्रमण कर लेते है ।[1]

अनगढिया देव अर्थात् सत्य स्वरूप स्वयभू परमात्मा की सेवा से लोग विरत रहते है । मदिरो मे स्थापित स्वनिर्मित मूर्तियो की पूजा सभी लोग करते हैं, परन्तु उस पूर्ण, अखडित, जगताधार का रहस्य जानने का कोई प्रयत्न नही करता। यदि अवतारो की बात की जाय तो वह भी यथार्थकर्ता नही है । वह देह धारण कर शारीरिक कर्मों के भोक्ता ही होते हैं । उनका भी कर्त्ता कोई अन्य है तथा वही परमात्मा है । परमात्मा से सम्बन्धित अनेक मतवाद है, किन्तु वे भी विवाद मात्र ही है ।[2] निर्गुण परमात्मा मे गुणो का आरोप तथा सगुण मे गुणहीनता का आरोप वैसा ही भ्रममूलक है जैसा पथभ्रष्ट होकर यत्र-तत्र भटकना । उस परमात्मा को सब कोई अजर, अमर कहता है, वह अलख तथा अनिर्वचनीय है । उस अगोचर का न रूप है और न रग, फिर भी वह घट-घट म व्याप्त है । कोई उसको पिण्ड मे देखता है, कोई ब्रह्माण्ड मे, परन्तु कबीर उसी को परमात्मा मानते है जो पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड से भी परे एव भिन्न है ।[3]

परमात्मा के इस अनिर्वचनीयत्व के निष्कर्ष पर तर्क के द्वारा बुद्धि के माध्यम से पहुँचा जा सकता है परन्तु कबीर प्रभृति रहस्यवादी सन्त इसी अनिर्वचनीयता पर पराबौद्धिक प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा पहुँचते है । कबीर परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध म कुछ भी कहने मे अपने को असमर्थ पाते है । उसे वे न एक प्रकार का कह सकते है, न दूसरे प्रकार का, न अन्तर्यामी कहकर सतोष प्राप्त करते हैं, और न बहिर्यामी कहकर । कारण कि यदि अदर परमात्मा है तो बाहर कौन है ? यदि उसे बाहर मानें तो वह भी ठीक नही, क्योंकि मन उससे ओतप्रोत है । वह दृष्टि मे न आने वाला, स्पर्श न किया जा सकने योग्य, बाहर-भीतर

---

१. बिन मुख खाइ चरन बिनु चालै बिन जिभ्या गुण गावै ।
आछै रहै ठौर नहिं छाड़ै दह दिसिही फिरि आवै ॥ क० ग्र० १४६, पृ० १४०

२ अनगढ़िया देवा कौन करै तेरी सेवा ।
गढ़े देव को सब कोइ पूजै नित ही लावै सेवा ।
पूरन ब्रह्म अखंडित स्वामी ताको न जानै भेवा ।
दस औतार निरंजन कहिये सो अपना ना होई ।
यह तो अपनी करनी भोगै कर्ता औरहि कोई ।
जोगी जती तपी सन्यासी आप आप में लड़िया । क० ग्र० क० १३४, पृ० २४०

३ सन्तो धोखा कासूं कहिये ।
गुण मैं निरगुण निरगुण मैं गुण बाट छोड़ क्यू बहिये ।
अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई ।
नाति सरूप वरण नहिं जाके घटि घटि रह्यौ समाई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई वाकै आदि अरु अन्त न होई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड छाड़ि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई । क० ग्र० १८०, पृ० १४६

सर्वत्र सदैव विद्यमान तत्त्व परमात्मा है। परन्तु वाणी द्वारा उसकी अभिव्यंजना नहीं हो सकती।[1] जहाँ वाणी होती है वहीं अक्षर अर्थात् भाषा की भी स्थिति होती है। वाणी के अभाव में चित्त स्थिर नहीं होता। परमात्मा वाणी और अवाणी दोनों के मध्य में विद्यमान है। वह कथनीय और अकथनीय दोनों ही है।[2] उसके सत्य स्वरूप को देखने में कोई सक्षम नहीं है। और न उसके सत् स्वरूप को कहने में ही कोई समर्थ है। वह जैसा है वैसा ही है।[3] इतना ही नहीं उसके विषय में कोई यथार्थ जानता भी नहीं। उस परम रहस्यमय के विषय में लोग अपनी अपनी ढपली, अपना अपना राग अलापते हैं।[4]

कबीर के मत से यदि भगवान् बीज रूप है तो सब उन्हीं का परिणाम है। पंडित-जन इस प्रपंच की सत्ता जिस प्रकार सत्व, रज, तम आदि के द्वारा समझाते हैं वह भ्रान्ति मात्र है। तन मन, अहंकार आदि किसी की सत्ता वास्तविक नहीं है वास्तविक सत्ता केवल परमात्मा की है जिससे इस प्रपंच को भी सत्ता प्राप्त होती है।[5]

कबीर के अनुसार ब्रह्म सर्वव्यापक है। पंडित और योगी के भेद से वह सरोकार नहीं रखता। राणा, राव, वैद्य तथा रोगी का अंतर भी व्यर्थ है। परमात्मा का प्रवेश इनमें है तथा सभी में है। वह स्वयं अपने से ही क्रीडा करता है। विविध प्रकार के जीव घटों का निर्माण करता है और फिर उनको नष्ट भी कर देता है। परमात्मा की इस प्रकार की सृष्टि रचना को देखकर उसे निर्गुण कैसे कहा जा सकता है। इसी कारण कबीर गुणी और निर्गुणी दोनों को ही मान्यता प्रदान करते हुए केवल प्रभु की लीला के यशगान में ही लगे रहना चाहते हैं।[6] यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर सृष्टि का निर्माण तथा संहार केवल मात्र परमात्मा की लीला के लिए ही मानते हैं।

---

१ ऐसा लो नहिं तैसा लो मैं केहि विधि कथौं गँभीरा लो।
भीतर कहूँ तो जग मय लाजै बाहर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर भीतर सकल निरन्तर चित अचित दोऊ पीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर बातन कहा न जाइ लो ॥ — क० ग्र० प० १, पृ० २३८

२ जहाँ बोल तहँ आखर आवा। जहँ अबोल तहँ मन न रहावा।
बोल अबोल मध्य है सोई। जस ओहु है तस लखै न कोई ॥ — क० ग्र० १५०, पृ० ३१०

३ जस कथिये तस होत नहिं जस है तैसा सोइ ॥ — क० ग्र० ३, पृ० २३०

४ जस तू तस तोहि कोइ न जान। लोग कहैं सब आनहि आन ॥ — क० ग्र० ४७, पृ० १०३

५ जो पै बीज रूप भगवाना तौ पंडित का कथसि गियाना।
नहिं तन नहिं मन नहिं अहंकारा नहिं सत रज तम तीनि प्रकारा।
बिष अमृत फल फले अनेक बेदरु बोधक हैं तरु एक। — क० ग्र० प० ११०, पृ० ३१८

६ ब्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै को पंडित को जोगी।
राणा राव कवन सूं कहिये कवन बैद को रोगी।
इनमैं आप आप सबहिन मैं आप आप सूं खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँडे रूप धरे धरि मेलै।
सोचि बिचारि सबै जग देख्या निरगुण कोइ न बतावै।
कहै कबीर गुणी अरु पंडित मिलि लीला जस गावै ॥ — क० ग्र० १८६, पृ० १५१

कबीर का विचार है कि कुभकार समान मिट्टी से विभिन्न प्रकार के घटो की रचना करता है, उसी प्रकार परमात्मा बहुरगिणी, अनेक नाम-रूपात्मक सृष्टि का सृजन करने वाला है। उसने मेघो के रूप मे आकाश मे जलराशि घनीभूत की है। साधारणतया जल की स्थिति स्थल पर भी निम्नस्तरो पर ही सभव है परन्तु उस चतुर सृष्टिकर्त्ता ने अपने कौशल एव शक्ति से उसे निराधार गगन के अधर मे स्थापित कर दिया है। सूर्य, चन्द्र एव नक्षत्रो के द्वारा अनेक प्रकार से प्रकाश की व्यवस्था करने वाले उस कर्त्ता की विचित्र कृतियों को देखकर ही औलिया आदम, पीर, मौलाना सब दीवाने होते रहे हैं।[1]

सत्व, रज तथा तम गुणो की क्रिया (Action) तथा पचतत्त्व के द्वारा समस्त ससार की रचना हुई है परन्तु जिस प्रकार वादन क्रिया म जो स्वर झकृत होते है, वे स्वय यत्र का स्वकार्य न होकर यत्र के वादक के कार्य होते हैं, उसी प्रकार यद्यपि सत्व रज, तम सभी सृष्टि मे सहायक हैं परन्तु सृष्टि उनका कार्य न होकर परमात्मा का ही कार्य है। वे निमित्त कारण मात्र है। इस समस्त त्रैलोक्य तथा दृष्ट ससार को परमात्मा ही कार्य मे प्रवृत्त करा रहा है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूत्रधार कठपुतली को नृत्य कराता है। इसमे तनिक भी सन्देह नही, कि सब ससार परमात्मा मे ही परिव्याप्त है।[2]

परमात्मा के सामीप्य के सम्बन्ध मे कबीर का वचन है कि वह कही बाहर नही है। वह प्रत्येक व्यक्ति के अति निकट है और निकट ही नही, प्रत्येक श्वास प्रश्वास मे वह निहित है। उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नही। मन्दिर, मस्जिद, पूजा गृहो म, काबा, कैलाश आदि तीर्थ-स्थानो मे अथवा किसी क्रिया-कर्म, योग विराग म परमात्मा का वास नही है। वह प्रत्येक प्राणी मे विद्यमान है तथा क्षण मात्र की खोज मे ही प्राप्तव्य है।[3] उसको जो जिस रूप मे ग्रहण करना चाहता है, उसको वह उसी रूप मे मिलता है। उद्यान का प्रारम्भ उसका निर्माता माली ही जानता है, उसी प्रकार परमात्मा इस सृष्टि का निर्माता होने के साथ ही उसका आदि ज्ञाता है। पुष्पों मे जिस प्रकार सुगन्धि व्याप्त रहती है, उसका कोई

---

१ या करीम, बलि हिकमति तेरी खाक एक सूरति बहुतेरी।
अर्धगगन मैं नीर जमाया बहुत भांति करि नूरनि पाया।
औलिया आदम पीर मुलाना तेरी सिफति करि भये दिवाना॥ क० ग्र० क्र० १४३, पृ० ३१५

२. बाजै जत्र बजावै गुनी। राम नाम बिन भूली दुनी।
रजगुण सतगुण तमगुण तीन। पच तत्त ले साज्या बीन।
तीनि लोक पूरा पेखना। नाच नचावै एकै जना।
कहै कबीर ससा करि दूरि। त्रिभुवन नाथ रह्या भरपूरि॥ क० ग्र० १६४, पृ० १५८

३. मोको कहा ढूढ़ता बन्दे मै तो तेरे पास मैं।
ना मै देवल ना मै मसजिद ना काबे कैलास मैं।
ना तो कौनि क्रिया कर्म मैं नही योग बैराग मैं।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं पल भर की तलास मैं।
कहै कबीर सुनो भाई साधो सब स्वासो की स्वास मैं। क० ग्र० क्र० १, पृ० २३०

भी जल गुणविहीन नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा प्रत्येक जीव में व्याप्त है, कोई भी उससे रिक्त नहीं है।[1]

कबीर का मत है कि जल और तरंग में केवल नामगत भेद है, आन्तरिक भेद नहीं। सागर और लहर जल के ही दो नाम हैं। उद्वेलित होता हुआ जल ही तरंग है, चाहे वह उतार की स्थिति में हो अथवा चढ़ाव की। वह हर प्रकार से जल ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। तरंग कह देने से जल के वास्तविक अस्तित्व में कोई अंतर नहीं पड़ता। ठीक इसी प्रकार जगत् और परमात्मा एक ही हैं, उनमें कोई मौलिक भेद नहीं है। भेद है केवल नाम का और यह नाम-भेद परमात्मा के अस्तित्व को किंचित् मात्र भी प्रभावित नहीं करता।[2]

कबीर समन्वयवादी थे। उनका विश्वास है कि सभी धर्मों तथा मतों के मूल में एक ही परमात्मा विद्यमान है। अल्लाह और राम, करीम और केशव, हजरत और हरि सब एक ही परमात्मा के विभिन्न रूप तथा नाम हैं। नाना प्रकार के आभूषण जो स्वर्ण से गढ़े जाते हैं, उनमें मूल तत्त्व स्वर्ण ही है। आभूषण तो कहने-सुनने के लिए पृथक् नाम तथा रूप वाले हैं। इसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों में मूल तत्त्व एक परमात्मा ही है। पूजा और नमाज आदि साधना के मार्गों में जो पृथकता दिखलाई पड़ती है, केवल नाम-रूपात्मक है।[3]

साधारणतया भक्तों के भगवान् चतुर्भुज रूपधारी होकर अपने शरणागतों की रक्षा में तत्पर रहते हैं परन्तु कबीर के भगवान् अनन्त भुजाओं से भक्तों की रक्षा करते हैं।[4] भगवान् सर्वदा भक्त के वश में रहते हैं। उस महापुरुष देवाधिदेव ने भक्त के वश होकर नरसिंह जैसे रूपों—अवतारों—में स्वयं को प्रकट करके एक बार नहीं अनेक बार प्रह्लाद प्रभृति अपने अगणित भक्तों का उद्धार किया है।[5]

---

१ कत नाशा जानैं बन बन फ़ादि, राम नाम बिन जनम बादि।
फूल जु फूले रुति बसंत, जामैं मोहि रहे सब जीव जंत।
फूलनि मैं जैसे रहत बास, यूं घटि घटि गोविन्द है निवास ॥ क० ग्र० ३८३, पृ० २१५

२. दरियावकी लहर दरियाव है जी, दरियाव और लहर में भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है, कहो जी दूसरा किस तरह होयम।
उसी का फेर के नाम लहर धरा, लहर के कहे क्या नीर खोयम।
जक्त ही फेर सब जक्त परब्रह्म में, ज्ञान कर देख मन गोयम ॥ ह० प्र० क० १४, पृ० २४१

३. हम जगदीश कहा ते आये कहु कौने भरमाया।
अल्ला राम करीमा केसो हरि हजरत नाम धराया।
गहना एक कनक ते गहना तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापे एक नमाज एक पूजा ॥ कबीर

४ सब सुख के ध्यान में त्रिनयनी सब मन।
कबीर भगत ता रूप में जाके भुजा अनन्त ॥ क० ग्र० ५, पृ० ६०

५. ऐसे परम पुरुष देवाधिदेव भगत हेत नरसिंह भेव।
कहि कबीर कोइ लखै न पार प्रहलाद उबारे अनेक बार ॥ क० ग्र० १४३, पृ० ३०७

मनुष्य मे निज की कोई शक्ति नही है । कबीर का विश्वास है कि उन्होने न कुछ किया, न करने की क्षमता रखते है और न उनका शरीर ही कुछ करने योग्य है । उनके सिद्धि प्राप्त करने, आत्म साक्षात्कार होने तथा जिस प्रकार से भी कबीर 'कबीर' बन सके, उस सब का श्रेय वे परमात्मा को ही देते है ।[1] जैसा कि हम पहले देख चुके हैं वह समष्टि सृष्टि का ही कर्ता नही है, वह व्यक्तिगत मनोकामनाओ को पूर्ण करने मे भी समर्थ है ।[2]

स्वयभू परमात्मा तरनतारण है । जब तक मनुष्य मे अहकार रहता है, तब तक परमात्मा का भान नही होता । जब परमात्मा का भान हो जाता है तो 'अहम्' की भावना स्वय ही नष्ट हो जाती है । मै', 'मेरे' की भावना का अत होते ही आत्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं और परम विश्वसनीय उस स्थिति पर आकर चित स्थिर एव शात हो जाता है ।[3] अस्तु इसमे कोई सन्देह नही कि परमात्मा महानतम है । उसकी महत्ता तथा महिमा से मण्डित होने की क्षमता किसी अन्य मे नही । उसके भक्त जब, जहाँ, जैसे उसका स्मरण करते है, वह तत्क्षण प्रकट होकर उनका निस्तार करता है । प्रह्लाद, गोपीचन्द, हनुमान और पुण्डरीक आदि भक्तो पर कृपा करके उनको सामर्थ्यवान् बनाने वाले हरि ही है ।[4] भगवान् सर्वत्र यथानुरूप और यथासमय उपस्थित रहते है । भूलकर भी उनके विषय मे भ्रम मे नही पडना चाहिए । कारण कि समस्त कर्तृत्व उन्ही का है, वह जो कुछ करते हैं, वही होता है ।[5]

उस सर्वशक्तिमान के सृष्टि-विधान की गति बडी ही विचित्र है । उसकी गति तथा क्रियाकलाप सामान्य बुद्धि एव तर्क से परे की वस्तु है । साधारण लौकिक नियम उसके कार्यो मे प्रयुक्त नही होते । वह जो कुछ करता है वही शोभा देता है और वही न्यायसगत होता है । अपनी कृपा से चाहे वह दरिद्र को राजा बना दे, चाहे राजा को भिखारी कर दे। उसी के विधान से लवग जैसे सुगन्धित पुष्प मे फल नही लगते तथा चन्दन जैसा सुवासित

---

१ ना कुछ किया न करि सकया ना करणें जोग सरीर ।
जो कुछ किया सु हरि किया तातै भया कबीर ॥ क० ग्र० ४६४, पृ० ६१

२ या कामना करौ परिपूरन समरथ हौ राम राइ ॥ ह० प्र० क० १६०, पृ० २३६

३ राजाराम तू ऐसा निर्भव तरन तारन रामराया ।
जब हम होते तब तुम नाहीं अब तुम हहु हम नाहीं ।
अब हम तुम एक भये हरि एकै देखत मन पतिआहीं ॥ क० ग्र० १७७, पृ० ३१६

४. हरि से कोइ नहि बड़ा दिवाना क्यों गफलत में पड़ा ।
प्रह्लाद नेम हरि से लपटा जब खभा कड़कड़ा ।
गोपीचन्द ने बचन सुनकर महल मुलुक सब छोड़ा ।
हनुमना ने सेवा कीन्हीं द्रोणागिरि ले उड़ा ।
पुण्डलीक ने सेवा किया विट्ठल ईंट पर खड़ा ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरिचरन चित धरा ॥ कबीर

५. कहै कबीर हरि ऐसा, जहा जैसा तहा तैसा ।
भूलै भरमि परै जिनि कोइ राजा राम करै सो होई ॥ क० ग्र० २६३, पृ० १७८

वृक्ष पुष्पित नहीं होता।[1] दोनों स्थानों में एक दूसरे का अभाव खटकता है। उसकी कृपा से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। मत्स्य का शिकारी अपने शिकार की खोज जंगल में करता है, और सिंह सागर में दिखाई पड़ता है। चन्दन के सम्पर्क से मलयागिरि में रेंडी का दुर्गन्धिपूर्ण वृक्ष भी चारों ओर सुरभि प्रसारित करने लगता है। नेत्रविहीन मनुष्य अपने सम्मुख दृष्टिपथ में आने वाली वस्तुएँ ही नहीं देखता है, वरन् समस्त ब्रह्माण्ड के कौतुक उसे दृष्टिगत होते हैं। पंगु व्यक्ति सुमेरु जैसे अलंघ्य पर्वत को सरलता से पार कर निर्बन्ध होकर घूमता है। उसकी पंगुता उसे सीमा के बन्धनों में बद्ध नहीं कर पाती। मूक जो वाणी से विहीन होता है, ज्ञान विज्ञान पर बात तो करता ही है, प्रत्यक्ष ज्ञान के उस अनिर्वचनीय स्वरूप को व्यक्त करता है जो कि वाणी से सम्पन्न व्यक्ति के लिए भी पूर्णतया सम्भव नहीं है। वह परमात्मा इतना सामर्थ्यवान है कि वह आकाश को बाँधकर पाताल में भेज सकता है और पाताल के अधिपति शेष को स्थानच्युत करके आकाश में रख सकता है। अर्थात् अपनी शक्ति से वह आकाश-पाताल को भी उलट पुलट सकता है। वह सम्भव-असम्भव, संगत-असंगत जो कुछ भी करता है, सब शोभित होता है, उसके समस्त कार्य आलोचना से परे हैं।[2]

गुरु नानकदेव ने वन में जाकर परमात्मा की खोज करने के प्रयत्न को व्यर्थ माना है। परमात्मा, जिसको मनुष्य वन में जाकर ढूंढने का प्रयत्न करता है, वह सर्वनिवासी, सर्वदा अलेप रहता हुआ भी सब में समाया हुआ है। वह घट-घट में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार पुष्प में सुगंधि अथवा दर्पण में प्रतिबिम्ब। आत्मा में ही परमात्मा प्रतिबिम्बित होता है तथा परमात्मा की सुरभि से ही आत्मा सुवासित बनती है। इस प्रकार बहिर्यामी

१ आधुनिक वनस्पति विज्ञान के अनुसार उपर्युक्त धारणाएँ खरी नहीं उतरतीं। चन्दन में पुष्प आते हैं तथा लवंग में फल भी। हाँ, यह बात अवश्य है कि चन्दन वृक्ष का काष्ठ जितना सुवासित, मूल्यवान तथा उपादेय होता है उसकी तुलना में पुष्पों की कोई गणना नहीं। इसी प्रकार लवंग के फूल ही सुगन्धिमय तथा उपयोगी होते हैं उसके फल नहीं। सम्भवतः चन्दन के पुष्प और लवंग के फल अपनी अनुपयोगिता तथा गुणहीनता के कारण ही नगण्य समझे गये और कवि-प्रौढ़ोक्ति में अपना अस्तित्व ही खो बैठे।

२. अवधू कुदरति की गति न्यारी।

रंक निवाज करै वह राजा भूपति करै भिखारी।

येते लवंगहिं फल नहिं लागै चन्दन फूल न फूलै।
मच्छ सिकारी रमै जंगल में सिंह समुद्रहि झूलै।

रेंडा रूख भया मलयागिरि चहुदिसि फूटी बासा।
तीन लोक ब्रह्मंड खण्ड में देखै अंध तमासा।

पंगुल मेरु सुमेर उलंघै त्रिभुवन मुक्ता डोलै।
गूंगा ज्ञान विज्ञान प्रकासै अनहद बानी बोलै।

बाँधि अकास पताल पठावै सेस सरग पर राजै।
कहै कबीर राम है राजा जो कुछ करै सो छाजै॥

क० ग्र० प० ११२, पृ० २६७

परमात्मा तथा अंतर्यामी आत्मा में कोई भेद नहीं है।[1] नानक ने भगवान् को मायापति के रूप में भी माना है।[2]

तुलसीदास ने परमात्मा का वर्णन अपने इष्टदेव दशरथ-सुत राम के रूप में किया है। इसीलिए वे बार-बार पाठकों को यह स्मरण कराते रहते हैं कि उनके राम मानव नहीं हैं।[3] ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की शैली में परमात्मा के स्वरूप का चित्रण करते हुए उन्होंने कहा है—राम का मनुष्य जानकर विरोध मत करो (मंदोदरी-रावण संवाद)। वेदों ने जिस पुरुष के अंग-प्रत्यंग में लोकों की कल्पना की है, वही विश्वरूप रघुवंशमणि राम हैं। जिसके पग में पाताल, मस्तक में स्वर्ग, तथा अन्य अंगों में दूसरे लोक आश्रित हैं, जिसकी भृकुटि-भंग ही भयंकर काल, नेत्र सूर्य तथा केश मेघ-समूह हैं, जिसकी घ्राणेन्द्रिय अश्विनीकुमार तथा जिसका निमेष ही दिवारात्रि का रूप है, दसों दिशाएँ शब्द-ग्रहण का माध्यम हैं, वायु श्वास है वेद स्वयं निःसृत वाणी है, अधर लोभ, दशन यमराज, बाहु दिक्पाल तथा हास ही माया है। मुख अग्नि, जिह्वा वरुण तथा उत्पत्ति, पालन एवं संहाररूपी प्रलय जिनके कार्य हैं। रोमावलि ही असंख्य वनस्पतियाँ, अस्थियाँ ही पर्वत-समूह, नसें ही सरिताएँ, उदर ही सागर एवं निम्न इन्द्रियाँ ही नर्क हैं। शिव जिनका अहंकार है, ब्रह्मा जिनकी बुद्धि है, चन्द्रमा मन है तथा महान् विष्णु जिनका चित्त है, वह चराचर रूप वाले भगवान् स्वयं राम हैं। उनके विषय में अधिक ऊहापोह की कल्पना क्या की जाय। मनुज न होते हुए भी मनुज रूप धारी राम ने माता कौशल्या के सम्मुख अपना वह विराट् स्वरूप प्रकट किया जिसमें माया, जीव, भक्ति आदि सब का सम्मिलित रूप से एकत्रीकरण था। जटिल माया जो जीव को नाना प्रकार से नाच नचाती है, प्रभु से भयभीत करबद्ध उपस्थित है। जीव भी है और जीव को माया के बन्धन से मुक्त करने वाली भक्ति भी वहाँ प्रकट दिखाई देती है।[4] इस भाँति भगवान् ने माता को अपने उस अद्भुत अखण्ड रूप का दर्शन कराया जिसके रोम-रोम में करोड़ों

---

१. काहे रे बन खोजन जाई।
सर्ब निवासी सदा अलेपा तोही संग समाई।
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है मुकुर माहिं जस छाई।
तैसे ही हरि बसै निरंतर घट ही खोजो भाई।
बाहर भीतर एकहि जानो यह गुरु ज्ञान बताई। नानक, म० बा० स० भा० २, पृ० ४६

२. नानक जन कह पुकार सुपने ज्यों जग पसार।
सिमरत नहिं क्यों मुरार माया जाकी चेरी॥ नानक, स० बा० स० भा० २, पृ० ५४

३. कंत राम विरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू॥ तु० रा०, लं० कां० १३.४
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी। तु० रा०, अ० कां० ११८.१
तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥ तु० रा०, सु० कां० ३८.१
तव राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज,जानहु॥ तु० रा०, कि० कां० २५.६

४. देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी।
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही। तु० रा०, बा० कां० २०१.२

ब्रह्माण्ड समर्पित हैं।[1]

तुलसी ने व्यक्ति की स्वयं की भावना के अनुसार ही प्रभु के स्वरूप का साक्षात्कार होना माना है। जिसकी जैसी भावना होती है उसी के अनुरूप उसे प्रभु का दर्शन होता है। यही विचार हम प्राचीन यूनानी दार्शनिक एनेक्जोफनीज के कथन में देखते हैं। उसका कथन है यदि बैलो, घोडो और सिंहो के हाथ होते और उनसे वे चित्र खींच सकते तथा कलाकृतियों का सृजन कर सकते जैसा कि मनुष्य करते हैं तो घोड़े भगवान् को घोड़े के रूप का अंकित करते और बैल बैल के रूप का। साथ ही वे देवताओं की मूर्तियाँ अपने ही रूप के अनुसार अनेक प्रकार की बनाते। इथोपियन अपने भगवान् को काला तथा चपटी छोटी नाक वाला बनाते हैं और थ्रेशियन कहते हैं कि उनके भगवान् के नेत्र नीले और केश लाल हैं।[2] मनुष्य अपने मनोभावों के अनुसार ही ईश्वर के स्वरूप की कल्पना करता है तथा उसी का साक्षात्कार उसे होता है। यदि ईश्वर के सत्य स्वरूप के विषय में देखा जाय तो कल्पना का विषय या कल्पनातीत सभी उसके स्वरूप हैं तथा प्रत्यक्ष का विषय हो सकते हैं। सीता-स्वयंवर के समय उपस्थित जन समुदाय में सभी श्रेणियों तथा मनोभावों के पात्र उपस्थित हैं। उनमें से प्रत्येक अपनी भावना के अनुसार राम का स्वरूप देख रहा है। वीर योधाओं ने श्रीराम को मूर्तिमान वीर रस के रूप में देखा और कुटिल नृप उन्हें भयंकर वेष में देखकर भयभीत हो उठे। छद्मवेषधारी जो असुरगण थे उन्होंने राम को साक्षात् काल के सदृश देखा। नगर निवासियों को वही राम लोचन सुखदायक, मानव-श्रेष्ठ दृष्टिगोचर हुए, विद्वानों को वही राम अनन्त मुख कर-लोचन वाले विराट रूप में दिखाई पड़े। विदेहराज जनक ने पत्नी समेत उसी रूप को अत्यन्त प्रतिभावान् बालक राम के रूप में दृष्टिगत किया। योगियों को अपनी सिद्धि के समान शान्त, शुद्ध, सम, सहज प्रकाश-रूप प्रतीत हुआ। भक्तों के सम्मुख वे अपने इष्टदेव के समान सब प्रकार से सुखदायक रूप में उपस्थित हुए परन्तु इन सब से बढ़कर जिस भाव से सीता को राम के स्वरूप का साक्षात्कार हुआ, वह अकथनीय है। सीता ने उस आनन्द का अनुभव किया परन्तु उसके वर्णन करने में अशक्त रही।

---

१ देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड। तु० रा०, बा० का० २०१

२ Xenophanes Yes, and if Oxen and horses had hands and could paint with their hands and produce works of art as men do horses would paint the forms of Gods like horses and Oxen like Oxen, and make their bodies in the images of their several kinds The Ethiopians make their Gods black and snubnosed the Thracians say their's have blue eyes and red hair

Burnet Early Greek Philosophy, P. 119
An Idealist view of life P 36

फिर भला उसको वाणी के द्वारा व्यक्त करने में अन्य कोई किस प्रकार सक्षम हो सकता है।[1] अपनी भावना के अनुसार ही मनुष्य इस विविध नाम रूपात्मक जगत् को 'सियाराम'-मय देखता है।[2] उस अनिर्वचनीय प्रभु के स्वरूप-दर्शन का प्रत्यक्ष आनन्द भी अनिर्वचनीय है।

तुलसी के जनरंजक राम विराट रूपधारी अथवा आत्मगत (Subjective) मनोभावनाओं के कल्पित ईश्वर ही नहीं हैं, वे उपनिषदों में वर्णित निर्गुण परमात्मा अथवा कबीर आदि के द्वारा संबोधित वेदान्त वेद्य परमतत्त्व भी हैं। अजन्मा, विज्ञानघन, शक्तिधाम, अखंड, अनन्त, अमोघ-शक्ति सम्पन्न भगवान् व्यापक एवं व्याप्य सब कुछ हैं। निर्गुण, महान्, अजेय, निर्दोष, सर्वदर्शी तथा इन्द्रियों की पहुँच के परे हैं। वह ब्रह्म जो मोहरहित, निर्मम, निरीह, निराकार, निर्विकार, प्रकृति से परे, सुखराशि तथा अविनाशी है, वह सब के हृदय में भी वास करने वाला है।[3] उन ब्रह्मस्वरूप राम का यशगान किस प्रकार किया जाय। उन्हीं के अनुग्रह के हेतु तपस्वी क्रोध, मोह, ममता, मद आदि विकारों को त्यागकर योगसाधन में रत होते हैं। तत्त्वचिंतन करने वाले मनस्वी मुनियों तथा महेश्वर के मन-मानस में विचरण करने वाले हंस राम ही हैं। वही राम व्यापक, अलख, अविनाशी, चिदानन्द निर्गुण, गुणनिधि, परब्रह्म हैं जो वाणी-तर्क अनुमान सब के परे है तथा जिनकी महिमा का पार न पाकर वेदों ने 'नेति नेति' कहकर सब कालों में एकरस रहने वाले परमात्मा के गुण वर्णन में अपनी असमर्थता

---

१ जिन्ह कें रही भावना जैसी, प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ।२
देखहिं भूप महा रनधीरा, मनहुँ बीररसु धरें सरीरा ।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी, मनहुँ भयानक मूरति भारी ।३
रहे असुर छल छोनिप बेषा तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा ।
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई, नर भूषन लोचन सुखदाई ।४
नारि बिलोकहिं हरषि हियँ, निज निज रुचि अनुरूप ।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥ २४१

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा, बहु मुख कर पग लोचन सीसा ।
जनक जाति अवलोकहिं कैसे, सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे ।१
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी, सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी ।
जोगिन्ह परम तत्वमय भासा, सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा ।२
हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता, इष्टदेव इव सब सुखदाता ।
रामहि चितव भायँ जेहि सीया, सो सनेह सुख नहिं कथनीया ।३
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ, कवन प्रकार कहै कवि कोऊ । तु० रा०, बा० का० २४१.४

२ सीय राममय सब जग जानी । तु० रा०, बा० का० ७.१

३. सोइ सच्चिदानन्द घन रामा । अज बिग्यान रूप बल धामा ।
ब्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता । अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता ।२
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता । सबदरसी अनवद्य अजीता ।
निर्मम निराकार निरमोहा । नित्य निरंजन सुख संदोहा ।३
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी । ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी । तु० रा०, बा० का० ७१.४

प्रकट की है।[1] उस निजानन्द, निरुपाधि, अनूप ब्रह्म के अंशमात्र से ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उत्पत्ति होती है। ऐसा महान् ब्रह्म जो त्रिदेवों का उत्पत्तिकर्त्ता है, सदैव भक्त के वश में रहता है और भक्त के लिए ही लीला-हेतु शरीर धारण करता है।[2]

तुलसी ने भगवान् राम को देवेश्वर शंकर का भी स्वामी कहा है। "सहज प्रकाश-रूप, विज्ञानरूपी प्रभात से अतीत, सर्वव्यापक ब्रह्म, परमानन्द, पुराण पुरुष, प्रकाशनिधि, पर और अपर दोनों के ही प्रकट स्वामी जो रघुवंशमणि हैं वही मेरे स्वामी हैं।" इस प्रकार के शब्दों से शंकर ने राम को मस्तक नवाकर उनकी अखण्ड महिमा को प्रदर्शित किया है।[3] कारण कि राम अज, अद्वैत, अगुण, अचल, अनाम, अनीह, अरूप, अखण्ड, अनूप, अमल, अविनाशी, निर्विकार, निरवधि, इन्द्रियातीत, सुखराशि, मन के हृदयपति तथा केवल अनुभव-गम्य हैं। उनमें और आत्मा में उसी प्रकार की अभिन्नता है जिस प्रकार जल और उसकी तरंग में। आत्मा और परमात्मा जल और तरंग की भाँति केवल नाम-भेद के कारण पृथक् प्रतीत होते हैं।[4]

वेदों में वर्णित उस अनादि अनन्त के वर्णन के प्रामाण्य से तुलसी ने उसे बिना पग के चलने वाला, बिना करों के विविध कर्मों का कर्त्ता, बिना कानों के श्रोता, बिना मुख के सर्व रस ग्राही, बिना वाणी के वक्ता, बिना शरीर के स्पर्श करने वाला, बिना नेत्रों के दर्शक, बिना घ्राणेन्द्रिय के सूँघने वाला माना है। इस प्रकार जिसके सभी कृत्य अलौकिक हैं, वही ब्रह्म राम है। विषयों, इन्द्रियों, उनके देवताओं तथा चैतन्य जीवों के समेत सब का परम प्रकाशक वही है जिसकी सत्यता के द्वारा ही जड़ माया सत्य के समान प्रतीत होती है। समस्त जगत् 'शुक्तिका रजत' और जलगत सूर्य-बिम्ब की भाँति मिथ्या होते हुए भी ईश्वर के

---

१. राम कहौं केहि भाँति प्रसंसा । मुनि महेस मन मानस हंसा ।२
करहिं जोग जोगी जेहि लागी । कोहु मोहु ममता मद त्यागी ।
व्यापकु ब्रह्म अलख अविनासी । चिदानन्द निरगुन गुन रासी ।३
मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ।
महिमा निगमु नेति कहि कहई । जो तिहुँ काल एकरस रहई ।। तु० रा०, बा० का० १४०.४

२. अगुन अखण्ड अनन्त अनादी । जेहि चिंतहिं परमारथ बादी ।२
नेति नेति जेहि वेद निरूपा । निजानन्द निरुपाधि अनूपा ।
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस तें नाना ।३
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगत हेतु लीलातनु गहई । तु० रा०, बा० का० १४३.४

३. सहज प्रकासरूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ।३
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना । परमानन्द परेस पुराना ।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुलमनि मम स्वामि मोर, कहि सिव नायउ माथ ।। तु० रा०, बा० का० ११६

४. लागे करन ब्रह्म उपदेसा, अज अद्वैत अगुन हृदयेसा ।
अकल अनीह अनाम अरूपा, अनुभवगम्य अखण्ड अनूपा ।२
मन गोतीत अमल अविनासी निर्विकार निरवधि सुखरासी ।
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा वारि वीचि इव गावहिं वेदा । तु० रा०, उ० का० ११०.३

आश्रित है। निद्राग्रसित व्यक्ति जिस प्रकार दुःस्वप्न देखकर दुःखित होता है परन्तु बिना जागे उसका दुःख दूर नहीं होता उसी प्रकार इस मिथ्या संसार का दुःख भी बिना भ्रम मिटे दूर नहीं होता। जिसकी कृपा से इस भाँति का भ्रम मिट जाता वही परमात्मा राम है।[1] इसी भाँति अन्यत्र भी निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप वर्णन में तुलसी ने कहा है :

सुनत लखत श्रुति नयन बिनु रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिनु लहै परसै बिना निकेत ॥ तु० ग्र०, पृ० ६

कबीर आदि की भाँति परमात्मा के अन्तर्यामी होने की भावना से तुलसी ओतप्रोत हैं। उनका हृदय परमात्मा का निवास-स्थान है।[2] और न केवल तुलसी का हृदय प्रभु का वास-स्थान है वरन् चराचर के नियन्ता अन्तर्यामी राम सब के हृदयों में स्थित हैं।[3]

अन्तर्यामी तथा बहिर्यामी[4] प्रभु के स्वरूप तथा मूर्तिपूजा[5] के सम्बन्ध में भी तुलसी ने उस समय प्रचलित निर्गुणिया संतों की तीखी चोटों के विरोध में विचार प्रकट किए हैं। कबीरपंथियों द्वारा मूर्ति के स्थान पर पहाड़ या चक्की पूजने का तर्क देकर मूर्ति-पूजा का

---

१ विषय करन सुर जीव समेता, सकल एक तें एक सचेता।
सब कर परम प्रकासक जोइ, राम अनादि अवधपति सोइ ।३
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू, मायाधीस ग्यान गुन धामू।
जासु सत्यता तें जड़ माया, भास सत्य इव मोह सहाया ।४
रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥११७
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई, जदपि असत्य देत दुख अहई।
जौं सपनें सिर काटै कोइ, बिनु जागें दुख दूरि न होइ ।१
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाइ, गिरिजा सोइ कृपालु रघुराइ।
आदि अन्त कोउ जासु न पावा, मति अनुमानि निगम अस गावा ।२
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना, बिनु कर करम करइ बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।३
तन बिनु परस नयन बिनु देखा, ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा।
असि सब भाँति अलौकिक करनी, महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ।४
जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान ॥ तु० रा०, बा० का० ११८

२. मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तुलसीदास, म० बा० स० भा० २, पृ० ८६

३. सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अन्तरजामी। तु० रा०, बा० का० ११८ १

४. अन्तर्जामिहु ते बड़ बाहरजामि हैं राम जे नाम लिये तें।
धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किये तें।
आपनि बूझि कहै तुलसी कहिबे की न बावरि बात बिये तें।
पैज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये तें ॥ तु० ग्र० १२६, पृ० १६३

५. बालि कुरान कृपा न कहूँ बिनु बान कराल बिलोकि न भागे।
प्रति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब तें सब पाहन पूजन लागे ॥ तु० ग्र० १२८, पृ० १६३

विरोध किया जा रहा था। तीर्थों एवं गंगा आदि की पवित्रता की शक्ति के विरुद्ध कटु तीखी के कटु ही बने रहने तथा मछली आदि जल-जन्तुओं के मुक्त न होने के तर्क उपस्थित किये जा रहे थे। स्वयं कबीर ने भी समाज को झकझोर कर जगा देने के प्रयत्न में इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किये थे। कबीर के पश्चात् उनके मतावलम्बियों में उनकी जन-जागृति की भावना नहीं रह गई थी, केवल कबीर के शब्दों का प्रचलन रह गया था और उनके उद्गार सम्प्रदायगत विरोधों के लिए प्रयुक्त किये जाते थे। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर उतने ही वाक्चातुर्य एवं छिछले तर्कों द्वारा प्रत्युत्तर मात्र देने की नियत से तुलसीदास ने भी इस प्रकार के छन्द रचे हैं—अन्तर्यामी भगवान् से भी बहिर्यामी भगवान् अधिक बड़े हैं जो कि नाम लेते ही अविलम्ब भक्त के सम्मुख उपस्थित होकर उसका कष्टों से निस्तार करते हैं, जिस प्रकार धेनु बछड़े की पुकार सुनकर वात्सल्य से ओतप्रोत, स्तनों से टपकते हुए दूध के सहित भागती हुई उसके पास पहुँच जाती है। हिरण्यकश्यप के द्वारा जिस समय भक्त प्रह्लाद त्रासित किया जा रहा था उस समय उसकी पुकार पर, उसकी रक्षा के लिए बहिर्यामी भगवान् खंभे से प्रकट हुए, न कि हृदय से। इस प्रकार जब से भक्त की पुकार पर भगवान् पाषाण से प्रकट होने लगे तभी से सब लोग पाषाण-प्रतिमा का पूजन करने लगे। यह भेद उपासना या पूजा का बाह्य अंग मात्र है। आत्मा कबीर तथा तुलसी ही की क्या, संसार के समस्त रहस्यवादियों की समान ही है।

सर्वत्र समान रूप से व्याप्त परमात्मा, ऐसा कौन देश या काल है जहाँ विद्यमान नहीं है। सब प्रकार से संसार के राग से रहित विरागी परमात्मा प्रेम से उसी प्रकार प्रकट होता है जिस प्रकार काष्ठ से अग्नि जो कि अप्रकट रूप से काष्ठ के अंदर सदैव सब जगह समान रूप से मौजूद रहती है।[1] केवल माया से आच्छादित होने के कारण निर्गुण ब्रह्म दृष्टिगत नहीं होता।[2] वस्तुतः सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है—ऐसा मुनि, पण्डित, वेद-पुराण सब का मत है। रूपहीन अदृष्ट जो निर्गुण है वही भक्त के प्रेमवश सगुण रूप हो जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि निर्गुण सगुण कैसे हो सकता है ? निर्गुण और सगुण का परस्पर सम्बन्ध वही है जो जल और हिम का है। जल और हिम एक ही हैं। एक द्रवरूप है और दूसरा उसका ठोस रूप। इसी प्रकार निर्गुण अव्यक्त है और सगुण व्यक्त तथा दृष्ट।[3] इस प्रकार सच्चिदानन्दघन अजन्मा राम माया, मन तथा गुणों से परे, दृष्टि, वाणी तथा ज्ञान का अविषय, ब्रह्म ही सगुण-रूप में उदार नर-चरित्र का कर्त्ता है।[4] परमात्मा ने केवल भक्तों के

---

१. हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।।३
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।। — तु० रा०, बा० का० १८४.४

२ मायाछन्न न देखिये जैसे निर्गुन ब्रह्म।। — तु० रा०, अर० का० ३९ (क)

३. सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें।। — तु० रा०, बा० का० ११५.२

४. ग्यान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार। — तु० रा०, उ० का० २५

लिए शरीर धारण करके नाना प्रकार के चरित्र किये हैं। जिन्हें भक्तों पर अत्यन्त ममता है, जिन्होंने भक्त पर अनुग्रह करके फिर उस पर कभी क्रोध नहीं किया तथा जो सब प्रकार से गत को भी वापस लाने में समर्थ हैं, दोनों की शरण राम सबल होते हुए भी अत्यन्त सरल हैं।[1] भक्तों के लिए मानव-शरीर धारण करने वाले राम स्वयं संकट सहन करके सज्जनों को सुखी करते हैं।[2]

राम के समान अन्य स्वामी तुलसी को दृष्टिगत नहीं होता। वेद-पुराण, कवि-कोविद तुलसी के नायक का गुण-गान करते तथा सुनते हैं। माया, जीव, जगत्, स्वभाव, कर्म, काल सबका सदैव सर्वत्र शासक है। ब्रह्मा जैसे कर्त्ता, विष्णु जैसे प्रतिपालक तथा हर जैसे संहारक जिसका नाम जपा करते हैं, वही राम भक्त की विनती स्वीकार कर नर-देह में अवतरित हुए हैं।[3]

भक्त तुलसी को उपर्युक्त प्रकार से वर्णित निर्गुण राम के स्वरूप से ही केवल स्नेह नहीं था, उनके हृदय में 'डिभ-रूप राम' का भी सम्माननीय स्थान था। हम कबीर में देख चुके हैं—'भैम रिवर्जित भाँग विवर्जित विवर्जित डयमंक रूप'—के द्वारा उन्होंने अवतार-पूजा का खण्डन किया है। वे अपने अनुपम तत्त्व को इन सबसे भिन्न मानते थे परन्तु 'निज प्रभु-मय जगत्' को देखने वाले तुलसी के लिए स्वयं उनके इष्टदेव की इस प्रकार की अवहेलना सह्य नहीं थी। सम्भवतः इसी से उन्होंने डिंभ रूप राम को अपने वर्णन में लाना आवश्यक समझा।[4]

---

१. एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना।।
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।
जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू।
गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू।। तु० रा०, बा० का० १२४

२. राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी।। तु० रा०, बा० का० २३.१

३. दूसरो न देखतु साहिब सम रामै।
वेदऊ, पुरान कवि कोविद बिरद रत,
जाको जस सुनत गावत गुनग्रामै।
माया जीव जग जाल सुभाउ करम काल,
सबको सासकु सबमैं सब जामैं।
बिधि से करनिहार हरि से पालनिहार,
हर से हरनिहार जपैं जाके नामैं।
सोई नर बेष जानि जनकी बिनती मानि,
मतो नाथ सोई जा तें भलो परिनामै।।

४. दाहि चुचकारि चूमि लालत लावत उर,
तैसे फल पावत जैसे सुबीज बए हैं।
घनओट बिबुध बिलोकि बरसत फूल,
अनुकूल बचन कहत नेह नए हैं।

तुलसीदास अवतारवाद के पोषक थे। उनके इष्टदेव श्रीराम पृथ्वी का भार उतारने के लिए कौशल्या के उदर से अवतीर्ण हुए थे। अजन्मा, अद्वैत, अनाम, अलख, रूपगुण-रहित जो मायापति राम हैं, उन्होंने भक्तों के लिए मानव-शरीर धारण किया।[1] भक्तों के लिए ही भगवान् राम ने नृप के रूप में अवतरित होकर प्राकृत पुरुष के अनुरूप परम-पावन चरित्र सम्पन्न किये। परमात्मा शरीर धारण करके और उसके कार्यों से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होता जिस प्रकार कोई नट अनेक वेष धारण करके नृत्य करता हुआ जिन-जिन भावों को दर्शाता है वे सब उसके वास्तविक भाव नहीं होते और न वह स्वयं पात्र ही हो जाता है। इसी प्रकार परमात्म स्वरूप भगवान् राम ने जो चरित्र प्रकाश किये हैं, वे सब उनकी लीलामात्र है जो असुरों को विमोहित करने वाली तथा लोक के लिए आनन्दकारी है।[2] सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप वाले, नृपतियों को शिरोमणि, रावण आदि प्रचण्ड निशाचरों को अपने प्रबल बाहुबल से नष्ट करने वाले, शरणागत के रक्षक परम दयालु प्रभु राम ने संसार का भार नष्ट करने के लिए नर-रूप में अवतार लेकर अगणित दारुण दुखों से लोक को मुक्त किया।[3]

भगवान् के अवतार लेने के कारणों में भक्तों का हित तथा पृथ्वी के भार को नष्ट करने के साथ ही देवताओं को कष्ट से मुक्त करना भी है। जब जब सुरगण पीड़ित एवं व्यथित होते हैं, तब तब भगवान अवतरित होकर उनके कष्टों को दूर करते हैं।[4] इसके अतिरिक्त पृथ्वी, द्विज और धेनु की रक्षा के लिए जन-कल्याण, दुष्ट-दमन, और वेद-धर्म की रक्षा के लिए भी अहेतुकी कृपा करने वाले भगवान् अवतरित होते हैं।[5] भगवान् भक्तों

'अजर अमर होहु' 'करौ हरिहर छोहु'
　　　　जरठ जेठरिन्ह आसिरबाद दए हैं।
तुलसी सराहैं भाग तिन्हके जिन्हके हिये,
　　　　डिम राम रूप अनुराग रंग रए हैं।　　　　तु० ग्र० ११, पृ० २३०

१ अज अद्वैत अनाम अलख रूप गुनरहित जो।
　मायापति सोइ राम दास हेतु नरतनु धरेउ॥　　　　तु० ग्र० ४, पृ० ६

२ भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
　किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥७२ (क)
　जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
　सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥७२ (ख)
　असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥　　　　तु० रा०, उ० का० ७२ १

३. जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
　दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने।
　अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
　जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे॥　　　　तु० रा०, उ० का० १२ १

४. जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो।　　　　तु० रा०, ल० का० १०६ ४

५. गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपा सिंधु मानुष तनुधारी।
　जन रंजन भंजन खल ब्राता। बेद धर्म रच्छक सुनु भ्राता।
　देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥　　　　तु० रा०, सु० का० ३८.३

के प्रेमवश होकर ही सिर्फ अवतार नहीं लेते वरन् समय समय पर उनके शापवश होकर केवल उनकी इच्छा पूर्ति के लिए भी अवतार लेते है। मानस म नारद के शापवश होकर एक कल्प मे राम ने अवतार ग्रहण किया।[1] अवतार ग्रहण करने मे कोई कार्य-कारण सम्बन्ध समझना उचित नहीं। परमात्मा किसी कारण अथवा नियम से बद्ध नहीं है। प्रस्तुत कारणो के अतिरिक्त वह अपनी निज इच्छा के कारण ही शरीर धारण करता है। अवतार लेने के मूल म उसकी इच्छा शक्ति ही प्रधान रहती है।[2] उसकी इच्छा के अभाव मे कोई भी कारण शायद उसे अवतार लेने के लिए बाध्य न कर सकता। भगवान् का अवतार किस कारण होता है उसको कोई यथावत् निश्चित रूप स नहीं कह सकता। कारण कि वे वाणी, मन तथा बुद्धि से अतर्क्य है।[3] फिर भी उनके अवतार के विषय म अपनी-अपनी बुद्धि के अनुमान मत, मुनि, वेद तथा पुराणो ने जो कुछ कहा है उसी को हम तुलसी के शब्दो मे ढला हुआ देखते हैं। गीता के प्रस्तुत श्लोक के अनुसार तुलसी के राम भी अवतार लेते है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥४ ७
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म सस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे ॥४.८

इस श्लोक का अक्षरश पद्यानुवाद तुलसी की निम्नलिखित पक्तियो मे प्राप्त होता है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।
असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जन्म कर हेतु ॥ तु० रा०, बा० का० १२१

गीताकार से तुलसी ने मूल भाव तो लिया ही परन्तु जगबिस्तारहिं बिसद जस के द्वारा उस पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। इस विशद यश का गान करके भक्तगण भवसागर से पार हो जायें—तुलसी के मन से राम-जन्म का एक कारण यह भी प्रतीत होता है। राम जन्म का कोई एक कारण नहीं है। उनके अवतार लेने के अनेक कारण हैं जो एक से एक परम विचित्र रहस्यमय हैं।[4]

---

१ नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा। तु० रा०, बा० का० १२३.१

२ निज इच्छा प्रभु अवतरइ। सुर महि गो द्विज लागि॥ तु० रा०, कि० का०, २६

३ हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थ कहि जाइ न सोई॥१
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥ तु० रा०, बा०, का०, १२०.२

४ तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥२
तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही। समुझि परइ जस कारन मोही॥३
सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिधु जनहित तनु धरहीं।
राम जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका। तु० रा०, बा० का० १२१ १

इस प्रकार सतो और देवताओ के निमित्त शरीर धारण करने वाला परमात्मा राजा राम के रूप मे प्रकट होकर एक प्राकृत नृप की भाँति वचन तथा आचरण करता है। उसका स्वरूप वाणी से अगोचर तथा बुद्धि से परे है। इसी अपार अज्ञात स्वरूप को वेदो ने 'नेति-नेति' कहकर व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। समस्त जगत् दृश्य है तथा परमात्मा उसका द्रष्टा है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उसका रहस्य नहीं जानते और किसी की क्या सामर्थ्य? केवल वे ही उस भेद को जानते है, जिन्हे वह स्वय अवगत करा देता है। परमात्म मय ही हो जाता है। अस्तु इसमे सन्देह नही कि परमात्मा की कृपा से ही उसके भक्त उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अधिकारी ही उस चिदानन्दमय, विकाररहित स्वरूप को जानने में सक्षम होते है। उसके चरित्र को देख और सुनकर बुद्धिमान् आनन्दित होते हैं तथा जड जीव सम्मोहित होते हैं।[1] तुलसी ने इसी भाव को अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया है:

उमा राम गुन गूढ़ पण्डित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ बिमुख न जे हरि भक्ति रत॥

तुलसी ने जहाँ एक ओर विश्वरूप तथा निर्गुण परमात्मा का वर्णन किया है वही दूसरी ओर सगुणरूप मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के रूप का चित्रण भी किया है। नील कमल नील मणि तथा नीले मेघो की समन्वित नीलिमा के सदृश भक्तवत्सल कृपानिधान भगवान् राम के शरीर की नीलिमा की सुषमा है जिसको देखकर सहस्रो कोटि कामदेव लज्जित होते है। राम के मुख की छवि शरच्चन्द्र की भाँति तथा कपोल, चिबुक और ग्रीवा उसी के अनुरूप सुन्दर हैं। अरुण अधर, सुन्दर नासिका तथा दन्त पंक्ति से युक्त मुख का हास चन्द्र किरणो के सौन्दर्य की भी निन्दा करने वाला है। नव-विकसित सरसीरुह की भाँति सुन्दर मुख अपनी आकर्षक चितवन से बरबस मन को मोहित कर लेता है। मन्मथ के धनुष की छवि से उत्कृष्ट छवि वाली भृकुटि, ललाट पर लगा हुआ आभामय तिलक, मस्तक पर मुकुट धारण किये हुए, मकराकृति कुण्डल से युक्त मुख पर शोभित अलकावली से भ्रमर-समूह का भ्रम होता है। श्रीवत्स और वनमाला को हृदय पर धारण किये हुए विविध आभूषणो से अलंकृत, केहरि के समान बलिष्ठ व मासल कधों पर यज्ञोपवीत से युक्त सुन्दर अलकारों से सज्जित, गजकर के समान सुडौल हाथो मे धनुषबाण व तरकस शोभित हैं। पीताम्बर की शोभा दामिनि-द्युति से कही बढकर है। उदर मे त्रिवली शोभायमान

---

१. राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥१२६
जगु पेरतन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥१
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन॥२
चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।
नरश्नु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥३
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड मोहहि बुध होहिं सुखारे। तु० रा०, अयो० का० १२६ ४

है और नाभि की मनोहर छवि यमुना के जलभँवरों की छवि को भी छीन लेने वाली है।[1]

ऐसे निर्गुण ब्रह्म का सगुण वेष में दर्शन परम नेत्रलाभ का विषय है। इस रूप को अपलक नेत्रों से देखना जीवन की सार्थकता है। सौन्दर्यमयी सीता के सहित शोभित करुणा निधान भगवान भक्तों को सुख देते हुए प्रतिदान में उनके चित्त का अपहरण कर लेते हैं। ऐसे अमित स्वरूप का वर्णन करने में स्वयं वेद तथा सहस्र मुख वाले शेषनाग अपने को सामर्थ्यहीन अनुभव करते हैं, यही नहीं, इस छवि का अवलोकन कर वाणी की अधिष्ठात्री शारदा भी कुछ कहने में असमर्थ होकर मूक हो जाती है। परमात्मा के निर्गुण रूप वर्णन में उसकी अनिर्वचनीयता को हम देख ही चुके हैं। सगुण रूप में सारद भइ भोरी[2] के द्वारा इसी अनिर्वचनीय तत्त्व की ओर इंगित किया गया है। वस्तुतः परमात्मा का साक्षात्कार जन्य आनन्द चाहे वह निर्गुण रूप का हो चाहे सगुण रूप का हो केवल अनुभवगम्य है वर्णनीय नहीं।

सामान्यतया पुरुष सौन्दर्य के मापदण्ड कामदेव ही कहे जाते हैं परन्तु राम के साथ उपमा देने में कामदेव अत्यन्त हेय सिद्ध होते हैं। काम में शील, सुमति, साधुता, पवित्रता तथा सरलता का अभाव है। इसके अतिरिक्त वह नीतिवान भी नहीं है। इसके विपरीत राम परम सुशील, पवित्र, सुमति-युक्त सरल स्वभाव वाले तथा नीतिरत हैं। इस प्रकार राम की उपमा कामदेव से नहीं दी जा सकती। सम जाति गुण के पदार्थों में ही उपमा

---

१ भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना। ४
नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम। १४६
सरद मयंक बदन छबि सींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा।
अधर अरुन रद सुन्दर नासा। बिधु कर निकर बिनिन्दक हासा। १
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावँती जी की।
भृकुटि मनोज चाप छबिहारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी। २
कुण्डल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा।
उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनिजाला। ३
केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषण सुन्दर तेऊ।
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा। ४
तड़ित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छबि छीनि। १४७ तु० रा०, बा० का० १४७

२ नयननि को फल बिसेष ब्रह्म अगुन सगुन बेष।
निरखहु तजि पलक सकल जनम सफल री।
सुन्दर सीता समेत सोभित करुनानिकेत।
सेवक सुख देत लेत चितवत चित चोरी।
बरनत यह अमित रूप थकित निगम नागभूप।
तुलसिदास छबि बिलोकि सारद भइ भोरी॥ तु० ग्र० पृ० ३४१

स्थापित हो सकती है।[१] ये भगवान् राम इतने सामर्थ्यवान हैं कि चेतन को जड कर देते हैं और जड को चैतन्यता प्रदान कर देते हैं।[२] वही सामर्थ्यवान प्रभु रजकण के तुल्य नीच तथा अधम को पर्वत के सदृश उच्च तथा महान् बना देते हैं।[३] भगवान् की छत्रछाया मे रहकर, उसके अनुग्रह को प्राप्त कर अन्य कोई भक्त के भय का विषय नही रह जाता। राम के रक्षक होने पर उनके भक्त का भक्षक होने का साहस कौन कर सकता है।[४] रघुनाथ राम के अतिरिक्त प्राणियो के दुःखो का निवारण करने वाला अन्य कौन है।[५] प्रभु जिस पर कृपादृष्टि कर देते है वह त्रिविध (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापो से निस्तार पा जाता है। भौतिक संतापो का विनाश करने मे दक्ष राम भक्तो की आराधना का विषय हैं।[६] राम की कृपा के बिना जीव स्वप्न म भी विश्राम नही प्राप्त कर सकता। कारण कि वे ही भक्तो को सुख देने वाले तथा उन पर करुणा करने वाले हैं।[७] राम अहेतुकी कृपा करके मानव-तनु प्रदान करते है। बिना किसी स्वार्थ के स्नेह करने वाला परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कौन है।[८] अकारण अनुग्रह करने वाले राम ने किस किसको अनुगृहीत करके सद्गति नही प्रदान की।[९] प्रभु की यह रीति ही है कि वे सर्वदा सेवक पर प्रीति करते हैं।[१०] उसी की कृपा से जीव माया से छुटकारा पाता है।[११]

जो सब सासारिक अवलम्बो को त्याग कर भगवान् का स्मरण करते हैं, भगवान् जननी के सदृश उनकी रक्षा करते हैं। माता अबोध शिशु को अग्नि या सर्प आदि भयावह वस्तुओ के निकट जाने से बलपूर्वक रोककर उसकी रक्षा करती है, उसी प्रकार परमात्मा

---

१ साधु सुसील सुमति सुचि सरल सुभाव।
गम नर्निरत काम कहा यह पाव ॥ — तु० ग्र०, पृ० १७

२ जो चेतन कहँ जड करइ जडहि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य ॥ — तु० रा०, उ० का० ११६ (ख)

३ छारते सवाँरिके पहार हूते भारो कियो
गारो भयो पच मैं पुनीत पच्छ पाइकै ॥

४ नेकु विषाद नहीं प्रहलादहि कारन केहरि केवल हो रे।
कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहैं राम तो मारिहै को रे ॥ — तु० ग्र०, पृ० १७५

५ रघुनाथ बिना दुख कौन हरै ॥ — तु० ग्र०, पृ० १७६

६ जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिविध दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे ॥ — तु० रा०, उ० का० १३.२

७ राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव कि लह बिश्रामु ॥ — तु० रा० उ० का० ९० (क)
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुन्दर सुखद ॥ — तु० रा०, उ० का० ९०(ख)

८. कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥ — तु० रा०, उ० का० ४३ ३

९. बिनु कारन करुनाकर रघुबर केहि केहि गति न दई। — तु० ग्र०, पृ० ५५०

१० सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती ॥ — तु० रा०, सु० का० ६ २

११ मोर तोर सब माया मोहा। सो निरवार तुम्हारेहि छोहा ॥ — तु० रा०, कि० का० २.१

सभी विघ्नो तथा कठिनाइयों के मार्ग से भक्त को हटाकर उसकी रक्षा करता है।[1] निःसदेह भक्त पर भगवान का अधिक स्नेह रहता है।[2] परमात्मा भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तो की भाँति स्थायी जड नियमो की शृखला मात्र नही है। उसमे विशेष प्रकार से विशेष व्यवहार करने की क्षमता तथा स्वतन्त्रता है। इसी कारण वह मनुष्यो मे सन्तो की कोटि विशेष पर विशेष कृपादृष्टि रखता है।

तुलसीदास किसी को भी ज्ञानी या मूढ नही मानते। उनके विचार से परमात्मा जिसको जैसा चाहता है वह उसी प्रकार का हो जाता है। वही मनुष्य के कृत्य अकृत्य तथा ज्ञान अज्ञान का कारण है। सारी कर्तृत्व शक्ति परमात्मा की ही है।[3]

परमात्मा सदैव अपने भक्तो का प्रण निभाता है। प्रह्लाद के इस वचन को कि खभ मे भी भगवान् हैं सत्य प्रमाणित करने के लिए नरसिंह रूप होकर खभ से प्रकट हुए। जल म ग्राह से आक्रान्त हुए गजराज की पुकार पर बिना किसी विलम्ब के तत्काल उपस्थित हुए। कौरवो की सभा म द्रौपदी के चीर हरण के समय भगवान् ने ही उसकी लाज बचाई। कहाँ-कहाँ उन्होने अपने भक्तो के पन की रक्षा नही की ?[4] इसके अतिरिक्त उन्होने शरणागत भक्तो के अवगुणो तथा अनुचित स्वभाव को भी सहन किया है। पवित्र अग्नि के भी कलुष को नष्ट करने वाली नारीरत्न सीता का त्याग राम ने केवल लोकनिन्दा के कारण किया, धर्म धुरधर बन्धु का भी इसी कारण परित्याग किया परन्तु उन्ही राम ने विभीषण व सुग्रीव के वधूपत्नीगमन जैसे घोर पातक को सुनकर भी अनसुना कर दिया न उसका अवलोकन किया न उस पर ध्यान ही दिया।[5]

राम साधको तथा सिद्धो की साधना के फल, माता पिता के सुकृतो के फल, सर्व-

---

१. सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई।
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।। तु० रा०, अर० का० ४२ ४

२ सेवक कै महिमा रघुराई।
निज पर प्रभुहि प्रीति अधिकाई। तु० रा०, उ० का० ३६ २

३ बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।—
जेहि जस रघुपति करहि जब सो तस तेहि छन होइ।। तु० रा०, बा० का० १२४ (ख)

४ प्रभु सत्य करी प्रह्लाद गिरा प्रगटे नरकेहरि खंभ महाँ।
झषराज ग्रस्यो गजराज कृपा ततकाल बिलंब कियो न तहाँ।
सुर साखी दै राखी है पांडुबधू पट लूटत कोटिक भूप जहाँ।
तुलसी भजु सोच विमोचन को जन को पन राम न राख्यो कहाँ। तु० ग्र०, पृ० १६८

५ तीय सिरोमनि सीय तजी जेहि पावक की कलुषाई दही है।
धर्म धुरंधर बन्धु तज्यो पुर लोगन की बिधि बोलि कही है।
कीस निसाचर की करनी न सुनी न बिलोकी न चित्त रही है।
राम सदा सरनागत की अनखौंहो अनैसी सुभाय सही है। तु० ग्र०, पृ० १६७

साधारण के नेत्रों के फल तथा तुलसी के तो जीवन सर्वस्व ही हैं।[१] वे कौतुकी, शरणागत हितकारी, सहज, सुलभ तथा सम्पूर्ण दुखों के विनाशक हैं।[२] जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि ईश्वर किसी नियम अथवा सिद्धान्त में बद्ध नहीं है। उसकी गति इतनी विचित्र है कि संसार में उसको जानने योग्य कोई नहीं है। उसकी विचित्र गति के ही कारण अपराध कोई अन्य करता है परन्तु उसका फल दूसरे को भोगना पड़ता है।[३]

राम ईशों के भी ईश, महाराजाओं के भी महाराज, देवताओं के भी देव तथा प्राणों के भी प्राण हैं। काल के भी काल, महाभूतों के भी महाभूत, कर्म के भी कर्म तथा निदान के भी निदान हैं। वेदों के लिए अगम, शीलसिंधु, करुणानिधान, परमात्मा तुलसी-सदृश भक्तों के लिए सुगम हैं। उनकी अपार महिमा वाणी से परे अनिर्वचनीय है।[४]

इस प्रकार अनन्त गुणों से समन्वित प्रभु राम की उपमा किससे दी जाय। इसलिए यही कहा जा सकता है तथा वेदों ने भी यही कहा है कि वे स्वयं अपने जैसे ही हैं। यदि तेज-पुंज प्रचण्ड मार्तण्ड को शतकोटि खद्योतों के समान प्रकाशवान् कहा जाय तो उससे सूर्य की महत्ता का द्योतन न होकर उसकी लघुता ही भासित होगी। इसी प्रकार परमात्मा के लिए किसी भी उपमा का प्रयोग उसके यथार्थ स्वरूप का परिचायक न होकर उसके विषय में अत्यन्त अपूर्ण धारणा का ही द्योतक होगा। फिर भी मुनि जन अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उसका वर्णन करते हैं तथा अत्यन्त कृपालु, भावग्राहक प्रभु उसे सप्रेम सुनकर प्रसन्न हो जाते हैं।[५]

---

१ साधन फल साधक सिद्धनि के लोचन फल सबही के।
सकल सुकृत फल मातु पिता के जीवनधन तुलसी के॥ — तु० ग्र० पृ० ५४६

२. प्रभु कौतुकी प्रणत हितकारी। सेवत सुलभ सकल दुखहारी। — तु० रा०, बा० का० १३९.४

३ और करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति विचित्र भगवन्त गति को जग जानै जोगु॥ — तु० रा०, अयो० दो० ७७

४. ईसन के ईस महाराजन के महाराज
देवन के देव देव प्रान हू के प्रान हौ।
कालहू के काल महाभूतन के भूत
करमहू के करम निदान के निदान हौ।
निगम को अगम सुगम तुलसी से को
एते मान सीलसिंधु करुना निधान हौ।
महिमा अपार काहू बोल को न वारापार
बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हौ॥ — तु० ग्र०, पृ० १६२

५. निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै।
यही भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव ग्राहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥ — तु० रा०, उ० का० ११५

सूरदास के राम निर्बल के भी बल हैं। वे भक्त के अर्धनाम उच्चारण मात्र पर दौड़ने वाले हैं तथा सब प्रकार से हारे हुए के एकमात्र अवलम्ब हैं।[१]

कबीर तथा तुलसी ने ईश्वर की विचित्र गति तथा विधान पर पृथक् पृथक् ढंग से अपने भावों को व्यक्त किया है। कबीर के राम सभव असभव सगत-असगत जो कुछ करते हैं सब शोभित होता है। उनके समस्त कार्य समीक्षा से परे हैं। तुलसी के राम अपराध का दण्ड किसी अन्य को देते है जब कि वास्तविक अपराधी कोई अन्य ही होता है। सूर के कृष्ण तो अन्धाधुन्ध दरबार वाले हो ठहरे। उनकी तो बात ही क्या ? वे आम्र जैसे सुरस तथा उपयोगी फलो के वृक्षो को कटवा कर बबूल के कटकाकीर्ण अनुपयोगी वृक्ष लगाते हैं। चन्दन के श्रेष्ठ सुगधित काष्ठ को ईंधन के स्थान म भाड मे जलाते हैं। प्रतिष्ठित व्यक्तियो को हटाकर चोरो को बसाया जाता है तथा झूठे लोग विश्वासपात्र माने जाते है। राधा सी परम सुन्दरी कृष्ण के वियोग मे विरहाकुल हो रही है परन्तु दूसरी ओर कुब्जा सनाथ हो रही है। इस प्रकार कृष्ण के—सामान्य मानव कृष्ण के नहीं—वरन् भगवान् कृष्ण के सभी कार्य अद्भुत हैं।[२] क्या न हो भगवान् की रीति नीति ही परम रहस्यमय तथा अनिर्वचनीय है।

धरमदास ईश्वर को विश्व का सचालक मानते है। ससार कागज की नाव सदृश है जिसका अस्तित्व अत्यन्त क्षणिक है। इस क्षणभगुर नौका का सचालन सूत्र ईश्वर के हाथ म है। वह जीव को मनचाहा नाच नचाता है। जीव मे कर्तृत्व शक्ति का सर्वथा अभाव है सबका कर्ता एकमात्र ईश्वर है।[३]

जीव को यम-यातना से निस्तार दिलाने वाला ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं है। वह दीनदयालु तथा पतितपावन है।[४] उसकी पापविनाशिनी कीर्ति लोक मे विख्यात तथा

---

१. सुने री मैंने निरबल के बल राम
पिछली साख भरूँ सन्तन की अड़े सवारे काम।
जब लग गज बल अपनो बरत्यो नेकु सर्यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकार्यो आये आधे नाम।
अपबल तपबल और बाहुबल चौथो है बल दाम।
सूर किशोर कृपा ते सब बल हारे को हरिनाम।

२. ऊधो धनि तुम्हरो ब्योहार।
आम कटावत बबुर लगावत चन्दन झोंकत भार।
चोर बसावत साहु भगावत झूठ को इतबार।
सुन्दर नारि पुरुष बिन तरसे कुबजा काम सिगार।
सूरदास धनि तुम्हरी कचहरी अधाधुध दरबार।।

३ कागद की नइया बनी डोरी साहिब हाथ
जैसे नाच नचइहैं हो नाचब वोहि साथ।। धरमदास, स० बा० स० भा० २, पृ० ३८

४ तुम बिन सकल देव मुनि ढूँढे कहूँ न पाऊ जम पद छुड़इया।
हम से दीन दयाल न तुम से चरन सरन रैदास चमइया। रैदास बानी, पृ० ४०

वेद में वर्णित है।[1] वह सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, परम गुणवान्, करुणामय तथा जगत का आधार है।[2] भक्त का अन्तर भगवान् की अनुपम सुवास से व्याप्त रहता है तथा भक्त के लिए वह उतना ही मोददायक होता है जितना मयूर के लिए मेघ।[3]

मीरा की ईश्वर विषयक धारणा भक्तवत्सल भगवान् की है। भगवान् सर्वदा अपने भक्तों पर आई हुई आपत्ति का निवारण करते हैं। चीर बढ़ाकर उन्होंने द्रौपदी की लाज बचाई। उन्होंने भक्त प्रह्लाद के लिए नरसिंह का अवतार धारण करके क्षण भर में ही हिरण्यकश्यप का अन्त कर दिया तथा डूबते हुए गजराज की रक्षा की।[4] इस भाँति भक्तों पर स्नेह रखने वाले भगवान् यदाकदा निर्मोही भी हो जाते हैं। जब तक साधक सच्चा प्रेमी नहीं होता भगवान् उससे अधिक स्नेह रखते हैं परन्तु जब वह पूर्णरूपेण उनका हो हो जाता है तब वे उसे कुछ और ही समझने लगते हैं। साधक नहीं समझ पाता कि यह कहाँ की विचित्र रीति है। कुछ नहीं ऐसे अविनाशी भगवान् अपने स्वार्थ के मित्र हैं। साधक को अपना सच्चा प्रेमी भक्त बनाकर फिर उसे छोड़कर आगे बढ़ चलते हैं अन्य जन को अपना भक्त बनाने।[5] मीरा ने भगवान् की व्याजस्तुति के द्वारा प्रत्यक्ष में निन्दा करते हुए भी उनकी भक्तवत्सलता को ही व्यक्त किया है।

सहजोबाई के विचार से ईश्वर निराकार होते हुए भी सर्वाकारमय, निर्गुण होते हुए भी गुणमय, तथा 'अस्ति व नास्ति' से परे है।[6] अनाम होने पर भी नाममय तथा अरूप होने

---

१ पावन जस माधो तेरा तू दारन अघमोचन मेरा।
कीरति तेरी पाप बिनासै लोक वेद यों गावै।
कहै रैदास प्रभु तुम दयाल हौ — रैदास बानी, पृ० ३१

२ तू मोहि देखै हौ तोहि देखूँ प्रीति परस्पर होइ।
सब घट अन्तर रमसि निरन्तर मैं देखन नहिं जाना।
गुन सब तोर मोर सब अवगुन कृत उपकार न माना।
कह रैदास कृष्ण करुनामय जै जै जगत अधारा। — रैदास, स० बा० स० भा २, पृ० ३?

३ प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी, जाकी अंग अंग बास समानी।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा जैसे चितवत चन्द चकोरा॥ — रैदास, स० बा० स० भा० २, पृ० ३४

४. हरि तुम हरो जन की भीर
द्रोपदी की लाज राखी तुरत बाढ्यो चीर।
भक्त कारण रूप नरहरि धरयो आप सरीर।
हिरनाकुस मारि लीन्हों धरयो नाहिन धीर।
बूड़तो गजराज राख्यो कियो बाहर नीर॥ — मी० प० ६५, पृ० २५

५ जाओ हरि निरमोहड़ा रे जानी थारी प्रीति।
लगन लगी जद प्रीति और ही अब कुछ और ही रीति।
इमरत पाइ कै विष क्यूँ दीजै कौन गाँव की रीति।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी अपने गरज के मीत। — मी० प० ६०, पृ० २४

६ है नाहीं सूँ रहित है सहजो यों भगवन्त॥ — सहजोबाई, स० बा० स० भा० १, पृ० १६५

पर भी सर्वरूपमय हैं। प्रकट या गुप्त रूप में जो कुछ है, सब ब्रह्म ही है। संसार में उनके अवतरित होने का कारण संतो की रक्षा करके पापियों को मारना तथा पृथ्वी का भार उतारना है। इस प्रकार निर्गुण भगवान् सगुण होकर भक्तों का उद्धार करते हैं।[1] उस परमात्मा के अनन्त रूप हैं, अनेक नाम हैं, अगणित लीलाएँ तथा विविध वेष हैं।[2]

दयाबाई परमात्मा को 'सूत्रे मणिगणा इव' सर्वव्यापक मानती है। स्थावर, जंगम, कीट, पतंग सभी में वह व्याप्त है।[3] संयम साधना, तीर्थ व्रत, दान आदि सब व्यर्थ है, उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भक्त सब भाँति से भगवान् के सहारे उसी प्रकार है जिस प्रकार अबोध बालक माता के भरोसे रहता है।[4] वह परमात्मा भयमोचन, सर्वमय, व्यापक, अचल, दयासिंधु तथा ब्रह्माण्डपति है।[5] वह साधनरहित का साधन तथा निरवलम्ब का अवलम्ब है। वह भक्तों का एकमात्र जीवन प्राणाधार है।[6] वह भक्तों का प्रभु पतित-पावन, ईश्वर कृपानिधि, विश्वेश है।[7]

दादू सहज स्वरूप, सर्वव्यापक, सदानन्दमय परमात्मा का ही सर्वत्र दर्शन करते हैं अन्य का नहीं।[8] वह परमात्मा परम दयालु दाता दुःखों का भंजन करने वाला तथा भक्तों

---

१. निराकार आकार सब निर्गुन और गुनवन्त।
है नाहीं सूं रहित है सहजो यों भगवन्त ।।१
नाम नहीं औ नाम सब रूप नहीं सब रूप।
सहजो सब कछु ब्रह्म है हरि परगट हरि गूप ।।२
भक्ति हेत हरि आइया पिरथी भार उतारि।
साधन की रच्छा करी पापी डारे मारि ।।४
निर्गुन सूँ सर्गुन भये भक्त उधारन हार ।। — सहजोबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६५

२. ता के रूप अनन्त हैं जाके नाम अनेक।
ता के कौतुक बहुत हैं सहजो नाना भेष ।।६ — सहजोबाई सं० बा० सं० भा० १, पृ० १६६

३. वही एक व्यापक सकल ज्यों मनिका में डोर।
थिर चर कीट पतंग में दया न दूजो और ।।५ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७६

४. नहिं संजम नहिं साधना नहिं तीरथ व्रत दान।
मात भरोसे रहत है ज्यों बालक नादान ।।२३ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७५

५. भयमोचन अरु सर्वमय व्यापक अचल अखण्ड।
दयासिंधु भगवान जू ता के सब ब्रह्मण्ड ।।२ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७३

६. निरपच्छी के पच्छ तुम निराधार के धार।
मेरे तुम ही नाथ इक जीवन प्रान अधार ।।८ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७३

७ हो पावन तुम हो प्रभू अधम-उधारन ईस।
दयादास पर दया हो दयासिंधु जगदीस। १६ — दयाबाई, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १७४

८. सदा लीन आनन्द में सहज रूप सब ठौर।
दादू देखै एक को दूजा नाहीं और ।।

को दर्शन देने वाला है।[1] यह संसार दुःख की सरिता है तथा राम सुख के सागर हैं और इस सुखसागर में दुःख-सरिता का पर्यवसान होता है।[2]

परमात्मा एक है जिसकी छत्रछाया में हम सब प्राणी रहते हैं। अनेक युगों के व्यतीत हो जाने पर भी वह निरंतर स्मरणीय है।[3] वह अपनी इच्छानुसार ही प्राणी को रखता है, क्योंकि प्राणी तो बहुत ही अशक्त है, उसमें अपना कोई बल नहीं। सब उसी परमात्मा के हाथ में है, उससे भाग कर कोई कहाँ जा सकता है।[4] वह सब प्रकार से समर्थ है और भक्तों के हृदय में निवास करता है। इसी कारण भक्तों का चित्त दूसरी ओर आकर्षित नहीं होता।[5] जीव को कार्य में प्रवृत्त कराने वाले कर्म होते हैं और कर्मों को प्रवृत्त करने वाला परमात्मा है परन्तु परमात्मा को प्रवृत्त करने वाला कोई नहीं है।[6] जीव का तन, मन, प्राण सब कुछ परमात्मा का है, परमात्मा ही भक्त की एकमात्र निधि है।[7] तैल तिलों में व्याप्त रहता है, सुगंधि से पुष्प समावेशित रहते हैं तथा दुग्ध में नवनीत समाया रहता है, उसी प्रकार सब प्राणियों में परमात्मा व्याप्त है।[8] जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि व्याप्त रहती है उसका कोई अवयव उससे रिक्त नहीं होता उसी प्रकार परमात्मा प्रत्येक मन में समाया हुआ है।[9] तीनों लोक निरन्तर परमात्मा से व्याप्त हैं। लोग अज्ञानवश उसे दूर समझते हैं।[10] विश्व का सृजनकर्त्ता

---

१. मैं भिखारी मंगिता दरसन देहु दयाल।
तुम दाता दुख भंजिता मेरी करहु सँभाल ॥४ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८१

२. दुख दरिया संसार है सुख का सागर राम।
सुख सागर चलि जाइये दादू तजि बेकाम ॥४ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ७९

३. दादू दूजा क्यूँ कहै सिर परि साहिब एक।
सो हमकूँ क्यूँ बीसरै जे जुग जाहिं अनेक ॥३ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८४

४. ज्यूँ राखैं त्यूँ रहैंगे आपणे बल नाहीं।
सबै तुम्हारे हाथि है भाजि कत जाहीं ॥२ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८४

५. समरथ सब बिधि साइयाँ ताकी मैं बलि जाउँ।
अन्तर एक जु सो बसै औरा चित न लाउँ ॥१ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८४

६. करम फिरावै जीव कौं कर्मों कौं करतार।
करतार कौं कोई नहीं दादू फेरनहार ॥४ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८५

७. तन भी तेरा मन भी तेरा तेरा प्यण्ड प्रान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा यह दादू को ज्ञान ॥६ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ९१

८. जीयैं तेल तिलनि में जीयैं गन्ध फुलनि।
जीयैं माखण षीर में ईयैं रब रूहनि ॥३ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ८५

९. काठ हुताशन रहा समाइ।
त्यूँ मन माहि निरंजन राइ ॥२ — दादू, भा० २, पृ० १६५

१०. निरंतर पिउ पाइया तीन लोक भरपूरि।
सब सेजों सांई बसै लोग बतावैं दूरि ॥१ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ९२

परमात्मा ही एक माननीय है।[1] प्रेम ही परमात्मा की जाति है प्रेम ही उसका अंग है प्रेम ही उसका अस्तित्व है तथा प्रेम ही उसका रंग है, वह सब प्रकार से प्रेममय ही है।[2]

दादू ने मानव शरीर को बाडी तथा परमात्मा को उस कायाबाडी का माली कहा है। कायाबाडी मे रमे हुए माली ने ही यह सब रास रचा है। वह स्वामी होने पर भी अपने सेवक जीव से क्रीडा करने के लिए स्वयं दया करके प्रकट होता है। बाहर भीतर, निरंतर सर्वत्र सब मे वह समाया हुआ है। प्रकट होते हुए भी वह गुप्त और गुप्त होते हुए भी वह प्रकट है। वह अविगत दृष्टि से परे है। ऐसे माली रूप परमात्मा की कथा अगम, अगोचर तथा सर्वथा अनिर्वचनीय होते हुए केवल आनन्द का विषय है।[3]

मलूकदास तीनो लोको को परमात्मा की ही माया मानते है। सब जीव जन्तु भी परमात्मा से ही उत्पन्न है अन्यत्र कही से कोई नही आया। सब का उत्पत्ति स्थान एक ही है। इसी कारण परमात्मा सब पर समान प्रीतिभाव रखता है।[4] उसका निवास स्वयं हृदय मे ही है। उसे तीर्थों मन्दिरो या जनशून्य स्थानो म खोजने का प्रयत्न व्यर्थ है।[5] हाथी से लेकर चींटी तक तथा पशु और मनुष्य सब म एक ही परमात्मा का वास है।[6]

धरनीदास के भगवान् करुणामय गरीबनिवाज तथा विश्वम्भर हैं।[7]

---

१ दादू जिन जग सिरजिया ताही की माँ॥ ॥१६८ — दादू भा० २, पृ० ८४
घड़ी महूरत चालणा राखै सिरजनहार ॥५१ — दादू, भा० १, पृ० २१६

२ इसक अलह की जाति है इसक अलह का अंग।
इसक अलह औजूद है इसक अलह का रंग ॥१२ — दादू स० बा० स० भा० १, पृ० ८३

३. मोहन माली सहजि समाना कोई जाणै साध सुजाना।
काया बाड़ी माहै माली तहाँ रास बनाया।
सेवग सौं स्वामी खेलन को आप दया करि आया।
बाहरि भीतरि सर्व निरंतरि सब में रह्या समाई।
परगट गुप्त गुप्त पुनि परगट अविगत लख्या न जाई।
ता माली की अकथ कहाणी कहत कही नहिं आवै।
अगम अगोचर करे अनंदा दादू ये जस गावै ॥३७१ — दादू भा० २ पृ० १५६

४ सबहिन के हम सबै हमारे जीव जन्तु मोहि लगे पियारे।
तीनि लोक हमारी माया। अन्त कबहु से कोइ नहिं आया — मलूकदास भा० २, पृ० २३

५ राम राय घट में बसै दूढ़त फिरैं उजाड़।
कोइ काशी कोइ प्राग में ढूढ़त फिरैं भरम मार ॥७ — मलूकदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १०५

६ कुंजर चींटी पसू नर सब में साहिब एक॥ — मलूकदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० १०३

७ धरनी जनकी जननी करु करुनामय कान ॥१
धरनी सरनी राखरो राम गरीब निवाज।
कवन करैगो दूसरो मोहि गरीब के काज ॥३
मनसा बाचा कर्मना विश्वम्भर विश्वास ॥६ — धरनीदास, स० बा० स० भा० १, पृ० ११४

दूलनदास का साहब परमात्मा धरती, आकाश, जल, थल, घट-घट में व्याप्त है ।[1] तीनों लोकों का रचयिता वही है। इसके अतिरिक्त वह निर्धन तथा निर्बल का एकमात्र हितैषी है। अनन्त सागर में यात्रा करने वाले जहाज पर बैठे हुए काग का एकमात्र सहारा जहाज ही होता है, उसी प्रकार भवसागर के यात्री जीव का अवलम्ब तथा हित एकमात्र परमात्मा ही है।[2]

भीखा का मत है कि परमात्मा केवल एक है। उसके जो अनन्त रूप लोक में प्रचलित हैं, वे सब कृत्रिम हैं। सम्पूर्ण जीवों में निवास करने वाला एक ही परमात्मा है।[3]

पलटू अपने शरीर का कर्तृत्व भी अपना नहीं मानते। उनके विचार में करने-कराने वाला तो केवल परमात्मा है। मनुष्य में तो व्यर्थ ही कर्तृत्व का आरोप किया जाता है।[4] इस संसार सृष्टि का कर्त्ता कौन है यह ज्ञात नहीं, परन्तु सबके मध्य में उसकी शक्ति का अस्तित्व प्रतीत होता है। परमात्मा मनुष्य में व्याप्त होकर कार्यों का कर्त्ता स्वयं ही है। मनुष्य व्यर्थ ही सुकृतों अथवा दुष्कृतों के लिए यश-अपयश का भागी होता है।[5]

चरनदास अपनी जिह्वा में उस शक्ति का अभाव पाते हैं जिससे वे भगवान् की महिमा का वर्णन करने में समर्थ हो सकते।[6] भगवान् की शक्ति अपार है तथा उसकी लीला अनन्त है।[7]

भगवान् की गति के विषय में कुछ भी जाना नहीं जाता। किसमें इतनी बुद्धि है कि उस अविगत-गति का वर्णन कर सके। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शेष भी भगवान् की उस अपार अगाध गति को जान नहीं सके, उसके वर्णन करने में असमर्थ होकर उन्हें मौन ग्रहण करना पड़ा। रवि शशि आदि प्रकाश-पुंज उसकी क्षणमात्र की ही रचना है तथा समस्त प्रकाश

---

१ साहिब जल थल घर घट व्यापक धरती पवन अकाश हो। — दूलन, स० बा० सं० भा० २, पृ० १६१

२ दूलन एक गरीब के हरि से हितू न और।
ज्यों अझार के काग को सूझै और न ठौर ॥५ — दूलनदास, स० बा० सं० भा० १, पृ० १३९

३ भीखा केवल एक है किरतिम भया अनन्त।
एकै आतम सकल घट यह गति जानहिं सन्त ॥३ — भीखा स० बा० सं० भा० १, पृ० २१३

४. ना मैं किया न करि सकौं साहिब करता मोर।
करत करावत आपु है पलटू पलटू सोर ॥२ — पलटू, स० बा० सं० भा० १, पृ० २१७

५ कौन सकस करि लाय नाहि कछु खबर है।
बीच में सबके देह वही वह जबर है।
हरि धरि मेरो रूप करै सब काम है।
अरे हाँ पलटू बीच सहै हम नाम मोर बदनाम है ॥२ — पलटू, स० बा० सं० भा० २, पृ० २३५

६ तुम्हरा बड़ा अस्तुति कहूँ मो पै कही न जाय।
रसना सक्ति न जन को महिमा कहै बनाय ॥४ — चरनदास, स० बा० सं० भा १, पृ० १४६

७ तुम्हरी सक्ति अपार है लीला को नहिं अन्त।
चरनदास याँ कहत है ऐसे तुम भगवन्त ॥३ — चरनदास, स० बा० सं० भा १, पृ० १४५

जो सर्वत्र व्याप्त है उसी की ज्योति का विस्तार है। जगत के प्राण, सत्य गुरु, भगवान् भक्तों के लिए एकमात्र शरण है।[1]

समस्त ज्ञान विज्ञान क्या, कहाँ, कौन और क्यों के उत्तर के रूप में ही प्राप्त होता है। भौतिक विज्ञान का भी अन्ततोगत्वा मूल इन्हीं प्रश्नों में निहित है। दिखलाई पड़ने वाली यह समस्त सृष्टि किसने उत्पन्न की, किये हुए शुभाशुभ कर्मों का कौन फल देने वाला है, मृत्यु किसके द्वारा होती है किसकी कृपा से जीव को सुख प्राप्त होता है आदि प्रश्नों के उत्तर मनुष्य को ईश्वर तक ले जाने वाले है। सभी भिन्न प्रतीत होने वाले विषयों के अन्तर में पाई जाने वाली समानता की तर्क द्वारा प्रतिष्ठा तथा बुद्धि द्वारा कल्पना सत्य के रूप में ईश्वर का बौद्धिक ग्रहण है। विविधता में समानता किंवा एकता का पराबौद्धिक प्रत्यक्ष रहस्यवादियों का ईश्वर विषयक अनुभव हुआ। सत्य के इसी स्वरूप से इस प्रकरण में हमारा सम्बन्ध है।

परमात्मा या ईश्वर के विषय में पूर्व वैदिक काल से मध्य युग तक अनेक धारणाएं तथा अनुभूतियाँ जनसाधारण तथा पण्डितों के मध्य प्रचलित थीं। हिन्दी के सन्तकवि अपने पूर्ववर्ती सन्तों तथा उनके साहित्य से प्रभावित नहीं थे ऐसी बात नहीं है। उनकी धारणाएँ उन धारणाओं का प्रतिरूप मात्र थी, यह भी सत्य नहीं है। ईश्वर विषयक उन धारणाओं को उन्होंने आत्मसात् करके उनमें अपने निजीपन के साथ नवीनता जोड़ी जिनकी झाँकी हम यथास्थान देख चुके हैं। इन सन्त कवियों के पूर्व भारतीय दर्शन अपने गौरव के शिखर पर पहुँच कर अवनति के गर्त में जा चुका था। जो कुछ किसी भी दर्शन में कहने के योग्य था वह कहा जा चुका था। ईश्वर तथा परमात्मा के विषय में भी सभी आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों के विचार उपस्थित थे। सभी के ग्राह्य विचारों का समन्वय हो चुका था तथा वे जनता द्वारा सर्वमान्य हो चुके थे। जन साधारण में वेदान्त ही दार्शनिक पिपासा को शान्त करने का माध्यम रह गया था। उस समय की सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति भी ऐसी थी कि वेदान्त का दर्शन ही उस पतन की अवस्था में आशा की किरण का कार्य कर रहा था। भारत में मुसलमानों का आगमन हो चुका था। वे पर्याप्त शक्तिशाली बन चुके थे तथा उनका एकछत्र साम्राज्य भी स्थापित हो चुका था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी-सन्तों द्वारा प्रस्तुत ईश्वर विषयक धारणाओं में वेदान्ती सिद्धान्तों की प्रचुरता दिखाई देती है।

---

१ प्रभु गति जानि नाहीं जाइ।
 कहै केतिक बुद्धि केहि मैंह कहै को गति गाइ।
 सेष सभ थके ब्रह्मा विष्णु तारी लाइ।
 है अपार अगाध गति प्रभु केहू नाहीं पाइ।
 भान गन ससि तीन चौथी लियो छिनहिं बनाइ।
 जोति एकै कियो विस्तर जहाँ तहाँ समाइ।
 सीस देके कहौ चरनन कबहुँ नहिं बिसराइ।
 जग जीवन के साथ गुरु तुम चरण की सरनाइ॥ जगजीवन, स० बा० सं० भा० २, पृ० १३५

यद्यपि बाह्यरूप से अद्वैत तथा एकेश्वरवाद में विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता परन्तु वास्तव में उनमें महान् अन्तर है तथा कोई भी साम्य नहीं है। एकेश्वरवाद एक ही ईश्वर या कर्त्ता की सत्ता स्वीकार करता है परन्तु उस कर्त्ता से भिन्न असंख्य जीवों की भी वास्तविक सत्ता को मानता है जिनके कर्मों का वह फल देने वाला होता है तथा जिन पर वह दया आदि कर सकता है। इन जीवों का भी वह सृजनकर्त्ता है। अद्वैतवादी दर्शन एक परमात्मा के अतिरिक्त दूसरी किसी सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता। उस परमात्मा से भिन्न न सृष्टि है, न जीव है, न और कुछ है। केवल परमात्मा ही सत्य है वही सब कुछ है तथा उससे भिन्न कोई या कुछ भी दूसरा नहीं है।

निर्गुणिया सन्तों ने जहाँ परमात्मा को एक कहा है, वहाँ भी वस्तुतः वह मुसलमानी पैगम्बरवाद या दार्शनिक एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं कहा है। मुसलमान शासकों की कट्टरपंथी विचारधारा की गति मंद करने के विचार से अथवा हिन्दू मुसलमानों में ईश्वर की धारणा के प्रश्न पर मत-भेद दूर करने के विचार से ईश्वर एक है यह विचार संतों ने प्रकट किये हैं। संत नामदेव के एक अनेक वियापक पूरक जित देखौं तित साईं में एक ईश्वर अथवा परमात्मा की सत्यता तथा सत्ता तो प्रतिपादित की गई है परन्तु वास्तव में वे उसे अद्वैत दर्शन की ही पृष्ठभूमि पर कहते हुए दिखाई पड़ते हैं जहाँ उस परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं है और वह परमात्मा घट-घट में अनुस्यूत है अन्य किसी की वास्तविक सत्ता नहीं है। वह तो जल के बुदबुद या लहर के समान जग ही है। परमात्मा और जीव में कोई भेद नहीं है। मो तैं ताहि तोहि नहि भेदा से हमें उपनिषद के तत्त्वमसिश्वेतकेतो का बरबस स्मरण हो जाता है। जीव और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही हैं। भेद केवल भ्रम का है जो कि स्वयं मिथ्या है—भ्रमुकै मिथ्या सोपि सत परमात्मा ही है मानते हुए परमात्मा का अनेकत्व स्वीकार नहीं किया गया है।

बहुदेववाद सभ्यता के अनादिकाल से प्रचलित था। देवताओं का जन्म, प्रकृति की उद्दण्ड शक्तियों के दैवीकरण के रूप में हुआ था। आदि मानव की भयमिश्रित भावना उनकी पूजा एवं शान्ति कराने की हेतु थी। धीरे-धीरे सभ्य मानव की उदात्त भावनाओं के फल-स्वरूप देवताओं को उनका कल्याणकारी लोकरंजक स्वरूप प्राप्त हुआ। परन्तु साथ ही साथ देवताओं को इन्द्रियों का तथा विषयों का स्वामी व प्रेरक होने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। कबीर प्रभृति संतों ने बहुदेववाद का खण्डन ही किया है। संत तुलसी जैसे विद्वानों ने भी देवताओं को विषय वासना आदि का अधिपति प्रेरक होने के कारण निम्न स्थान ही दिया है।[1] देवताओं की उत्पत्ति भय से हुई थी तथा अन्त में उनका सम्बन्ध विषय विकारादि से जुड़ गया। देवी देवताओं की पूजा भी भूत प्रेतों की पूजा के साथ गिनी जाने लगी थी। संतों ने जहाँ परमात्मा को अनेक कहा है वहाँ भासित अनेकरूपता के ही अर्थ में कहा है,

---

१ इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥
इन्द्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥ तु० रा०, उ० का० ११७६

बहुदेववाद के अर्थ मे नही। जैसा कि हम उनके कथन मे देख चुके है कि सभी जीव और सभी सृष्टि ईश्वरमय होने से उससे भिन्न नही है। यदि उस अनेकता को व्यावहारिक रूप ही मे स्वीकार कर लें तो भी कम से कम उतने समय के लिए परमात्मा मे भी अनेकता का आरोप हो जाता है। सागर से विन्दु समूहों के सम्बन्ध की भाँति परमात्मा भी अनेक रूप है। सीय राममय सब जग जानकर ही तुलसी समस्त जगत को प्रणाम करते है। इसके अतिरिक्त यह अनेकता पारमार्थिक दृष्टि से स्वीकार नही की गई है।

परमात्मा को पुरुष के रूप मे भी कल्पना का विषय बनाया गया है। जिस प्रकार पुरुष के अग-प्रत्यग दृष्टिगोचर होते हैं तथा उन अगो या इन्द्रियों के कार्य अथवा गुण भी जाने जाते है उसी प्रकार सृष्टि के तमाम दृष्ट विषय उस परम पुरुष के अग माने गये है तथा समाज मे दृष्टिगोचर होने वाले मानसिक और दार्शनिक गुणों की कल्पना उन इन्द्रियो मे की गई है। विश्वरूप रघुवंशमणि[1] तथा देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड, रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड[2] मे इन्ही कल्पनाओ को व्यक्त किया गया है। 'विश्वरूप' या 'विराट पुरुष' की कल्पना हिन्दी-सन्तो की अपनी निजी सम्पत्ति नही थी। वह उन्हे ऋग्वेद और गीता से पैत्रिक सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त हुई थी। इस कल्पना की पृष्ठ-भूमि मे दार्शनिक सिद्धान्त जो दृष्टिगोचर होता है वह यही कि समस्त स्थूल एव सूक्ष्म सृष्टि उस परमात्मा का ही अग है। उसी स्थिति मे उनकी सत्ता की वास्तविकता है उससे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है। यद्यपि यह कल्पना इतनी स्थूल है कि अब के विचारक इसको अधिक महत्त्व नही देते फिर भी वैदिक काल के लिए नि सन्देह यह कल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रगतिमय रही होगी।

ईश्वर विषयक उपर्युक्त धारणाओ के अध्ययन के बाद उन अवातर कारणो का देख लेना भी आवश्यक होगा जिनके कारण हिन्दी सतो के उद्‌गार किसी एक सम्प्रदाय के ईश्वर विषयक विचार न होकर समस्त मानव-जाति के तद्विषयक विचार हो जाते हैं। दर्शन के विकासक्रम मे सदैव पूर्व से पर मे अन्तर आता जाता है। पूर्व की पृष्ठभूमि पर उससे प्रभावित होते हुए मनीषीगण पर मे अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। पूर्व की धारणाएँ परवर्तियो को प्रभावित करती है तथा उन धारणाओं के अनुकूल या प्रतिकूल स्वय के विचारों की छाप लगाकर उन धारणाओं का स्वरूप उनके द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यही क्रम निरन्तर चला करता है। इसी प्रकार का अतर हम इन हिन्दी-सतो मे अपने पूर्ववर्ती सम्प्रदायगत दर्शनों की अपेक्षा देखते हैं जिन दर्शनों से वे स्वय प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। जहाँ तक इस प्रकार के अन्तर का प्रश्न है वह आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी। अर्ध-चेतन मे पडे हुए भाव स्वाभाविक प्रक्रिया के द्वारा स्वय से भिन्न स्वरूप धारण करके सम्मुख आते हैं। उन्हें हम उनकी पृष्ठभूमि के साथ ही अधिक स्पष्टता मे देख सकते है।

---

१. तु० रा०, ल० का० १४ से १५

२. तु० रा०, बा० का० २०१ से २०२

सभी रहस्यवादी ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में एकमत हैं। ईश्वर है तथा वह उनके व्यक्तिगत प्रत्यक्ष अनुभव का भी विषय है। फिर उसके क्या मुख्य गुण हैं जिनसे वह पहिचाना जा सकता है? उसका कार्यक्षेत्र क्या है? उसे कैसे व्यक्त कर सकते हैं?—आदि प्रश्नों के उत्तर में हम हिन्दी सन्तों की वाणियों पर विचार करेंगे। परमात्मा घट-घट में विराजमान है। वह सब में व्याप्त है, उससे कोई रिक्त नहीं है। इस प्रकार वह व्यापक (Imminent) कहा गया है। परन्तु क्या इससे यह भ्रम हो सकता है कि वह घट-घट आदि व्याप्त विषयों के अतिरिक्त नहीं है तथा क्या यह भी सम्भव है कि वह कहीं पर न हो। इसका उत्तर यही है कि उपनिषद् में वर्णित 'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्' के अनुसार वह सर्वत्र सबको व्याप्त करके उनमें भी अतिरिक्त है। वह सबका अतिक्रमण करता है। जहाँ तक देश अथवा काल का सम्बन्ध है वह सर्वत्र सबमें उपस्थित है। सारा स्थान उसका क्षेत्र है। वह व्यापक है परन्तु व्याप्य भी उससे भिन्न कुछ नहीं है। वह भी स्वयं परमात्मा ही है। यह प्रपंच भिन्न दृष्टिगोचर होता हुआ भी वास्तव में ईश्वर रूप ही है। जिस प्रकार पुष्प में सुगन्धि व्याप्त है, उसका कोई भी अंश बिना सुगन्धि के नहीं है, उसी प्रकार जीव किसी प्रकार भी परमात्मा से शून्य नहीं है। मुकुर में मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देखता है। प्रतिबिम्बरूप में मनुष्य की सत्ता मुकुर में उपस्थित रहती है। इस हृदय के दर्पण में भी मानव देखने का प्रयत्न करे, परमात्मा का प्रतिबिम्ब तो उपस्थित है ही, वह स्वयं उसमें विराजमान है।

प्रत्यक् के अन्त में निवास करने वाले अन्तर्यामी परमात्मा की हमें एक अन्य धारणा हिन्दी सन्तों में दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार एक सूत्र में हजारों मणियाँ अनुस्यूत रहती हैं, परन्तु उनमें से प्रत्येक के अन्दर से जाने वाला सूत्र एक ही होता है तथा वही समस्त मणियों का धारक होता है। उसी प्रकार 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' में व्यक्त परमात्मा समस्त जीवों को धारण करने वाला तथा सबके अन्दर विद्यमान है। परमात्मा के इसी सूत्र की भाँति सबमें अनुस्यूत धारणा का आगे चलकर सूत्रधार के रूप की धारणा में विकास हुआ है।

परमात्मा की व्यापकता तथा सत्ता पर विचार कर लेने के बाद परमात्मा के गुणों आदि पर विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा। परमात्मा का कर्त्ता कौन है? वह किस नाम या किन गुणों वाला है? वह किस प्रकार जाना जा सकता है? हिन्दी-सन्तों के अनुसार परमात्मा स्वयं-भू है। उस 'अनगढ़िया देव' का न कोई कर्त्ता है न कोई कारण। जन्म देश काल में किसी विशेष बिन्दु का द्योतक है जिसमें कि उत्पन्न अपनी सत्ता ग्रहण करता है। जन्म किसी जन्मदाता की भी अपेक्षा रखता है जो कि उसकी उत्पत्ति का कारण होता है परन्तु परमात्मा अजन्मा है और किसी की अपेक्षा नहीं रखता। आदि समय का वह बिन्दु है जिसमें कि कोई सत्ता ग्रहण करता है तथा अन्त समय के उस द्वितीय बिन्दु का द्योतक है जिसमें कि किसी वस्तु का नाश हो जाता है। उस परमात्मा का न आदि है, न अन्त, न मृत्यु है, न जरा। उस अखण्ड का क्षय भी नहीं है, वह अक्षय है। यदि क्षय को किसी भी

गति से स्वीकार कर लिया जाय, वह कितना ही मन्द क्यो न हो तथा कितनी ही महान वस्तु का क्यो न हो, समय के किसी न किसी बिन्दु पर उसका नाश अवश्य हो जायगा। परन्तु उस अविनाशी का न नाश है, न वृद्धि या क्षय है। कलावान् से तात्पर्य किसी वस्तु का चन्द्रमा की भाँति घटते या बढते रहना है परन्तु उस परमात्मा के किसी प्रकार घटने-बढने का कोई तात्पर्य नही है। कोई भी स्वय अपने से अधिक नही हो सकता है।

जिस अर्थ मे हम दृष्ट सृष्टि मे रूप जानते हैं उस अर्थ मे परमात्मा के कोई रूप नही है। उसके कोई आकार नहीं जिससे वह किसी अन्य से भिन्न जाना जा सके। वास्तव मे जब किसी दूसरे की सत्ता ही नही है, कोई दूसरा है ही नहीं, तब किसी से भिन्न द्योतन करने से कोई तात्पर्य ही नही रहता। फिर भी सतो तथा विद्वानो ने निरन्तर बार बार आशिक रूप मे भी उसी सत्य को व्यक्त किया है जिसे कि वह पूर्णता मे भी व्यक्त कर चुके हैं। इस प्रकार परमात्मा का कोई भी आकार, रूप या वर्ण नहीं है जिसे देखकर वह पहचाना जा सके। वह चक्षुइन्द्रिय द्वारा किसी भी प्रकार ग्राह्य नही है। परमात्मा का कोई अपना विशेष नाम नही जिससे वह श्रवणेन्द्रिय का विषय बन सके। यद्यपि 'नाम' के प्रकरण मे परमात्मा के अनन्त नामों की धारणा पर हम विचार करेंगे परन्तु दोना के वास्तविक अर्थ तथा स्तर म समानता नही होगी।

यदि गुणो को परमात्मा का परिचायक माना जाय तो वह भौतिक मलरहित, विकाररहित, या मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से निर्विकार, निर्मम, निर्मोह, निरीह तथा निर्दोष है। मनुष्य मे मनोवैज्ञानिक स्तर पर इच्छा, मोह, ममता विकार, दोष आदि वृत्तियाँ पाई जाती हैं तथा स्थूल मे भी मल, विकार, दोष आदि दृष्टिगोचर होते हैं। परमात्मा मे इन सभी का अभाव है, वह स्थूल और सूक्ष्म सबसे भिन्न, प्रकृति से परे है। लौकिक अर्थ मे जो हम प्रकृति से जानते है उससे भिन्न तथा सांख्य दर्शनगत प्रकृति से भी भिन्न, जिसकी झाँकी हमे, मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतय सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष।—मे पाते हैं उसमे भी भिन्न ईश्वर है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनो प्रकृति रूप से माने जाने से सत्य हो सकते है परन्तु हिन्दी-सतों का परमात्मा पिण्ड ब्रह्माण्ड दोनो मे भिन्न एव परे, मन बुद्धि किसी के द्वारा न जाना जा सकने वाला है।

इस प्रकार 'नेति नेति' के आधार पर नकारात्मक ढग मे परमात्मा को गुण, रूप, सीमा आदि से अग्राह्य कहा गया है। परन्तु इससे न साधक को ही सतोष होता है और न वास्तविकता का ही द्योतन होता है। साधक उस महान् की महिमा को मानता है तथा उसे वह व्यक्तिगत भक्ति के आराध्य-नायक के रूप मे ग्रहण करता है। वास्तव मे परमात्मा का वर्णन हो ही नहीं सकता परन्तु अपनी वाणी को पवित्र तथा सुफल करने के हेतु कविगण उसका वर्णन करके स्वात करण को सुख प्रदान करते हैं।[1] उसका रहस्य साधारण अथवा तीव्र

---

१. तु० रा०, बा० का० १२० से १२२, १३६ से १४१, बा० का०, मगलाचरण ७

किसी प्रकार की बुद्धि के माध्यम से जाना नहीं जा सकता है। लोक में हम जो भेद देखते हैं वह परमात्मा में समाप्त हो जाते हैं। यूनानी दार्शनिक Herakleitos ने ठीक ही कहा है कि 'In the world exist dualities but in the God dualities disappear' जगत के समस्त द्वित्व भगवान् में एकाकार हो जाते हैं तथा परस्पर विरोधी गुणों का उस निर्गुण में समाहार हो जाता है। इसीलिए सन्तों ने परमात्मा में उन गुणों का आरोप किया है जो कि अपनी उपस्थिति से, भासित द्वित्वों को पूर्ण करने वाले होते हैं। भक्तों के दृष्टिकोण से वे ही उनके आश्रय व शक्ति के स्रोत हैं।

स्वयं निर्गुण होता हुआ भी समस्त गुणों का मूल परमात्मा ही है। ज्ञान, मन, बुद्धि का विषय न होता हुआ भी निर्विकार तथा निष्क्रिय कहा जाता हुआ भी, विज्ञान स्वरूप परमात्मा ही समस्त सृष्टि का कर्ता है। सारी सृष्टि परम रचयिता परमात्मा के द्वारा ही सम्भव है। यह कर्तृत्व भी परमात्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में एक प्रमाण है। वह सृष्टि का कर्ता तो है ही, समस्त ज्ञान एवं कर्मों का अलौकिक आचरण भी बिना इन्द्रियों के ही सम्पन्न करता है। उसके उन कार्मों एवं ज्ञान का क्षेत्र असीम है। वह सभी कुछ जानने वाला तथा सब कुछ करने वाला है।

हम देख चुके हैं कि परमात्मा सूत्र की भांति सबमें अनुस्यूत होकर उनको धारण करने वाला है। अब हम परमात्मा की सूत्रधार की धारणा पर विचार करेंगे। तुलसीदास ने राम सूत्रधार अन्तर्यामी के द्वारा परमात्मा राम को सूत्रधार की भांति सबके कर्मों का प्रेरक तथा पूर्णतया नियन्त्रित करने वाला कहा है। कठपुतली के नृत्य में सब कठपुतलियों के अन्दर से जाता हुआ सूत्र सूत्रधार के हाथ में रहता है तथा वह उन लकड़ी के खिलौनों से मनचाहा नृत्य कराता है। प्रतीत यह होता है कि कठपुतलियाँ स्वयं अपनी प्रेरणा या शक्ति के द्वारा विभिन्न नृत्य कर रही हैं परन्तु वास्तव में कर्ता कोई और है और वह है सूत्रधार। इसी प्रकार मनुष्य स्वयं कर्ता नहीं है। कर्ता सूत्रधार परमात्मा है। मनुष्य तो निमित्त मात्र है जिसे बरबस कार्य करना पड़ता है तथा उसे कर्तृत्व का श्रेय प्राप्त होता है।

अन्तर्यामी सूत्रधार परमात्मा की धारणा हमें आचारशास्त्र में उस स्थान पर पहुँचा देती है जहाँ किसी शुभाशुभ कर्म के लिए व्यक्ति उत्तरदायी नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति रहस्यवेत्ता सत्पुरुषों के लिए तो सत्य हो सकती है, परन्तु जनसाधारण के लिए जिसे कि परमात्मा की प्रेरक शक्ति वास्तविक सचेतन प्रेरणा देती नहीं प्रतीत होती, मान्य सिद्धान्त के रूप में नहीं ग्रहण की जा सकती। जिसे परम सत्य का साक्षात्कार हो गया है उसके लिए अवश्य कोई कार्य स्वयं का किया न होकर परमात्मा की ही कृति होता है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने द्वारा ही समस्त विनाश करने के कारण अर्जुन को निमित्त मात्र होकर युद्ध करने का आदेश दिया है। परमात्मा केवल साधारण मनुष्यों या जीवों का सूत्रधार नहीं है। वह ब्रह्मा, विष्णु महेश जैसे त्रिदेवों को भी नचाने वाला है। माया, जीव, जगत, काल, स्वभाव सभी का वह शासक है। माया और अज्ञान ही जीव के जगत में बन्धन का कारण माने गये हैं। परमात्मा उस माया और अज्ञान का शासक है। उसी की कृपा से उस

माया तथा अज्ञान का प्रसार दूर होता है और जीव अपनी वास्तविक स्थिति परमात्मा को प्राप्त करता है। अज्ञान के भ्रम को नाश करके, परम सुख देने वाला कार्य परमात्मा किसी बदले के रूप में नहीं देता। वह अपनी सहज कृपालुता के वश यह उपकार करता है और भक्त को स्वयं अपना ज्ञान करा देता है।

वह महान, अमोघ शक्ति सम्पन्न परमात्मा घट-घट में निवास करता हुआ प्रत्येक श्वास में व्याप्त होकर सबका परम प्रकाशक है। वही अंतःकरण में ज्ञान के प्रकाश का मूल तथा जगत में भौतिक प्रकाश एवं शक्ति का स्रोत है। उसकी यह बुद्धिमत्ता जिससे कि उसने इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की है, तथा बहुत्व में एकत्व की व्यवस्था की है, बुद्धि द्वारा अतर्क्य एवं मन द्वारा अग्राह्य है। उसे कोई किसी प्रकार भी जानने समझने में समर्थ नहीं है।

उसकी भाव ग्राहकता ही जनकल्याण की जननी है। इस भाव-ग्राहकता को ही आधार बनाकर समस्त सतवर्ग परमात्मा की कृपाकोर का कांक्षी होता है। यही उसे वह प्रेरणा देने वाली धारणा है जिसके द्वारा वह पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुए बिना और स्वयं अपनी त्रुटियों तथा दोषों से परिचित किंवा विचलित होते हुए भी परमतत्त्व की प्राप्ति तथा अपने समस्त अवगुणों एवं बन्धनों के कारणों से मुक्ति की आशा करता है।

परमात्मा के इसी वैयक्तिक भावनागत सम्बन्ध तथा सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं ने अवतारवाद के दर्शन को जन्म दिया है। निर्गुण से भला कोई कैसे सम्बन्ध जोड़े। शुष्क ज्ञान भावनाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। हरि अवतार हेतु जेहि होई यह तो पूरी तरह बता सकना सम्भव नहीं है। परन्तु जब जब धर्म की हानि होती है तथा अधर्मियों की वृद्धि होती है तब-तब परमात्मा को अपने भक्तों की रक्षा एवं उद्धार के लिए जन्म लेना पड़ता है। अवतार के अन्य कारण भी हैं। परमात्मा स्वयं अपने नियमों की शृंखला से बद्ध है और वह उनकी रक्षा के लिए अपने को स्वयं मनुष्य आदि शरीरों में बद्ध करता है। संतों में अवतारवाद, उसकी वास्तविक सत्ता आदि के विषय में काफी मतभेद रहा है। अवतारवाद का किसी संत द्वारा चाहे जितने कटु शब्दों में विरोध किया गया हो परन्तु वह स्वयं उसकी परम्परा में ही अधिक दिन तक नहीं चल सका। मनुष्य की व्यक्तिगत भावना तथा सहानुभूति ने परम्परा से भिन्न किसी दूसरे अवतार की ही रचना कर डाली। कबीर के अनुसार—

> नां दसरथ घर अवतरि आवा, नां लंका का राव सतावा।
> देवै कूख न औतरि आवा, नां जसवै लै गोद खिलावा।
> नां वो ग्वालन कै संग फिरिया, गोबरधन लै न कर धरिया।
> बावन होय नहीं बलि छलिया, धरनी वेद लेन उधरिया।
> गंडक सालिग राम न कोला, मच्छ कच्छ ह्वै जलहि न डोला।
> बदरी बैसि ध्यान नहिं लावा, परसराम ह्वै खत्री न सतावा।
> द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगन्नाथ ले प्यंड न गाड़ा।

क० ग्रं०, पृ० २४३

इस प्रकार कबीर ने परमात्मा को किसी भी अवतार के द्वारा वर्णित सत्य नहीं कहा। परन्तु उनकी मृत्यु के थोड़े दिन बाद ही कबीर-पंथियों ने उन्हें स्वयं अवतार बना दिया। यही हाल गुरु नानक या अन्य धार्मिक क्रांतिकारियों का भी हुआ। तुलसी जैसे सव (भक्त) आदि ही इस वितर्क से मुक्त रहे तथा स्थान-स्थान पर अवसर-अवसर पर दशरथ-सुत राम में ही अपनी भावनानुरूप परमात्मा के समस्त गुणों का आरोप करके अपनी मानवीय भावनागत आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे और बौद्धिक आवश्यकताओं की भी। परब्रह्म परमात्मा ही भक्तों की विनय स्वीकार कर सन्तों एवं देवों के रक्षार्थ पृथ्वी का भार उतारने के लिए उनके इष्टदेव राम के रूप में अवतरित हुए थे। जिससे कि उनके भक्त मोक्षसुख की भी परवाह न करके उनके सान्निध्य का आनन्द लाभ कर सकें।

हिन्दी-साहित्य के निर्गुण सन्त-कवियों अथवा सगुण भक्त-कवियों की भावाभि-व्यक्तियों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि भगवान् की भक्तवत्सलता के विषय में किसी प्रकार का मतवैभिन्य उनमें नहीं है। भगवान् भक्तों पर स्नेह रखने वाले, उनको कष्टों से छुड़ाने वाले तथा हर प्रकार से उनके परम हितैषी हैं। इसके अतिरिक्त निर्गुण मार्गी एवं सगुण मार्गी कवियों में परमात्मा विषयक जो तत्त्व समान रूप से सबमें पाया जाता है, वह है परमात्मा की अनुभवगम्यता तथा अनिर्वचनीयता। परम सत्य के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। न वह बुद्धिइन्द्रिय अथवा कल्पना का ही विषय है। यदि वह किसी का विषय हो सकता है और अवश्य ही है तो वह है प्रत्यक्ष-अनुभव का और यह वही प्रत्यक्ष-अनुभव अथवा साक्षात्कार है जो कि रहस्यवाद का प्रधान एवं मूलतत्त्व है।

सप्तम परिच्छेद

नाम

साधना के पथ मे जप अथवा नाम-स्मरण का विशेष स्थान है। वैदिककालीन भारत मे भी किसी न किसी रूप मे जप का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। वैदिक दीक्षाएँ गायत्री जप व उपांशु जप इसी प्रकार के है। स्मृतिकारो ने साधारणतया तीन प्रकार के जप का उल्लेख किया है। ये तीनो प्रकार है वाचिक उपांशु तथा मानस।[1] वाचिक जप उच्च-नीच तथा स्वरित भेद से जिसमे मन्त्रो का स्पष्ट उच्चारण किया जाय वह वाचिक जप यज्ञ है।[2] उपांशु उपांशु जप वह मंद स्वर मे उच्चरित मन्त्र है जिसमे केवल ओष्ठ मात्र हिलते हैं। इस जप मे शब्द स्पष्ट नही होता है।[3] मानस मानस जप वर्ण तथा पदों के भेद से बुद्धि के द्वारा मन्त्र का अर्थ समझते हुए स्मरण किया जाता है।[4] मानस मे जिह्वा अचल होनी चाहिए।[5] ये तीनों प्रकार के जप क्रमश उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गये हैं।[1] वाचिक जप से उपांशु जप श्रेष्ठतर है तथा उपांशु से भी मानस श्रेष्ठतर है। यही नही यदि उच्चस्वर के स्मरण का फल एक गुना है तो ध्वनि वाले का दस गुना उपांशु का सौ गुना तथा मानस का सहस्र गुना है।[6] मनु ने यही क्रम विधि-यज्ञ को इकाई मानकर प्रस्तुत किया है। मनु के अनुसार यदि विधि यज्ञ का फल एक गुना है तो जप यज्ञ का दस गुना उपांशु का

---

१ त्रिविधो जप यज्ञ स्यात्तस्यभेद निबोधत।
वाचिकाख्य उपांशुश्च मानसस्त्रिविध स्मृत॥
जपस्तु त्रिविध प्रोक्त स तूच्चोपांशु मानस॥ — दि गास्पेल आफ दिवाइन लव पृ० १५२

२ यदुच्चनीचस्वरितै स्पष्टै स्पष्टपदाक्षरै॥
मन्त्रमुच्चारयेद् वाचा जपयज्ञ स वाचिक॥ — दि गास्पेल आफ दिवाइन लव पृ० १५२

३ शनैरुच्चारयेन्मंत्रानीषदोष्ठौ प्रचालयन्।
किंचित् शब्द स्वय विद्याद् उपांशु स जप स्मृत॥
ओष्ठस्पन्दन मात्रेण यत्पांशु तद्ध्वनि। — दि गास्पेल आफ दिवाइन लव पृ० १५२

४ धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात् पदम्।
मन्त्रार्थ चिन्तनाभ्यासो मानसो जप उच्यते।
कृत्वा जिह्वा निर्विश्लेषा चिन्तयेत्तद्धि मानसम्। — दि गास्पेल आफ दिवाइन लव, पृ० १५२

५ यो भवेदचलजिह्वो दशनावरणो जप
स मानस समाख्यातो जपशु निविभूषणे॥ — दि गास्पेल आफ दिवाइन लव पृ० १५२

६ त्रयाणां जप यज्ञाना श्रेयान् स्यादुत्तरोत्तरम्।
उच्चादुपांशुरुत्कृष्ट उपांशोरपि मानस। — दि गास्पेल आफ दिवाइन लव, पृ० १५२

७ उच्चैरस्त्वेक गुण प्रोक्तो ध्वाना दशगुण स्मृत
उपांशु स्यात् शतगुणा सहस्रो मानस स्मृत॥ — दि गास्पेल आफ दिवाइन लव पृ० १५२

सौ गुना तथा मानस का गुण सहस्र गुना है।[1] विधि यज्ञ सहित चारों यज्ञ, जप यज्ञ की सोलहवीं कला तक भी नहीं पहुँचते।[2] गीताकार ने भी भगवान् की विभूतियों का वर्णन करते हुए 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' के द्वारा जप की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।[3] स्मृतिकारों ने जप के तीन अथवा चार प्रकारों का उल्लेख किया है। उन्होंने जपों का स्वरूप निश्चित करके उनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। दस, सौ, हजार आदि संख्याओं का प्रयोग गणितज्ञ के दृष्टिकोण से नहीं हुआ है वरन उनका प्रयोग बाह्य जप की अपेक्षा मानस जप को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करने के लिए किया गया है।

भौतिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने पर वाचिक या उच्चस्तरीय जप भौतिक स्वरूप में प्राणी के गले की ध्वनितंत्री (वोकल कार्ड) द्वारा वायु में उत्पन्न तरंग मात्र हैं। उन तरंगों के साथ लगा हुआ जापक का मनोभाव ही जप का मुख्य आधार है। हर्ष शोक एवं भय आदि में भी मनुष्य नाद, ध्वनि या वर्ण उच्चारित करता है, परन्तु वह जप नहीं कहा जायगा। किसी भी शब्द के उच्चारण के साथ व्यक्ति में एक मनोभाव उत्पन्न होता है वही उच्चारण के अर्थ का व्यंजक होता है। जहाँ तक स्मरण का सम्बन्ध है, चाहे वह किसी भी वस्तु या भाव का क्यों न हो अपने साथ लगे हुए पूर्वगामी भावों के (अर्थ के) बाद ही होता है। नामजप या स्मरण के साथ भी यही स्थिति है। स्मरण या जप पागल का प्रलाप नहीं है। वह किसी एक विशिष्ट भावना की पुनः पुनः आवृत्ति है। महर्षि पतञ्जलि ने 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'[4] के द्वारा यही भाव व्यक्त किया है। उसका जप ही उसकी भावना है। परन्तु किसका जप, इसका समाधान वह पूर्ववर्ती सूत्र द्वारा पहले ही कर चुके हैं। पतञ्जलि ने 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'[5] के द्वारा ईश्वर के स्वरूप को निश्चित करके 'तस्य वाचकः प्रणवः'[6] के द्वारा प्रणव में ईश्वर के स्वरूप भावना की स्थापना की है। इस प्रकार 'प्रणव' के द्वारा ईश्वर के गुण रूप सभी का समुच्चय पतञ्जलि की कल्पना में विद्यमान हो गया।

वाचिक जप में मनुष्य, भावना पर समस्त शक्ति केन्द्रित न करके, अधिक शक्ति बाह्य उच्चारण की क्रिया में लगाता है। उपांशु में भावना पर बल अधिक हो जाता है, क्रिया में कम तथा मानस में बाह्यक्रिया का सर्वथा अभाव ही हो जाना चाहिए, केवल भावना शेष रह जानी चाहिए। उसी भावना की केवल स्थिति समाधि होती है।

---

१ विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ मनु० २।८५

२ ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ मनु० २।८६

३ गी० १०।२५

४ यो० सू० १।२८

५ यो० सू० १।२४

६ यो० सू० १।२७

जप का विषय तथा जप का स्वरूप निश्चित कर लेने के पश्चात् योगसूत्र में उस जप का फल प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि स्वाध्याय से इष्ट-देवता का साक्षात् होता है।[१] यहाँ पर स्वाध्याय मंत्र-जप-रूप में प्रयुक्त हुआ है। सूत्र पर भोजवृत्ति के अनुसार इष्ट मंत्र के जप रूप स्वाध्याय के सिद्ध होने पर योगी को इष्ट देवता का योग होता है। अर्थात् देवता का प्रत्यक्ष होता है।[२] तथा जप की अन्य साधनों की अपेक्षा महत्ता "ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"[३] के द्वारा प्रतिपादित करते हैं। उसमें प्रत्यक् चेतना का ज्ञान भी होता है तथा विघ्नों का अभाव भी होता है। इस प्रकार पतंजलि ने जप को भगवत्प्राप्ति का बहुत ही उपादेय साधन माना है तथा उसे सैद्धान्तिकता प्रदान की है।

बुद्ध दर्शन की साधना के अन्तर्गत मंत्रजप एक स्वीकृत तथा महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। महायान सूत्रान्तर्गत सन्दर्भ पुण्डरीक में तो अवलोकितेश्वर के नाम लेने मात्र से सब कुछ, निर्वाण तक, सम्भव माना गया है। तिब्बत की साधना-परम्परा में नाम-जप अभी तक विद्यमान है। मंत्र जप की महत्ता तथा अमोघता पर सभी तंत्र चाहे वे वैष्णव या शैव, शाक्त अथवा बुद्ध हों एक मत से विश्वास करते हैं।[४]

वैदिक काल में मंत्रों का जप उसका अर्थ एवं उसकी भावना के साथ होता रहा। पतंजलि ने भावना पर विशेष बल दिया परन्तु तंत्रों में मंत्रों के अर्थ पर से सारा महत्त्व हट कर केवल भावना तथा श्रद्धापूर्वक जप पर आ गया। हिन्दी काव्य पर पुराणों तथा तंत्रों का ही विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। नाम-जप या मंत्र-जप के सम्बन्ध में भी तंत्रयुग में प्रचलित भावना का स्पष्ट दर्शन हम तुलसी-साहित्य में भी पाते हैं।[५] जो विचार तुलसी ने शाबर मंत्र समूह के लिए व्यक्त किये हैं वही भाव अन्य तंत्रों की मंत्र-रचना तथा उनके किसी अर्थ के द्योतक न होने से प्रतिनिधि रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। केवल श्रद्धा से जप करने मात्र से कोई स्वर-समूह फलदायक हो सकता है।

तंत्रों में विचार व भाव सूक्ष्मता के साथ व्यक्त किये गये। सूत्रों की तुलना में वे पर्याप्त स्पष्ट थे परन्तु बृहत्काय महापुराणों की तुलना में तंत्रों में उतना विशद विवेचन सम्भव नहीं था। सूत्रों ने केवल इंगित किया तन्त्रों ने उसके मुख्य विषय को स्पष्ट किया परन्तु पुराणों ने उसी को अत्यन्त विस्तार के साथ उपमाओं आदि के द्वारा सर्वग्राह्य व रोचक बना कर प्रस्तुत किया।

---

१. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। यो० सू० २।४४
२. योग प्रदीप पतंजलि, पृ० ३१२
३ यो० सू० १।२९
४. कल्याण वर्ष १५ अंक १
   कल्याण वर्ष ३२ अंक १
५. कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। साबर मंत्रजाल जिन्ह सिरिजा।
   अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रकट प्रभाउ महेस प्रतापू॥ तु० रा०, बा० का०, १५।३

विष्णु-पुराण में कहा गया है कि जो सतयुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में पूजा के द्वारा प्राप्त होता है वही कलियुग में हरिकीर्तन से मिल जाता है।[1] ध्यान, यज्ञ, पूजा परमार्थ के लिए सभी उपादेय हैं, यह सर्व स्वीकृत है। पुराणों के द्वारा कीर्तन को भी उसी श्रेणी में स्थान दिया गया है। भागवत पुराण में स्मरण नवधा भक्ति के एक भेद के रूप में गृहीत हुआ है।[2] जपों के भेद में हम देख चुके हैं कि जप वाचिक हो सकता है, उपांशु हो सकता है तथा मानस हो सकता है। नवधा भक्ति में कीर्तन वाचिक जप-यज्ञ के समीप आता है तथा स्मरण मानस जप के समीप। इस प्रकार कीर्तन तथा स्मरण दोनों ही शास्त्रीय जप के अनुकूल ही हैं।

विष्णु पुराण की ही भाँति भागवत में भी कलियुग की गुण महिमा इसलिए मानी गई है कि कलियुग में कृष्ण के कीर्तन से ही मनुष्य निःसंग होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[3] जब कि सतयुग में ध्यान से त्रेता में यज्ञ से तथा द्वापर में भगवत परिचर्या से वही फल प्राप्त होता है।[4] जो मनुष्य गिरते पड़ते, फिसलते दुःख भोगते, अथवा छींकते समय विवशता से भी नाम उच्चारण कर लेता है वह सब पातकों से मुक्त हो जाता है।[5] भगवान् के किसी एक नाम-उच्चारण मात्र से सारे कर्मबन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, परन्तु कलियुग के प्रभाव से ही लोग उस भगवान् की आराधना से विमुख हो जाते हैं।[6] स्कन्दपुराण तथा पद्मपुराण में कहा गया है कि जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरों का उच्चारण कर लिया वह मोक्ष तक पहुँचने के लिए मानो कटिबद्ध हो गया।[7] पद्मपुराण के अनुसार यदि मनुष्य ने श्री हरि के नाम का आश्रय ग्रहण कर लिया तो उसे अन्य मंत्रों के जप की क्या आवश्यकता।[8] इसी प्रकार की भावना

---

१ ध्यायन्कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥ कल्याण वर्ष २१ सं० १, पृ० ७५, विष्णु पु० ६, २, १७

२ श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । भा० ७, ५, २३

३ कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् ॥ भा० १२, ३, ५१

४. कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥ भा० १२,३,५२

५. पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥ भा० १२, १२, ४६

६. यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः, पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान् ।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥ भा० १२, ३, ४४

७. सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥ कल्याण वर्ष २६ सं० १, पृ० ८७,
स्क० पु० प्र० ख० ३१०।१८ पद्म० पु० ८२।१६४

८ हरिनामसुधां पीत्वा उन्मत्तो भवति द्विजः ।
किं करो. मंत्रैरन्यैः गृहीते यदि मानुषैः ॥ कल्याण वर्ष २६ सं० १, पृ० ६४, पद्म०पु० ख० ६१, ८

साधना की प्रवृत्ति को मंत्र-जप से केवल नाम जप की ओर अग्रसर करने वाली है। अनिच्छा से भी लिये हुए हरिनाम से पाप समूह उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे एक चिनगारी से शुष्क घास का ढेर।[1] जिसकी जिह्वाग्र पर हरि इन दो अक्षरों का निवास है उसे विष्णुलोक प्राप्त होता है तथा उसकी मुक्ति हो जाती है।[2] भागवत के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने कहा है—सम्पूर्ण जगत का मंगलकारक भगवान् श्रीहरि का नाम सर्वोपरि विराजमान है। एक बार प्रकट होने पर वह अखिल विश्व की समस्त पापराशि को उसी प्रकार नाश कर देता है जिस प्रकार भगवान् सूर्य अन्धकार के सागर को नष्ट कर देते हैं।[3]

भगवन्नाम कौमुदी में श्री लक्ष्मीधर की उक्ति है —'अनादि संसार में अनन्त जन्मों के निरन्तर संचित किये हुए महान पापों से मेरे हृदय में कालिमा जम गई है, परन्तु वह आपके नामरूपी प्रचण्ड अग्नि के उदर में तृण के एक टुकड़े के समान भी नहीं हो सकती जब कि आपका नाम पर्वतों को भी भस्म कर देने वाले महान् प्रलयानल के सदृश है।[4] यह एक नामरूपी मंत्र दीक्षा दक्षिणा, पुरश्चरण आदि का तनिक भी विचार नहीं करता। यह मंत्र जिह्वा का स्पर्श होते ही सबके लिए पूर्ण फलदायक होता है।[5] वाणीविहीन मूक के अतिरिक्त चाण्डाल से लेकर उच्चकुलजन्मा सभी के लिए सुलभ है।[6] चैतन्य महाप्रभु का कथन है भगवन्! आपने अपने अनेक नाम प्रकट किये तथा उन नामों में अपनी सम्पूर्ण शक्ति निहित करदी है। स्मरण में कोई कालाकाल का भी विचार नहीं रखा है।[7] उनकी यह अभिलाषा है कि कब वह सुअवसर आवेगा जब कि नाम ग्रहण करते समय उनके दोनों नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो पड़ेगी, हर्षातिरेक से कंठ अवरुद्ध हो जावेगा तथा पुलक से शरीर

---

१. हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥ कल्याण, वर्ष २९, सं० १, पृ० १२७, ना० पू० ११, १००

२ जिह्वाग्रे वसते यस्य हरिरित्यक्षर द्वयम्।
स विष्णुलोकमाप्नोति पुनरावृत्ति दुर्लभम् ॥ कल्याण, वर्ष २९, सं०१, पृ० १२७, ना०पू०११, १०१

३ अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकल लोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मंगलं हरेर्नाम ॥ श्रीधर स्वामी, कल्याण, वर्ष २९, सं० १, पृ०१४३

४ अनादौ संसारे निरवधिकजन्मस्वविरतैः
महाघैरेवान्तश्चितकलुषतायां हि दहनम्।
महीध्राणां भस्मीकृतिनिपुण संवर्तशिखिनो।
भवन्नाम्नः कुक्षौ कियदिव हरे मत्पातकम् ॥ भगवन्नाम कौमुदी, लक्ष्मीधर, कल्याण, वर्ष २९, सं० १, पृ० १४६

५ नो दीक्षा न च दक्षिणा न च पुरश्चर्या मनागीक्षते।
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्री रामनामात्मकः ॥ लक्ष्मीधर, कल्याण, वर्ष २९, सं० १, पृ० १४७

६ आकृष्टिः कृतचेतसां सुमनसामुच्चाटनं चांहसाम्।
आचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः ॥ लक्ष्मीधर, कल्याण वर्ष २९, सं० १, पृ० १४७

७ नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति।
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ॥ चैतन्य, कल्याण वर्ष २९, सं० १, पृ० १५३

रोमांचित हो उठेगा ।[1] सनातन गोस्वामी, नामानन्द रूप मुरारि की वन्दना करते हैं जिसके नाम के जिह्वा पर आ जाने से पूजा-ध्यान, स्वधर्म-पालन आदि समस्त प्रयत्न छूट जाते हैं ।[2] रूप गोस्वामी की जिह्वा पर 'कृष्ण' यह—दो अक्षरों का नाम—जब नर्तन करने लगता है तब उनकी ऐसी इच्छा होती है कि उनके करोड़ों जिह्वाएँ हो जायें । उस नाम के कानों में प्रवेश करते ही ऐसी लालसा होती है कि कोटिश कान हो जायें । जब वह नामसुधा चित्त-प्रांगण में प्रविष्ट होती है तब समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों को हर लेती है तथा चित्त सब कुछ भूलकर नामसुधा में निमग्न हो जाता है । न जाने इस नामसुधा की सृष्टि कितने प्रकार के अमृतों से हुई है ।[3]

कृष्ण यह दो अक्षर पापरूपी पर्वतों को विदीर्ण करने के लिए सिद्ध औषधि हैं। मिथ्या ज्ञानरूपी रजनी के महान् अंधकार को समूल नष्ट करने के लिए सूर्योदय के समान हैं, क्रूर क्लेश-रूपी वृक्षों को भस्मीभूत करने के लिए प्रचण्ड ज्वालाओं से प्रज्वलित अग्नि हैं, तथा परमानन्द निकेतन के मनोहर द्वार हैं ।[4]

मध्यकालीन हिन्दी-रहस्यवादी कवियों के नामस्मरण विषयक विचारों के पूर्व जप अथवा नामस्मरण सम्बन्धी विचारों की एक परम्परा प्राप्त होती है, जिसका प्रभाव अवश्य ही हिन्दी-सन्तों व भक्तों पर पड़ा । वाचिक जप या मानसिक जप, स्मरण का फल तथा उसका महत्त्व और सबसे अधिक उसका आनन्द, जो कि हिन्दी-सन्तों एवं भक्तों को भी मान्य था, पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य से उन्हें, उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ । हिन्दी-सतों ने ही नहीं संसार के सभी सतों तथा रहस्यवादियों ने नामस्मरण को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है । ईश्वर प्रकरण में हम देख चुके हैं कि वह अनाम है, उसका कोई एक विशेष नाम नहीं है फिर भी सभी नाम उसी के हैं तथा वह अनन्त नामों वाला है । तो फिर नाम है क्या, किस नाम

---

१ नयन गलदश्रुधारया, वदन गद्गद रुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचित वपु कदा, तवनामग्रहणे भविष्यति ।। चैतन्य, कल्याण वर्ष २६, स० १, पृ० १६३

२. जयति जयति नामानन्दरूप मुरारे विरमित निजधर्मध्यान पूजादियत्नम् ।
कथमपि सकृदात्त मुक्तिद प्राणिनां यत् परममृतमेकं जीवन भूषण मे ।। सनातन गोस्वामी, कल्याण वर्ष २६, स० १, पृ० १६५, बृहद्भागवतामृत १. १. ९

३. तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावली लब्धये
कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम् ।
चेतः प्राङ्गणसंगिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणा कृतिं ।
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ।। रूप गोस्वामी, कल्याण वर्ष २६, स० १, पृ० १६६, विदग्ध माधव १.३३

४. वज्रं पापनगभृतां भवरोगे वरस सिद्धौषधं ।
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशु बिम्बोदयः ।
क्रूर क्लेश महीरुहामुरुतर ज्वाला ज्वलनः शिखा ।
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम् ।।
पंडितराज जगन्नाथ, कल्याण, वर्ष २६, स० १, पृ० १७२

का संतों में महत्त्व है, और क्यों ? संतों ने नाम को परमात्मा की प्राप्ति का कारण माना है। इसीलिए उसे इतना महत्त्व प्रदान किया है।

परमात्मा की प्राप्ति कर्म के द्वारा हो सकती है, योग के द्वारा सम्भव है भक्ति के द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है, ज्ञान के माध्यम से वह निश्चय ही ज्ञातव्य है तथा परमात्मा की प्राप्ति नामस्मरण से भी हो सकती है। इसी नामस्मरण को संतों ने सुरत शब्द योग नाम दिया है।

जीव को इस संसार से विदा लेनी है। उस सुदूर देश का मार्ग अपरिचित है तथा राह में कोई विश्रामस्थल नहीं है। मार्ग में सहायता देने वाला कोई मित्र अथवा धन भी नहीं है। इस भवसागर को पार करने के लिए एकमात्र अवलम्ब रामनाम ही है।[1] कबीर ने इसलिए रामनाम को जीवन-पर्यन्त निर्भय होकर जपने के लिए अनुरोध किया है। जब तक दीपक में तेल तथा बत्ती सब ठीक है तब तक वह जल सकता है। जब तेल समाप्त हो गया या बत्ती घट गई तब तो उसे फिर अन्धकार में ही विलीन हो जाना है। इसी प्रकार जीवन में ही रामनाम जपने का अवसर है फिर तो निरनिद्रा में ही पैर पसार कर सोना है।[2] नानक रामनाम का नित्य स्मरण करने का आग्रह करते हैं क्योंकि रामनाम से ही उद्धार सम्भव है। नानक को योग प्रतिपादित नैरन्तर्य[3] स्वीकार्य प्रतीत होता है।[4] रामनाम के बिना किसी को सिद्धि नहीं मिली। सिद्धि के लिए परमात्मा का नाम आवश्यक कारण है।[5]

रामनाम का अक्षय भण्डार सर्वत्र विद्यमान है। मनुष्य अपनी इच्छानुसार इस अक्षय निधि को लूट सकता है परन्तु तभी तक जब तक कि काल इस इन्द्रियों को अवरुद्ध कर उसे कवलित नहीं कर लेता। अर्थात् जीवनकाल में मनुष्य मनचाहा रामनाम स्मरण कर सकता है। नाम की लूट के सम्बन्ध में यही भाव एक सामान्य प्रचलित दोहे में भी प्राप्त होता है :—

राम नाम की लूट है लूटा जाइ सो लूट।
अन्त समय पछितायगा प्रान जायँगे छूट॥

---

१. बंदे तोहि बंदगी सो काम हरि बिन जानि और हराम।
दूरि चलना कूच बेगा इहां नहीं मुकाम।
इहां नहीं कोई यार दोस्त गांठि गरथ न दाम।
एक एकै संगि चलणा बीचि नहीं बिश्राम।
संसार सागर विषम तिरणा सुमिरि लै हरि नाम।
कहै कबीर तहाँ जाइ रहणा नगर बसत निधान॥२५१ — क० ग्र० क०, पृ० ३६०

२. कबीर निरभै राम जपि जब लगि दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी (तब) सोवैगा दिन राति॥१० — क० ग्र०, पृ० ५

३. स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारासेवितोदृढभूमिः — यो० सू० १।१४

४. कहु नानक भजु राम नाम नित जाते होत उधार।३ — नानक, म० बा० सं० भा० २, पृ० ४७

५. कहै कबीर सुनहु रे भाई।
राम नाम बिन किन सिधि पाई॥१६२ — क० ग्र०, पृ० १३०

लुटेरे की संज्ञा ग्रहण करके कबीर रामनाम का भण्डार लूटते तथा लुटाते दृष्टिगोचर होते हैं। अपने अभीष्ट की प्राप्ति में वे बदनामी उठाने को भी तैयार हैं। रामनाम के वे लुटेरे ही नहीं बनना चाहते वे रामनाम का व्यापार करते भी नजर आते हैं। साधारण भौतिक व्यापारियों में कोई कांसा, पीतल तथा कोई लौंग, सुपारी या अन्य सांसारिक पदार्थों का व्यापार करता है। परन्तु संतगण गोविन्द नाम का ही व्यापार करते हैं। इस व्यापार में कबीर को ऐसा नामरूपी अनमोल हीरा हाथ लग गया जिससे कि संसार के आवागमन से निवृत्ति प्राप्त हो गई। इन सच्चे व्यापारियों को सत्य 'नाम' ही वास्तविक प्रतीत होता है। शेष सब अनुकरणमात्र है। उसी सत्य वस्तु के साथ वे भण्डारी परमात्मा तक मनुष्य सौदागर की पहुँच हो जाती है। यही नहीं वही नाम मणि, रत्न, जवाहर तथा वही सौदागर भी है।[1]

नाम केवल साधन ही नहीं साध्य भी बन जाता है। प्रत्यक्ष की अंतिम स्थिति में जिस प्रकार ज्ञाता व ज्ञेय का भेद मिट जाता है, सब एकाकार हो जाता है उसी प्रकार यहाँ नाम के विषय में भी व्यक्त किया गया है। कबीर की ही भाँति उनके शिष्य धरमदास भी धनी परमात्मा के नाम व्यापार में संलग्न दिखाई देते हैं। उनका व्यापार की क्रिया में लगना अपने स्वजातीय स्वाभाविक कर्म के अनुकूल है। परन्तु वे भी कांसा, पीतल, लौंग, सुपारी के व्यापार में जीवन नष्ट नहीं करते। वे सत्यनाम के व्यापारी हैं। उन्होंने अपनी खेप में परमात्मा का नाम ही लादा है। इसी से उनकी खेप पूरी उतर गई है। अन्य सभी व्यापारों में हानि की आशंका, मार्ग में चुंगी आदि कर का भुगतान और चोर-डाकुओं का भय सदैव बना रहता है, परन्तु संतों के नाम व्यापार में न कोई मार्ग अवरोधक है न कर, न डर, केवल चौगुना लाभ ही लाभ है। उनके घट ही में मोती बिन्दु उत्पन्न होते हैं तथा सुकृतों का भण्डार अक्षय होता है।[2] उनके सभी कार्य सुकृत ही होते हैं फिर भला सुकृतों से भण्डार परिपूर्ण क्यों न हो।

---

१ किनही बनज्या कांसा तांबा किनहीं लौंग सुपारी।
संतहु बनज्या नाम गोविन्द का ऐसी खेप हमारी।
हरिनाम के व्यापारी।
हीरा हाथ चढ़्यो निर्मोलिक छूटि गई संसारी।
साचे लागे तो सच लागे साचे के व्यौपारी।
साची वस्तु के भार चलाये पहुँचे जाइ भण्डारी।
आपहि रतन जवाहर मानिक आपै है पासारी।
आपै है दस दिसि आप चलावे निहचल है व्यापारी।
मन करि बैल सुरति करि पैंडा ज्ञान गौनि भरि डारी।
कहत कबीर सुनहु रे संतहु निबही खेप हमारी।४४ क० ग्र०, पृ० २७७

२ हम सतनाम के बैपारी।
कोई कोई लादै कांसा पीतल कोई कोई लौंग सुपारी।
हम तो लाद्यो नाम धनी को पूरन खेप हमारी।

ऐसा प्रतीत होता है कि संत पलटू को रामनाम के व्यापार का यह भाव बहुत मन भाया। उन्होंने उसे सम्मानित वाणिज्य कर्म ही नहीं रखा। उन्होंने उस समय प्रचलित डांडी मारना आदि निन्दनीय कार्य भी सम्मिलित कर लिये तथा नाम के व्यापार में उन्हें भी स्थान दे दिया। उन्होंने उसी को पूरा बनिया माना है जो सतनाम का व्यापार करे। व्यापार के इस साग रूपक में उन्होंने बनियों के सभी कर्मों एवं साज-सामान को भगवत्-प्राप्ति के उपकरणों में देखा है। क्षमा का टाट, प्रेम का तराजू, विश्वास का बाँट, विवेक की दुकान, ज्ञान का लेन-देन, भजन का लादना-उलदना, मीठा बोलना तथा नाम का टेना मारना पूरे बनिये के लक्षण गिनाये गये हैं। सुरत ध्यान के द्वारा शब्द का ताला खोलकर उस दुकान में प्रवेश करके अपना कर्त्तव्य पूरा करने पर नाम का रहस्य अपने आप प्रकट हो जाता है।[1]

नाम-व्यापार के भाव की भाँति नाम को स्वादिष्ट भोजन के रूप में ग्रहण करने तथा युद्धक्षेत्र में विजय प्राप्त करने के शस्त्रादि साधनों की भाँति भी वर्णन किया गया है। समाज में ब्राह्मणों की विद्वत्ता के साथ साथ उनकी भोजन-भट्टता की भी ख्याति रही है। हरि-भजन में भी उन्हें स्वादिष्ट मिष्टान्नों का ध्यान बना रहा तथा उन्हें

राम नाम लड्डू गोपाल नाम घी।
कृष्ण नाम मिसरी घोल घोल पी॥

ही दिखाई दिया। लड्डू, घी तथा मिश्री की भाँति प्रभुनाम ही निरन्तर उनके सेवन की वस्तु रही। सुन्दरदास भी राम-नाम का भोजन तथा जलपान करके राम के समान ही हो रहे हैं। क्षत्रियों के युद्ध, शासन, राज्य आदि स्वधर्म थे। लोकोत्तर धर्मों के सम्बन्ध में भी उनकी कल्पना अस्त्र शस्त्र तथा युद्धक्षेत्र आदि की ही भाँति रही। यह संसार युद्धक्षेत्र तो है ही, इसी को जीतकर उसे भगवत्प्राप्ति करनी है। क्षत्रिय संत यम का द्वारा जीतने का कार्य रामनाम की तलवार, कृष्णनाम की कटार तथा दया, धर्म को ढाल बनाकर सम्पादित करना

पूंजी न टूटै नफा चौगुना बनिज किया हम भारी।
हाट जगाती रोकि न सकिहै निर्भय गैल हमारी।
मोती बुन्द घटहीं में उपजा सुकिरत भरत कोठारा।
नाम पदारथ लाद चला है धरम दास बैपारी। — धरमदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ३८

1. बनिया पूरा सोइ है जो तौलै सतनाम।
जो तौलै सतनाम छिमा का टाट बिछावै।
प्रेम तराजू करै बाट बिस्वास बनावै।
बिबेक की करै दुकान ज्ञान का लेना देना।
गादी है संतोष नाम का मारै टेना।
लादै उलदै भजन बचन फिर मीठे बोलै।
कुंजी लावै सुरत सबद का ताला खोलै।
पलटू बिसुकी बनि परा उसी से मेरा काम।
बनिया पूरा सोई है जो तौलै सतनाम॥ — पलटू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० २१७

है ।[1] कबीर भी इस जीवन-संग्राम को जय करने के लिए तथा विषय विकाररूपी तस्करों को परास्त करने के लिए 'ररा' का टोप 'ममा' का कवच तथा ज्ञान की तलवार को आवश्यक समझते हैं ।[2] विकारों से रक्षा करने की सामर्थ्य 'राम' में ही है तथा विकारों पर आघात एवं प्रहार करने की क्षमता ज्ञान में है । प्रस्तुत दोनों दोहों में एक ही बात कही जाने पर भी यही एक विशेष अंतर है कि एक में प्रहार करने वाली शक्ति राम के हाथों में दिखाई पड़ती है और रक्षा की सामर्थ्य दया, धर्म आदि में तथा दूसरे—कबीर के दोहे में—रक्षा की शक्ति राम में है तथा प्रहारक ज्ञान है । फिर भी दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है । दोनों का एक ही गन्तव्य है—रामनाम । अन्यत्र भी कबीर ने अपनी बुद्धिरूपी कृषि के लिए रामनाम के दो अक्षरों को ही समर्थ रक्षक माना है ।[3]

इस प्रकार हमने देखा कि परमात्मा प्राप्ति का कार्य ब्राह्मण नाम के भोजन द्वारा, बनिया नाम के व्यापार द्वारा तथा शूद्र हरिभजन द्वारा सम्पन्न करता है ।

जाति पाँति पूछै नहिं कोय, हरि को भजै सो हरि का होय—

आदि कवियों की प्रस्तुत अभिव्यक्तियाँ उनके कुलगत मनोभावों की ही द्योतक हैं, यथार्थ स्वरूप निरूपण की नहीं । वर्णन करने का यह ढंग विषय को अपने अनुसार अधिक हृदय-ग्राही बना देने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है ।

दरियासाहब ने नाम बिना भव कर्म का छूटना असम्भव माना है । साधु संगति और हरिभजन के बिना प्राणी निरन्तर काल का ही ग्रास बनकर आवागमन में फँसा रहता है । कीचड़ के द्वारा कीचड़ का धुलना सम्भव नहीं है । सम्भवतः दरियासाहब का तात्पर्य कर्मों के द्वारा कर्मों के बन्धन से छूटने की असम्भावना से है । प्रेम सहित नाम स्मरण के द्वारा सब कर्मों का पक धुल सकता है तथा आवागमन के क्रम से मुक्ति मिल सकती है । इस गुरुमुख नाम के प्रेमपूर्वक स्मरण द्वारा सत्य के स्पष्ट प्रत्यक्ष हो जाने से भेद-अभेद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों का भ्रम मिट जाता है । भेदाभेद आदि दार्शनिक सिद्धान्त सत्य के स्वरूप ज्ञान के बौद्धिक पक्ष हैं । परावौद्धिक सत्य के रहस्य ज्ञान के बाद सिद्धान्तों के पचड़े से मुक्ति हो जाती है । अमृत की वृष्टि होती है, प्राणी का प्रेम से नाम का ध्यान करना चाहिए । जरा मरण से छूटने और अमृतत्व प्राप्त करने में तनिक विलम्ब नहीं

---

१ राम नाम शमशेर पकड़ला कृष्ण कटारा बांध लिया ।
दया धर्म की ढाल बनाकर नाम का डंका जीत लिया ।।

२ ररा करि टोप ममा करि बख्तर
ज्ञान रतन कर खाग रे ।　　　　क० ग्रं०, पृ० २०६

३ बुधि मेरी किरषी
गुरु मेरो बिझुका आखर दोइ रखवारे ।३६६　　　　क० ग्रं०, पृ० २१६

है।[1] दूलनदास अपने लिए केवल नाम का ही आधार मानते हैं। यह नाम की ही महत्ता है कि आधे नाम के पुकारते ही भगवान् ने स्वयं आकर गज को जल से निकाल कर उसकी रक्षा की।[2] कबीरदास ने भी नाम तेरा आधार के द्वारा यही भाव व्यक्त किया है।[3]

उसी दिन की गणना ईश्वर के यहाँ होती है जो दिन परमात्मा के नाम में लगता है। मजदूर की उपस्थिति काम करने वाले दिन की ही मानी जाती है तथा उसी दिन का पारिश्रमिक उसे मिलता है। हरि-भक्ति ही मनुष्य का एक मात्र कार्य है जिससे कि वह प्रभु को अपने जीवन का लेखा देता है। निरन्तर माया का दीपक जल रहा है जिसमें देवता मनुष्य सभी शलभवत् आहूत होकर भस्म हो रहे हैं। हरिनाम में जागने वाले भक्तों का परमात्मा स्वयं साथी है। समत्व प्राप्त करके कबीर उस मायादीपक में जलने से बच गये उसी एकमात्र नाम के कारण।[4] हरि-स्मरण के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और इसीलिए वह दिवस महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय होता है जो हरि-स्मरण में लगता है।

अब देखना यह है कि हरि-स्मरण किया किस प्रकार जाय, वह हो कैसा ? कबीर ने निम्नलिखित पद में इसी को स्पष्ट किया है

राम जपो जिय ऐसे ऐसे ध्रुव प्रहलाद जप्यो हरि जैसे।[5]

गुरु के प्रसाद से उन्हें ऐसी बुद्धि, ऐसा ज्ञान प्राप्त हो गया जिसके द्वारा राम-जप का अवलम्ब लेकर वे आवागमन से मुक्त हो गये।[6] वे परमात्मा अथवा गुरु की कृपा से शब्द-डोर को पकड़कर नाम स्मरण द्वारा भवसिंधु से पार हो गये।[7] इसीलिए उन्होंने पढ़ना-लिखना

---

१ नाम बिन भाव करम नहि छूटे।
साध संगति अरु राम भजन बिन काल निरन्तर लूटे।
मल सेती जो मल को धोवै सो मल कैसे छूटे।
प्रेम का साबुन नाम का पानी दो मिलि ताता टूटे।
भेद अभेद भरम का भाड़ा चौड़े परि परि फूटे।
गुरु मुख सबद गहै उर अन्तर सकल भरम से छूटे।
राम का ध्यान धरहु रे प्राणी अमृत का मेंह बूटे।
जन दरियाव अरप दे आपा जरा मरन तब छूटे॥ दरिया, स० बा० स० भा० २, पृ० १५३

२. हमरे तो केवल नाम अधार।
अरध नाम टेरत प्रभु धाये भाय तुरत गज गाह निवार॥ दूलनदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १६७

३. क० ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०७

४. हरि नामै दिन जाइ रे जाको।
सोई दिन लेखै लाइ राम ताको।
हरि नाम में जन जागै ताकै गोव्यद साथी आगै।
दीपक एक अभंगा तामैं सुर नर पड़ै पतंगा॥
ऊँच नीच सम सरिया ताथैं जन कबीर निस्तरिया॥१८५ क० ग्र०, पृ० १५०

५. क० ग्र०, पृ० ३२०.१७६

६. गुरु प्रसाद ऐसी बुद्धि समानी। चूकि गई फिरि आवन जानी॥१७६ क० ग्र०, पृ० ३२०

७. हम तो बचिगे साहब दया से शब्द डोर गहि उतरे पार॥

छोड़कर दर्शनों के चक्कर में न उलझकर, पुस्तकीय ज्ञान को तिलांजलि देकर केवल 'रा' और 'म' से प्रेम करने का आदेश दिया है।[१] कबीर स्वयं शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न पण्डित नहीं थे न उन्हें झूठे पाण्डित्य में रुचि ही थी। इसीलिए वे नाम के सम्मुख या हरि-भजन के तो अनुकूल थे परन्तु पण्डितों के प्रति पीठ किये हुए उदासीन थे।[२] कबीर के इस विचार से दादू भी सहमत हैं। शरीररूपी पिंजड़े में मनरूपी शुक बन्दी है, उस बन्दी मन का कोई मूल्य नहीं, कोई महत्व नहीं। परमात्मा का नाम ही ऐसा है जिसे पढ़कर वह विद्वान् हो जाता है।[३] पुस्तकों के पढ़ने से कोई लाभ नहीं। इनसे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, ज्ञान होता है प्रेमपूर्वक राम-नाम पढ़ने से। यदि राम में चित्त लग जाय तो और किसी सिद्धान्त-ज्ञान या अक्षर-ज्ञान की आवश्यकता नहीं। वे सब उस रहस्यदर्शी में स्वयं प्रस्फुटित हो जाते हैं। मनरूपी भँवर अर्थरूपी बास को ग्रहण करता है जिसमें विश्वासरूपी फल फलता है। उस वृक्ष को राम-नामरूपी अमृत से सींचने की आवश्यकता है।[४]

रामनाम से यदि किसी अन्य धार्मिक कृत्य की तुलना की जाय तो कोई भी राम-नाम की समता नहीं कर सकेगा। नाम सभी से गुरुतम सिद्ध होगा परन्तु मूर्ख नाम के इस रहस्य को नहीं जान पाते।[५] परमात्मा की अपरम्पार गति किसी को दृष्टिगोचर नहीं होती, उसी परमात्मा के नाम का भजन करना श्रेयस्कर है। नाम की महत्ता की तुलना न करोड़ों गायों के दान से की जा सकती है न पर्वताकार स्वर्णदान से अथवा गज या वाजिदान से ही की जा सकती है।

सन्तों ने परमात्मा-प्राप्ति के लिए ही उसे रामनाम से सम्बोधित किया है। इस नामरूपी जहाज पर बैठकर—नाम का आश्रय ग्रहण करके पल मात्र में जीव भवसागर पार हो जाता है।[६] नाम को सुन्दरदास ने सभी दर्शनों अथवा धर्म-शास्त्रों का सार माना है। जिस प्रकार दुग्ध और दधि में घृत सार वस्तु है उसी प्रकार समस्त धार्मिक क्रिया-कलापों

---

१. कबीर पढ़िबो दूरि करि पुस्तक देइ बहाइ।
बावन आखिर सोधि करि ररै ममैं चित लाइ॥ ७ — क० ग्र०, पृ० ३८

२. पंडित दिसि पछिवारा कीन्हा। मुख कीन्हाँ जित नामा॥१२२ — क० ग्र०, पृ० १२७

३. दादू यहु तन पींजरा माहीं मन सूवा।
एकै नाव अल्लाह का पढ़ि हाफिज हूवा॥६० — दादू भा० १, पृ० ३५

४. पाटन पन्द्र मन भँवर करत अनूपम बास।
राम नाम सींच्या अमृत फल लाग्या वेसास॥१६

५. नाम गहन को नाम है मति लीजै कोई।
लोचन निपट अगाध है गति लखै न कोई॥
कंचन मेरु सुमेरु हय गज दीजै दाना।
कोटि गऊ जो दान दे नहिं नाम समाना॥ — नामदेव, म० वा० सं० भा० २, पृ० २६

६. राम नाम मानि पकड़ो राम मिलन के काज।
सुन्दर पल में पार है बैठे नाम जिहाज॥ —सुन्दरदास

मे नाम स्मरण सार तत्त्व है ।[१] रैदास ने पौराणिक व्यवस्था को स्वीकार करते हुए यह कहा है कि कलियुग म तो नाम के अतिरिक्त कोई अन्य आधार है ही नहीं, जब कि सतयुग मे सत्य, त्रेता मे यज्ञ तथा द्वापर मे पूजा भगवत् प्राप्ति का साधन हो सकती है ।[२]

सहजोबाई तो तप की कठोर साधना की अपेक्षा नाम को ही श्रेयस्कर समझती है। धुँआधार वर्षा मे, कँपा देने वाले शीत मे तथा पिघला देने वाले ग्रीष्म म पर्वत पर तपस्या करने वाले साधक की साधना भी नाम स्मरण के सम्मुख फीकी ही उतरती है ।[३]

नाम स्मरण अन्य साधनो की अपेक्षा कितना श्रेष्ठतर है यह तो स्पष्ट ही हो गया। अब देखना है कि नाम है क्या ?

ईश्वर के विषय मे पहले कहा जा चुका है कि उसके कोई नाम नहीं है—वह अनाम है अथवा परमात्मा के रूप गुण सम्बन्धी कथाओं तथा नामो की गणना नही है, वे अपार है ।[४] सभी लोग राम नाम कहते हैं परन्तु कबीर के दृष्टिकोण से व उस रामनाम का मर्म (भेद) नही जानते। रामनाम केवल कहने की वस्तु नहीं है यह प्रत्यक्ष दर्शन की वस्तु है। जो उसका साक्षात्कार करके कहता या गाता है वही वास्तविक आनन्द का भागी होता है तथा नाम के इसी परिचय से परमात्मा का मर्म अवगत होता है ।[५] सत पलटू के अनुसार नाम स्वय अनाम है। यदि कोई उसे नाम द्वारा जानना चाहे तो वह सम्भव नही। वह नाम न लिखा जा सकता है न पढा जा सकता है। वह अक्षरो (शब्दो) द्वारा व्यक्त नही हो सकता। यदि उसे रूप की श्रेणी म बद्ध करना चाहे तो वह रूप द्वारा भी व्यक्त किये जाने योग्य नही। नाम रूप आदि सभी ज्ञान के कर्मों द्वारा व्यक्त न हो सकने योग्य अनिर्वचनीय है। यह कल्पना की वस्तु नही है। यह वही नाम है जिसका सत अचाक्षुष प्रत्यक्ष करते है ।[६]

---

१. सुन्दर सब ही सन्त मिलि सार लियो हरि नाम।
तक्र तजो घृत काढिकै और कियो किहि काम ॥६ — सुन्दरदास, म० बा० स० भा० १, पृ० १०८

२. सतयुग सत त्रेताहि जग द्वापर पूजा चार।
तीनों जुग तीनों दृढ़े कलि केवल नाम अधार ॥६ — रैदास, म० बा० स०, भा० १ पृ० ६६

३ मेह सहै सहनो कहै सहै सीत औ घाम।
पर्वत बैठो तप करै तोभी अधिको नाम ॥४ — सहजोबाई, स० बा० स०, भा० १ पृ० १५५

४. हरि गुण नाम अपार
कथा रूप अगणित अमित ॥ — तु० रा०, बा० का० १२० (घ)

५ है कोइ राम नाम बतावै बस्तु अगोचर मोहि लखावै।
राम नाम सब कोई बखानै राम नाम का मरम न जानै ॥
ऊपर की मोहि बात न भावै देखै गावै तो सुख पावै।
कहै कबीर कछू कहत न आवै परचै बिना मरम को पावै ॥२१८ — क० ग्र०, पृ० १६२

६ जो कोई चाहै नाम तो नाम अनाम है।
लिखन पढ़न में नाहिं निअच्छर काम है।
रूप कहौं अनुरूप पवन अनरेख ते।
अरे हाँ पलटू गैब दृष्टि से सन्त नाम वह देखते ॥ — पलटू, म० बा० स० भा० २, पृ० २१६

प्रोफेसर रानाडे के मतानुसार मनुष्य के ध्यान की सफलता का एक लक्षण यह भी है कि नाम स्वयं अपने आपको साधक के सम्मुख अनावृत करे और वही नाम अजर तथा अमर है।[1] कबीर के अजर अमर इक नाम है सुमिरन जो आवै—में यही भाव व्यक्त किया गया है। वह नाम जो स्मरण में साधक के सम्मुख अपने आपको प्रकट करे वही बिना जिह्वा डुलाये हुए जप करने की वस्तु है।[2] इस प्रकार सुरत अजर करके जप करने वाले को स्वयं रूप का अनावरण होता है। यह रूप साधक के आत्मगत (Subjective) सुझाव का कार्य न होकर स्वयं परमात्मा के द्वारा प्रत्यक्ष उपस्थिति की स्थिति होता है।[1] जिस नाम-स्मरण में न जिह्वा हिले, न ओठ फड़के, न मुख खुले अर्थात् किसी भी प्रकार से बाह्य उच्चारण न हो केवल मानसिक स्मरण रहे, उसी को संतों ने नाम-स्मरण का यथार्थ ढंग कहा है। मलूकदास ने कहा है—

सुमिरन ऐसा कीजिये दूजा लखै न कोय।
ओंठ न फरकत देखिये प्रेम राखिये गोय॥[3]

सहजोबाई ने इसी को निम्नलिखित प्रकार से कहा है

सहजो सुमिरन कीजिये हिरदे माँहि दुराय।
होठ होठ सूँ ना हिलै सकै नहीं कोइ पाय॥[4]

हरिनाम-स्मरण करने के लिए मुख से हरिनाम जपने की अपेक्षा नहीं रहती। दादू के मानस में नाम-स्मरण की यही सहज धुन लगी हुई है, फिर उन्हें बाह्य जप की क्या आवश्यकता।[5] कबीरदास का भी यही मत है कि यदि मन चरण में प्रेम है तो ऊपर से नाम रटने की कोई आवश्यकता नहीं। पतिव्रता स्त्री अपने पति के नाम का उच्चारण नहीं करती परन्तु पति से अनन्य प्रीति करने वाली होती है। इसी प्रकार मुख से नामउच्चारण न करने पर भी भक्त के हृदय में नामस्मरण के द्वारा प्रभु के प्रति अगाध प्रेम विद्यमान रहता है।[6] चरनदास ने मन में ही जप करके हृदय के दर्पण को उज्ज्वल रखने का उल्लेख

---

१ So, that name which will reveal itself before you in meditation automatically, unconsciously, even without your thinking about it, is the only name which is Ajara and Amara

Pathway to God. P. 154.

२. अजर अमर इक नाम है सुमिरन जो आवै।
बिन ही मुख के जप करो नहिं जीभ डुलावो।
लाहा बिच रहा रूप है वहि ध्यान लगावो॥

३ सं० बा० सं० भा० १, पृ० १००

४ सं० बा० सं० भा० १, पृ० १५६

५ अठाँनि हरि हरि करे मुख का हाजत नाहिं।
सहज धुन लागा रहै दादू मन हा माहिं॥ दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ५८

६ नाम न रटा तो क्या हुआ जो अन्तर है हेत।
पतिव्रता पति को भजै मुख से नाम न लेत॥११ सं० बा० सं० भा० १, पृ० ४३

किया है जिससे अधकार नष्ट होकर प्रकाशस्वरूप परमात्मा का दर्शन हो। प्रेम की ओढनी ओढकर मनरूपी माला के द्वारा अन्तःकरण मे नाम का स्मरण करने से समस्त कर्म-जनित भ्रम दूर हो जाते है।[1] नाम की इस प्रकार अबाधित अवतारणा से जिसमे कि समस्त क्रियाएं कहना-सुनना, लेना-देना, खाना-पीना, राम नाम मे ही सम्पादित होती हैं, आत्मा को विश्राम प्राप्त होता है।[2] कबीरदास को बाह्य नाम-स्मरण ग्राह्य नही है। न वे माला जपते हैं और न उगलियो पर ही रामराम जपते है। मानसिक स्मरण के द्वारा वे परमात्मामय उस स्थिति को पहुँच गये है जहाँ पूर्ण विश्राम प्राप्त होता है।[3] प्रायः समस्त निर्गुणिया सन्तो ने,

माला तो कर मे फिरै जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवां तो चहु दिसि फिरै

को सुमिरन नही माना है। उन्होंने श्वास प्रश्वास मे सप्रेम नाम-स्मरण को ही वास्तविक स्मरण स्वीकार किया है।[4] इसी आतरिक नाम स्मरण को स्मृतिकारो ने मानस-जप की सज्ञा प्रदान की है, यह हम पहले देख चुके है।

कबीर ने शरीर को दीपक, परम तत्व परमात्मा को तेल तथा नाम को बत्ती कहा है। शरीररूपी दीपक मे नामरूपी बत्ती को डालकर जलाने से सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है।[5] जिस प्रकार दीपक की ज्योति मे पतिंगे उड-उडकर गिरते हैं और भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार रामनामरूपी ज्योतिशिखा के हृदय मे स्थिर हो जाने पर कर्मरूपी शलभ उसमे गिर-गिरकर नष्ट हो जाते है।[6] परमात्मा के शरीर का दर्शन किस प्रकार हो। वह तीनो लोको द्वारा वन्दित है परन्तु अशरीरी है। उसके नाम की पताका सर्वोपरि फहरा रही है जिसका प्रत्यक्ष दादू को हुआ है। नाम वह प्रतीक है जिसके द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार साकार होता है।[7] भक्ति, ज्ञान आदि सब साधनो का शिरोमणि नाम ही है। वे उसी नाम पर न्योछावर होते है। दुस्तर भवसागर को सरलता से पार उतारने वाला और नरक से बचाने-

---

१ प्रेम रग रग ओढ़ चदरिया मन तसबीह गहो रे।
अतर लाओ नामहि की धुनि करम भरम सब धो रे ॥४ दूलनदास, सं० बा० स० भा० २, पृ० १६१

२ कहना सुनना राम कहि लेना देना राम।
खाना पीना राम कहि, आतम कँवल बिसराम ॥७५ दादू, भा० १, पृ० २१

३ माला जपौं न कर जपौं जिभ्या कहौ न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै मैं पाया बिसराम ॥

४. स्वास स्वास मे कोई कहै उस ठाकुर बिन चोर।
बिना प्रेम रीझै नहीं तुलसी नन्द किशोर ॥

५. सत्तु तेल नाम कीया बाती दीपक देह उज्यारा ॥२१० क० ग्र०, पृ० ३२८

६. राम नाम दीपक सिखा दूलन दिल ठहराय।
करम बिचारे सलभ से जरहिं उड़ाय उड़ाय ॥७ दूलनदास, सं० बा० स० भा० १, पृ० १३८

७ बंदित तीनों लोक बापुरा कैसे दरस लहै।
नांव निसान सकल जग ऊपरि दादू देखत है ॥१०६ दादू, भा० १, पृ० २६

वाला नाम ही है। वह केवल नकारात्मक ढंग से रक्षा या सहायता का कार्य सम्पादन करने वाला ही नहीं है, वह परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाला तथा अनन्त ज्योति में समाहित करने वाला निर्मल सार तत्त्व है जो कि अमृत-तुल्य सब सुखों का दायक है। इसी अमृत को पान करके दादू अमर तथा आनन्द में मतवाले हो गये हैं।[1]

दादू के मतवालेपन तथा कबीर के नाम-अमल में वस्तुतः विशेष अन्तर नहीं है। नाम का नशा उन नशों में नहीं है जो एक निश्चित समय के पश्चात् उतर जाते हैं। जो एक बार इस नशे का सेवन कर लेता है वह सदैव के लिए उसी में निमग्न हो जाता है। अन्य नशे एक बार पूरे जोर पर पहुँचकर प्रत्येक क्षण स्वतः घटने लगते हैं परन्तु नाम का नशा तो प्रत्येक क्षण बढ़ता ही जाता है। यही नहीं कि नाम का नशा केवल सेवन करने से ही प्रभावित करता है वह तो ऐसा नशा है जो कि देखने मात्र से चढ़ जाता है, श्रवण मात्र से हृदय स्पर्श कर लेता है तथा स्मरण मात्र से सारे शरीर के रोम-रोम को व्याप्त करके मतवाला बना देता है। यह इस प्रकार का नशा है कि प्याला पीते ही कबीर सदैव के लिए मस्त हो गये तथा चित्त की द्विविधा मिट गई। इसी नशे को चखकर गणिका, सदन कसाई आदि भवसागर तर गये। कबीर इस गूँगे के गुड़ का स्वाद बिना रसना के किस प्रकार वर्णन करें। स्वाद का आनन्द तो मिलता है परन्तु वाणी में सामर्थ्य नहीं कि उसे व्यक्त कर सके।[2] नाम की अनिर्वचनीयता तो है ही उसके स्वयं प्रकट होने का आभास भी मिलता है।

प्रायः सभी मतकवियों ने नाम की महत्ता, उसकी श्रेष्ठता आदि का विभिन्न प्रकार से उल्लेख किया है परन्तु तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत निरूपण इतना विशद्, सुसम्बद्ध तथा सुग्रथित है कि उसकी तुलना अन्यत्र नहीं मिलती। तुलसी भगवान् के सगुण रामरूप के उपासक थे। उनके राम गुण आदि से रहित होते हुए भी सर्वगुण-सम्पन्न होकर विरोधाभासों के आश्रय-स्थान थे। तुलसीदास के शब्दों में नाम रूप दुइ ईश उपाधी नाम और रूप ईश्वर के दो विशेषण (Attributes) हैं। ईश्वर इन दोनों से परे एवं भिन्न है। वह

---

१ नाउ रे नाउ रे सकल सिरोमणि नाउ रे।
मैं बलिहारी जाउँ रे।
दूतर तारै पार उतारै नरक निवारै नाउ रे।
नूर दिखावै तेज मिलावै ज्योति जगावै नाउ रे।
तारणहारा भौजल पारा निर्मल सारा नाउ रे।
सब सुख दाता अमृत राता दादू माता नाउ रे।।१ स० बा० सं० भा० २, पृ० ६१

२ नाम अमल उतरै ना भाई।
और अमल छिन छिन चढ़ि उतरै नाम अमल दिन बढ़ै सवाई।
देखत चढ़े सुनत हिय लागै सुरत किये तन देत घुमाई।
पियत पियाला भये मतवाला पायो नाम मिटी दुचिताई।
जो जन नाम अमल रस चाखा तर गइ गनिका सदन कसाई।
कहत कबीर गूँगे गुड़ खाया बिन रसना का करै बड़ाई।।१८३ क० ग्र० क०, पृ० ३३१

दोनों उपाधियाँ मात्र उस परमात्मा की है। परमात्मा का तत्वतः वर्णन केवल उन उपाधियों द्वारा सम्भव नहीं है। प्रोफेसर रानाडे ने तुलसी की इन्हीं पंक्तियों पर लिखा है कि 'नाम और रूप स्वयं परमात्मा नहीं है। यह केवल परमात्मा की उपाधियाँ हैं।'[1] नाम और रूप का वास्तविक सम्बन्ध तथा रहस्य अनादि काल से दार्शनिकों के चिन्तन का विषय रहा है। नाम और रूप परमात्मा की ही उपाधियाँ है परन्तु उनका वास्तविक स्वरूप अवर्णनीय है, वह केवल प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाली वस्तु है।[2]

नाम और रूप में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है, इस पर तुलसी ने सम्भवतः कुछ नहीं कहना चाहा। उन दोनों बड़ों के बीच में किसी को भी छोटा कहकर पाप के भागी बनना वे नहीं चाहते। वे एक मानदण्ड अवश्य प्रस्तुत कर देते हैं जिससे साधु पुरुष उनके बड़प्पन के विषय में स्वयं निर्णय कर लें।[3] वह मानदण्ड है कि "कौन किसके आधीन या अनुगामी है'—पीछे चलने वाला ही लोक मे छोटा माना जाता है। केवल नाम के उच्चारण या ज्ञान से स्वरूप ज्ञान सम्भव ही नहीं अवश्यम्भावी भी है परन्तु रूप का ज्ञान बिना नाम (शब्द) के माध्यम के असम्भव है। किसी रूप का दर्शन होने पर भी नाम की सहायता के बिना अत्यन्त समीप होता हुआ भी वह पहचाना नहीं जा सकता परन्तु केवल नाम के स्मरण द्वारा बिना पूर्व परिचय के भी हृदय में रूप की आवृत्ति होती है।[4] गिरा के साथ अर्थ की भाँति नाम शब्द के साथ उसका स्वरूप भी सलग्न है। कोई न कोई रूप नाम-स्मरण के साथ ही मानव-मस्तिष्क के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। ईश्वर के इसी नामस्मरण के द्वारा उसके रूप का हृदय में सस्नेह आगमन होता है।[5] इस प्रकार समान दृष्टिगोचर होते हुए भी नाम और नामी में स्वामी तथा अनुगामी का सम्बन्ध है।[6] नाम-रूप की इसी अकथ गति को समझकर आनन्द प्राप्त होता है परन्तु वह वर्णन से परे है।[7]

तुलसी ईश्वर के सगुण रूप के उपासक थे। निर्गुण ब्रह्म की वास्तविक सत्ता का ज्ञान तथा प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किये हुए भी वे अपने परम प्रिय भगवान ईश्वर के स्वरूप सान्निध्य आनन्द से किंचित मात्र भी विलग नहीं रहना चाहते थे। जैसा कि हम देख चुके

---

१. *Nama and Rupa do not constitute God, but they are the attributes of God* — *Pathway to God* P 146

२. नाम रूप दुइ ईस उपाधी, अकथ अनादि सुसामुझि साधी। — तु० रा०, बा० का० २०१

३ को बड़ छोट कहत अपराधू, सुनि गुनभेदु समुझिहहिं साधू। — तु० रा०, बा० का० २०२

४ देखिअहिं रूप नाम आधीना, रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।
रूप बिसेष नाम बिनु जानें, करतलगत न परहिं पहिचानें।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें, आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥ — तु० रा०, बा० का० २०३

५ गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न। — तु० रा०, बा० का० १८

६. समुझत सरिस नाम अरु नामी, प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी। — तु० रा०, बा०का० २०.१

७ नाम रूप गति अकथ कहानी, समुझत सुखद न परति बखानी। — तु० रा०, बा० का० २०४

हैं नाम के बिना किसी प्रकार का रूप-ज्ञान संभव नहीं है। 'निर्गुण' तथा 'सगुण' शब्द भी अपने अर्थों समेत नाम से ही संभव हैं। इसीलिए सगुण राम तथा निर्गुण ब्रह्म दोनों के ही साक्षी रूप में तथा दोनों का ही ज्ञान एक दूसरे को अथवा साधक को कराने के लिए नाम को चतुर दुभाषिया माना है।[1] नाम ही सगुण में उसके गुणों तथा निर्गुण में उसकी गुणातीतता का द्योतन कराने वाला होता है। अनादि, अगाध, अनुपम, अनिर्वचनीय ब्रह्म की निर्गुण तथा सगुण दो स्वरूपों में कल्पना की गई है परन्तु तुलसीदास के मत से 'नाम' उस ब्रह्म की निर्गुण तथा सगुण दोनों ही धारणाओं से श्रेष्ठ है क्योंकि उसने दोनों को ही हठात् अपने वश में कर रखा है।[2] नाम और नामी (प्रभु) का सम्बन्ध प्रभु और अनुगामी सेवक के सम्बन्ध की भाँति है तथा नाम का नामी सदैव अनुसरण करता है।[3]

निर्गुण उस अप्रकट अग्नि के समान है जो काष्ठ के अन्दर विद्यमान रहती हुई भी दृष्टिगोचर नहीं होती तथा सगुण उस प्रकट अग्नि के समान है जो दृष्टि में आती है। तत्वत दोनों एक ही है। दोनों ही जानने में अगम्य हैं, परन्तु नाम से दोनों ही सुगम हो जाते हैं। इसलिए नाम को निर्गुण तथा सगुण दोनों ब्रह्मस्वरूपों से श्रेष्ठ कहा गया है।[4] तुलसी इस कथन के पश्चात् कदाचित् अनुभव करते हैं कि उन्होंने अपने अधिकारक्षेत्र के बाहर का कुछ कह दिया। सम्भवत उन्हें सत्य के वस्तुगत स्वरूप के सिद्धान्त-निरूपण का अधिकार नहीं था। शीघ्र ही उस कथन को अपने मन की बात होने के कारण कहा हुआ कह कर समाधान कर देते हैं। न ब्रह्म के स्वरूप की हीनता दिखाने के लिए और न किसी सिद्धान्त-निरूपण अथवा पांडित्य-प्रदर्शन के लिए वे कहते हैं।[5]

निर्गुण तथा सगुण से नाम किस प्रकार श्रेष्ठ है, इसमें से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् उल्लेख करते हुए तुलसीदास ने कहा है कि यद्यपि सच्चिदानन्द, अविनाशी, व्यापक, अक्षत तथा अविकारी ब्रह्म प्रत्येक हृदय में विराजमान है परन्तु संसार में सभी जीव दीन और दुखी हो रहे हैं—उस आनन्दमय में स्वयं अपना भाग नहीं पा रहे हैं। नाम के द्वारा वही ब्रह्म अपने स्वरूप में उन्हीं दुखी जीवों के प्रति इस प्रकार प्रकट हो जाता है जिस प्रकार रत्नों से उनका मूल्य प्रकट हो जाता है।[6] जीव सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है—स्वयं

---

१ अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी। — तु० रा, बा० का० २० ४

२ अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा, अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें, किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥ — तु० रा०, बा० का० २२.१

३ समुझत सरिस नाम अरु नामी, प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी। — तु० रा०, बा० का० २०.१

४ एकु दारुगत देखिअ एकू, पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।२
उभय अगम जुग सुगम नाम तें, कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें। — तु० रा०, बा० का० २२.२

५. प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की, कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की। — तु० रा०, बा० का० २२ १

६. ब्यापकु एकु, ब्रह्म अबिनासी, सत चेतन घन आनँदरासी।३
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी, सकल जीव जग दीन दुखारी।
नाम निरूपन नाम जतन तें, सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥ — तु० रा०, बा० का० २२.४

अपने स्वरूप एवं गुणों की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म से नाम की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

सभव है कि सगुण उपासक तुलसी निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा रामनाम को अधिक महत्त्व प्रदान करते और अपने इष्टदेव सगुण ब्रह्म राम के सम्मुख नाम को श्रेष्ठ न गिनते परन्तु निम्नलिखित पंक्तियों में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि राम की अपेक्षा नाम किस प्रकार श्रेष्ठ है

राम भगत हित नरतनु धारी, सहि संकट किए साधु सुखारी।
नामु सप्रेम जपत अनयासा, भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥१॥
राम एक तापस तिय तारी, नाम कोटि खल कुमति सुधारी।
रिषि हित राम सुकेतु सुता की, सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ॥२॥
सहित दोष दुख दास दुरासा, दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा।
भंजेउ राम आपु भव चापू, भव भय भंजन नाम प्रतापू ॥३॥
दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन, जन मन अमित नाम किए पावन।
निसिचर निकर दले रघुनंदन, नाम सकल कलि कलुष निकंदन ॥४॥

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ ॥२४॥[1]

राम सुकंठ बिभीषण दोऊ, राखे सरन जान सबु कोऊ।
नाम गरीब अनेक नेवाजे, लोक बेद बर बिरिद बिराजे ॥१॥
राम भालु कपि कटकु बटोरा, सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा।
नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं, करहु बिचारु सुजन मनमाहीं ॥२॥
राम सकुल रन रावनु मारा, सीय सहित निज पुर पगु धारा।
राजा राम अवध रजधानी, गावत गुन सुर मुनि बर बानी ॥[2]३॥

नरतनुधारी सगुण राम के चरित्र तथा कर्म देश-काल द्वारा सीमित प्रतीत हो सकते हैं परन्तु नाम-स्मरण के द्वारा अनन्त और असीम चरित्रों और प्राप्तियों की सभावना साकार हो उठती है। इसलिए राम-नाम स्वयं सगुण वेषधारी ब्रह्म राम से भी श्रेष्ठ कहा गया है।[3]

सगुण अवतारी राम को अपने सुहृद एवं सेवकों के उद्धार के लिए श्रम और युद्ध करना पड़ा परन्तु प्रेम सहित नाम स्मरण से जीव बिना श्रम के ही प्रबल मोह दल को जीत लेता है। नाम प्रसाद से ही निःशोक होकर प्राणी आत्मानन्द मग्न होकर विचरण करता

---

१. तु० रा०, बा० का० २३ से २४
२. तु० रा०, बा० का० २४, १, २, ३
३. कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार ॥ — तु० रा०, बा० का० २३
ब्रह्म राम तें नामु बड़ बरदायक बरदानि ॥ — तु० रा०, बा० का० २५

है।[१] अनन्त (सनकादि) प्रभुचरितों के ज्ञाता तथा द्रष्टा शिव ने इसीलिए राम-नाम को ही श्रेष्ठ मानकर ग्रहण किया है।[२]

रामनाम के प्रभाव से भूत-भावन कपर्दी स्वयंभू शिव शंकर रूप से शोभायमान हुए। बाहर से अमंगल स्वरूप दृष्टिगोचर होते हुए भी स्वयं मंगलनिधान हुए।[३] शुकदेव, सनक सनन्दन आदि अनेक सिद्धों एवं मुनियों को भी नाम के प्रसाद से ब्रह्मानन्द की उपलब्धि हुई।[४] यद्यपि साधारणतया संसार में ईश्वर ही प्रीति का पात्र है परन्तु इसके विपरीत नाम के प्रभाव से नारद (जीव) भगवान् के प्रेम के भाजन बने।[५] प्रह्लाद नामजप से ही भक्त शिरोमणि हुए।[६] ध्रुव के द्वारा ग्लानिपूर्वक नाम जपने पर भी उनको शाश्वत दिव्य स्थान की प्राप्ति हुई। पवनसुत हनुमान ने तो स्वयं राम को ही नाम-स्मरण के द्वारा अपने वश में कर लिया है।[७] यही नहीं अजामिल गज गणिका प्रभृति अनेक नैतिक, सामाजिक अथवा भौतिक स्थिति के प्राणियों को नाम के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त हुआ है।[८] राम के स्थान में मरा मरा के जपने से आदि कवि वाल्मीकि की गति सुधर गई। एक हत्यारे डाकू से परिवर्तित होकर वे कवि शिरोमणि ब्रह्मज्ञानी महर्षि हो गये। गणिका और अजामिल जैसे अभ्यस्त पापियों का भी उद्धार हो गया। पाण्डुवधू द्रौपदी की लाज भी नाम प्रताप के बल से ही बच सकी। गजराज भी ग्राह से हार कर जब मृत्यु के मुख में जा रहा था, नाम-स्मरण के द्वारा ही मृत्यु का ग्रास बनने से बच गया।[९] जब तक वह स्वयं अपनी शक्ति का प्रयोग करता रहा तब तक कोई कार्य नहीं सधा। हार मानकर वह जैसे ही हरि की शरण

---

१ सेवक सुमिरत नाम सप्रीती, बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती।
फिरत सनेहँ मगन सुख अपनें, नाम प्रसाद सोच नहिं सपने॥ — तु० रा०, बा० का० २३ ४

२ ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर दायक बरदानि।
राम चरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि॥ — तु० रा०, बा० का० २५

३ नाम प्रसाद संभु अबिनासी, साजु अमंगल मंगल रासी। — तु० रा०, बा० का० २५ १

४ सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी, नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी। — तु० रा०, बा० का० २५ १

५ नारद जानेउ नाम प्रतापू, जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू। — तु० रा०, बा० का० २५ २

६. नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू, भगत सिरोमनि भे प्रहलादू। — तु० रा०, बा० का० २५ २

७ ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरिनाऊँ, पायउ अचल अनूपम ठाऊँ।
सुमिरि पवनसुत पावन नामू, अपनें बस करि राखे रामू॥ — तु० रा०, बा० का० २५ ३

८ अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ, भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ। — तु० रा०, बा० का० २५ ४

९ राम बिहाय मरा जपतें बिगरी सुधरी कबि-कोकिल हू की।
नामहि तें गज की गनिका की अजामिल की चलि गै चल चूकी।
नाम प्रताप बड़े कुसमाज बजाइ रही पति पांडुबधू की।
ताको भलो अजहूँ तुलसी जेहि प्रीति प्रतीति है आखर दू की॥८८ — तु० ग्र०, पृ० १८४

गया आधे नाम के लेने से ही भगवान् ने आकर उसका उद्धार किया।[1] अतीत मे ही नही, तुलसी के अनुसार आज भी जिसे दो अक्षर 'राम' नाम से प्रीति है उसका कल्याण ही है।[2]

भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल, तीनों लोक तथा चारो युगो मे नामजप द्वारा लोगो ने मुक्ति-लाभ किया है। यद्यपि मनुष्यो की सामाजिक तथा वैयक्तिक मन स्थिति के अनुसार सतयुग मे ध्यान, त्रेता मे यज्ञ तथा द्वापर मे पूजन के द्वारा भी परमात्मा की प्राप्ति मानी गई है परन्तु वर्तमान काल कलियुग मे, जब कि जीव पाप-सागर मे मीन की भाँति गोते लगा रहा है, केवल प्रभुनाम ही जगत्-जाल को नष्ट करने वाला एकमात्र साधन है।[3] तीनो कालो मे नाम के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति होती ही है परन्तु विशेषता यह है कि कलियुग मे नाम के अतिरिक्त और कोई साधन है ही नही, जब कि सतयुग, त्रेता, द्वापर आदि मे नाम तो साधन था ही, कर्म, भक्ति तथा ज्ञान के द्वारा भी मुक्ति-लाभ हो सकता था।[4]

कालनेमिरूपी कलिकाल राक्षस के लिए नाम समर्थ हनुमान की भाँति संहारक है। कलियुगरूपी हिरण्यकश्यप को वध करके प्रह्लादरूपी अपने भक्तो की रक्षा करने वाले नरसिंह की भाँति है।[5] तुलसी अपने समान पापी अन्य किसी को नही समझते। भगवान् किस प्रकार उनके पापो को क्षमा करेंगे। योग, विराग, जप, यज्ञ, तप, त्याग तीर्थ, व्रत धर्मादि कार्य या सुकृत कुछ भी उनके पास नही है जिनसे कि उन पापो से मुक्ति मिल जाय तथा पुण्य सचय हो जाय, फिर भी उनको दृढ विश्वास है कि सभी सुकृतो की अपेक्षा नाम का प्रभाव अधिक है और इसी से बडे से बडे सुकृती की तुलना मे केवल नाम के प्रभाव से वे अपने को बडा समझते है।[6] यद्यपि वे वर्णाश्रमधर्म के समर्थक थे और उनके विचार से

---

१. जब लौं गज बल अपन्यो बरत्यो नेकु सरयो नहिं काम।
निरबल है बलराम पुकारे आये आधे नाम॥

२ ताको भलो अजहूँ तुलसी जेहि प्रीति प्रतीति है आखर दू को॥८६ तु० ग्रं०, पृ० १८४

३ ध्यानु प्रथम जुग मखविधि दूजें, द्वापर परितोषत प्रभु पूजें।
कलि केवल मलमूल मलीना, पाप पयोनिधि जन मन मीना। तु० रा, बा० का० २६ २

४. चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ, कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ। तु० रा०, बा० का० २१ ४

५ कालनेमि कलि कपट निधानू राम सुमति समरथ हनुमानू।४
राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥ तु० रा०, बा० का० २७

६ जोग न बिराग जप जाग तप त्याग व्रत,
तीरथ न धर्म जानौं बेद बिधि किमि है।
तुलसी सो पोच न भयो है नहिं ह्वैहै कहूँ,
सोचैं सब याके अघ कैसे प्रभु छमिहै।
मेरे तो न डर रघुबीर सुनौ साँची कहौं,
खल अनखैहैं तुम्हैं सज्जन न गमिहै।
भले सुकृती के संग मोहि तुला तौलिये तौ,
नाम के प्रसाद भार मेरी ओर नमि है।७२ तु० ग्रं०, पृ० १८०

उच्च कुलोत्पन्न ब्राह्मणादि वर्ण सर्वश्रेष्ठ थे, शूद्रों की तो कोई गणना ही नहीं थी, परन्तु भक्ति के क्षेत्र में उनका मत है कि निरन्तर रामनाम लेने वाला वह श्वपच भी उस उच्च-कुलोत्पन्न व्यक्ति से कहीं अधिक श्रेष्ठ है जो रामनाम नहीं लेता।[1] रामनाम की सर्व-सम्पन्नता प्रकट करने के लिए तुलसी ने अंकगणित के सिद्धांत का सुन्दर रूपक उपस्थित किया है। अंकगणित का साधारण सिद्धांत है कि किसी अंक पर शून्य रख देने से उसका मूल्य दस गुना हो जाता है परन्तु कोई अंक न होने पर कितने भी शून्य रखने से उनका मूल्य शून्य के बराबर ही रहता है। श्रेय के सभी साधनों को तुलसी ने शून्य का स्थान दिया है तथा रामनाम को अंक का स्थान। रामनाम के साथ यदि अन्य साधन रहते हैं तो साधक की साधना का मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाता है परन्तु नामरूपी अंक के अभाव में योग, विराग, तप आदि शून्य से अधिक महत्त्व नहीं रख पाते। ध्यान देने की बात है कि अन्य सभी साधनों के अभाव में भी नाम अंकरूप होने से मूल्यवान रहता ही है।[2]

स्वेच्छा से नहीं, विवशता में भी परमात्मा के नामस्मरण से अनेक जन्मों के संचित पातक नष्ट हो जाते हैं। उसका आदरपूर्वक स्मरण करने से भवसागर का पार करना गोपद को पार करने की भाँति सहज सरल तथा सुसाध्य हो जाता है।[3] नाम ने अजामिल जैसे अनेक पापियों को अपार भवसागर में डूबने से बचा लिया। नाम का यही फल है कि जिसने स्मरण कर लिया, उसके मार्ग का अवरोधक सुमेरु पर्वत भी कण के समान तथा अथाह समुद्र भी 'अजाखुर' के समान क्षुद्र हो गया। साधारणतया लघुता एवं क्षुद्रता के मापदण्ड के लिए 'गोखुर' शब्द ही प्रयुक्त होता है परन्तु तुलसी ने सम्भवतः उसकी विशेष हीनता के द्योतन के लिए 'अजाखुर' का नवीन प्रयोग किया है।[4] तुलसी स्वयं अपने बड़प्पन एवं महत्ता का कारण नाम को ही मानते हैं।[5] उनके लिए रामनाम ही सर्वस्व है। माता, पिता, स्वामी, हितू सभी रामनाम है। रामनाम का ही प्रेम है, रामनाम का ही नेम है। स्वार्थ के लिए संसार में सभी हितैषी हैं परन्तु परमार्थ के लिए केवल रामनाम ही है। उसी की तुलसी को आशा है तथा उसी का भरोसा है। जिस प्रकार दरिद्र को भी कामधेनु तथा काम-वृक्ष से सभी इच्छित पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं उसी प्रकार तुलसी अपने जैसे अकिंचन के

---

१. तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम ॥३८ — तु० ग्रं०, पृ० १२

२. रामनाम को अंक है सब साधन है सून।
अंक गये कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून ॥१० — तु० ग्रं०, पृ० ८७

३ विवसहु जासु नाम नर कहहीं जनम अनेक रचित अघ दहहीं।
सादर सुमिरन जे नर करहीं भव वारिधि गोपद इव तरहीं — तु० रा०, बा० का० ११८ २

४ नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरे गिरि-मेरु सिला-कन होत अजाखुर बारिधि बाढ़े ।५ — तु० ग्रं०, पृ० १३७

५. सोऊ है खेद जो बेद कहै न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो।
हौं तो सदा खर को असवार तिहारोई नाम गयंद चढ़ायो ।६० — तु० ग्रं०, पृ० १७७

लिए रामनाम को ही सर्वस्व का दाता मानते हैं।[१] कलियुग मे कल्याण के लिए रामनाम ही कल्पवृक्ष है। उस कल्याणकारक रामनाम स्मरण द्वारा ही तुलसी जैसा साधारण व्यक्ति तुलसीदास जैसा महाकवि कहलाने के योग्य हुआ। भग जैसा अनुपयोगी, मदकारी तथा ज्ञान-शून्य कर देने वाला वृक्ष तुलसीवृक्ष के समान पवित्र एव उपयोगी हो गया।[२] वन की साधारण घास को नामस्मरण के द्वारा ही तुलसी वृक्ष की महिमा प्राप्त हुई।[३]

तीर्थ, तप, यज्ञ, दान, उपवास, नियम सभी आध्यात्मिक उन्नति तथा भगवत्प्राप्ति के साधन है परन्तु इन सबसे रामनाम का जप श्रेष्ठतम है।[४] रामनाम की श्रेष्ठता उसकी सर्वसुलभता मे भी है। समस्त इच्छित पदार्थों को देने वाले कल्पवृक्ष की भाँति नाम रूपी कामधेनु समस्त अभिलषितो की दात्री तो है ही साथ ही अचल न होकर गतिशीला भी है।[५] यही नहीं रामनाम ही कामधेनु भी है, जो अधे की लाठी की भाँति सदैव साथ रक्खी जा सकती है[६] तथा कल्पवृक्ष के समान ही फल देती है। तुलसीदास नाम के महत्त्व को पूर्णतया वर्णन करने मे स्वय को तो असमर्थ पाते ही हैं उनके मत से स्वय राम भी नाम का महत्त्व व्यक्त करने मे समर्थ नही है।[७]

तुलसी ने रामनाम की वन्दना करते हुए रामनाम को ही सभी शक्तियो तथा प्रकाश का कारण, भानु, कृशानु तथा हिमकर का मूल कहा है। रामनाम ही त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु,

---

१. राम नाम मातु पितु स्वामि समरथ हितु
 आस राम नाम को भरोसो राम नाम को।
 प्रेम राम नाम ही सों नेम राम नाम ही को,
 जानौं न मरम पद दाहिनो न बाम को।
 स्वारथ सकल परमारथ को रामनाम,
 रामनाम हीन तुलसी न काहू काम को।
 राम की सपथ सरबस मेरे रामनाम,
 कामधेनु कामतरु मो से छीन छाम को ॥१७८ — तु० ग्र०, पृ० २०४

२. राम नाम को कलप तरु कलि कल्यान निवास।
 जो सुमिरत भयो भाग ते तुलसी तुलसीदास।

३. केहि गिनती महँ गिनती जस बनघास।
 राम जपत भए तुलसी तुलसीदास ॥५६ — तु० ग्र०, पृ० २१

४. तप तीरथ मख दान नेम उपवास।
 सब ते अधिक राम जपु तुलसीदास ॥५२ — तु० ग्र०, पृ० २१

५. कामधेनु हरिनाम काम तरुराम।
 तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम ।६२ — तु० ग्र०, पृ० २१

६. कामधेनु हरिनाम कामतरु राम।

७ कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई ॥ — तु० ग्र०, बा० का० २५.४

महेश—रूप से वेदों का प्राण, निर्गुण होता हुआ भी गुणों का निधान तथा अनुपम है।[1] इस महामंत्र रामनाम के जपने के कारण ही काशी में शिव मुक्ति के दाता माने जाते है। उन्होंने इसी नाम के द्वारा यह मोक्षदायिनी शक्ति प्राप्त कर ली कि उनकी नगरी काशी में मृत्यु को प्राप्त होने वाले सभी जीवों को मोक्ष प्राप्त हो जाय। इसी नाम के प्रभाव से काल-कूट जैसे विष ने अपनी हलाहलता का प्रभाव न दिखाकर उन्हे सुधा का अमरत्व प्रदान किया।[2] नाम-प्रभाव से ही गणेश देवताओं के प्रथम पूज्य हुए तथा वाल्मीकि उलटा जप करके भी आदि कवि महर्षि वाल्मीकि कहलाये। इसी नाम को शंकर के सहित पार्वती ने जपकर स्त्रियों मे शिरोमणि स्थान प्राप्त किया।[3]

भक्तिरूपी वर्षा ऋतु मे रामनाम के दो अक्षर ही मानो अधिक वर्षा वाले दो मास श्रावण और भाद्रपद है। भक्तिरूपी धान की कृषि के लिए रामनामरूपी यह दो मास ही उसके जीवन-सर्वस्व है।[4] इनके बिना यह भक्तिरूपी कृषि न जीवित ही रह सकती, न फल-फूल सकती है। भक्त चार प्रकार के माने गये है आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी।[5] इन चारो को नाम का ही आधार है।[6] जैसा कि हम पहले ही कह चुके है भगवत्प्राप्ति कर्मयोग, ज्ञान-योग, भक्ति-योग, हठ-योग आदि मे भी हो सकती है परन्तु नाम का महत्त्व इन सबसे अधिक है। हठ-योग मे भी नामजप करके ही प्रपंच से विरक्त योगीजन तत्त्व-ज्ञानरूपी दिवस (प्रकाश) मे सचेत (जाग्रत) रहते है। वे उसी नामजप के द्वारा अनिर्वचनीय अनामय, सुख का अनुभव करते है।[7] यही नही, जिज्ञासुगण तत्त्व का रहस्य ज्ञान भी जप के द्वारा ही प्राप्त करते हैं।[8] अर्थार्थी अणिमादि सिद्धियो के इच्छुक साधकगण नाम जपकर इच्छित सिद्धियाँ प्राप्त करते है।[9] सासारिक कष्टो व क्लेशो मे पडे हुए जीव भी नाम जपकर संकटो से मुक्ति

---

१. बंदऊँ नाम राम रघुबर को हेतु कृसानु भानु हिमकर को।
   बिधि हरिहर मय बेद प्रान सो, अगुन अनूपम गुननिधान सो। — तु० रा०, बा० का० १८.१
   कासी मरत जन्तु अवलोकी, जासु नाम बल करउँ बिसोकी। — तु० रा०, बा० का० ११८.१

२. महामंत्र जोइ जपत महेसू, कासीं मुकुति हेतु उपदेसू।२
   नाम प्रभाउ जान सिव नीको, कालकूट फल दीन्ह अमी को॥ — तु० रा०, बा० का० १८.४

३. महिमा जासु जान गनराऊ प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ।२
   जान आदिकबि नाम प्रतापू, भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥ — तु० रा०, बा० का० १८.३

४. बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
   राम नाम बर बरन जुग सावन भादौ मास॥ — तु० रा०, बा० का० १.९

५. "आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ"

६. चहू चतुर कहुँ नाम अधारा। — तु० रा०, बा० का० २१.२

७. नाम जीह जपि जागहिं जोगी, बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।
   ब्रह्म सुखहि अनुभवहि अनूपा, अकथ अनामय नाम न रूपा। — तु० रा०, बा० का० २१.१

८. जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ, नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥ — तु० रा०, बा० का० २१.१

९. साधक नाम जपहिं लय लाएँ, होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ। — तु० रा०, बा० का० २१.२

पाकर सुखी होते हैं ।[1] कलियुग मे रामनाम स्वार्थ और परमार्थ दोनों के लिए ही सब कामनाओ की पूर्ति करने वाला है । ऐसे परम हितकारी नाम को भूलने वाले के विषय मे भला क्या कहा जाय । सब प्रकार से निष्काम भक्ति मे लीन ज्ञानी भी नामरूपी अमृत के कुण्ड मे अपने मन को मछली बनाये हुए है ।[2] मीन को जल के आधार की भाँति भक्तो ने अपने हृदयो को नाम मे ही धारण कर रखा है । ऐसे महत्वपूर्ण तथा लोक परलोक सिद्धि की प्राप्ति मे निमित्तोपादान कारण रामनाम को इसीलिए तुलसी ने जिह्वारूपी देहली पर सदैव रखने अर्थात् नाम उच्चारण करते रहने का आग्रह किया है ।[3] इस नामजप से अत और बाह्य दोनो ही प्रकाशित होते हैं । स्मरणकर्ता तथा श्रोता दोनो का ही कल्याण होता है अथवा जापक के अत करण को प्रकाशित करने वाला तथा उसके सासारिक बाह्य जीवन मे कल्याण करने वाला नामजप होता है ।[4] देहली पर रखा हुआ दीपक घर के भीतर तथा बाहर दोनो ही ओर प्रकाश करता है । दीपक तो सकेत मात्र से नाम के प्रकाशक गुण को व्यजित करता है । वास्तव मे तो भ्रमरूपी अधकार के लिए राम का नाम साक्षात् सूर्य की भाँति है ।[5] प्रमी को अपनी प्रिय वस्तु का सभी कुछ भला प्रतीत होता है । अवगुण भी गुणतुल्य दिखाई पडते है । उसे अपने प्रिय मे जो विशेषता एव सौंदर्य, शौर्य आदि दिखलाई देते हैं, वह अन्य उदासीन दर्शको को दृष्टिगोचर नही हो पाते । तुलसी को रामनाम मे प्रीति है । उन्हे उस नाम के अक्षरो मे भी सौंदर्य दृष्टिगत होता है । उन्हे वे दोनो अक्षर वर्णमाला के नेत्रो के समान तथा भक्तो के जीवन-सर्वस्व दिखलाई पडते हैं ।[6] रामनाम मत्रो की भाँति क्लिष्ट न होकर स्मरण करने मे सुलभ, सुख को देने वाला, लोक मे लाभ तथा परलोक मे निर्वाह करने वाला है ।[7] अन्यत्र भी वे रामनाम को सब प्रकार से सुलभ मानते हैं ।[8] केवल नाम जपकर बिना कष्ट किये ही ससार सागर को प्राणी पार कर लेता है ।[9] कहावत है कि जैसा बोवे वैसा लुणे । ससार म बीज के बोने से ही वृक्ष का प्रादुर्भाव होता है । कर्म करने से ही उसके फल प्राप्ति का प्रश्न उठता है परन्तु परमात्मा का नाम जपने से बिना बोये भी फसल काटी जा सकती है । नाम केवल साधन न होकर साध्य भी है ।[10] रामनाम के दोनो वर्ण कहने, सुनने, स्मरण करने सभी म सुन्दर हैं और तुलसी के

---

१ जपहिं नामु जन आरत भारी, मिटहिं कुसकट होहिं सुखारी । — तु० रा०, बा० का० २१ ३

२. सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन ।
नाम सुप्रेम पियूष हृद, तिन्हहुँ किए मन मीन — तु० रा, बा० का० २२

३. राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार ।

४ तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौ चाहसि उजिआर । — तु० रा०, बा० का० २१

५. जासु नाम भ्रम तिमिर पतगा । तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसगा । — तु० रा०, बा० का० ११५.२

६. आखर मधुर मनोहर दोऊ, बरन बिलोचन जन जिय जोऊ । — तु० रा०, बा० का० १६ १

७. सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू, लोक लाहु परलोक निबाहू । — तु० रा०, बा० का० १६ २

८. बदउँ बाल रूप सोइ रामू । सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू । — तु० रा०, पृ० १८८

९. जपि नाम तव बिनु श्रम तरहि, भवनाथ सो समरामहे ।। — तु० रा०, उ० का० १२ २

१०. तुलसी काको नाम जपत जग जगत जानति बिनु बई ।।१३८ — तु० म०, पृ० ३२४

लिए तो साक्षात् राम-लक्ष्मण की ही भाँति प्रिय है।[1] वर्णरूप में अलग जान पड़ते हुए भी वे ब्रह्म तथा जीव की भाँति सदैव साथी हैं।[2] नर-नारायण की भाँति सहोदर संसार के पालक परन्तु भक्तों के विशेष त्राण है।[3] भक्तिरूपी स्त्री के लिए कर्णफूल की भाँति अलंकार और संसार के लिए सूर्य और चन्द्रमा की भाँति पालक तथा प्रकाशदायक हैं।[4] मोक्षरूपी अमृत के स्वाद एवं तुष्टि के समान तथा संसार के धारण करने में कच्छप और शेष की भाँति हैं।[5] भक्तों के मनरूपी कमल के लिए विहार करने वाले भ्रमर की भाँति तथा जीभरूपी यशोदा के लिए कृष्ण और बलदेव की भाँति प्रिय हैं।[6] रेफ रूपी छत्र तथा अनुस्वाररूपी मुकुट से युक्त राम सभी अक्षरों से श्रेष्ठ उनके शिरोआसन पर आसीन हैं।[7]

जिसके मुख से धोखे में भी रामनाम निकलता है उसकी पैर की जूती के लिए तुलसी अपने शरीर की त्वचा तक देने के लिए तैयार हैं। वे उसके जूते की खाल की कीमत अपने शरीर की खाल के मूल्य से अधिक मानते हैं।[8] तुलसी ने किसी भी प्रकार से हो नामजप को कल्याणकर ही माना है

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।

उनके इस कथन ने एक सैद्धान्तिक प्रश्न उपस्थित कर दिया है। अधिकांश संतों का मत स्पष्ट है कि नामस्मरण के फलदायक होने के लिए प्रेम, भक्ति, श्रद्धा ध्यान आदि अत्यन्त आवश्यक अंग है। केवल तोते की भाँति नामस्मरण करने से कोई लाभ नहीं माना गया। कबीर ने सहज बोधगम्य तर्क के द्वारा इस प्रकार के 'शुकस्मरण' तोतारटन्त का खण्डन किया है। जिस प्रकार शर्करा कहने मात्र से मुख मीठा नहीं हो सकता तथा जल कहने मात्र से तृषा शान्त नहीं होती उसी प्रकार राम कहने मात्र से राम की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि भोजन के नाम लेने मात्र से क्षुधा की तृप्ति हो सकती है तो नामस्मरण मात्र से समस्त प्राणियों के मुक्त हो जाने में कोई विलम्ब न होगा। परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। जब तक कि नाम से 'सुरत' न लगी हो तब तक नाम मोक्षदायक परमात्मा की प्राप्ति का कारण नहीं हो सकता। तोता भी मनुष्य के सम्पर्क में रामनाम उच्चारण करता है परन्तु जंगल में उड़ जाने पर पुनः राम का ध्यान नहीं करता। यह ध्यान ही स्मरण में मुख्य है, केवल नाम का उच्चा-

---

१ कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके, राम लखन सम प्रिय तुलसी के। — तु० रा०, बा० का० १९ २
२ बरनत बरन प्रीति बिलगाती, ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती। — तु० रा०, बा० का० १९ २
३ नर नारायन सरिस सुभ्राता, जग पालक बिसेषि जनत्राता। — तु० रा०, बा० का० १९ ३
४ भगति सुतिय कल करन बिभूषन, जगहित हेतु बिमल बिधु पूषन। — तु० रा०, बा० का० १९ ३
५ स्वाद तोष सम सुगति सुधा के, कमठ सेष सम धर बसुधा के। — तु० रा०, बा० का० १९ ४
६ जन मन मंजु कंज मधुकर से, जीह जसोमति हरि हलधर से। — तु० रा०, बा० का० १९ ४
७ एकु छत्रु एकु मुकुटमनि, सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ। — तु० रा०, बा० का० २०
८ तुलसी जाके बदन तें धोखेहु निकसत राम।
ताके पग की पगतरी मेरे तनु को चाम।।६७ — तु० स०, पृ० १२

रण नहीं।[1] 'रामहि राम कहंतड़ा काल घसीटा जाय' के द्वारा रामनाम के केवल उच्चारण की निरर्थकता ही सिद्ध की गई है। यही नहीं यदि मन स्थिर न हुआ, वह चंचल बना हुआ दसों दिशाओं में भटकता ही रहा तो हाथ में माला घुमाते रहने तथा मुख में जिह्वा से रामनाम उच्चारण करने से यथार्थ स्मरण का प्रयोजन पूरा नहीं होता। मन को एकाग्र करके राम में ध्यान लगाना ही स्मरण है।[2]

कबीर को तो इस प्रकार का स्मरण मान्य है :

> सुमिरन सुरति लगाइ के मुखतें कछू न बोल।
> बाहर के पट देइ के अन्तर के पट खोल ॥[3]

इसके विपरीत तुलसी ने धोखे से अथवा भूल से राम कहने वाले का महत्त्व भी कम नहीं माना है। इसीलिए वे भूल से भी राम कहने वाले के पैर की जूती के चमड़े से भी अपनी त्वचा को निकृष्टतर मानते हैं। राम कहने वाला मुक्त तो है ही यमदूत और काल स्वयं उससे भयभीत दूर खड़े रहते हैं। ऐसा कौन है जिसने पतित पावन राम का भजन करके सुगति नहीं पाई, परन्तु निरंतर भजन से ही नहीं। गणिका, अजामिल, व्याध, गीध, आभीर, यवन, किरात इत्यादि कितने ही पापरूप भी केवल एक बार के नाम उच्चारण से पवित्र हो गये।[4] एक बार नामस्मरण करने मात्र से मनुष्य केवल स्वयं ही तरने योग्य नहीं हो जाता वरन् उसने दूसरों को तारने की भी सामर्थ्य हो जाती है। प्रस्तुत पंक्तियाँ बरबस नारद भक्ति सूत्र के 'स तरति स तरति स लोकांस्तारयति' की याद दिला देता है।[5] पूर्ण रूप से एक बार भी नहीं, केवल आधे नाम के स्मरण से ही भगवान् का उनकी रक्षा के लिए आगमन भी कहा गया है।[6] परन्तु यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि एक बार अथवा आधे बार के स्मरण से ही

---

१. पंडित वाद वदंते झूठा,
   राम कह्या दुनिया गति पावै, खांड कह्यां मुख मीठा।
   पावक कह्या पाव जे दाझै जल कहि त्रिषा बुझाई।
   भोजन कह्या भूष जे भाजै तौ सब कोई तिरि जाइ।
   नर कै साथि सुवा हरि बोलै हरि परताप न जानै।
   जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल में बहुरि न सुरतै आनै।४०

२ माला तो कर में फिरै जीभि फिरै मुख माँहि।
   मनुवा तो चहुँ दिसि फिरै, यह तउ सुमिरन नाहि॥

३. स० बा० सं० भा० १, पृ० ६

४. पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।
   गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।
   आभीर यवन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे।
   कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥ तु० रा०, उ० का० १३०.१

५. बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥ तु० रा०, अयो० का० २१६.२

६. .... आधे आधे नाम॥ सूरदास

अधम जनों को भी सुगति कैसे प्राप्त हो गई ? इसका समाधान हो सकता है इस उत्तर से कि वह एक बार अथवा आधे बार का स्मरण अन्तःकरण से भक्तिभावपूर्वक किया गया होगा। परन्तु तुलसी के अनुसार प्रेमभक्ति की भी आवश्यकता नहीं।

"भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ" तु० रा०, बा० का० २७१ के द्वारा तुलसी ने स्पष्ट कर दिया है कि मन से अथवा बेमन से खीझकर अथवा आलस में ही राम का नाम जिह्वा पर आ जाने से सर्वत्र मंगल हो जाता है। इससे भी अधिक राम-नाम का प्रभाव यह है कि राम राम कहकर जम्हाई लेने वालों के सम्मुख भी पाप-पुंज नहीं जा सकते।[1] आज भी हम देखते हैं कि जम्हाई लेते समय लोग राम-राम, हरिओम् आदि कहा करते हैं।

तुलसी नाम के सर्वव्यापी समान प्रभाव का वर्णन करने में अद्वितीय हैं। पौराणिक ढंग से एक यवन के मुक्ति लाभ का उल्लेख करते हुए कहा है कि एक अधम जर्जर नेत्रहीन वृद्ध यवन को सूकर के बच्चे ने मार्ग में धक्का देकर गिरा दिया। गिरकर वह पातकी 'हराम' ने गिरा दिया इस प्रकार हाय हाय करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो गया। उसके मुख से हराम के रूप में धोखे में ही जो रामनाम का उच्चारण हुआ उसके प्रभाव से वह मृत्यु के अनन्तर विष्णु लोक को गया।[2] जान या अनजान किसी प्रकार से भी नाम लेने वाले के लिए तुलसी ने स्वर्ग या नरक की योजना नहीं की है। वह कैवल्य मोक्ष का अधिकारी हो जाता है तथा आवागमन से मुक्त हो जाता है।[3]

एक ओर तुलसी उपर्युक्त प्रकार से भायँ कुभायँ, अनख आलसहूँ आदि में नामस्मरण व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं परन्तु दूसरी ओर वे 'स्वासो-स्वास' अबाध गति से सोहं जप पर पूर्ण बल देते हैं। यही नहीं उसे वे अपना स्वयं का मन्तव्य भी कहते हैं। अनन्य भक्त जिसका बिना टूटे निरन्तर नित्य प्रति स्वासो-स्वास जप चलता है उसके बराबर अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं।[4] इसी प्रकार के (सोहं) जप पर निर्गुणियों संतों ने भी बहुत जोर दिया है।

---

१. राम-राम कहि जे जमुहाहीं तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं।

२ आपनो अधम जड़ आपनो जरा जवन,
सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मग में।
गिरो हिये हहरि हराम हो हराम हन्यो,
हाय हाय करत परीगो कालफँग में।
तुलसी बिसोक ह्वै त्रिलोकपति-लोक गयो,
नाम के प्रताप बात बिदित है जग में।
सोई रामनाम जो सनेह सों जपत जन,
ताकी महिमा क्यों कही है जाति अगमें।६ तु० ग्र०, पृ० १८१

३. जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने॥ तुलसी, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ८३

४. अति अनन्य जो हरि को दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा।
तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीके देखा सब लोई।४० तु० ग्र०, पृ० १२

तुलसी सोने-जागने जैसे जीवन के नैत्यिक कार्यों में भी रामनाम से पृथक् रहना नहीं चाहते। सिरहीन कबन्ध की भाँति पथभ्रष्ट भटकने से कोई लाभ नहीं होता। शयन वही सार्थक है जिसमें रामस्नेह की समाधि निद्रा हो तथा जागरण भी वही है जिसमें जीव रामनाम का स्मरण करता रहे।[1] श्रवणेन्द्रिय रामकथा सुनने के लिए, मुख रामनाम कहने के लिए तथा हृदय रामनाम के निवास के लिए है। कोई इस मत से सहमत हो अथवा असहमत तुलसी के मत में जीवन का लाभ यही है—रामकथा कहना, सुनना तथा उसे हृदय में धारण करना।[2] निद्रा के सुखद अंक में जाकर मनुष्य सब प्रकार से चिन्ता रहित हो जाता है। तुलसी राम-नाम के प्रसाद से सभी द्वन्द्वों से निश्चित होकर आनन्दनिद्रा को प्राप्त करते हैं।[3] एकमात्र राम के अवलम्ब से वे सुख की नींद सोते हैं जब कि संसार के सभी प्राणी जोगी, जंगम, जती, जमाती, राजा, सेवक, बुध, पंडित, लोभी, भोगी, वियोगी, रोगी सभी किसी न किसी चिन्ता या अर्थ की लालसा में जागते रहते हैं। उन्हें सुख की नींद प्राप्त नहीं होती।[4] इसी लिए तुलसी अपने लिए भगवान् राम से यही वरदान चाहते हैं कि उनका रामनाम का ही भरोसा रहे, नाम का ही बल रहे तथा नाम से ही स्नेह रहे और इनकी यह स्थिति जन्म-जन्मांतर में बनी रहे।[5]

---

१. जागिए न सोइए बिगोइए जनम जाय,
  दुख रोग रोइए कलेस कोह काम को।
राजा रंक रागी औ बिरागी भूरि, भागी ये
  अभागी जीव जरत प्रभाव कलि बाम को।
तुलसी कबंध कैसो धाइबो बिचारु अंध,
  धंध देखियत जग सोच परिनाम को।
सोइबो जो राम के सनेह की समाधिसुख,
  जागिबो जो जीह जपै नीकें राम नाम को।८३ — तु० ग्र०, पृ० १८३

२. श्रुति राम कथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहि को थलु है।
सब को न कहै तुलसी के मतें इतनो जग जीवन को फलु है।।३७ — तु० ग्र०, पृ० १७४

३. प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूतिहौं।।६९ — तु० ग्र०, पृ० १७६

४. जागैं जोगी जंगम जती जमाती ध्यान धरैं,
  डरैं उर भारी लोभ मोह कोह काम के।
जागैं राजा राजकाज, सेवक समाज साज,
  सोचैं सुनि समाचार बड़े बैरी बाम के।
जागैं बुध बिद्याहित पंडित चकित चित,
  जागैं लोभी लालच धरनि धन धाम के।
जागैं भोगी भोग ही बियोगी रोगी सोग बस,
  सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के।।१०९ — तु० ग्र०, पृ० १८८

५. नाम भरोस नाम बल नाम सनेहु।
जनम जनम रघुनन्दन तुलसिहि देहु।।६८ — तु० ग्र०, पृ० २२

निर्गुणिया संतों ने प्रेम-भक्ति के बिना केवल तोतारटंत नामस्मरण को निरर्थक माना है। नामस्मरण का फल प्रेम पर ही निर्भर है। हार्दिक प्रेम तथा ध्यान के अभाव में केवल मुख से 'राम-राम' कहने से प्राणी का हित-साधन नहीं होता। इस प्रकार निर्गुणमार्गी सन्तों ने वाचिक नामस्मरण की अपेक्षा मानस-नामस्मरण को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। भक्त कवियों में तुलसीदास ने नामस्मरण के दोनों पक्षों की महत्ता प्रतिपादित की है। एक ओर वे अनन्य भक्तिपूर्वक प्रत्येक श्वास में रामनाम जप करने वाले की सर्वोत्कृष्टता प्रकट करते हैं तो दूसरी ओर धोखे से ही अधम यवन के मुख से हराम के रूप में राम का उच्चारण हो जाने से ही उसको मुक्ति-लाभ होने का उल्लेख करते हैं। वास्तव में बात यह है कि तुलसीदास उस उच्च स्तर पर पहुँचे हुए भक्त थे, जहाँ राम की अनन्य भक्ति उनके लिए सहज ही गई थी, वरन् कहना तो यह चाहिए कि वे राम से एकाकार हो गये थे। राम के सिवा वे कुछ देखते ही नहीं थे (सीयराममय सब जग जानी)। तभी तो सोने-जागने जैसे दैनिक कार्यों में भी उन्हें राम से विलग होना स्वीकार्य न था। उनके लिए नामस्मरण चाहे वह भाव से हो या कुभाव से, रीझ से हो अथवा खीज से, हर प्रकार से फलदायक है। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि तुलसी के कथन का अर्थ उसके शब्दार्थ से नहीं लेना चाहिए। उनकी कोटि के मानदण्ड से आँकने पर यही प्रतीत होता है कि वे भी नाम के एकाग्रचित्त (Concentrated) स्मरण के समर्थक थे। स्मरण का नैरन्तर्य, दीर्घकालत्व, एकाग्रता तथा प्रीति निर्गुणमार्गी सन्तों तथा तुलसी में समान ही है।

अष्टम परिच्छेद

मुक्ति के साधन

(भक्ति-ज्ञान-योग)

भक्ति शब्द भज् सेवायाम् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगा कर बना है। क्तिन् प्रत्यय वस्तुत भाव अर्थ मे होता है और इस प्रकार वैयाकरण, भजनं भक्ति मानते हैं परन्तु तद्धित प्रत्ययर्थं परिवर्तनो के द्वारा उन्होंने भज्यते अनया इति भक्ति अथवा भजन्ति अनया इति भक्ति आदि व्युत्पत्तियाँ भी उपस्थित की है। कुछ भी हो हर प्रकार से भक्ति का अर्थ सेवा या भजन ही रहता है।

डा० सम्पूर्णानन्द का कथन है कि वैदिक वाङ्मय मे भक्ति शब्द का प्रयोग, जिस अर्थ मे हम उसे जानते हैं, नही हुआ है। उनके विचार से 'वह किसी भी संहिता की किसी भी प्रसिद्ध शाखा मे नही मिलता और यदि कही आ भी गया होगा तो उसका व्यवहार उसी अर्थ मे नही होगा, जिस अर्थ मे हम उसका आजकल प्रयोग करते है।'[1] डा० ताराचन्द ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, दक्षिण के आलवार मत तथा वीर शैव सम्प्रदाय इन सबका इस्लाम के प्रभाव के कारण प्रादुर्भाव हुआ। विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्व का चिन्तन नज्जाम, अशअरी और गज्जाली के चिन्तन के समान लगता है। उन आचार्यों ने जो मार्ग चलाया उसमे जाति प्रथा की कठोरता नही थी, धर्म के बाह्य उपचार गौण थे तथा एकेश्वरवाद, विरहाकुल भक्ति-भावना, प्रपत्ति और गुरुभक्ति पर उसमे बहुत जोर दिया गया था। ये सब इस्लाम की ही विशेषताएँ हैं।[2] डा० हुमायूं कबीर ने यह निर्धारित करने का प्रयत्न किया है कि आचार्य शंकर ने अद्वैत का पाठ इस्लाम से सीखा है।[3] दक्षिण मे अन्य आचार्यों तथा भक्तो के अभ्युदय को भी वे वहाँ के तत्कालीन नवागन्तुक इस्लाम धर्म से सम्बद्ध करते हैं।

वास्तव मे किसी विचारधारा के भारतीय अथवा अभारतीय होने का मापदण्ड उस विचार या भाव का वैदिक साहित्य मे अस्तित्व या अभाव माना गया है। यह सिद्धान्त किसी सीमा तक ठीक भी है। वह भी कम से कम उस सीमा तक जहाँ तक किसी विचारधारा का अस्तित्व यदि वैदिक वाङ्मय मे प्राप्त हो जाता है तब तो उसके भारतीय होने मे कोई सन्देह का स्थान ही नही रह जाता। यद्यपि सभी विचार, जिनका अस्तित्व वेदो म नही भी

---

१. 'कल्याण' का ३२ भक्ति अङ्क 'भक्ति' डा० सम्पूर्णानन्द, पृ० १०६
२. Influence of Islam on Indian Culture By Dr Tarachandra
३. Our Heritage By Dr Humayun Kabir

मिलना, अभारतीय या विदेशी नहीं कहे जा सकते परन्तु उस दशा में प्रत्येक विषय को उसकी व्यक्तिगत स्थिति एवं महत्त्व पर देखना होगा। इस प्रकार से यदि हमें भक्ति की भावना तथा विचारधारा का दर्शन या आभास वैदिक साहित्य में मिल जाय तो फिर उसके भारतीय सिद्ध करने के लिए अन्य बाह्य कारणों की अपेक्षा ही नहीं रह जाती। भक्ति-भावना पूर्णतया भारतीय है यह हम प्रस्तुत वैदिक उद्धरणों से देख सकते हैं।

डा० सम्पूर्णानन्द का कथन सत्य हो सकता है कि किसी भी महत्त्वपूर्ण वैदिक संहिता में भक्ति शब्द का प्रयोग न हुआ हो। परन्तु उपनिषद् में हम भक्ति शब्द और वह भी आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त पाते हैं। "जिसकी ईश्वर में पराभक्ति है और ईश्वर में जैसी भक्ति है वैसी ही गुरु में भी है—"[1] में भक्ति शब्द भक्ति के आधुनिक प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्य प्राचीन उपनिषदों में चाहे भक्ति शब्द का प्रयोग न हुआ हो परन्तु भक्ति की भावना का अभाव नहीं रहा है। स्थान-स्थान पर उसके दर्शन हमें होते हैं। वैदिक स्तुतिपरक ऋचाओं के अतिरिक्त भी यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड में भी श्रद्धापूर्वक यज्ञ या उपासना करने का ही विधान है। उपनिषद् अंश में ज्ञान के साथ यदि किसी अन्य महत्त्वपूर्ण भाव का अस्तित्व मिलता है तो वह तद्मय उपासना तथा श्रद्धाभक्तिपूर्वक उसकी अनुभूति का।

ऋग्वेद में श्रद्धे श्रद्धापयेह न. (हे श्रद्धे ! तू हमें श्रद्धावान् बना)[2] के द्वारा श्रद्धा को स्पष्ट शब्दों में गौरव सहित स्वीकार किया गया है। "श्रद्धा के द्वारा सत्य की प्राप्ति होती है"[3] के द्वारा भी श्रद्धा की आवश्यकता तथा फलमयता के विषय में कहा गया है। जो भूत, भविष्य, वर्तमान-कालिक समस्त जगत का नियन्ता है, केवल स्व ही जिसका स्वरूप है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।[4] उसे सायंकाल नमस्कार हो, प्रातःकाल नमस्कार हो, रात्रि में नमस्कार हो तथा दिवस में नमस्कार हो। भक्ति भाव से भरी हमारी बुद्धि वृत्तियाँ सर्वदा झुकी रहा करें[5] देव। सत्स्थान। सहस्रापोषस्येशिषे। तस्य नो रास्व, तस्य नो धेहि, तस्य ते भक्तिवांसः स्याम[6] में भी भक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। पीछे कहा गया है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में भक्ति शब्द स्पष्ट तथा आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिसकी ईश्वर में पराभक्ति है और ईश्वर में जैसी भक्ति है वैसी ही गुरु में भी है उसके सामने सब कुछ कहा जा सकता है।[7] अन्य उपनिषदों में यद्यपि भक्ति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता

---

१. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। — श्वे० उ० ६।२३
२. ऋग्वेद १०।१५१।५
३. श्रद्धया सत्यमाप्यते। — शु० यजु० १९।३०
४ ॐ यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
 स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ — अथर्व० १०।८।१
५. ॐ नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
 भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥ — अथर्व० ११।२।१६
६. अथर्व० ६।७९।३
७ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
 तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ — श्वे० उ० ६।२३

परन्तु भक्ति-भाव की उपस्थिति अवश्य दृष्टिगोचर होती है। वह ब्रह्म भजनीय होने के कारण उपासना करने योग्य है।[1] सूर्य ही ब्रह्म है ऐसी उपासना करे।[2] मोक्ष की प्राप्ति के लिए मैं आपकी शरण लेता हूँ[3], इस कथा में भक्ति के साथ उपासना तथा आत्म समर्पण या शरणागति का भाव भी दृष्टिगोचर होता है। अस्तु यह समझ में नहीं आता कि डा० सम्पूर्णानन्द भक्ति-तत्त्व को अवैदिक किस प्रकार मानते हैं। भक्ति के अवान्तर भेदों का स्पष्ट उल्लेख वेदों में न हुआ हो यह एक बात है परन्तु उनके मूल रूप भी वहाँ उपलब्ध न हों यह दूसरी बात है।

भक्ति-साहित्य में भागवत का वही स्थान है जो आस्तिक हिन्दुओं के लिए वेद का, इसीलिए वेदों के भक्ति-तत्त्व का अनुशीलन कर लेने के पश्चात् ऐतिहासिक क्रमानुसार भक्ति-भाव का अध्ययन न करके भागवत में आये हुए भक्ति-तत्त्व का विवेचन कर लेना युक्तिसंगत होगा। भक्ति के स्वरूप तथा लक्षण के विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है उसी प्रकार भगवत् गुण श्रवण मात्र से मन की गति का अविच्छिन्न रूप से सर्व अन्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा उसी में निष्काम तथा अनन्य प्रेम भक्ति कही जाती है।[4] जो भगवान् के चरित्र का श्रवण करते हैं गायन करते हैं स्मरण करते हैं तथा उससे आनन्द प्राप्त करते हैं, वे शीघ्र ही भगवान् के चरणों को प्राप्त होते हैं तथा आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।[5] परन्तु भागवत ने श्रवण, गायन तथा स्मरण को भक्ति तथा उसके फल को मुक्ति माना है। यद्यपि नवधा भक्ति का स्वरूप भागवत की ही देन है।[6]

मानव के परम कल्याण के साधक केवल तीन ही मार्ग माने गये हैं। वे हैं ज्ञान-योग, कर्म-योग तथा भक्ति-योग। इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।[7] परन्तु साधक जो कुछ कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म या अन्य श्रेय के साधनों द्वारा प्राप्त करता है, वह भगवत्-

---

१. तद्वनमित्युपासितव्यम्। केन० उ० ४।६

२. आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत। छा० उ० ३।१९।१

३. मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। श्वे० उ० ६।१८

४ मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ॥ भा० ३।२९।११
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥ भा० ३।२९।१२

५ शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥ भा० १।८।६-३६

६ श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ भा० ७।५।२३

७ योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ भा० ११।२०।६

भक्त भक्ति योग के द्वारा अनायास ही प्राप्त कर लेता है।[1] इसीलिए सम्भवतः यह कहा गया है कि स्मृति से मुक्ति-प्राप्ति के एकमात्र उपाय भक्ति को छोड़कर जो केवल ज्ञान के लिए प्रयत्न करते हैं उनका प्रयत्न भूसी को कूटकर चावल निकालने के प्रयत्न की भाँति निष्प्रयोजन (क्लेशल) है।[2] निर्मल ज्ञान भी जो कि मोक्ष का साक्षात् साधन है, यदि भक्ति से रहित हो तो शोभनीय नहीं होता फिर ईश्वर को अर्पित न किये हुए अभद्र कर्मों की बिसात ही क्या।[3] इस प्रकार की भक्ति के कार्य या फल के विषय में भागवतकार का कथन है कि जिस प्रकार धधकती हुई अग्नि लकड़ियों के विशाल ढेर को भी जलाकर भस्म कर देती है उसी प्रकार भगवान् की भक्ति सम्पूर्ण घोर पापराशि को पूर्णतया जला देती है।[4] जिस अकिंचन के हृदय में भगवत्-भक्ति है उसमें समस्त गुण तथा देवता निवास करते हैं किन्तु जो भगवान् का भक्त नहीं उसमें महापुरुषों के गुण आ ही कैसे सकते हैं। उसके मनोरथ तो केवल बाह्य विषयों की ओर दौड़ते रहते हैं।[5] इस प्रकार महापुरुषों के गुणों के लिए भी भक्ति आवश्यक कारण सिद्ध होता है। यदि भक्ति के अभाव में भी महत् गुण आदि का अस्तित्व सम्भव होता तो कारणीभूता की आवश्यकता स्थापित न होती। इस जगत में मनुष्यों के लिए यही सबसे बड़ा धर्म है कि नाम-कीर्तन आदि के द्वारा भगवान् से भक्ति-योग प्राप्त कर लें।[6] शरणागति को भक्ति मानते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों के नियामक साक्षात् वासुदेव की शरण लेता है, वह मुझे निश्चय ही प्रिय है।[7]

---

१ यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।३२
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ॥ भा० ११।२०।३२

२ श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ भा० १०।१४।४

३ नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ॥
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥ भा० १।५।१२

४ यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ॥
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥ भा० ११।१४।१९

५ यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः भा० ५।१८।१२

६ एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥ भा० ६।३।२२

७ यः परं रंहसः साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात् ।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥ भा० ४।२४।२८

इस प्रकार भगवान् के द्वारा भक्त का प्रिय माना जाना भागवत् की विशेषता है। उसके अनुसार जिनके जिह्वाग्र पर भगवान् का नाम रहता है, वे चाण्डाल होने पर भी श्रेष्ठ हैं। जो उसका नाम लेते है, उन्होंने यथार्थ तपस्या कर ली, हवन कर लिये तथा वे ही आर्य हैं और उन्होंने ही वेदों का अध्ययन किया है।[1] *उन्ही भक्तो के लिए परमात्मा स्वयं मनुष्य देह धारण करके अवतार लेता है जिनकी लीलाओ को सुनकर तथा जिनका भजन करके भक्त उन्ही मे लीन हो जाते हैं।[2] भगवान् के सगी ऐसे भक्तो के क्षण भर के सग के* लिए प्रचेतागण ने स्वर्ग और मोक्ष के सुख को भी नगण्य समझा फिर मानवी भोगो की तो बात ही क्या।[3] साधारणतया मोक्ष ही वह लक्ष्य माना गया है जिसके लिए ज्ञान, भक्ति, योग आदि सब साधन स्वीकार किये गये हैं परन्तु यहाँ पर भक्ति की अतिशय साध्यता प्रदर्शित करने के लिए मुक्ति को भी भक्त के सत्सग तक से अल्प बतलाया गया है। अन्यत्र भी कहा गया है कि भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य आदि मुक्ति भी भगवत्-सेवा के सम्मुख स्वीकार नही करते। भगवत्-सेवा के लिए मुक्ति की भी अवहेलना करने वाला यह भक्ति-योग ही परम पुरुषार्थ कहा गया है जिसके द्वारा पुरुष त्रिगुण को पारकर भगवत्-भाव को *प्राप्त हो जाता है।*[4]

हम देख चुके हैं कि भक्त स्वयं भगवान् को प्रिय होता है परन्तु कभी-कभी भक्त के भजन करने पर भी वे उसमे उतनी ही रुचि प्रदर्शित नही करते परन्तु उसका कारण वे अपने और भक्त के बीच बदले हुए सम्बन्ध को नही मानते वरन् उसका कारण वे साधक भक्त मे भगवान् के लिए अधिक व्यग्रता उत्पन्न करना मानते है। जिस प्रकार किसी दरिद्र को प्राप्त धन के नष्ट होने से अत्यन्त व्याकुलता होती है उसी प्रकार भक्त को परमात्मा की झलक पाकर फिर ओझल हो जाने पर उसी प्रकार की व्याकुलता होती है[5] तथा और अधिक

---

१ अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥ भा० ३।३३।७

२. अनुग्रहाय भक्ताना मानुषं देहमास्थित ।
भजते तादृशी क्रीडा या श्रुत्वा तत्परोभवेत् ॥ भा० १०।३३।३७

३. तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गि सङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ भा० १।१८।१३

४. सालोक्य सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमान न गृह्णन्ति विना मत्सेवन जना ॥ भा० ३।२९।१३
स एवभक्ति योगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुण मद्भावायोपपद्यते ॥ भा० ३।२९।१४

५. नाह तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्ति वृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥ भा० १०।३२।२०

व्यग्रता से वह उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार भगवान् के द्वारा भक्त की अवहेलना भी उसके वास्तविक हित में ही होती है। यों तो स्वयं भगवान के वाक्य हैं—हे द्विज! मैं भक्तों के आधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, मेरे हृदय पर भक्तों का पूर्ण अधिकार है भक्त मुझे बहुत ही प्रिय हैं।[१] इन चार वाक्यों में भक्तों के भगवान् के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सम्बन्ध तथा अधिकार का प्रदर्शन है। भक्तों की वशवर्तिता व्यक्त करने में मानो भगवान् को संतोष ही नहीं मिलता और वे निरन्तर एक के बाद दूसरे वाक्य के द्वारा उसे कहते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

जिन भक्तों का भगवान् से सम्बन्ध है तथा भगवान् भी जिनके वशवर्ती हैं उनके जीवनयापन की गतिविधि यही है कि भगवान् के वियोग में वे कभी रो उठते हैं, कभी हँसते हैं, कभी प्रसन्न होते हैं, कभी अलौकिक भाव में स्थिर होकर कुछ बड़बड़ाने लगते हैं, कभी नृत्य करते हैं, कभी गाते हैं, कभी परमात्मा को खोजने लगते हैं और कभी परम शान्ति का अनुभव करके शान्त हो जाते हैं।[२] स्वप्रिय भगवान् का कीर्तन करते-करते उपर्युक्त प्रकार से लोकबाह्य आचरण करते हुए वे विचरण करते हैं।[३] भगवद्भावावेश में लोकबाह्य आचरण त्याज्य नहीं माना गया है। इसी लोकबाह्य की मीमांसा में कभी-कभी लोकत्याज्य अनैतिक आचरणों को भी भक्ति के साथ सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। पतित ततनामधारी भक्तों के द्वारा लोकत्याज्य तथा लोकग्राह्य भी कितने ही अनैतिक आचरणों को भक्ति सम्प्रदायों के अन्तर्गत स्थान मिला है परन्तु उसका विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं। यहाँ पर भगवान् की भक्ति के मार्ग में अवरोधक लज्जा आदि का त्याग करके मनोभावों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता की लोकबाह्यता के होते हुए भी श्रेयस्कर माना गया है। मीरा, सूर, तुलसी आदि में इसी भाव की आवृत्ति हमें दृष्टिगोचर होगी।

देवी भागवत में भी कर्म-योग, ज्ञान-योग, तथा भक्ति-योग तीनों ही मोक्ष प्राप्ति के मार्ग माने गये हैं, परन्तु इन तीनों में भक्ति-योग ही सुलभ है क्योंकि वह केवल मानसिक है, बिना शरीर को कष्ट दिये सम्पन्न होता है।[४] पराभक्ति-प्राप्त मनुष्य नाम-कीर्तन तथा गुणश्रवण

---

१ अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ भा० ९।४।६३

२ क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥ भा० ११।३।३२

३. एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या, जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥ भा० ११।२।४०

४. मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम ॥ २
त्रयाणामप्ययं योग्यः कर्तुं शक्योऽस्ति सर्वथा ।
सुलभत्वान्मानसत्वात् कायचित्ताद्यपीडनात् । दे० भा० ७।३७।३

करता रहता है। गुणो की खान भगवान् मे ही उसका मन तैलधारा के समान सदा अविच्छिन्न भाव से स्थित रहता है।[1] वह प्रभु की सेवा के अतिरिक्त (से अधिक) कुछ भी नही जानता।[2]

शिवपुराण मे मुक्ति का मूल ज्ञान, ज्ञान का मूल भक्ति, भक्ति का मूल प्रेम, प्रेम का मूल शिव-गुण-श्रवण, गुण-श्रवण का मूल सत्सग तथा सत्सग का मूल सद्‌गुरु माना गया है।[3] देवता तथा भक्ति के सम्बन्ध मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित करते हुए बीजाकुर की उपमा प्रस्तुत की गई। जिस प्रकार अकुर से बीज तथा बीज से अकुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार देवता प्रसाद से भक्ति तथा भक्ति के द्वारा देवता की प्रसन्नता प्राप्त होती है।[4]

विष्णुपुराण में भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है 'कर्मफल के वश होकर जिन जिन योनियो मे परिभ्रमण करूँ, उन सभी योनियो मे तुम्हारे प्रति मेरी अचल भक्ति बनी रहे। अविवेकी मनुष्य की विषयो मे जैसी आसक्ति रहती है, तुम्हारा स्मरण करते हुए तुम्हारे प्रति भी मेरी वैसी ही प्रीति रहे तथा वह मेरे हृदय से कभी विलग न हो।[5] महाभारत में कृष्ण-प्रणामी अथवा भक्त दस अश्वमेध यज्ञो के करने वाले से भी श्रेष्ठ हैं क्योकि अश्वमेध करने वाले को तो क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकेविशन्ति के अनुसार पुन ससार मे आना पडता है परन्तु कृष्ण को प्रणाम करने वाला पुन जन्म नही लेता।[6] महाभारत के अन्तर्गत गीता तो मानो भक्ति को प्रामाणिकता प्रदान करने का मुख्य साधन ही है।

गीता ज्ञानपरक है, कर्मपरक अथवा भक्तिपरक, यह यहाँ आलोचना का विषय नही

---

१. अधुनातु पराभक्ति प्रोच्यमानां निबोध मे।
मद्‌गुण श्रवण नित्य ममनामानुकीर्तनम्॥ ११
कल्याणगुणरत्नानामाकराया मयि स्थिरम्।
चेतसो वर्तनं चैव तैलधारासम सदा॥ — दे० भा० ७।३७।१२

२. मत्सेवातोऽधिक किंचिद् नैव जानाति कर्हिचिद्॥ — दे० भा०

३. ज्ञानमूलं तथाध्यात्म तस्य भक्ति रितस्य च।
भक्तेश्च प्रेम सम्प्रोक्त प्रेम्णस्तु श्रवण मतम्। ३०
श्रवणस्य सता सगः सगस्यसद्‌गुरुः स्मृत.।
सम्पन्ने च तथा ज्ञाने मुक्तिर्भवति निश्चितम्॥ — शि० पु० ७८।३१

४. प्रसादाद् देवतामक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भव।
यथेहाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुर.॥ — शि० पु० १।१४

५. नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्॥
तेषु तेष्वच्युताभक्तिरच्युतास्तु सदात्वयि॥ १६
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरत सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥ — विष्णु पुराण १।२०।२०

६. एकोऽपि कृष्णस्य कृत प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥ — महा० शान्ति ४७।९२

है। आचार्यों एवं विद्वानों ने तीनों प्रकार से ही उसका विवेचन अपने-अपने मत के समर्थन में किया है। फिर भी गीता के मूलभूत तत्त्व को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरार्पित निष्काम कर्म तथा ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ भी ईश्वर-भक्ति के साथ ही उसे फलदायक कहा गया है। परमात्मा का स्वयं अपने ऊपर भक्त की मुक्ति का भार ले लेना भी भक्ति की ही श्रेष्ठता का द्योतक है। भगवान् के भक्त चार प्रकार के होते हैं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी।[1] इनमें से नित्य परमात्मा में एकीभाव से स्थित हुआ भक्त ज्ञानी अति उत्तम है।[2] वे दृढ़ सकल्पी भक्तजन निरन्तर कीर्तन करते हुए, परमात्मा की प्राप्ति का यत्न करते हुए, ध्यान में लीन परमात्मा की अनन्य भक्ति से उपासना करते हैं।[3] तथा अनन्य भाव से भजने वाले का योग-क्षेम स्वयं भगवान् सम्पादित करते है।[4] वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है। शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भगवद्भक्त कभी नष्ट नहीं होता।[5]

गीता में विराट् रूप के दर्शन देने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण के वचन हैं . मैं दान, तप, यज्ञ किसी से इस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता जिस प्रकार कि तुमने देखा है।[6] मैं अनन्य भक्ति के द्वारा ही देखा जा सकता हूँ तथा एकीभाव से प्राप्त होने के लिए भी शक्य हूँ।[7] जो केवल मेरे लिए ही कर्म करने वाला, मुझ में ही गति वाला, मेरा भक्त, सम्पूर्ण आसक्तियों से रहित तथा सम्पूर्ण भूतों में निर्वैर है, वह मुझे ही प्राप्त होता है।[8] जो भक्तजन समस्त कर्मों को मुझ परमेश्वर को ही अर्पित करते हैं उन अपने में चित्त लगाने वालों का मैं मृत्यु संसार से उद्धार कर देता हूँ।[9] यही नहीं मुझ में जिसकी बुद्धि एवं मन अर्पित है

---

१ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ गी० ७।१६

२. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ गी० ७।१७

३ सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ गी० ९।१४

४. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गी० ९।२२

५. क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति। गी० ९।३१

६. नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ गी० ११।५३

७ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ गी० ११।५४

८. मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ गी० ११।५५

९. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ गी० १२।६

यह मुझे अत्यन्त प्रिय है[1] तथा श्रद्धापूर्वक जो मुझ में मति वाले होते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ।[2]

ज्ञान और भक्ति के बीच प्रतीत होने वाले विरोधाभास को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो ज्ञानी इस प्रकार तत्त्व से परमात्मा को जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से परमात्मा को ही भजता है ।[3] ब्रह्म मे स्थित हुआ न किसी के लिए शोक करता है, न किसी की आकांक्षा ही करता है, सब भूतों मे समभाव हुआ वह परमात्मा की पराभक्ति को प्राप्त करता है ।[4] इस पराभक्ति के द्वारा भक्त भगवान् के स्वरूप को तत्वत जानकर तत्काल उसी में प्रविष्ट हो जाता है ।[5] भगवान् का कथन है—मुझ मे ही लीन मन वाला होकर मुझे ही नमस्कार कर, मुझमे ही भक्ति कर, तू सत्य जान क्योकि तू मुझे अतिशय प्रिय है । तू सब धर्मों को त्याग कर मेरी ही शरण मे आ । मैं तुझे सभी पापो से मुक्त कर दूँगा, इसमे संदेह नहीं ।[6]

अस्तु यह स्पष्ट है कि चरमोत्कर्ष पर समस्त ज्ञान, कर्म, तथा योग परमात्मा की भक्ति मे ही अन्तर्हित होते हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि परमात्मा ही वह आधार-भूमि है जिस पर कि इन सब का अस्तित्व तथा लय है ।

भक्ति के शास्त्रीय विवेचन व अध्ययन का प्रयत्न हमे शाण्डिल्य व नारदभक्तिसूत्र मे उपलब्ध होता है । नारदसूत्र के अत साक्ष्य पर व्यास (पाराशर्य) तथा गर्ग के शास्त्रीय

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ — गी० १२।७

१ संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धि यों मद्भक्तः स मे प्रिय ॥ — गी० १२।१४
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ — गी० १२।१६

२. तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ — गी० १२।२०

३. यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ — गी० १५।१९

४. ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ — गी० १८।५४

५. भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ — गी० १८।५५

६ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ — गी० १८।६६

विवेचन का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है। शाण्डिल्य नारद से पूर्ववर्ती थे जिनका उल्लेख नारद ने अपने सूत्रों में किया है। उनके मत से ईश्वर के प्रति परम अनुराग भक्ति है।[१] नारद ने शाण्डिल्य के मत को आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना भक्ति कहा है।[२] दोनों में विशेष अन्तर नहीं कहा जा सकता। आत्मरति का अविरोधी विषय ईश्वर है ही। उन्होंने भक्ति को रागरूपा माना है।[३] भक्ति की परिशुद्धि बाह्य लक्षणों से ग्रहण करते हुए[४] तीन प्रकार की गौणी भक्ति स्वीकार की है[५] और गौणी भक्ति को पराभक्ति की प्राप्ति में हेतु माना है।[६] भक्ति ही उनके मत से सर्वश्रेष्ठ है।[७] जिसमें कि सब का अधिकार है।[८] तथा जिसके अनुसार अल्पमात्र किया हुआ भजन भी बड़े-बड़े पापों को नष्ट करने वाला है।[९]

नारद के अनुसार भक्ति का स्वरूप प्रेमरूपा व अमृतरूपा है।[१०] भगवान् में अपने समस्त कर्मों को अर्पण करना और भगवान् के तनिक भी विस्मरण होने पर परम व्याकुल होने को वे भक्ति का लक्षण मानते हैं।[११] भक्ति के साधन के लिए उन्होंने विषय तथा संग त्याग[१२] अखण्ड भजन[१३] समाज में भी भगवद्गुणश्रवण व कीर्तन तथा मुख्यतया महापुरुषों की कृपा व भगवत्कृपा के लेशमात्र से माना है।[१४] उन महापुरुषों का दुर्लभ संग भी भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है।[१५]

गौणीभक्ति सत्व, रज, तम अथवा आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी भेद से तीन प्रकार की

---

१ सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ — ना० भ० सू० २

२ आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ — ना० भ० सू० १८

३ हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत् ॥ — शा० भ० सू० २१
द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः ॥ — शा० भ० सू० ६

४ तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिङ्गेभ्यः ॥ — शा० भ० सू० ४३

५ गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम् ॥ — शा० भ० सू० ७२

६ भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्या परायैतद्धेतुत्वात् ॥ — शा० भ० सू० ५६

७ तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात् ॥ — शा० भ० सू० २२

८ आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् ॥ — शा० भ० सू० ७८

९ लब्धे भक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपरमसंदानात् ॥ — शा० भ० सू० ७६

१० सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ — ना० भ० सू० २
अमृतस्वरूपा च ॥ — ना० भ० सू० ३

११ नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ — ना० भ० सू० १९

१२ तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥ — ना० भ० सू० ३५

१३ अव्यावृतभजनात् ॥ — ना० भ० सू० ३६

१४ मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ — ना० भ० सू० ३८

१५ महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च । — ना० भ० सू० ३९

होती है ।[1] प्रेमाभक्ति एक होकर भी ग्यारह प्रकार की होती है ।[2]

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है[3] तथा गूगे के स्वाद की भाँति वर्णन का विषय नही है ।[4] कोई विरला भक्त ही इससे युक्त होता है[5] तथा वह प्रेमाभक्ति कर्म, ज्ञान तथा योग से भी श्रेष्ठतर[6] तथा स्वय फलरूपा है ।[7]

भारतीय दर्शन के इतिहास मे हम प्राय यह देखते हैं कि दार्शनिको एव विद्वानो ने अपने नाम से अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन न करके अपने पूर्ववर्ती किसी प्रामाणिक ग्रन्थ का सिद्धान्त निरूपण किया और उसे अपना मन्तव्य न कहकर उस पूर्ववर्ती ग्रन्थ का ही वास्तविक अभिप्राय कहा । इस प्रकार स्वतत्र ग्रन्थ लिखने की अपेक्षा टीका एव भाष्य लिखने की परम्परा अधिक मान्य तथा रुचिकर हो गई । भक्ति के विकास मे भी यही परम्परा दृष्टिगत होती है । सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन प्रस्थानत्रयी के भाष्य रूप मे विकसित हुआ है । विभिन्न आचार्यों ने उसका विवेचन ज्ञानपरक, कर्मपरक अथवा भक्तिपरक किया । भक्ति स्वय मनोभावो के स्तर की होने के कारण कितने ही भक्तो तथा विद्वानो के स्वतत्र निरूपण का भी विषय हुई है ।

शकराचार्य केवलाद्वैती ज्ञानमार्गी थे । उनकी दृष्टि मे केवल ब्रह्म ही सत्य है, सब ब्रह्म ही है तथा उसकी प्राप्ति ज्ञान के द्वारा हो सकती है । उनका ज्ञान केवल बौद्धिक ज्ञान से उच्चस्तरीय प्रत्यक्षानुभूति ज्ञान था । इस प्रकार का ज्ञान रहस्यवादी की सत्ता मे सब प्रकार से उपयुक्त प्रमाणित होता है । फिर भी ज्ञान की उस रहस्यात्मक अनुभूति के पहले व्यावहारिक जगत में उन्होने भक्ति का महत्व बराबर स्वीकार किया है । ब्रह्मसूत्र भाष्य मे भी महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते[8] के द्वारा उन्होने भक्ति को (उपासना को) महान् फलदायिनी माना है । विवेकचूडामणि मे मोक्ष प्राप्ति के साधनो मे भक्ति ही सब से श्रेष्ठ कही गई है ।[9] प्रबोध सुधाकर के अनुसार जिस प्रकार मलिन वस्त्र बिना क्षारीय जल के स्वच्छ नही होता उसी प्रकार मलिन अत करण को शुद्ध करने के लिए भक्ति परम आवश्यक

---

१. गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ।। ना० भ० सू० ५६

२. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ।। ना० भ० सू० ८२

३. अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम् ।। ना० भ० सू० ५१

४. मूकास्वादनवत् ।। ना० भ० सू० ५२

५. प्रकाशते क्वापि पात्रे ।। ना० भ० सू० ५३

६. सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ।। ना० भ० सू० २५

७. फलरूपत्वात् ।। ना० भ० सू० २६

८. ब्र० सू० शा० भा० १।१।१०।२४

९. मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी । विवेकचूडामणि ३२

है[1] जिसके प्रसाद से शुक आदि बन्ध-मुक्त हो गये वह एकमात्र भक्ति ही मुक्ति के लिए समर्थ उपाय है।[2] भक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुए शंकराचार्य ने कहा है—अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसंधान ही भक्ति है। कोई-कोई आत्मतत्त्व के अनुसंधान को भक्ति कहते हैं।[3] अकोल वृक्ष मूल तथा से, सुई चुम्बक से, पतिव्रता अपने पति से, लता वृक्ष से, सरिता सागर से जा मिलती है, उसी प्रकार जब चित्तवृत्तियाँ भगवान् के चरण कमलों से मिलकर सदैव के लिए स्थित हो जाती हैं तब उसे भक्ति कहते हैं।[4] प्रबोध सुधाकर में स्थूल और सूक्ष्म भेद से भक्ति दो प्रकार की कही गई है—प्रारम्भ में स्थूल तथा बाद में सूक्ष्म।[5] श्रेष्ठ भक्त की परिभाषा है कि जो सभी जीवों में भगवान् को देखता है तथा सब जीवों को भगवान् में देखता है उसे भक्तप्रवर कहा गया है।[6] अतः उन्होंने समस्त अपने मनो-भावों को हरिचरणों में अर्पित करते हुए कहा है—हे नाथ! यह सत्य है कि मुझ में तथा आप में कोई भेद नहीं है। परन्तु समुद्र की ही तरंग होती है तरंग स्वयं समुद्र नहीं होती। इस प्रकार आपसे ही मैं हूँ आप मुझसे नहीं हैं।[7] सर्व मत के सार निरूपण में भक्ति को ही मुक्ति का साधन माना गया है।[8]

स्त्री, परिवार आदि की अपेक्षा भगवत्-महिमा को जानते हुए उसमें अधिक एवं दृढ़तर स्नेह रखना ही भक्ति है। इसी से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं।[9] गीता भाष्य में भी यही उल्लेख मिलता है कि ज्ञान के बिना मोक्ष कहाँ तथा भक्ति के बिना वह परमात्मा

---

१ शुद्धयति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते ।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः ॥ — प्रबोध सुधाकर

२ अत्र प्रकारेण निःश्रेयस सुधारस मन्दनिरूपणात् ।
तस्य प्रसादो वस्तु भक्त्यो भवदेवकान्तो भवमुक्तिहेतु । — सर्ववेदान्तसिद्धान्त सार संग्रह

३ स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते । ३२
स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः ॥ — विवेकचूडामणि ३२

४ अङ्कोलं निजबीजसन्ततिरयस्कान्तोपलं सूचिका
साध्वी नैजविभुं लता क्षितिरुहं सिन्धुः सरिद्वल्लभम् ।
प्राप्नोतीह यथा तथा पशुपतेः पादारविन्दद्वयं
चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा सा भक्तिरित्युच्यते ॥ — शिवानन्द लहरी

५. स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा ।
प्रारम्भे स्थूला स्यात् सूक्ष्मा तस्याः सकाशाच्च ॥ — प्रबोध सुधाकर

६ जन्तुषु भगवद्भावं भावयति भूतानि भगवति कलयन् ।
एतादृशा दशा येन नैसर्गिकमयं स्वन ॥

७ सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥ नाम ॥

८. मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरचला भक्तिश्च तत्साधनम् ।

९ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥

कहाँ ।[1] अन्य सभी कर्म भक्ति की प्राप्ति के लिए किए जाते है पर मोक्ष का साधन तो एक भक्ति ही बनती है। इसीलिए मुक्तो को भी भक्ति नित्यानन्द स्वरूपिणी प्रतीत होती है।[2]

निम्बार्क दैन्यादि गुणो से युक्त प्रेमाभक्ति के पोषक प्रतीत होते है। उनके अनुसार भक्ति दो प्रकार की होती है एक साधनरूपा अपराभक्ति दूसरी उत्तमा पराभक्ति।[3] भक्तो की इच्छा से अवतार लेने वाले भगवान् के चरणों के अतिरिक्त जीव की कोई गति नहीं है।[4] रामानुज ज्ञान कर्म द्वारा ग्रहीत भक्ति योग का सिद्धान्त मानते हैं। उन्होने गीता भाष्य' मे कहा है

> पाण्डुतनययुद्धप्रोत्साहनव्याजेनपरमपुरुषार्थलक्षणमोक्ष
> साधनतया वेदान्तोदित स्वविषय ज्ञान कर्मानुग्रहीत भक्ति
> योगम् अवतारयामास ॥

मधुसूदन सरस्वती भगवत भाव से द्रवित होकर भगवान् के साथ चित्त के सविकल्प तदाकार भाव को भक्ति कहते है।[5] उन्होने भक्तिरसायन मे भगवत गुण-श्रवण से मन की समस्त वृत्तियो के धारावाहिक रूप से लगने को भक्ति कहा है।[6] इस प्रकार वे भक्ति को रसपूर्ण मानते है परन्तु भगवत विषयिणी रति परिपूर्ण रसरूप होने से क्षुद्र कान्तादि विषयक रति से उसी प्रकार बलवती है जिस प्रकार खद्योता के सम्मुख आदित्य प्रभा प्रचंड होती है।[7] धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो सुख साधक होने से पुरुषार्थ कहे जाते हैं परन्तु भक्ति तो

---

१ विना ज्ञान कुतो भक्ति कुतो भक्ति विना च तत् ॥ — गीता भाष्य।

२ भक्त्यर्थान्यखिलान्येव भक्तिर्मोक्षाय केवलम्।
मुक्तानामपि भक्तिर्हि नित्यानन्दस्वरूपिणी ॥ — गीता तात्पर्य

३ कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मन
सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा ॥ — निम्बार्क, वेदान्त कामधेनु

४ नान्यागति कृष्ण पदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्म शिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्य विग्रहा
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥ — निम्बार्क, वेदान्त कामधेनु

५ द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारता रूपासविकल्पवृत्तिर्भक्ति — अद्वैत सिद्धि

६ द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकता गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥ — भक्तिरसायन १।३

७ परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रति ।
खद्योतेभ्य इवादित्य प्रभेव बलवत्तरा ॥ — भक्तिरसायन २ ७७

स्वयं सुखरूप है।[1]

चैतन्य महाप्रभु समाधि-सुख की ही भाँति भक्ति-सुख को भी स्वतन्त्र पुरुषार्थ मानते हैं। परमानन्द रूप होने से भक्ति योग पुरुषार्थ है।[2] उनके अनुसार एक ओर ब्रह्मानन्द को परार्ध करके रखा जाय, दूसरी ओर भक्ति-सागर का एक परमाणु, तो उस परमाणु की भी समता वह ब्रह्मानन्द नहीं कर सकता।[3] सम्भवतः इसीलिए उन्हें न धन, न जन, न सुन्दरी ही अपेक्षित है। उनकी यही लालसा है कि जन्मजन्मान्तर तक भगवान् की अहेतुकी भक्ति बनी रहे।[4] सर्वसाधारण सुत, वित्त, तथा लोक इन्हीं तीनों ऐषणाओं के चक्र में पड़े रहते हैं परन्तु भक्त उनसे उदासीन केवल भक्ति में रति रखता है।

रूपगोस्वामी तो भुक्ति ही क्या मुक्ति को भी पिशाचिनी मानते हैं। तथा जब तक वे पिशाचिनियाँ हृदय में स्थित हैं तब तक भक्ति का अभ्युदय होना सम्भव नहीं,[5] ऐसा उनका मत है।

'बृहन्नारदीय' में विष्णुभक्त चाण्डाल भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ तथा भक्तिविहीन ब्राह्मण भी चाण्डालाधिक कहा गया है।[6] नारद पाञ्चरात्र में भक्ति का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि अन्य के प्रति ममता त्यागकर भगवान् में जो प्रेमयुक्त ममता होती है उसी को भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद ने भक्ति कहा है।[7] मुक्ति ज्ञान के द्वारा सरलता से मिल सकती है, यज्ञ आदि के द्वारा भोग भी सुलभ है परन्तु भक्ति सहस्रों साधनों के द्वारा भी कठिनता से प्राप्त की जाने योग्य है।[8] हरिभक्ति रूपी महादेवी के पीछे सम्पूर्ण मुक्ति आदि सिद्धियाँ

---

१ तत्र समिलितं वा केवलं वा पुरर्थं
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति ।
निरुपम सुखसंविद्रूपमस्पृष्ट दुःखं
तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि ॥

२ समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्र पुरुषार्थत्वात्
भक्तियोग पुरुषार्थ परमानन्द रूपत्वादिति निर्विवादम् ॥

३ ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्धगुणीकृत ।
नैति भक्तिसुखाम्भोधे परमाणुतुलामपि ॥ — भक्तिरसामृतसिन्धु

४ न धनं न जनं न सुन्दरीं कविता वा जगदीश कामये
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥ — चैतन्य शिक्षाष्टक

५. भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद्भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥ — रूपगोस्वामी, भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व लहरी २।२२

६ श्वपाकोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिक ।
विष्णु भक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिक ॥ — बृहन्नारदीय ३२।३२

७. अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥

८ ज्ञानत: सुलभा मुक्ति भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यत: ।
सेयं साधनसाहस्रै हरिभक्ति सुदुर्लभा ॥ — नारद पाञ्चरात्र

तथा भोग दासी की भाँति लगे रहते हैं।[1] 'वैष्णवतंत्र' में शरणागति के षट लक्षण बतलाये गये हैं —

१ भगवत् भाव के अनुकूल कर्तव्यों का पालन
२ भगवत् भाव की प्रतिकूलता का त्याग
३ भगवान् के रक्षक होने का विश्वास
४ अपनी रक्षा के लिए भगवान् से एकांत में प्रार्थना
५ आत्म निवेदन
६ तथा कार्पण्य।[2]

पंचदशीकार ने भक्त के लक्षण का उल्लेख किया है। जिस प्रकार परपुरुषानुरक्ता स्त्री गृह-कार्यों में व्यस्त रहती हुई भी उस प्रेम की रसानुभूति करती रहती है उसी प्रकार भक्त भी लौकिक कर्तव्यों में संलग्न रहने पर भी प्रभु के प्रेममय ध्यान में मग्न रहता है।[3]

यद्यपि तुलसी मोक्ष के लिए भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधनों की उपादेयता को भी स्वीकार करते हैं तथा स्पष्ट शब्दों में—

'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना

कहते हुए धर्मपालन, योग की क्रिया तथा ज्ञान को मोक्षदायक मानते हैं परन्तु यह सब साधन उनके राम को तत्काल करुणाई करने वाली भक्ति की कोटि के नहीं है। जहाँ ज्ञान योग पर आश्रित है, विरति धर्म पर, वहाँ भक्ति किसी अन्य साधन पर अवलम्बित नहीं है। वह स्वतन्त्र है तथा उसी के आधीन ज्ञान विज्ञान है। वह परम सुखमय भक्ति अत्यन्त सरलता से भगवान् को प्राप्त करा देती है।[4] ज्ञानरूपी खड्ग से विरतिरूपी ढाल के सहारे काम क्रोधादि पर विजय प्राप्त कराने वाली भक्ति ही है।[5]

अब प्रश्न है कि भक्ति के साधन क्या हैं? प्रथमतः विप्रों के चरणों में अत्यंत प्रीति

---

१ हरिभक्ति महादेव्या सर्वामुक्त्यादि सिद्धय ।
भुक्त्यश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रता ॥ — नारद पाञ्चरात्र

२ आनुकूल्यस्य संकल्प प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरण तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधाशरणागति ॥

३ परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि । — पंचदशी ६।८४
तदेवास्वादयत्यन्त परसंग रसायनम् ॥

४ धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ।
जाते बेगि द्रवउँ मैं भाइ, सो मम भगति भगत सुखदाई ।१
सो सुतंत्र अवलम्ब न आना, तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ।
भगति तात अनुपम सुखमूला, मिलइ जो संत होइँ अनुकूला ।२
भगति कि साधन कहउँ बखानी, सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी । — तु० रा०, अर० का० १५ १

५ बिरति चर्म, असि ग्यान, मद लोभ मोह रिपु मारि ।
जय पाइअ सो हरि भगति, देखु खगेस बिचारि । — तु० रा०, उ० का० १२० (ख)

हो तथा वेद विहित वर्णाश्रम धर्म का भलीभाँति पालन हो। इससे विषयों से वैराग्य होगा, वैराग्य होने पर भागवत् धर्म में अनुराग उत्पन्न होगा। श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति दृढ़ होगी तथा भगवान् की लीलाओं में अत्यन्त रति होगी। इस प्रकार जो सतों के चरण-कमलों में अत्यन्त प्रेम रखता हो, मन, वचन, कर्म से भगवान् के भजन में दृढ़ हो और भगवान् को ही गुरु पिता, माता, भाई, पति और देवता सब कुछ जाने अर्थात् ईश्वर से ही सब सम्बन्ध स्थापित करे और सेवा में दृढ़ हो तथा भगवत् गुणगान करते हर्ष विह्वलता से जिसका शरीर पुलकित हो जाय, वाणी गद्गद हो जाय और नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगें, काम, मद और दंभ आदि से रहित हो—भगवान् सदैव उसी भक्त के वश में रहते हैं। जिनकी वचन, कर्म और मन से परमात्मा की ही गति है और जो निष्काम भाव से उसे भजते हैं, उनके हृदय-कमल में भगवान् सदा विश्राम करते हैं।[1] यही है वह भक्ति-योग जिसका प्रतिपादन तुलसी ने भगवान् राम के मुख से करवाया है।

भक्ति योग और ज्ञान-योग में जो सूक्ष्म परन्तु गहन अन्तर है वह प्रायः सामान्य बुद्धि की समझ से परे की वस्तु है। भक्ति का महत्त्व तो अधिक है ही परन्तु वेद पुराणों में ज्ञान को अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है। ज्ञान और भक्ति के इसी अन्तर को तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। उन्होंने माया तथा भक्ति को स्त्री वर्ग का तथा ज्ञान-विराग आदि को पुरुष-वर्ग का माना है। पुरुष वर्ग का होने के कारण ज्ञान को मोहित करने के लिए स्त्री-वर्ग की माया सदैव तत्पर रहती है। यद्यपि पुरुष सब प्रकार से प्रबल तथा प्रतापी होता है और स्त्री, अबला और जड़ बुद्धि होती है। परन्तु वही पुरुष स्त्री को त्याग सकता है जो विषयों से अनासक्त विरागी तथा धैर्यवान् हो। यह भी सत्य है कि ज्ञान निधान मुनि भी स्त्री के मुखचन्द्र से आकर्षित होकर उसके वश में हो जाते हैं। भक्ति स्त्री-वर्ग की होने के कारण माया के द्वारा आकर्षित नहीं होती। माया और भक्ति दोनों के एक ही वर्ग की होने पर भी भगवान् को भक्ति अधिक प्रिय है। बेचारी माया तो नर्तकी मात्र है, परमात्मा की विशेष कृपा के कारण भक्ति से माया सदैव भयभीत रहती है तथा उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर पाती।[2]

---

१ भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ ३
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा।
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥ ४
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥ ५
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा।
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥ ६
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥ तु० रा०, अर० का० १६

२ कहहिं संत मुनि बेद पुराना, नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना।
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं, नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥ ५

ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हुए तुलसी ने एक अन्य रूपक प्रस्तुत किया है जिसमे उन्होंने ज्ञान को दीपक का तथा भक्ति को मणि का रूप प्रदान किया है। ज्ञानदीप और भक्तिमणि दोनो ही अज्ञानान्धकार के नाशक प्रकाश पुज हैं परन्तु ज्ञानदीप के बुझ जाने का भय सदैव बना रहता है तथा अत्यन्त कष्टसाध्य प्रयत्नो के द्वारा वह प्रकाशित किया जाता है (जिसका तुलसी ने विस्तार से वर्णन किया है)। भक्तिमणि के लिए किसी साधन की आवश्यकता नही है। वह परम प्रकाशरूपा बिना दीपक, घृत बत्ती के सदैव आलोकित रहती है। उस मणि की उपस्थिति मे मोहरूपी दारिद्रय निकट नही आता, न लोभरूपी प्रभजन उसे बुझाने मे ही समर्थ होता है। उसके आलोक मे अविद्या का अध कार दूर हो जाता है तथा शलभ जो दीपशिखा पर मडरा कर ज्योति को मलिन कर देते हैं उस मणि के सम्मुख नही ठहरते। जिसके हृदय म यह भक्तिरूपी मणि निवास करती है कामादि दुष्ट उसके निकट तक नही फटकने पाते। भक्त के लिए गरल भी सुधा का फल देने वाला तथा शत्रु भी मित्र की भाँति हितैषी हो जाता है। समस्त जीवों को पीडित करने वाले मानस-रोग भी भक्त का कुछ बिगाड नही सकते। जिसके हृदय म राम भक्तिमणि रहती है उसको नाममात्र के लिए स्वप्न मे भी दु ख नही मिलता। अस्तु वे ही बुद्धिमान हैं जो इस प्रकार की भक्तिमणि की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते है। यद्यपि वह मणि सर्वत्र प्रगट है फिर भी भगवान् की कृपा के बिना किसी को प्राप्त नही होती। वह मणि प्राप्त कहाँ होती है ?

ग्यानहि भगतिहि अतर केता, सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता।
सुनि उरगारि बचन सुख माना, सादर बोलउ काग सुजाना। ६
भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव सभव खेदा।
नाथ मुनीस कहहि कछु अतर, सावधान सोउ सुनु बिहगबर। ७
ग्यान बिराग जोग बिग्याना, ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती, अबला अबल सहज जड जाती। ८
पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर। ११५ (क)
सोउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट। ११५ (ख)
इहाँ न पच्छपात, कछु राखउँ बेद पुरान सत मत भाषउँ।
मोह न नारि नारि के रूपा, पन्नगारि यह रीति अनूपा। १
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ, नारि बर्ग जानइ सब कोऊ।
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी, माया खलु नर्तकी बिचारी। २
भगतिहि सानुकूल रघुराया, ताते तेहि डरपति अति माया।
राम भगति निरुपम निरुपाधी, बसइ जासु उर सदा अबाधा। ३
तेहि बिलोकि माया सकुचाई, करि न सकइ कछु निज प्रभुताई।
अस बिचारि जे मुनि बिग्याना, जाचहि भगति सकल सुखखाना। ४
यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति कृपाँ सपनेहुँ मोह न होइ। तु० रा०, उ० का० ११६ (क)

उसकी प्राप्ति के सुगम उपाय हैं परन्तु हतभाग्य मनुष्य उसकी खोज में भटकते रहते हैं। वेद पुराणरूपी पर्वत ही वह स्थान है जहाँ राम-कथारूपी भक्तिमणि की खानें हैं। रहस्यदर्शी सज्जन ज्ञान और वैराग्य के नेत्रों से सुबुद्धि की कुदारी के द्वारा यदि सप्रेम खोदने का प्रयत्न करते हैं तो समस्त सुखों को देने वाली भक्तिमणि प्राप्त होती है।[1]

यदि मनुष्य इहलोक तथा परलोक में सुख चाहता है तो उसे भक्ति का मार्ग ही अपनाना चाहिए। वह परम सुखद तथा सरल है। जहाँ तक ज्ञानमार्ग का सम्बन्ध है वह स्वयं तो अगम है ही साथ ही मनुष्य का मन चंचल है कभी स्थिर नहीं रहता। यदि वह साधित प्रयत्न करके कोई ज्ञानमार्ग में सफल भी हो जाय तो वह परमात्मा को उतना प्रिय नहीं होता जितना कि भक्त।[2] तुलसीदास इस धारणा की पुष्टि एक अन्य दृष्टान्त से करते हैं। एक पिता के कई पुत्र हों जिनमें से प्रत्येक ज्ञानी, पंडित, तपस्वी, धनवान, वीर, धर्मज्ञ, सर्वज्ञ तथा सब प्रकार से योग्य हो परन्तु उनमें से एक सब गुणों से हीन हो, केवल मन, वचन, कर्म से वह पितृभक्त हो तो पिता का यद्यपि सभी पुत्रों पर समान स्नेह होगा परन्तु वह पितृभक्त विशेष स्नेह का पात्र होगा। इसी प्रकार समस्त संसार के रचयिता परमात्मा को सभी जीव प्रिय हैं परन्तु जो मोह, लोभ को त्यागकर सब प्रकार से निष्कपट होकर मन, वचन और शरीर से परमात्मा का भजन करता है वह सर्वाधिक प्रिय होता है। स्त्री,

---

१ कहेउ ज्ञान सिद्धान्त बुझाई, सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई।
राम भगति चिंतामनि सुंदर, बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर। १
परम प्रकास रूप दिन राती, नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती।
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा, लोभ बात नहिं ताहि बुझावा। २
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई, हारहिं सकल सलभ समुदाई।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं, बसइ भगति जाके उर माहीं। ३
गरल सुधा सम अरि हित होई, तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई।
ब्यापहिं मानस रोग न भारी, जिन्ह के बस सब जीव दुखारी। ४
राम भगति मनि उर बस जाके, दुख लवलेस न सपनेहु ताके।
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं, जे मनि लागि सुजतन कराहीं। ५
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई, रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई।
सुगम उपाय पाइबे केरे, नर हतभाग्य देहिं भटभेरे। ६
पावन पर्बत बेद पुराना, राम कथा रुचिराकर नाना।
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी, ग्यान बिराग नयन उरगारी।
भाव सहित खोजइ जो प्रानी, पाव भगति मनि सब सुख खानी। तु० रा०, उ० का० ११६

२ जौं परलोक इहाँ सुख चहहू, सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू।
सुलभ सुखद मारग यह भाई, भगति मोरि पुरान श्रुति गाई। १
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका, साधन कठिन न मन कहु टेका।
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ, भक्तिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ। २
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी, बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।
पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता, सतसंगति संसृति कर अंता। तु० रा०, उ० का० ४४ ३

पुरुष, नपुंसक अथवा कोई भी भक्त हो परमात्मा को परम प्रिय होता है। इसलिए सब आशा और भरोसा त्यागकर परमात्मा की भक्ति करनी चाहिए।[1]

ज्ञानी और भक्त दोनों ही परमात्मा के लिए पुत्रों की भाँति हैं। ज्ञानी प्रौढ़ पुत्र की भाँति है तथा भक्त अबोध बालक की भाँति। प्रौढ़ पुत्र को ज्ञान का तथा निज का बल होता है। अत माता उसके कार्य अकार्य की ओर विशेष ध्यान नहीं देती और उसके प्रति, अपेक्षत कम सतर्क रहती है परन्तु अबोध बालक की ओर से वह कभी निश्चिन्त नहीं होती। यदि वह किसी हानिप्रद कार्य को करने के लिए बढ़ता है तो माँ उसे बरबस उस कार्य के करने से रोक देती है जैसे यदि बालक अग्नि अथवा सर्प पकड़ने को दौड़े तो माँ उसे तुरन्त हटा लेती है। ऐसे ही परमात्मा ज्ञानी के कार्यों म हस्तक्षेप नहीं करता परन्तु भक्त को परमात्मा अकार्य म प्रवृत्त नहीं होने देता। भक्त तथा ज्ञानी दोनों के ही शत्रु काम, क्रोध आदि हैं जिनसे ज्ञानी को अपनी रक्षा स्वय ही करनी होती है परन्तु भक्त की रक्षा का भार परमात्मा पर है। इसी कारण चतुर ज्ञानी ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी भक्ति का सहारा नहीं छोड़ते।[2] स्वामी या माता के भरोसे रहने वाले सेवक और सुत का परिपालन उन्हें करना ही पड़ता है। इसी प्रकार भगवान् के भरोसे रहने वाले भक्त का परिपालन भगवान् को करना ही पड़ता है। यद्यपि परमात्मा समदर्शी कहलाता है परन्तु अनन्य गति सेवक उस को विशेष प्रिय है। अनन्य गति सेवक वह है जो समस्त चराचर को भगवानमय देखे तथा स्वय

---

१ एक पिता के बिपुल कुमारा, होहिं पृथक गुन सील अचारा।
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता, कोउ धनवंत सूर कोउ दाता। १
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई, सब पर पितहि प्रीति सम होई।
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा, सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा। २
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना, जद्यपि सो सब भाँति अयाना।
एहि बिधि जीव चराचर जेते, त्रिजग देव नर असुर समेते। ३
अखिल बिस्व यह मोर उपाया, सब पर मोहि बराबरि दाया।
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया, भजै मोहि मन बच अरु काया। ४
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ। ८७ (क)
सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥ तु० रा०, उ० का० ८७ (ख)

२ तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा, प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा।
सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा, भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। २
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी, जिमि बालक राखइ महतारी।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई, तहँ राखइ जननी अरगाई। ३
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता, प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता।
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी, बालक सुत सम दास अमानी। ४
जनहिं मोर बल निज बल ताही, दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही।
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं, पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं। तु० रा०, अर० का० ४२ ५

को सचराचर का सेवक।[1]

तुलसी ने भगवान् राम के मुख से भक्ति सिद्धान्त का विवेचन इस प्रकार करवाया है—समस्त संसार तथा जीव परमात्मा के द्वारा ही उत्पन्न हुए हैं तथा सब समान रूप से उसे प्रिय है परन्तु मनुष्य उसे सब से अधिक प्रिय है। मनुष्यों में भी द्विज तथा द्विजों में भी वैदिक धर्म का आचरण करने वाले प्रिय हैं। उनमें भी विरक्त, विरक्त से भी ज्ञानी तथा ज्ञानी से भी विज्ञानी प्रिय है। अंतिम कोटि में पहुँचे हुए विज्ञानी से भी अधिक प्रिय साधारण वर्णों का भक्त है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भक्त भगवान् का सर्वाधिक प्रिय पात्र होता है। भक्ति से हीन साक्षात् विधाता भी परमात्मा को उतना प्रिय नहीं जितना भक्ति से युक्त एक तुच्छ प्राणी।[2] यद्यपि तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था के समर्थक हैं तथा ब्राह्मण और शूद्र का पृथक् पृथक् मूल्यांकन करते हैं परन्तु भक्ति की कसौटी पर कसे जाने में वे भक्ति में रत जाति के श्वपच को भी उस ब्राह्मण से श्रेष्ठ मानते हैं जो परमात्मा का भजन नहीं करता।[3]

यदि एक ओर तुलसीदास को शास्त्रीय नवधा भक्ति का स्वरूप मान्य है तो दूसरी ओर उन्होंने एक नवीन नवधा भक्ति का स्वरूप भी प्रस्तुत किया है। किन्हीं अर्थों में यह नवीन नवधा भक्ति शास्त्रीय नवधा भक्ति से अधिक समीचीन प्रतीत होती है। भक्ति के विकास का प्रथम सोपान सन्तों का संग है जिसका महत्त्व हम सन्तों के अध्याय में देख चुके हैं। दूसरी प्रकार की भक्ति भगवत्कथा में रति है। गुरु-पदसेवा तृतीय प्रकार की भक्ति है। सत्संग द्वारा उत्पन्न भगवत्कथा में रति का अंकुर गुरुकृपा के द्वारा भगवत्-भक्ति के विशाल वृक्ष में विकसित हो जाता है तथा साधकभक्त चौथी प्रकार की भक्ति निष्कपट

---

१ सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें। २
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ। ४
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूपस्वामि भगवन्त॥ तु० रा०, कि० का० ३

२ निज सिद्धान्त सुनावउँ तोही। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही। १
मम माया संभव संसारा, जीव चराचर बिबिधि प्रकारा।
सब मम प्रिय सब मम उपजाए, सब ते अधिक मनुज मोहि भाए। २
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी, तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी।
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी, ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी। ३
तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा, जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं, मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं। ४
भगतिहीन बिरंचि किन होई, सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई।
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी, मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी। तु० रा०, उ० का० ८५

३- तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥ ३८
अति ऊँचे भूधरनि पर भुजगन के अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद ऊख अन्न अरु पान। तु० ग्र०, पृ० १२

भाव से भगवत् गुणगान में प्रवृत्त हो जाता है। मंत्रजप में दृढ़ विश्वास पाँचवीं भक्ति मानी गयी है। छठी भक्ति समस्त सांसारिक कार्यों से निरत होकर दम का आचरण करना तथा सज्जनों के धर्म लोकसंग्रह के लिए सद्धर्म का पालन करना है। भक्ति की अवस्थाओं में आठवीं यथा लाभ, संतोष तथा किसी के स्वप्न में भी अवगुण न देखना है।

अंतिम सीढ़ी सब प्रकार से छलरहित तथा बिना किसी हर्ष या शोक के केवल परमात्मा में भरोसा है। पूर्ण आत्मसमर्पण की यह अंतिम अवस्था भक्त की है। इनमें से एक प्रकार की भी भक्ति जिस स्त्री, पुरुष अथवा किसी जीव की हो वही भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है फिर जिसमें सब प्रकार से भक्ति दृढ़ हो उसके विषय में तो कहना ही क्या।[1] इसीलिए तो भगवान् राम ने परम भक्तिमती शबरी के जूठे बेरों को भी खाया था।

राम के निवास स्थानों के बतलाने के व्याज से 'मानस' में तुलसी ने भक्ति के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार जिन मनुष्यों के श्रवण सागर की भाँति हों जिसमें कि निरन्तर सरिताएं प्रवहमान होती रहती हैं फिर भी वह सदैव पूर्ण ही रहता है कभी अमर्यादित नहीं होता तथा सदैव अपने में सरिताओं के प्रवेश के लिए स्थान बनाये रखता है उसी प्रकार भगवत् कथारूपी सरिताओं के लिए जिनके कर्ण सदैव ग्रहण करने को तत्पर रहते हुए भी कभी संतुष्ट नहीं होते उन भक्तों के हृदय में परमात्मा का निवास होता है। जिनके नेत्र चातक के समान केवल भगवत् रूपासक्त हों, अनेक सरिता-सागर भरे रहने पर भी जिस प्रकार चातक केवल स्वातिबिन्दु की ओर ही अपलक दृष्टि लगाये रहता है उसी प्रकार जो केवल भगवान् के रूपबिन्दु में ही तन्मय रहते हैं तथा जिनकी जिह्वा परमात्मा के यशरूपी मानसरोवर से केवल गुणरूपी मुक्ताओं का ग्रहण करती है, उनके हृदय में भगवान् का निवास होता है।[2] यही नहीं जिनकी नासिका प्रभु प्रसाद की सुवास

---

१. नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा। ४
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ।। ३५
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा। १
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा।
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा। २
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना।
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई। ३
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ।। तु० रा०, अर० का० ३५.४

२. सुनहु राम अब कहउँ निकेता, जहाँ बसहु सिय लखन समेता।
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना, कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ।२
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे, तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।
लोचन चातक जिन्ह करि राखे, रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ।२

ही ग्रहण करती हो, जो भगवान् को अर्पित करके ही भोजन करते हों तथा प्रसाद-रूप से ही वस्त्रालंकार धारण करते हों तथा जिनका मस्तक स्वत ही देवताओं व गुरुजनों के सम्मुख होने पर झुक जाता हो तथा हाथों से भगवान् की पूजा आदि करते हों, जिनके चरणों की सफलता तीर्थयात्रा करने में ही हो, जिनके हृदय में भगवान् का ही भरोसा हो, उनके हृदय में भगवान् का निरन्तर वास होता है। इनके अतिरिक्त अन्य लौकिक कार्यों वलिवैश्वदेव आदि का भी एक ही फल चाहते हों और वह कि भगवान् के चरणों में इटतर प्रीति हो उन्हीं के हृदय में परमात्मा का निवास होता है।[1]

यद्यपि भगवान् सर्वत्र सर्वदा सब में समान रूप से व्याप्त हैं परन्तु वे भक्त की रुचि तथा उसकी प्रीति के अनुसार ही प्रकट होते हैं।[2]

परमात्मा भक्तों के प्रण को सर्वदा निभाते हैं। प्रह्लाद की वाणी को सत्य सिद्ध करने के लिए ही भगवान् नृसिंह रूप धारण कर खंभ से प्रकट हुए। ग्राह द्वारा गज के ग्रसित होने पर भगवान् ने अविलम्ब आकर गजराज की रक्षा की। कौरव-सभा में दुःशासनादि द्वारा द्रौपदी के चीर-हरण का प्रयत्न किये जाने पर भी द्रौपदी की लज्जा भगवान् द्वारा ही बचाई जा सकी।

निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी, रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी।
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक, बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक।४
जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकुताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु। १२८
प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा सादर जासु लहइ नित नासा।
तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।१
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी, प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी।
कर नित करहिं राम पद पूजा राम भरोस हृदय नहिं दूजा।२
चरन राम तीरथ चलि जाहीं, राम बसहु तिन्ह के मन माहीं।
मन्त्रराजु नित जपहिं तुम्हारा, पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा।३
तरपन होम करहिं बिधि नाना, बिप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना।
तुम्ह तें अधिक गुरहिं जियँ जाना, सकल भायँ सेवहिं सनमानी।४
सबु कर मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ। तु० रा०, अयो० का० १२६

१. जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती, प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती। २
हरि ब्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं, कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं। ३
अग जगमय सब रहित बिरागी प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी। तु० रा०, बा० का० १८४

२ प्रभु सत्य करी प्रहलाद गिरा प्रगटे नरकेहरि खंभ महाँ।
झषराज ग्रस्यो गजराज कृपा ततकाल बिलम्ब कियो न तहाँ।
सुर साखी दै राखी है पान्डुबधू पट लूटत कोटिक भूप जहाँ।
तुलसी भजु सोच बिमोचन को जन को पन राम न राख्यो कहाँ। तु० ग्र०, पृ० १६८

भगवान् ने भक्तों की रक्षा की, उनका पन भी रक्खा और साथ ही उन भक्तों के लिए लीला-शरीर भी धारण किया।[1] जिस परमात्मा का वर्णन 'नेति-नेति' करके वेदो ने किया है तथा जिनका योगी लोग ध्यान करते हैं उसी निर्गुण ब्रह्म ने भक्त के लिए सगुण रूप दशरथ-सुत राम का शरीर धारण किया।[2] जो भगवान् संसार में निर्गुण, अरूप तथा अलख प्रतीत होता है भक्त के प्रेम के वशवर्ती होकर वही सगुण हो जाता है।[3] इस प्रकार उपर्युक्त गुणों वाले निर्गुण ब्रह्म परमात्मा राम जिनकी प्राप्ति के लिए योगी योग करते हैं, शिव आदि ध्यान करते है तथा मन समेत वाणी भी जिनको नही जान पाती है, वही भगवान् भक्त के प्रत्यक्ष दर्शन की वस्तु हो जाते है।[4]

भगवान् भक्त की रक्षा उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार पलकें नेत्र-गोलकों की करती हैं। किसी प्रकार की भी क्षति वह भक्त को नही होने देते।[5] वे अपने प्रति किये गये अपराध से किसी पर कुपित नही होते परन्तु अपने भक्त के प्रति किये गये अपराध को किसी प्रकार भी क्षमा नही करते। भक्त का अहित करने वाला भगवान् के कोप का भाजन होता है। दुर्वासा ऋषि भक्त के प्रति दुर्व्यवहार करने के कारण कष्ट भोग चुके हैं। इसीलिए मन में भी भगवान् के भक्त का अकाज न सोचना चाहिए। यद्यपि भगवान् को समदर्शी, राग-रोष रहित तथा निर्गुण कहा जाता है परन्तु भक्त तथा अभक्त के प्रति वे उसी के अनुसार सम अथवा विषम व्यवहार करते हैं। वे भक्त के सम्बन्ध से ही बैर और प्रीति करते हैं। भक्त के प्रेमी से प्रेम तथा भक्त के शत्रु से उन्हें द्वेष होता है। अगुण, अमान, अलेप तथा एकरस भगवान् भक्त के हेतु ही सगुण रूपधारी हुए है।[6] श्रीराम किसी भी

---

१. संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना।३
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥ — तु० रा०, बा० का० १४३.४

२. जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान॥ — तु० रा०, बा० का० ११८

३. अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई। — तु० रा०, बा० का० ११५.१

४. करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी।
ब्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानन्दु निरगुन गुनरासी।३
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एक रस रहई।४
नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुखमूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥ — तु० रा०, बा० का० ३४१

५. जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसें। — तु० रा०, अयो० का० १४१.१

६. सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ, निज अपराध रिसाहिं न काऊ।२
जो अपराधु भगत कर करई, राम रोष पावक सो जरई।
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा, यह महिमा जानहिं दुरबासा।३
भरत सरिस को राम सनेही, जगु जप राम रामु जप जेही।४
मनहुँ न आनिअ अमरपति रघुबर भगत अकाजु।
अजसु लोक परलोक दुख दिन दिन सोकसमाजु॥२१८

समय भक्त की चिन्ता से मुक्त नहीं होते । कामदेव से प्रसन्न होकर उसे विश्व विजयी होने का वर देते समय भी उन्हें अपने भक्तों का ध्यान बना रहा तथा काम को सदाशय होकर भगवत्भक्तों को दुःख न देने का आदेश दिया ।[1] यही कारण है कि भगवान् के भक्तों को कभी काम पीड़ित नहीं करता ।

भक्ति के प्रभाव से शाप भी श्रेष्ठ वर के समान फलदायक हो जाता है । काग भुशुंडि द्वारा भक्ति पक्ष का प्रतिपादन करने पर लोमश ऋषि के द्वारा उन्हें शाप दिया गया परन्तु वह शाप उन्हें वरदान से भी अधिक फलदायक सिद्ध हुआ । यह भजन का ही प्रभाव है । भक्ति की ऐसी महिमा को जानते हुए भी जो मनुष्य केवल ज्ञान के लिए श्रम करते हैं उनका परिश्रम उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार कामधेनु के रहते हुए भी आक के वृक्षों से दुग्ध प्राप्त करने की चेष्टा करना अथवा महासागर को बिना नौका के ही तैर कर पार करने का प्रयत्न करना ।[2] भक्ति की महिमा को जानकर, भगवान् के पतित पावन विरद को सुनकर और अपने को पतित जानकर ही अपने उद्धार की आशा से तुलसीदास भगवान् की शरण में आये हैं ।[3]

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा रामहि सेवकु परम पियारा ।
मानत सुखु सेवक सेवकाई, सेवक बैर बैरु अधिकाई ।।१
जद्यपि सम नहिं राग न रोषू गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू ।
करम प्रधान बिस्व करि राखा, जो जस करइ सो तस फलु चाखा ।।२
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा भगत अभगत हृदय अनुसारा ।
अगुन अलेप अमान एकरस रामु सगुन भए भगत प्रेम बस ।।३
राम सदा सेवक रुचि राखी बेद पुरान साधु सुर साखी । — तु० रा० अयो० का० २१८.४

१ काम कौतुकी यहि विधि प्रभुहित कौतुक कीन्ह ।
हँसि राम रतिनाथहिं जग विजयी वर दीन्ह ।।१७
दुखद मोरे दास जनि मानेहु मोरि रजाइ ।
'भलेहि नाथ' माथे धरि आयसु चलेउ बजाइ ।।१८-४७ — तु० प्र०, पृ० २११
भंजन भवे सुर असुर नाग हठि सिद्ध मुनिन्ह के पथ लाग ।
कह तुलसिदास तेहि छाड़ि सैन जेहि राख राम राजीवनैन ।।८ — तु० प्र०, पृ० २१२

२. भगति पच्छ हठि करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप ।
मुनि दुर्लभ वर पायउँ देखहु भजन प्रताप ।।११४ (ख)
जे असि भगति जानि परिहरहीं केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं ।
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी खोजत आकु फिरहिं पय लागी ।।१
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई जे सुख चाहहिं आन उपाई ।
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी पैरि पार चाहहिं जड़ करनी । — तु० रा० उ० का० ११५.२

३ मैं हरि पतित पावन सुने ।
मैं पतित तुम पतित पावन दोउ बानिक बने ।
दास तुलसी सरन आयो राखिए अपने ।७ — तुलसीदास, सं० वा० सु० भा० २, पृ० ८३

भक्ति की महिमा हम देख चुके है। भक्ति से युक्त भक्त के महिमामय आदर्श चरित्र पर एक दृष्टि डाल लेना उपयुक्त होगा। भक्तो की श्रेणी मे भरत का नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा। भक्त भरत का चरित्र, कीर्ति, कार्य, धर्म, शील तथा गुण सुनने तथा समझने मे तो सबको सुखद हैं ही पवित्रता मे देवसरि गंगा तथा रस मे अमृत को भी तिरस्कृत करते हैं। असीम गुणो वाले अनुपमेय पुरुष भरत को भरत के ही समान कहते बन पडता है। उनके लिए कोई उपमान मिलता ही नही। यदि उपमा दी भी जाय तो वह वास्तविक महत्ता का बोध न कराकर लघुता ही प्रदर्शित करेगी। जिस प्रकार सुमेरु पर्वत की उपमा सेर से देने पर उसकी गुरुता, उच्चता एवं विशालता प्रकट नहीं होती। वर्णन करने मे वह सब के लिए उसी प्रकार अगम है जिस प्रकार जल मे निवास करने वाली मीन के लिए स्थल की यात्रा करना। और कहाँ तक कहा जाय भरत की महिमा को जानते हुए श्रीराम भी वर्णन करने मे समर्थ नही है। भरत और राम का भ्रातृ प्रेम तर्क का विषय नही है। राम यदि समता की पराकाष्ठा हैं तो भरत स्नेह तथा ममता की साक्षात् सीमा हैं। भरत को न परमार्थ की चिन्ता है न स्वार्थ की। स्वप्न मे भी किसी प्रकार के सुख का विचार उनके मन मे नही आता। उनके लिए साधन तथा सिद्धि दोनों ही राम चरण रति हैं।[1] यह केवल भरत का ही मत नही है, भक्त तुलसी स्वयं इस मत के रूप मे बोल रहे हैं। भरत के असीम स्नेह को देखकर सभा सहित मुनि वशिष्ठ जैसे ज्ञानी आत्म-विस्मृत हो गये। मुनियो की बुद्धि भरत की महान् महिमा का अन्त पाना चाहती है परन्तु सफल नही होती। जब मुनियो की यह दशा है तो अन्य किसी की क्या सामर्थ्य। भक्त भरत की महिमा उसी प्रकार बुद्धि के लिए अनवगाह्य है जिस प्रकार एक नन्ही शुक्तिका मे सागर की अथाह जलराशि का समाना।[2]

---

१ भरत चरित कीरति करतूती धरम सील गुन बिमल बिभूती।
समुझत सुनत सुखद सब काहू, सुचि सुरसरि रुचि निदरि सुधाहू।४
निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरतसम जानि।
कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबिकुल मति सकुचानि।।२८८
अगम सबहि बरनत बरबरनी जिमि जलहीन मीन गमु धरनी।
भरत अमित महिमा सुनु रानी जानहिं रामु न सकहिं बखानी।१
देखि परन्तु भरत रघुबर की प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी।
भरतु अवधि सनेह ममता की जद्यपि रामु सीम समता की।३
परमारथ स्वारथ सुख सारे भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे।
साधन सिद्धि राम पद नेहू मोहि लखि परत भरत मत एहू। तु० रा०, अयो० का० २८८.४

२ भरत बचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भये बिदेहू।
भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी।१
गा चह पार जतनु हियँ हेरा, पावति नाव न बोहित बेरा।

भगवत् भक्ति सतत कामधेनुओं की भाँति फलप्रदा है। भक्त का प्रभाव ही ऐसा है जिसमें कि भगवान् उसके वश में होने को विवश होते हैं।[1] तुलसी का यह विश्वास है कि राम से राम का भक्त अधिक श्रेष्ठ है। उनके मत से यदि राम सिंधु है, तो सज्जन भक्त मेघ। यदि राम चन्दन तरु है तो सन्त उसकी सुगंधि को वहन करने वाली वायु। मेघ और वायु दोनों ही अपने आधार के उत्कर्ष का प्रकाशन करने वाले हैं। बादलों के अभाव में सागर खारे, अपेय, अनुपयोगी जल का आगार मात्र ही रह जायगा। यदि मलयाचल की सुगंधि को पवन सर्वत्र प्रसारित न करे तो उसकी सुगंधि अपने तक ही सीमित रह जायगी। सागर के खारे जल को निर्मल बनाकर तथा बरसाकर भूमि को शस्य श्यामला बनाने का श्रेय मेघों को ही है। इसी प्रकार भगवत्-भक्ति को सर्व-सुलभ बनाकर उसे दूसरे के हृदय तक पहुँचाने का श्रेय भक्तों को ही है। ब्रह्मरूपी क्षीर-सागर से ज्ञानरूपी मन्दराचल के द्वारा सन्तगण जिस कथामृत को प्राप्त करते हैं, वह भक्ति के माधुर्य से ओत-प्रोत रहता है।[2]

तुलसी का यह कथन कि राम से राम का भक्त अधिक श्रेष्ठ है, भरत के वनगमन के वर्णन से अधिक स्पष्ट हो जाता है। राम के वनगमन के समय मार्ग की कठिनाइयाँ स्वतः दूर हो गई थीं परन्तु प्रकृति ने जितना सुखप्रद मार्ग भरत के लिए प्रस्तुत किया उतना राम के लिए नहीं हुआ था।[3] भरत के सुकोमल शरीर को आतप-कष्ट से बचाने के लिए मेघों ने छाया की तथा शीतल सुखद समीर बहकर भरत के मार्ग श्रम को मानो हरने लगी। पर, अपर जिन प्राणियों ने भरत के दर्शन किये अथवा जिन पर उनकी दृष्टि पड़ गई उन सब को भव-रोगों से मुक्ति मिल गई। ऐसा हो भी क्यों न। जो एक बार 'राम' कहता है वही तरण तारण हो जाता है फिर राम के प्रिय और उन पर भी उनके भ्राता भरत जिनका स्मरण राम स्वयं किया करते हैं, उनके दर्शन से यदि समस्त सांसारिक सन्ताप नष्ट हो जायें तो आश्चर्य ही क्या। यही कारण है कि तुलसी ने माता, पिता, भ्राता,

---

मोह करिहि को भरत बड़ाई, सरसी सीप कि सिंधु समाई ।। तु० रा०, अयो० का० २५६ २

१ सत्यपति सेवक सेवकाई । कामधेनु सत भगति सहाई ।
देखु देवपति भरत प्रभाउ । सहज सुभायँ बिबस रघुराऊ ।। तु० रा०, अयो० का० २६१ २

२. मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा ।।८
राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ।
सब कर फल हरि भगति सुहाई, सो बिनु संत न काहूँ पाई ।।९
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा, राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा ।
ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं ।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं । १२० (क)
बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि ।
जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि । तु० रा०, उ० का० १२० (ख)

३ किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात ।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात ।।२१६

पत्नी, सुत, मित्र, स्वामी, सखा, सगा, सेवक, ~~गुरु-सब कुछ~~ उसी को माना है तथा वही उनका प्राण समान प्रिय है जो देह का मोह त्यागकर भक्ति में राम का सेवक हो जाता है।[1]

अब प्रश्न यह है कि वे कौन से कारण है जो भक्ति की मधुरिमा से युक्त रामकथा कहने में भक्त को प्रवृत्त करते है। तुलसीदास ने रामचरित मानस की प्रस्तावना में रघुनाथ गाथा को कहने में 'स्वांत सुखाय' को प्रमुख कारण माना है।[2] दूसरा कारण उन्होंने पौराणिक ढंग का दिया है। कवि के स्मरण करने पर साक्षात् देवी शारदा स्वर्ग से पृथ्वी पर पदार्पण करती हैं। उनका मार्ग-श्रम केवल रामचरित्र-रूपी सरोवर में स्नान करने से दूर होता है अन्य किसी उपाय से नहीं। इसीलिए कविगण सरस्वती के श्रम विमोचनार्थ हरियश-कथा का गान करते है।[3] निःसन्देह प्रभु की प्रभुता का पूर्णतया वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है। शारदा, शेष, महेश, ब्रह्मा, वेद, पुराण ने भी अपने को वर्णन में असमर्थ पाकर 'नेति नेति' के द्वारा उसका गुणगान किया है। जिस भयकर तूफान में सुमेरु जैसे पर्वत उड़े जा रहे हो, उसमें तूल जैसी वस्तु की क्या गणना।[4] इसीलिए तो प्रभु की अमित महिमा को समझते हुए

---

१. जड़ चेतन मग जीव घनेरे जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे।
ते सब भए परमपद जोगू भरत दरस मेटा भवरोगू।१
यह बड़ि बात भरत कइ नाहीं, सुमिरत जिनहि रामु मन माहीं।
बारक राम कहत जग जेऊ, होत तरन तारन नर तेऊ।
भरतु रामप्रिय पुनि लघु भ्राता, कस न होइ मगु मंगलदाता। — तु० रा०, अयो० का० २१६.२
सो जननी सो पिता सोइ भाइ सो भामिनि सो सुत सो हित मेरो।
सोई सगो सो सखा सोइ सेवक सो गुरु सो सुर साहिब चेरो।
सो तुलसी प्रिय प्रान समान कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो।
जो तजि देह को नेह सनेह सों राम को सेवक होइ सबेरो।३८ — तु० ग्र०, पृ० १७२

२. नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्,
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा,
भाषा निबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।। — तु० रा०, बा० का० ७

३. भगति हेतु बिधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई।२
रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ, सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ।
कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी, गावहिं हरि जस कलिमलहारी।३

४. कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ, मति अनुरूप राम गुन गावउँ।
कहँ रघुपति के चरित अपारा, कहँ मति मोरि निरत संसारा।५
जेहिं मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं कहहु तूल केहि लेखे माहीं।
समुझत अमित राम प्रभुताई, करत कथा मन अति कदराई।६
सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान। — तु० रा०, बा० का० १२

तुलसी का मन उसका वर्णन करने में हिचकता है। सभी जानते हैं कि भगवान् की महिमा अवर्णनीय है परन्तु हृदय में उठे हुए भक्ति के प्रबल आवेग में वाणी स्वयं प्रस्फुटित हो पड़ती है इसीलिए कोई भी बिना कहे नहीं रह सका है। भजन के प्रभाव की श्रेष्ठता को जानकर सब ने अनेक प्रकार से रामकथा कही है।[1] तुलसी ने बाल्यकाल की अज्ञानावस्था में रामकथा अपने गुरु के मुख से सुनी थी, पर समझ नहीं सके थे। गुरु के अनेक बार समझाने पर जो कुछ वे समझ सके, उसी के प्रकाशनार्थ तथा अपने हृदय को प्रबोध करने के लिए वे मानस की रचना में मग्न हुए। साथ ही परमात्मा प्रदत्त प्रेरणा तो थी ही।[2]

निर्गुण, अनीह, अनाम, अरूप, अजन्मा, सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने भक्तों के लिए शरीर धारण करता है। वह सर्वव्यापक विश्वरूप, अत्यन्त कृपालु तथा प्रणत अनुरागी है और अपने भक्तों पर प्रेम करके कभी क्रोध नहीं करता। गई हुई को पुनः प्राप्त करा सकने में समर्थ, दीन प्रतिपालक, सबल किन्तु सरल भगवान् के यश-वर्णन के द्वारा अपनी वाणी को पवित्र एवं सफल करने के लिए तुलसीदास ने हरियश वर्णन किया।[3] रामचरित्र असीम है। उसका सहस्र मुख वाले सहस्रों कोटि शेषनाग भी वर्णन नहीं कर पाते। तुलसीदास तो उसका यथाश्रुत वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं। इसका कारण परमात्मा द्वारा प्रेरणा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अपना भक्त जानकर परमात्मा जिस पर कृपा करता है सूत्रधार की भाँति उसके हृदय प्रांगण में देवी सरस्वती को कठपुतली के समान नृत्य कराता है।[4]

---

१ सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई।
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा। — तु० रा०, बा० का० १२ १

२ मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥३० (क)
तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा ॥
भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई ॥१
जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें। — तु० रा०, बा० का० ३० २

३ एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।२
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।
जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू।३
गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू।
बुध बरनहिं हरि जस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी।४

४ तेहिं बल मैं रघुपति गुनगाथा, कहिहउँ नाइ राम पद माथा।
मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई, तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई।५ — तु० रा० बा० का० १२ ५
राम चरित अति अमित मुनीसा, कहि न सकहिं सत कोटि अहीसा।
तदपि जथा श्रुत कहउँ बखानी, सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।२
सारद दारुनारि सम स्वामी, रामु सूत्रधर अंतरजामी।
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी, कबि उर अजिर नचावहिं बानी।३
प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा, बरनउँ बिसद तासु गुन गाथा। — तु० रा०, बा० का० १०४

'मानस' के प्रारम्भ में तुलसीदास कह चुके हैं कि वे सुकवि नहीं हैं न चतुर ही हैं। उनकी कथा रामभक्ति से विभूषित होने के कारण सज्जनों द्वारा सम्मान सहित श्रवण की जाती है। उनकी कविता सब गुणों से रहित होने पर भी केवल एक इतने महान गुण रामभक्ति से युक्त है जिसके कारण बुद्धिमान लोग भविष्य में भी आदर के सहित उसका श्रवण करेंगे। सज्जनों का स्वभाव ही मधुकर की भाँति गुणग्राही है। निःसार धूम्र भी अगरु के सुसंग से अपनी सहज कटुता को छोड़कर सुवासित हो जाता है। भगवान् शंकर के पावन शरीर पर लगी हुई श्मशान की राख भी पवित्रकर्त्री विभूति हो जाती है। भगवान् के सुयश के सत्संग से उनकी कविता भी सज्जनों की मनभावनी होगी ऐसा तुलसी का अडिग विश्वास है। चन्दन के सम्पर्क से वृक्षों के सुगन्धित हो जाने पर कोई काष्ठ विशेष का विचार नहीं करता सब को चन्दन ही मानता है। गाय के काले होने पर भी दुग्ध उतना ही स्वादिष्ट एवं गुणकारी होता है जितना श्वेत गाय का और सबके द्वारा उसका रुचिपूर्वक पान किया जाता है। इसी प्रकार ग्राम्यवाणी में वर्णित होने पर भी भक्ति की मधुरिमा से युक्त रामकथा का सज्जन सप्रेम पठन एवं श्रवण करते हैं।[1]

---

१ भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी ।२
प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहि कथा सुनि लागिहि फीकी।
हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की ।३
राम भगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी।
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ।६
भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह कें बिमल बिबेक। तु० रा०, बा० का० ९
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।
मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ।१
भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही ।३
जदपि कबित रस एकउ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं।
सोइ भरोस मोरें मन आवा। केहिं न सुसंग बड़प्पनु पावा।
धूमउ तजइ सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगंध बसाई।
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मंगल करनी ।५
मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कबिता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की।
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी।
प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ, बंदिअ मलय प्रसंग ।१० (क)
स्याम सुरभि पय बिसद अति गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान। तु० रा०, बा० का० १० (ख)

रामकथा बुधों को विश्राम देने वाली, जनसाधारण का रंजन करने वाली, कलियुग के समस्त पापों को नाश करने वाली, कलिकालरूपी सर्प के लिए गरुड के समान तथा भ्रमरूपी भेकों के लिए सर्पिणी की भाँति है। यही मुनियों के विवेकरूपी पावक को वर्धित करने के लिए अरणी के समान है। कलिकाल में कामधेनु की भाँति सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली, संत-समाजरूपी क्षीरसागर से उत्पन्न विष्णुप्रिया साक्षात् रमा के समान तथा मुक्ति के लिए काशी के समान फलदायिनी है। यह तुलसी के समान राम को प्रिय है तथा तुलसीदास के लिए तो यह उनकी माता हुलसी के समान स्नेह, श्रद्धा तथा ममता की पात्र परमहितैषिणी है।[1] ऐसी महिमामयी हरिकथा श्रवण के अधिकारी होने के लिए तुलसी ने किसी विशेष नियम का स्थापित नहीं किया है। वेदान्त का अध्ययन करने के लिए शिष्य का शमदम आदि साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होना अनिवार्य है। इनसे युक्त होने पर ही वह शिष्यत्व का अधिकारी होता है। यह कठिनाई तुलसी ने प्रस्तुत नहीं की। उनके विचार से यदि सुशील सुमति पवित्र भक्त हरिकथा का रसिक है तो उससे अत्यन्त गोपनीय कथा भी कह देनी चाहिए।[2] प्रचण्ड आतप से व्याकुल होने पर ही तरुवर की शीतल छाया का सुख अनुभव होता है। सर्दैव छाया में रहने वाले को उसका सुख अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार आर्त अधिकारी, जो उसका यथार्थ आनन्द अनुभव करता है, के प्राप्त होने पर साधु पुरुष अत्यन्त गूढ़ तत्त्व को भी न छिपा कर प्रकट कर देते हैं।[3]

राम के चरणों के अनुराग मात्र से विराग, जप, योग तथा व्रत के बिना शरीर रहते ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब सुख तुरन्त ही प्राप्त हो जाते हैं। अस्तु यह प्रतीत होता है

---

१. बुध बिश्राम सकल जनरंजनि, राम कथा कलि कलुष बिभंजनि।
राम कथा कलि पन्नग भरनी, पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी।।२
राम कथा कलि कामद गाई, सुजन सजीवनि मूरि सुहाई।
सोइ बसुधातल सुधा तरंगिनि भय भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि।।४
असुर सेन सम नरक निकंदिनि साधु बिबुध कुल हित गिरिनंदिनि।
संत समाज पयोधि रमा सी, बिस्व भार भर अचल छमा सी।।५
जम गन मुहँ मसि जग जमुना सी, जीवन मुकुति हेतु जनु कासी।
रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी तुलसिदास हित हियँ हुलसी सी।।६
सिवप्रिय मेकल सैल सुता सी, सकल सिद्धि सुख संपति रासी।
सदगुन सुरगन अंब अदिति सी, रघुबर भगति प्रेम परमिति सी।।७
राम कथा मंदाकिनी चित्रकूट चितचारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु।।　　　　तु० रा०, बा० का० ३१

२. गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।　　　　तु० रा०, बा० का० १०९।

३. जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई।।२
श्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास।
पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास।　　　　तु० रा०, उ० का० ६९ (ख)

कि तुलसी को जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त मान्य है।[1] यदि एक ओर केवल अनुराग से चारों फलों का प्राप्त होना कहा गया है तो दूसरी ओर भगवत्प्राप्ति बिना अनुराग के असम्भव मानी गई है। योग, तप, ज्ञान, वैराग्य कोई भी भगवत्प्राप्ति कराने के लिए समर्थ नहीं है।[2]

साधारणतया मोक्ष ही अत्यन्त दुर्लभ प्राप्तव्य पद माना जाता है। यही संत, पुराण मुनि सब का मत है परन्तु वही मुक्ति रामभजन करने के कारण न चाहने पर भी हठात् पीछे लगती है। जिस प्रकार भूमि के बिना जल की स्थिति नहीं रह सकती उसी प्रकार भक्ति के बिना मोक्ष सुख नहीं हो सकता। मनुष्य केवल क्षुधा की तृप्ति के लिए भोजन करता है परन्तु वह भोजन स्वतः पचकर शक्ति का देने वाला हो जाता है। उसी प्रकार हरिभक्ति भी सहज है। उसका फल मोक्ष तो उसका अनुगामी है। यही विचार कर बुद्धिमान मुक्ति के लिए प्रयत्न न करके भक्ति के लिए लालायित रहते हैं जिसकी कि मुक्ति निश्चिततया अनुगामिनी है। सेवक-सेव्य भाव के बिना संसार सागर से मुक्ति नहीं हो सकती। तुलसी की भक्ति एवं उपासना सेवक-सेव्य भाव की थी। सभी स्थलों पर उन्होंने अपने को प्रभु का सेवक ही कहा है।[3] राम की ऐसी प्रीति के कारण तुलसी जन्म-जन्मान्तर तक उनसे प्रीति व सगाई स्थापित रखना चाहते हैं। उन्होंने तुलसी का पाप अथवा परिताप हरण करके शरीर ही शीतल नहीं कर दिया अपितु कपटी मासभक्षी बगुले से उन्हें हंस जैसा विवेकी भी बना दिया।[4] वे उन करुणामृतनिधिसद्गुणाकर, सगुण ब्रह्म का ही मन, वचन,

---

१. बिनु बिराग जप जाग जोग ब्रत बिनु तप बिनु तनु त्यागे।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभुपद प्रयाग अनुरागे ॥१५ — तु० ग्र०, पृ० ३४५

२. मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा, किएँ जोग तप ग्यान बिरागा। — तु० रा०, उ० का० ६१ १

३. अति दुर्लभ कैवल्य परम पद संत पुरान निगम आगम बद।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं अनइच्छित आवइ बरिआईं ।२
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई कोटि भाँति कोउ करै उपाई।
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई, रहि न सकइ हरिभगति बिहाई ।३
अस बिचारि हरिभगत सयाने मुक्तिनिरादरि भगति लुभाने।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा संसृति मूल अबिद्या नासा ।४॥
भोजन करिअ तृपिति हित लागी, जिमि सो असन पचवै जठरागी।
असि हरि भगति सुगम सुखदाई, को अस मूढ़ न जाहि सोहाई ।५॥
सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि ॥११९ (क)
जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य। — तु० रा०, उ० का० ११९ (ख)

४. पाप हरे परिताप हरे तन पूजि भो हीतल सीतलताई।
हंस कियो बक तें बलि जाउँ कहाँ लौं कहौं करुना अधिकाई।
काल बिलोकि कहै तुलसी मन में प्रभु की परतीति अघाई।
जन्म जहाँ तहाँ रावरे सों निबहै भरि देह सनेह सगाई ॥५८ — तु० ग्र०, पृ० १७३

कर्म से चरण अनुराग चाहते हैं।[1] जो प्रभु के रूपामृत का नेत्र भरकर माधुर्य पान करता है, उसी का जीवन सफल होता है अन्यथा वह नरपशु की गणना में आता है।[2] तुलसी के नेत्ररूपी मीनों के लिए राम-सीता का स्वरूप ही अगाध जलराशि है जिसमें कि वे जीवन धारण करती हुई आनन्दित होती हैं। श्रवणों में राम की ही कथा हो, मुख में राम का ही नाम हो तथा हृदय में राम का ही निवास हो। राम ही मति, राम ही गति, राम ही रति, तथा राम का ही बल हो। सब के लिए ऐसा हो न हो—सब इसमें विश्वास करें न करें परन्तु तुलसी के मत से—उनके विश्वास से जीवन का फल राममय होने में ही है।[3]

जो योद्धा संग्राम को सम्मुख उपस्थित पाकर युद्ध से विरत रहता है उसको गया हुआ ही समझना चाहिए। वह रहस्य नहीं होता। जो यती कहलाकर विषय-वासनाओं में लिप्त रहता है, जो धनवान होने पर भी दान नहीं देता, जो निर्धन होता हुआ धर्म में रत नहीं होता तथा जो पंडित पुराणों को पढ़कर भी शुभकर्मों में संलग्न नहीं होता, उनको भी नष्टप्राय समझना चाहिए। इसी प्रकार जो पुत्र माता पिता की भक्ति नहीं करता तथा जो पत्नी पति का हित नहीं करती, उनको भी गया हुआ ही समझना चाहिए तथा उसका सर्वस्व ही गया हुआ समझना चाहिए जिसके हृदय में राम के प्रति नित्य नवीन प्रीति उत्पन्न नहीं होती।[4]

तुलसीदास भगवान् के अनन्य प्रेम के उपासक हैं। उनका प्रेम चातक के प्रेम के समान है जिसे एकमात्र रामरूप स्वाति जलद से ही प्रयोजन है। तुलसी को केवल एक ही भरोसा, एक ही बल, एक ही आशा तथा विश्वास है और वह है राम का।[5] भक्त भरत

---

१. जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं।।६ — तु० रा०, उ० का० १२.६

२. नयन न पियहु भरि लोचन रूप सुधा रसु।
कहहु कृतारथ जनम होहु कस नरपसु।।६१ — तु० ग्र०, पृ० ४३

३. सियराम सरूप अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा मुख राम को नामु, हिये पुनि रामहिं को थलु है।
मति रामहिं सों गति रामहिं सों रति राम सों रामहिं को बलु है।
सब की न कहै तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है।।३७ — तु० ग्र०, पृ० १७८

४. जाइ सो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै।
जाइ सो जती कहाय विषय बासना न छंडै।
जाइ धनिक बिनु दान जाइ निर्धन बिनु धर्महिं।
जाइ सो पंडित पढ़ि पुरान जो रत न सुकर्महिं।
सुत जाय मातु पितु भक्ति बिनु तिय सो जाय जेहि पति न हित।
सब जाय दास तुलसी कहै जौ न राम पद नेह नित।।११६ — तु० ग्र०, पृ० १६०

५. एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
राम रूप स्वाती जलद चातक तुलसीदास।।२५ — तु० ग्र०, पृ० १०

के रूप में जो तुलसीदास अपने लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तक की इच्छा नहीं करते, उनकी एकमात्र अभिलाषा है जन्म-जन्मान्तर मे भी भगवान् के चरणों मे भक्ति । कोई उन्हे भला कहे या बुरा, उन्हे चिन्ता नही । उनको केवल एक वरदान की अभिलाषा है और वह है—सीता-राम-चरण मे दिनोदिन रति । यदि मेघ सदैव के लिए चातक को भुला दे अथवा उसकी याचना पर स्वाति जल के स्थान पर उपल-वृष्टि करे तो भी चातक की पुकार मे न्यूनता न होगी । उसकी याचना अथवा स्मरण का कम हो जाना स्वय ही उसका घटना होगा । स्वर्ण का सौन्दर्य उसके दग्ध होने पर ही निखरना है, इसी प्रकार प्रिय पद-प्रेम-निर्वाह से ही भक्त निखार को प्राप्त होता है ।[1]

यद्यपि सिद्धान्त रूप से तुलसी भक्तिमार्ग के समर्थक है परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए उन्हे ज्ञान तथा योग भी साधन रूप म मान्य है, जैसा कि हम पहले ही देख चुके है । जीव की मुक्ति के लिए विद्वानो ने हृदयग्रथि के खोलने पर जोर दिया है । तिमिराच्छन्न हृदय मे पडी हुई इस अज्ञान ग्रथि को खोलने के लिए जिससे जीव निर्बंध होकर मुक्त हो जाय, तुलसी ने ज्ञानदीप की योजना की है । उस ज्ञानदीप को प्रकाशित करने के लिए बडे यत्न से तमाम सामग्री जुटानी पडती है । सात्विक, श्रद्धा, जप, तप, व्रत, यम, नियम, धर्माचरण, भाव, निवृत्ति, विश्वास, निष्कामता, सतोष, क्षमा, धृति, बोध, विचार, सत्य, योग, बुद्धि, समता, नि.त्रैगुण्यता आदि से युक्त होने पर ज्ञानदीप प्रकाशित होता है जिससे कि फिर सोऽहमस्मि की वह विज्ञानमय ज्योति उद्दीप्त होती है जिसके निकट जाते ही मदादिक शलभ विनष्ट हो जाते है । इस आत्मानुभव आनन्द के प्रकाश मे ससार के मूल भेद-भ्रम का नाश हो जाता है तथा अविद्यात्मक मोह आदि का अधकार मिट जाता है । ज्ञान के प्रकाश मे बुद्धि हृदयग्रथि को खोल देती है और यह जीव कृतकृत्य हो जाता है । उसके लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त हो जाता है । यहाँ एक अन्य कठिनाई उत्पन्न होती है । अज्ञान-ग्रथि को खुलता हुआ जानकर माया और विषय-प्रभजन ज्ञानदीप को बुझा देने के लिए अनेक प्रकार से विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करते हैं ।[2] इस प्रकार माया आदि के कारण अनेक

---

१. अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन । तु० रा०, अयो० का० २०४
जानहुँ राम कुटिल करि मोही लोग कहउ गुरु साहब द्रोहा ।
सीता राम चरन रति मोरे अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें ।१
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ जाचत जलु पबि पाहन डारउ ।
चातकु रटनि घटें घटि जाई बढ़ें प्रेम सब भाँति भलाई ।२
कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहें तिमि प्रियतम पद प्रेम निर्बाहे । तु० रा०, अयो० का० २०४.३

२. सम संजोग ईस जब करई तबहुँ कदाचित सो निरुआरई ।४
सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई, जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई ।
जप तप ब्रत जम नियम अपारा, जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा ।५
तेइ तृन हरित चरै जब गाई, भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई ।
नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा, निर्मल मन अहीर निज दासा ।६

कष्टसाधित प्रयत्नों से सँजोये हुए ज्ञानदीप के बुझने की आशंका निरंतर बनी ही रहती है। ज्ञानदीप के इस रूपक में तुलसी ने ज्ञान मार्ग की कठिनाइयों को स्पष्ट करते हुए भक्ति की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया है। भक्तिमार्ग अपेक्षया सहज तथा सरल है। सब आशाएँ त्यागकर अनन्य विश्वास से जो भगवान् का भक्त होता है वह भगवान् के नाम जपने मात्र से बिना श्रम ही संसार से मुक्त हो जाता है।[1]

जहाँ तुलसीदास ने भक्ति को ही परम पुरुषार्थ तथा मुक्तिप्राप्ति का साधन माना है, कबीर ने ज्ञान, भक्ति, योग तीनों को ही समान रूप से अन्तिम लक्ष्य का साधन स्वीकार किया है। कबीर के पूर्ववर्ती काल में भारतीय दर्शन एवं साधना के तीनों अंग भक्ति, ज्ञान तथा योग अपनी चरमावस्था को पहुँच चुके थे। एक ओर वैदिक काल से प्रवाहित होती हुई ब्रह्मज्ञान की धारा उपनिषदों, बुद्ध दर्शन, शांकर अद्वैत से होती हुई कबीर तक पहुँच रही थी। दूसरी ओर वैदिक साहित्य से ही चलकर योग की धारा उपनिषदों में यत्र-तत्र दृष्टिगत होती हुई बौद्धों तान्त्रिकों, मान्त्रिकों (जाप्यागिकों) सिद्धों तथा नाथों के माध्यम से जन साधारण की विचारधारा में घुलमिल गई थी। पूर्व विवेचन में हम देख चुके हैं कि भक्ति की धारा का उद्गम भी वेद ही सिद्ध होता है तथा वह भागवत, शाण्डिल्य, नारद आदि सूत्रों से चलकर स्वतन्त्र विवेचन एवं अध्ययन का विषय बन चुकी थी। इस प्रकार कबीर

परम धर्ममय पय दुहि भाई, अवटै अनल अकाम बनाई।
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै, धृति सम जावनु देइ जमावै।७
मुदिताँ मथै बिचार मथानी, दम अधार रजु सत्य सुबानी।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता, बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।८
जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ।११७ (क)
तब बिग्यानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ।११७ (ख)
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि।११७ (ग)
एहि बिधि लेसै दीप तेज रासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब।११७ (घ)
सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा, दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा, तब भव मूल भेद भ्रम नासा।१
प्रबल अबिद्या कर परिवारा, मोह आदि तम मिटइ अपारा।
तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा, उर गृहँ बैठि ग्रंथि निरुआरा।२
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई, तब यह जीव कृतारथ होई।
छोरत ग्रंथि जानि खगराया, बिघ्न अनेक करइ तब माया। तु० रा०, उ० का० ११७।२

जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे। तु० रा०, उ० का० १३।३

के सम्मुख ज्ञान, योग और भक्ति की तीनो धाराएँ विद्यमान थी जिनका स्पष्ट प्रभाव उन पर देखा जा सकता है। वे बहुश्रुत थे, 'मसि कागद' उन्होने हाथ से भी नही छुआ था। जो भी उनको श्रेष्ठ ज्ञात हुआ तथा रुचा उसी को उन्होने अपनाया। ज्ञान, योग तथा भक्ति तीनो ही का मोक्ष के साधन रूप मे वर्णन हुआ है। कही एक को महत्ता प्रदान की गई है और कही दूसरे को परन्तु तीनो के समन्वय को ही उन्होने मुक्ति का साधन स्वीकार किया है। अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि मुक्ति की स्थिति मे इस साधनत्रयी का भी मुक्ति मे परिवर्तन हो जाता है। भक्ति ज्ञान, योग सभी का पर्यवसान मुक्ति मे होता है जिससे उनमे कोई भेद नही रह जाता।

कबीर के विचार से ज्ञान से माया मोह तृष्णा, कुमति आदि भ्रम सशय सब नष्ट होते है तथा आत्मभानु के प्रकाश से साधक का अन्तर प्रकाशित हो जाता है। सब सशयो को दूर भगाने के लिए उन्होने ज्ञान की आँधी का रूपक उपस्थित किया है। ज्ञान की आँधी से माया से बँधी हुई भ्रम की टटिया उड गई, द्विविधा एव सशय की थूनी गिर गई, मोह का बडोला टूट गया, तृष्णा का छानी छप्पर उड गया तथा उसमे कुमति का भण्डा फूट गया। सब विकारों के दूर हो जाने से हृदय निर्मल हो गया, तभी प्रेमवारि की वर्षा हुई। उसमे भक्त सराबोर हो गया। उस आँधी और वर्षा के पश्चात् जो आत्मज्ञान-प्रकाश उदय हुआ, उसमे कबीर ने स्वय का साक्षात्कार किया।[1] प्रथमत ज्ञान, ज्ञान के पश्चात् प्रेमभक्ति, तदुपरान्त साक्षात्कारजन्य आत्मज्ञान की स्थिति आती है। इस प्रकार कबीर द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के दो भाग हो जाते हैं—एक साधनरूपी अपराज्ञान, जिसके द्वारा साधक माया, मोह आदि विकारों से निवृत्त होकर सशय रहित हो जाता है तथा दूसरा सिद्धिरूप पराज्ञान, जिसके द्वारा साधक परम तत्त्व का आत्म प्रत्यक्ष करके तन्मय हो जाता है। कबीर ने ज्ञान के गज पर सहज रूपी आसन डालकर आरूढ होने का आदेश दिया है। हाथी के चलते समय श्वान निरर्थक ही भौंका करते है परन्तु वह उनकी परवाह न करके अपनी राह चलता ही जाता है। उसी प्रकार ससाररूपी श्वान की ज्ञान को तनिक भी चिन्ता नही होनी चाहिए।[2]

यह सब ज्ञान है किसका जिसके द्वारा ज्ञानी परम निश्चिन्त होकर आत्मप्रकाश से आलोकित होता है। यह ज्ञान है एकत्व का, जिसके प्राप्त हो जाने से स्वत ही सब सिद्ध

---

१. देखो भाई ज्ञान की आई आँधी।
सबै उड़ानी भ्रम की टाटी रहै न माया बाँधी।
दुचिते की दुइ थूनि गिरानी मोह बलेडा टूटा।
त्रिष्णा छानि परी घर ऊपर कुमति का भाडा फूटा।
आँधी पीछे जो जल बरसे तिहि तेरा जन भीना।
कहि कबीर मन भया प्रगासा उदय भानु जब चीन्हा।।१६८ क० ग्र०, पृ० २६६

२ हस्ती चढ़िया ज्ञान कै सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप ससार है पड्या भुसौ झखमारि।।५ क० ग्र०, पृ० ५६

हो जाता है। अनेक का ज्ञान अज्ञान ही है। उसके जानने से क्या हित ? हित तो है अनेकत्व में एकत्व दर्शन में जिसमें कि सब कुछ सम्भव होता है।[१] जब तक कबीर में 'अहम्' था, द्वित्व का भाव था, परमात्मा का साक्षात्कार सम्भव नहीं था। जब उनके अन्तस्तल में एक परमात्मा की ही सत्ता शेष रह गई है सब जगत राममय हो गया है, उनके आत्म में ज्ञान के प्रकाश हो जाने से अज्ञानान्धकार मिट गया है। वह तू है 'तत्वमसि' इस प्रकार की धारणा से अहम् नष्ट हो गया तथा सर्वत्र उस तू परमात्मा का दर्शन होने लगा।[२] सुरति निरति में तथा जप अजप में अन्तर्हित हो गया। अक्षर लेख निरक्षर अलेख में विलीन हो गया तथा स्वयं परमात्मा पुरुष में समाहित हो गया।[३]

कबीर ने इस संसार को मायाजन्य बिना मूल का वृक्ष माना है, जिसमें गुरु और शिष्य साक्षी और भोक्ता रूप में स्थित हैं। परमात्मा ही गुरु है, जो साक्षी रूप में विद्यमान है तथा जीव ही शिष्य है, जो भोक्ता रूप में है। अमूर्त होकर भी समस्त जीवों में वह परमात्मा मूर्तिमान है।[४] इसी भाँति का उद्गार हमें श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी दृष्टिगोचर होता है। उपनिषद् में वर्णन है एक वृक्ष पर दो समान पक्षी बैठे हैं जिनमें एक वृक्ष के स्वादिष्ट फलों का भोग करता है तथा दूसरा साक्षी-भाव मात्र से उसका अवलोकन करता है। यही जीव और ब्रह्म का भोक्ता तथा साक्षी भाव है।[५]

योग का वर्णन करते हुए कबीर ने उसी को निर्द्वन्द्व मतवाला योगी माना है जिसका हृदय ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो। वह योगी हर समय अजपा जाप जपता है, व्यापक तथा व्याप्य ब्रह्म का ध्यान करता है। तथा आशा-तृष्णा पर विचार करके समस्त कार्य सम्पादित करता है। गुरु के ज्ञान द्वारा अगम ब्रह्म का परिचय प्राप्त करने में दत्तचित्त होता है, सुरती और नाद को अन्त में स्थापित करके शरीर के प्रति उदासीन हो जाता है। सुरति, निरति, पंचप्राण सब का एकीकरण कर प्रेम सागर में निमग्न हो जाता है। इस प्रकार के निर्द्वन्द्व योगी के निकट कलह-कल्पना जाती तक नहीं। सहज प्रकाश प्राप्त, नाम

---

१. कबीर एक न जाणियां तौ बहु जांण्यां क्या होइ।
एक तैं सब होत है सब तैं एक न होइ ।।६ — क० ग्र०, पृ० १६

२. तूं तूं करता तूं भया मुझमैं रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई जित देखौं तित तूं ।।६ — क० ग्र०, पृ० ५

३. सुरति समांणी निरति मैं अजपा माहै जाप।
लेख समांणा अलेख मैं यूं आपा माहै आप ।।२३ — क० ग्र०, पृ० १४

४. साखा पत्र कछू नहिं ताके सकल-कमल दल गाजै।
यह तरवर दो पक्षी बोलै एक गुरू एक चेला।
चेला रहा सो रस चुन खाया गुरू निरंतर खेला।
पक्षी के खोज अगम पंथ कहैं कबीर बड़ी भारी।
सब ही मूरत बीच असूरत मूरत की बलिहारी ।।४७ — ह० प्र० क०, पृ० २६४

५. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। — श्वे० ४।६

में निरन्तर रत वह योगी स्वयं तो मुक्त होता ही है, दूसरो को भी मुक्त करता है।[1] नारदीय प्रेमाभक्ति के अनुसार भक्त स्वयं मुक्त होता है तथा दूसरो को भी मुक्त करता है। इसी भक्ति पद्धति से प्रभावित होकर कबीर ने जिस साधक का वर्णन किया है वह यौगिक क्रियाओ को साध कर और प्रेम का प्याला पीकर स्वयं तरता है तथा लोक का भी निस्तार करता है।

कबीर के एक अन्य पद मे योग, प्रेम तथा ज्ञान का सुन्दर समन्वय हुआ है। उनके विचार से वही योगी है जो कलारहित, सम्पूर्ण, एकरस प्रेम की भिक्षा करता है। काम, क्रोध तथा विवाद से रहित अनहद शब्द ही उस योगी का श्रृंगीनाद है। वह अन्य आसन मुद्रा की अपेक्षा नही रखता। गुरु ज्ञान ही उसकी मानसिक मुद्रा है तथा त्रिकुटी मे ही वह ध्यान लगाता है। उसे काशी आदि तीर्थ खोजने की आवश्यकता नही पडती, सब शरीर मे ही प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञान ही उसकी मेखला है। वक नालि के रस का पान करने वाला वह परम ज्ञानी योगी स्थिर चित्त हो जाता है।[2] कबीर ने आधार परक आध्यात्मिक कर्मों के योग से सिद्धि प्राप्त करने की ओर भी इंगित किया है। शरीर का कथा, मौनि की मुद्रा, दया की झोली तथा विचार का पात्र धारण करके योगार्जन की विधि का निर्देश किया गया है। ऐसा गुरुमुख योगी शिष्ट जप तप, सयम का सचयन करता है। बुद्धि की विभूति लगाकर श्रृंगीनाद (अनहद) को सुरति मे मिलाकर वैराग्य को धारण करके स्व-शरीर रूपी नगर मे भ्रमण करता हुआ मन की ही किंगरी बजाता है। इस प्रकार के योग

---

१. अवधू सो जोगी मतवारा
जाके अन्तर भया उजियारा।
अजपा जाप जपे निसि वासर दुविधा चित नहि धारे।
सबसे न्यारा सब के माही ऐसा ब्रह्म विचारे। १
आशा परखे तृष्णा परखे परख परख सब लेवे।
गुरु के ज्ञान अगम को परचे ब्रह्म अगनि में देवे। २
मेलो सुरति नाद घर माही तन सो रहे निरासा।
प्रेम पियाला उलट के पीवे सहज होय परकासा। ३
सुरति निरति अरु पाचो पवना एकही संग चलावे।
रहे समाय प्रेम सागर में मन में मंगल गावे। ४
कलह कल्पना निकट न आवे निसि दिन नाम उचारे।
कहे कबीर अपनो क्या समय सो जन औरहि तारे। ५ — शीलनाथ, पृ० १८

२. सो जोगी जाके सहज भाइ अकल प्रीति की भीख खाइ।
सबद अनाहद सींगी नाद काम क्रोध बिषिया न बाद।
मन मुद्रा जाके गुर को ग्यान त्रिकुट कोट में धरत ध्यान।
मनहीं करनि कौ करै सनान गुर कौ सबद लेले धरै धियान।
काया कासी खोजै बास तहाँ जोति सरूप भयो परकास।
ग्यान मेषली सहज भाइ बंक नालि कौ रस खाइ।
जोग मूल कौ देइ बन्द कहि कबीर थिर होइ कन्द ।।३७७ — क०ग्र०, पृ० २१३

से निकली अलौकिक मस्ती का साम्राज्य छा जाता है।[1] सत्य तो यह है कि कबीर ने यहाँ योग के रूपक द्वारा ज्ञान धर्म-मय सदाचरण को ही अलौकिक आनन्द की प्राप्ति का साधन स्वीकार किया है। एक अन्य पद में षडाग-योग के द्वारा अनुपम तत्व प्राप्ति की चर्चा की गई है।[2] अनहद शब्द का चिन्तन करके ब्रह्म का ध्यान करने के लिए कबीर ने कहा है। पहले पंच वायु की खोज करे तत्पश्चात् वायु, बिन्दु को लेकर आकाश में लीन हो जाय। शून्य में इड़ा पिंगला के सन्धिस्थल पर रवि शशि और पवन का एकीकरण करे जिससे कि मन स्थिर हो जाय। मन स्थिर हो जाने पर कमल प्रकाशित होता है जिसमें परमात्मा का वास है। कमल के सम्पुट को खोलकर परमात्मा का साक्षात्कार गुरु कराता है परन्तु जिसके गुरु नहीं होता उसके विषय में कहा ही क्या जाय। इस भाँति दृढ़ आसन और निद्रा को साधकर सहज लक्षणों से युक्त योग की साधना करनी चाहिए।[3] सच्चे योगी के विषय में कबीर का कथन है—आत्मानन्द रूपी महारस का पीने वाला ही योगी है। वह अपनी काया पंचाग्नि से दग्ध नहीं करता वरन् ब्रह्मज्ञानरूपी अग्नि से प्रकाशित करता है। वह जप जिह्वा अथवा मुख से नहीं करता, उसका अजपा जाप स्वतः चला करता है। वह आसन बाघम्बर या कुशासन पर नहीं लगाता। इड़ा पिंगला सुषुम्ना के संगम त्रिकूट में आसन लगाता है तथा उसी त्रिवेणी की विभूति में मज्जन करता है तथा सब विषयों को त्यागकर

---

१ मुद्रा मौनि दया करि झोली पत्र का करहु बिचारु रे।
खिंथा यहु तनु सिंओं अपना नाम करो आधारु रे।
ऐसा जोग कमावै जोगी जप तप संजम गुरमुख भोगी।
बुद्धि बिभूति चढ़ावौ अपना सिंगा सुरति मिलाई।
करि बैराग फिरौ तन नगरी मन की किंगुरी बजाई।
पंच तत्त लै हिरदै राखहु रहै निरालम ताड़ी।
कहत कबीर सुनहु रे संतहु धर्म दया करि बाड़ी।।१६५ — क० ग्र०, पृ० ३१७

२. षट नेम कर कोठड़ी बाँधी बस्तु अनूप बीच पाई।
कुंजी कुलुफ प्रान करि राखे करते बार न लाई।
अब मन जागत रहु रे भाई।
गाफिल होय कै जनम गँवायो चोर मुसै घर जाई।
पंच पहरुआ दर महिं रहते तिनका नहिं पतियारा।
चेति सुचेत चित होइ रहु तौ लै परगासु उजारा।
नव घर देखि जु कामनि भूली बस्तु अनूप न पाई।
कहत कबीर नवै घर मूसे दसवें तत्त समाई।।२६५ — क० ग्र०, पृ० ३२४

३ ऐसा ध्यान धरौ नरहरी सबद अनाहद च्यन्तन करी।
पहिली खोजौ पंचे बाइ बाइ व्यंद ले गगन समाइ।
गगन जोति तहाँ त्रिकुटी संधि रवि ससि पवना मेलौ बंधि।
मन थिर होइ न कवल प्रकासै कवला माँहि निरंजन बासै।
सतगुरु संपट खोलि दिखावै निगुरा होइ तो कहाँ बतावै।
सहज लछिन लै तजौ उपाधि आसण दृढ़ निद्रा पुनि साधि।।२०५ — क० ग्र०, पृ० १४८

सहज समाधि प्राप्त करता है।[1]

भक्ति, ज्ञान तथा योग की अपेक्षा अधिक सरल तथा स्वाभाविक है। भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है। बिना किसी के सिखाये भी तप्त मानव रो पड़ता है, आर्त जगत् का प्रवर्तक किसी अदृश्य सत्ता की खोज में विह्वल होकर दौड़ पड़ता है और कलियों के चटकने, तारों के मुस्कराने, पत्तियों के मर्मर, चिड़ियों के कल्लोल और समुद्र के गर्जन में अपने को लय करके कवि-हृदय गा पड़ता है। भक्ति की इस मानव हृदय स्पर्शिता से कबीरदास भी अछूते नहीं बचे थे। यदि उन पर ज्ञान तथा योग का प्रभाव था तो वे भक्ति से भी उतने ही प्रभावित थे। उनके विचार से ब्रह्म के कथन मात्र से अहम् ब्रह्मास्मि के पाठ से अन्त नहीं प्राप्त होता। यह बौद्धिक ब्रह्मज्ञान मनुष्य को आत्मसाक्षात्कार कराने में सक्षम नहीं है। रामभक्ति के द्वारा वह साक्षात्कार घर बैठे सहज ही में बिना प्रयास के प्राप्त हो जाता है। कबीर ने राम को अपना मन समर्पित कर दिया है और इस आत्म समर्पण के द्वारा भगवान् उनके वश में हो गये हैं मानो उनके मोल लिए हों। जिस परमात्मा को कंचन से तोल कर भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, वही परमात्मा भक्त के वश में रहता है।[2] भक्त के लिए भक्ति ही मुख्य है, स्थान आदि बाह्य साधन गौण हैं। काशी में शरीर त्यागने से यदि मुक्ति मिल गई तो इसमें राम का क्या निहोरा ? काशी तो मुक्तिदायिनी कही ही गई है। कबीर साधारण जन से भक्त की कोटि में आ गये यही मानव-जीवन का लाभ है। जिसकी राम में भक्ति रहती है उसके लिए कुछ भी आश्चर्य नहीं है। गुरु के प्रसाद से, साधु के संग से तथा रामभक्ति से जुलाहे की निम्न जाति के कबीर ने संसार विजय कर ली है अर्थात् उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया है। सर्वसाधारण को सचेत करते हुए कबीर कहते हैं—भ्रम में कोई मत पड़ो। जैसी कासी है वैसा ही मगहर।[3] काशी, मगहर आदि का महत्त्व नहीं है, महत्त्व तो है हृदयस्थ राम का और यही सत्य है।

---

१. आत्मा अनदी जोगी,
　　पीवै महारस अमृत भोगी।
ब्रह्म अगनि काया परजारी,
　　अजपा जाप उनमनीं तारी।
त्रिकुट कोट मैं आसन मांडै,
　　सहज समाधि विषै सब छाडै।
त्रिवेणी विभूति करै मन मंजन,
　　जन कबीर प्रभु अलख निरंजन ॥२०४　　　क०ग्रं०, पृ० १५८

२. कंचन स्यो पाइयै नहि तोलि। मन दे राम लिया है मोलि।
अब मोहिं राम अपना करि जान्या। सहज सुभाइ मेरा मन मान्या।
ब्रह्मै कथि कथि अन्त न पाया। राम भगति बैठे घर आया।
कहु कबीर चंचल मति त्यागी। केवल राम भक्ति निज भागी ॥३१　　　क०ग्रं०, पृ० २०५

३. लोका मति के भोरे रे।
जो कासी तन तजै कबीरा रामहिं कहा निहोरा रे।
तब हम वैसे अब हम ऐसे इहै जनम का लाहा रे।

कबीर ने भक्ति को परमात्मा के वर्णन करने का कारण माना है। यद्यपि परमात्मा अनिर्वचनीय है परन्तु उसके विषय में कथन और श्रवण इसलिए किया जाता है कि उससे सुख उत्पन्न होता है तथा परमार्थ की प्राप्ति होती है। कथन और श्रवण भक्ति के अन्तर्गत हैं इसलिए भक्ति से ये दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं—सुख की उत्पत्ति तथा परमार्थ की उपलब्धि।[1] कबीर परमात्मा के अतिरिक्त किसी को मित्र नहीं मानते। उसी परम मित्र का स्मरण करने को वे कहते हैं। वे हाथ से काम करते हुए भी परमात्मा के ध्यान में लगे रहना चाहते हैं। जिस प्रकार मकड़ी जाले पर रहती हुई भी उसमें नहीं फँसती, उसी प्रकार मनुष्यों को संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होना चाहिए। श्वासोच्छ्वास हरि-स्मरण में चूक नहीं होनी चाहिए। हृदय से—भक्ति में हरि-स्मरण करो, जीवन क्षणिक है। मानव-जीवन बार-बार प्राप्य नहीं। परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग कठिन और दुरूह है। इस मार्ग से संत जन ही प्रभु तक पहुँच पाते हैं।[2]

एक अन्य पद में कबीर ने जुलाहे को सम्बोधित करते हुए परमात्मा के नाम का ही वस्त्र बुनने के लिए कहा है। वस्त्र बुनना कबीर का व्यावसायिक कार्य था। इस कार्य में वह इतना अभ्यस्त हो गए थे कि रामनाम के विषय में भी उसे नहीं भूल सके। अभ्यास दूसरी प्रकृति (Second-Nature) कही ही गई है। वे राम की भक्ति में इतने लीन थे कि उन्हें व्यावसायिक कार्य में भी रामनाम का ही कार्य दिखलाई पड़ा। उनका मानसिक कार्य था हरि स्मरण तथा शारीरिक कार्य था वस्त्र बुनना। दोनों कार्य उनके लिए इस प्रकार स्वाभाविक हो गए थे कि भावों की तल्लीनता में वे परस्पर एक दूसरे से ओत-प्रोत दृष्टिगत होते थे।[3] भक्ति की महत्ता और उसका फल परमात्मा-प्राप्ति के विषय में जान लेने

राम भगति परि जारी हित चित जारी अरग बहा रे।
गुर परसाद भाभा सगति ननानें नाइ जुलाहा रे।
कहै कबीर सुनहु रे मनी अमि परै जनि कोइ रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर हिरदै राम सति होई रे।२६० — क० ग्रं० प०, पृ० २२१

१ जसु कथिये तस होत नहीं जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख उपजै अरु परमारथ होइ ॥ — क० ग्रं०, पृ० २३०

२ मना भजले श्री भगवन्ता।
तेरा हरि बिन कोइ नहीं मिंता रे।
राम नाम का सुमिरन करके चेद मरन का तना।
सर्व ध्यान हरि में राखो भूलो नहिं गुणवन्ता रे।
कर से काम करो हरि से ध्यान धरो मकड़ा के जाल में तना।
चढ़ते उतरते दम को सुमर रखो भूलो नहिं गुणवन्ता रे।
हरि बोलो हरि बोलो हृदय में मनुवा क्यों फिरता है घूमता।
यह जिन्दगी है दो दा दिन की फिर नहिं आना बना रे।
साईं का मारग दूर कठिन है राह बाट नहिं मिलता।
कहत कबीर सुनो भाई साधो पहुँचेगा संत महन्ता रे ॥

३ कोलहा जानहु हो हरि नामा जाहे सुरनर मुनि धरे ध्याना।

के पश्चात् कबीर द्वारा प्रस्तुत भक्त के लक्षणों के विषय में भी हमें कुछ जान लेना आवश्यक है। कबीर के मत से विरला पुरुष ही भक्त की संज्ञा प्राप्त करने योग्य होता है। ऐसे भक्त परमात्मा में प्रीति रखने वाले काम, क्रोध तथा लोभ से रहित होते हैं। स्तुति, निन्दा, मान, अपमान, तृष्णा, अभिमान आदि से रहित, मूल्यवान्, एवं सुन्दर धातु सुवर्ण और कुधातु लोहा को एक भाव—सम दृष्टि—से देखने वाले भक्त साक्षात् भगवान् की मूर्ति ही हैं। यदि वे चिन्तन करते हैं तो माधव चिन्तामणि का, विषयों का नहीं। यदि वे रमण करते हैं तो हरिपद में, अन्यथा उदासीन रहते हैं। यदि सत्व, रज, तम त्रिगुण की बात कही जाय तो वह सब परमात्मा की माया मात्र ही है। भक्त इन तीनों से अतीत, माया से निर्लिप्त रहता है।[1] भक्त की कसौटी प्रस्तुत करते हुए एक अन्य स्थल पर कबीर का कथन है—उसी को भक्त समझना चाहिए जिसमें आतुरता नहीं। मन में धैर्य धारण किये हुए भक्त सदैव सत्य तथा संतोष को ग्रहण करता है। वह काम, क्रोध से प्रभावित नहीं होता, न तृष्णा से दग्ध होता है। उसे दूसरे की निन्दा में रस नहीं मिलता और न वह असत्य भाषण से प्रसन्न ही होता है। वह समद्रष्टा द्विविधा रहित, काल-कल्पना का नाशक, प्रभु-चरणों का अनुरागी, आनन्द विभोर, गोविन्द-गुण का गान करने वाला होता है।[2] उसी को हरिरस

ताना तिनको अँछुआ लीन्हौ चरखी चारिहुँ बेरा।
सर-खूँटी एक रामनरायन पूरन प्रगटे कामा।
भवसागर एक कठवत कीन्हौ तामहँ माँडी साना।
माँडी के तन माँडि रह्यो है माँडी बिरले जाना।
चाँद सुरज दुई गोड़ा कीन्हौं माँझ दीप कियो माँझा।
त्रिभुवननाथ जो माँजन लागे स्याम मुररिया दीन्हा।
पाई करि जब भरना लीन्हौं वै बाँधे को रामा।
वैभरा लिहुँ लोकहि बाँधे कोइ न रहत उबाना।
तीनि लोक एक करिगह कीन्हौ दिगमग कीन्हौं ताना।
आदि पुरुष बैठावन बैठे कबिरा जोति समाना।।१०४ — क० ग्र० क०, पृ० २६१

१. तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ बिवर्जित हरि पद चीन्है सोई।
राजस तांमस सातिग तीन्यूं ये सब तेरी माया।
चौथे पद कौं जे जन चीन्हैं तिनहि परम पद पाया।
अस्तुति निन्दा आसा छाड़ै तजै मान अभिमाना।
लोहा कंचन सम करि देखै ते मूरति भगवाना।
च्यंतै तौ माधौ चिन्तामणि हरि पद रमै उदासा।
त्रिस्ना अरु अभिमान रहित है कहै कबीर सौ दासा। — क० ग्र०, पृ० १५०

२. राम भजै सो जांनिए जाकै आतुर नांही।
सत संतोष लीयें रहै धीरज मन मांही।
जन कौं काम क्रोध व्यापै नहीं त्रिष्णा न जरावै।
प्रफुल्लित आनन्द मैं गोविन्द गुंण गावै।
जन कौं परनिन्दा भावै नहीं अरु असति न भाखै।

पिये हुए अर्थात् भक्त समझता चाहिए जिसके प्रेम का खुमार कभी न उतरे तथा परम निश्चिन्त होकर विचरण करता हुआ वह मस्त भक्त अपने शरीर की भी सुधि-बुधि भूल जाय। इस प्रकार जिसका मन राम का ही स्मरण करता है, राममय है तथा स्वयं ही राम हो गया है, वह किसका चरण-वन्दन करे।[1] जब साधक और सिद्धि, प्रेमी और प्रिय एक रूप हो जाते है, दोनों में कोई अन्तर नही रहता तो अर्चना-उपासना का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

सब मे राम की व्याप्ति देखने वाले कबीर के लिए वैकुण्ठ या स्वर्ग का कोई महत्त्व नही है। स्वर्ग अथवा मुक्ति-प्राप्ति की अपेक्षा उन्हे राममय होना अधिक प्रिय है। यह मुक्ति स्वर्ग की भावना तभी तक है जब तक द्वैत भाव विद्यमान है। जब सब एकाकार हो गया तब भ्रम की स्थिति नही रहती। तत्त्वज्ञान न होने तक ही तरण जीव तथा तारण परमात्मा की स्थिति रहती है अन्यथा सब एक ही है।[2] प्रश्न उठता है कि भक्त और भगवान् का सम्बन्ध क्या है। हम देख चुके है कि कबीर ने परमात्मा तथा जीवात्मा मे अन्तर नही माना है। उनके मत से परमात्मा और जीवात्मा के बीच शाश्वत सम्बन्ध है। यह सत्य है कि शरीर धारण करके जीवात्मा अपने को भूल जाती है और यह चिर सम्बन्ध टूटा हुआ सा दिखलाई पड़ता है परन्तु यह भूल है। सदैव से स्थिर सम्बन्ध अन्त तक बना रहेगा। कमल के लिए जल की तथा चकोर के लिए चन्द्र की जो महत्ता है वही भक्त के लिए भगवान् की है। कमल जल मे जीवन ग्रहण करता है, जल के ही नाम से 'जलज' कहलाता है, जल ही मे निवास करता है, जल के बिना उसका अस्तित्व नही। चकोर चन्द्र का प्रेमी है। वह अपलक दृष्टि से उसकी रूप सुधा का पान किया करता है। इसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से ही अस्तित्व धारण करती है, उसी से व्याप्त है तथा उसी के मिलन के लिए आकुल है। परमात्मा के ध्यान मे दत्तचित्त व्यक्ति अपने अस्तित्व को खोकर परमात्मा मे उसी प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार सरिता सागर मे मिलकर अपना अस्तित्व खो देती है और सागर ही हो जाती है। यही है वह सायुज्य मुक्ति जो कबीर को मान्य है।[3]

काम कलपना मैगि करि चरनूं चित राखै।
जन समर्प्ये-रूपी मोतन सदा दुविधा नहि भानैं।
कहे कबीर ता दास सूं मेरा मन मन मानैं ॥२६२ — क० ग्र०, पृ० २०१

१ मेरा मन सुमिरै राम कूं मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या सीस नवावौं काहि ॥८ — क० ग्र०, पृ० ५

२. राम मोहि तारि कहाँ लै जैहो।
सो बैकुंठ कहो धौं कैसा जो करि पसाव मोहि दे हो।
जो मेरे जिउ दुइ जानत हौ तौ मोहि मुकुति बताओ।
एकमेक ह्वै रमि रह्या सबन मै तौ काहे को भरमावो।
तारन तिरन तब लगि कहिये जब लग तत न जान्या।
एक राम देख्या सबहिन मै कहै कबीर मनमान्या। — पी० द० ब०, पृ० ३६

३. मोहि तोहि लागी कैसे छूटे।
जैसे कमल पत्र जल बासा। ऐसे तुम साहिब हम दासा।

अपने अटूट स्नेह सम्बन्ध के कारण भक्त भगवान् से अपने मन मन्दिर मे निवास करने के लिए हठ करता है। कबीर के शब्दो मे भक्त का भगवान् से आग्रहपूर्ण निवेदन है, 'जिस प्रकार से भी चाहो तुम हमारे बन जाओ। एक बार तुमको पाकर अब मै हृदय से नही जाने दूँगा। बडा सौभाग्य है कि चिरकाल की प्रतीक्षा के बाद तुम घर बैठे ही बिना प्रयास के मिल गये। चरणो को पकडकर हठ करके तुमको मैं मन-मन्दिर मे रहने के लिए बाध्य करूँगा। अपने प्रेम मे तुम्हें ऐसा उलझा दूँगा कि कही जाने ही नही पाओगे।"[1] ठीक ही है भक्त के वश मे सदैव भगवान् रहते हैं। भक्त की यही अधिकारपूर्ण पुकार भगवान् को कृपा दृष्टि करने के लिए बाध्य करती है। यही भाव भक्त बिल्वमगल के द्वारा इस प्रकार व्यक्त हुआ है

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि कै मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहि॥

कबीर ने परमात्मा से अनेक सम्बन्ध स्थापित किये है। उन्होंने कही परमात्मा को जननी कही पति, कही मित्र और कही सहायक का रूप प्रदान किया है। भगवान् को माता का रूप प्रदान करते हुए कबीर का निवेदन है—हे हरि! तुम मेरी जननी हो। मैं तुम्हारा बालक हूँ। फिर मेरे अपराधो की क्षमा क्यों नहीं करते। बालक चाहे जितने अपराध करे परन्तु माँ उसे क्षमा ही कर देती है। यदि बालक माता के बाल पकडकर नोचता भी है तो भी माता के प्रेम मे तनिक भी न्यूनता नही आती। बालक के कष्ट से माँ कष्टित होती है। बालक के दुख सुख मे ही वह अपना दुख सुख मानती है। इसी प्रकार जननी रूप परमात्मा के द्वारा भक्त के सब अवगुण क्षम्य हैं। वह भक्त के दुख मे दुखी तथा सुख मे सुखी रहता है।[2] यहाँ पर कबीर अपनी ईश्वर विषयक धारणा "ईश्वर सुख दुख से परे है" से पृथक् जाते हुए प्रतीत होते है। उनके विचारो की यह असाम्यता उनके परमात्मा के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध के कारण कही जा सकती है। अन्यत्र कबीर ने राम

जैसे चकोर तकत निसि चन्दा। ऐसे तुम साहिब हम बन्दा।
मोहि तोहि आदि अन्त बनि आई। अब कैसे लगन दुराई।
कहै कबीर हमरा मन लागा। जैसे सरिता सिंध समाई।।३४ — क० ग्र० प०, पृ० २५८

1 अब तोहि जान न देहूँ राम पियारे।
ज्यूँ भावै त्यूँ होउ हमारे।।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये भाग बड़े घरि बैठे आये।
चरननि लागि करौं बरियाई प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
इत मन मंदिर रहौ नित चोषै कहै कबीर परहु मति धोखै।।३ — क० ग्र०, पृ० ८७

2 हरि जननी मैं बालिक तेरा।
काहे न अवगुण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते जननी के चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करै जो घाता तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी बालक दुखी दुखी महतारी।।१११ — क० ग्र०, पृ० १२१

को अपना प्रियतम और अपने को राम की बहुरिया कहा है।[1] इस वर्णन के द्वारा कबीर के ऊपर कान्तासक्ति भक्ति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कबीर के ही शब्दों में—हरि के अतिरिक्त कोई मित्र नही है।[2] जिस दिन अपना कहलाने वाला कोई नहीं होगा उस दिन राम ही सहायक होंगे। राम शरण मे आये हुए भक्तो की रक्षा तथा उनका उद्धार करने वाले हैं जिसके साक्ष्य रूप मे है वह पौराणिक कथा जिसमे दुर्वासा के शाप से राजा अम्बरीष को बचाने के लिए भगवान् चक्र सुदर्शन का प्रयोग करने से भी नहीं हिचके।[3]

यद्यपि कबीर ने वात्सल्यभक्ति का भी उल्लेख किया है जैसा कि हम अभी देख चुके हैं परन्तु उनके अधिकांश पद प्रेमाभक्ति विषयक ही हैं गौणी भक्ति सम्बन्धी नही। वे नारदीय भक्ति के द्वारा जो कि प्रेमाभक्ति ही है, संसार सागर से पार होना संभव मानते हैं परन्तु जब तक हृदय मे भक्ति नहीं होती उसका बाह्य दिखावा मात्र नितान्त व्यर्थ है।[4]

कबीर ने परमात्मा रंगरेज के द्वारा भक्त को प्रेम रंग से रंग देने का रूपक प्रस्तुत किया है। परमात्मा रंगरेज ने साधक के हृदय मे स्थित अवगुणों तथा कलुषों की कालिमा को छुड़ाकर अनुराग के लाल रंग से चित्त रूपी चुनरी रंग दी है। अनुराग का रंग ऐसा पक्का है कि धोने से छूटता नहीं वरन दिन दिन धोने से उसका रंग निखरता ही जाता है। विघ्न बाधाओं एवं कष्टों की कसौटी पर कसे जाने से ही प्रेम का रंग निखरता है। भाव के कुण्ड मे स्नेह के जल से यह रंग तैयार होता है। मैल छुड़ाकर चुनरी को रंगते समय कष्ट अवश्य होता है। हृदय को मल रहित करके अनुराग मे रंजित करते समय प्रेम मार्ग की अनेक कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं परन्तु उसके बाद परम चतुर, दयालु प्रियतम परमात्मा के द्वारा प्रेम के सुरंग मे रंगी जो शान्तिदायिनी चुनरी (मन स्थिति) प्राप्त

---

१ हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥११७ — क० ग्र०, पृ० १५५

२ मना भजले यो भगवन्ता रे।
तेरा हरि बिन कोइ नहीं मित्रा रे॥

३ मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाइ।
जा दिन तेरो कोइ नाहीं ता दिन राम सहाइ।
तंत न जानूं मंत न जानूं जानूं सुंदर काया।
मीर मलिक छत्रपति राजा ते भी खाये माया।
वेद न जानूं भेद न जानूं जानूं एकहि रामा।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हा मुख कीन्हा जित नामा।
राजा अम्बरीष के कारणि चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर को ठाकुर ऐसो भगत की सरन उबारै ॥१२२ — क० ग्र०, पृ० १२७

४ भगति नारदी मगन सरीरा।
इह बिधि भव तिरि कहै कबीरा ॥२७८ — क० ग्र०, पृ० १८३
भगति नारदी रिदै न आई काछि कूछि तन दीना।
राग रागनी डिंभ होइ बैठा उन हरि पहि क्या लीना ॥१६४ — क० ग्र०, पृ० १२४

होती है उसे ओढ़कर भक्त आनन्द मग्न हो जाता है।[1]

प्रेम का मार्ग बड़ा ही अटपटा है। प्रेमरस सस्ता सौदा नहीं है। अनाज की भाँति वह न तो खेतों में उत्पन्न होता है और न हाट में द्रव्य से पाने योग्य क्रय की वस्तु है—न द्रव्य, न प्रयत्न ही इसकी प्राप्ति के लिए समर्थ हैं। इसकी प्राप्ति होती है शीश अर्पण करने से। राजा रंक जिसकी भी इच्छा हो अपने प्राण अर्पित करके—अपने प्राणों की बाजी लगाकर प्रेम प्राप्त कर सकता है। प्रेम की प्राप्ति का कोई विशेष पात्र नहीं है। छोटे-बड़े, धनी-निर्धन सभी इसके समानाधिकारी हैं।[2] ऐसे प्रेमरस को प्राप्त करने वाले के हृदय में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य के लिए स्थान नहीं रह जाता। सौभाग्यशीला के मस्तक पर सिंदूर की रेखा के अतिरिक्त काजल की रेखा स्थान नहीं पाती। इसी प्रकार जिसके नेत्रों में परमात्मा की छवि विराजमान है उसे अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं होता।[3] एक स्थान में दो तलवारें नहीं रक्खी जा सकतीं।[4] नेत्रों में एक की ही छवि ग्रहण करने की क्षमता है फिर अन्य की छवि क्योंकर ग्रहण की जाय।

प्रेमाभक्ति का वर्णन करते हुए कवियों ने प्रेम और काम का सहअस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। नारद ने भक्तिसूत्र में भी स्त्रीप्रेम को भगवत् प्रेम से भिन्न तथा बहुत ही निम्न कोटि का माना है।[5] कबीर ने भी काम तथा प्रेम के सहअस्तित्व को नितान्त असम्भव कहा है। सूर्य और रात्रि एक साथ नहीं रह सकते, एक ही रहेगा चाहे रात्रि रहे चाहे सूर्य। ज्ञान और अज्ञान का एक साथ रहना भी असम्भव है। इसी प्रकार जहाँ काम की सत्ता बलवती होती है, वहाँ प्रेम का अस्तित्व नहीं रहता और प्रेम उत्पन्न हो जाने

---

१ साहिब है रंगरेज चुनरी मेरी रंग डारी।
स्याही रंग छुड़ाय के रे दियो मजीठा रंग।
धोये से छूटे नहीं रे दिन दिन होत सुरंग।
भाव के कुंड नेह के जल में प्रेम रंग दई बोर।
दुख देई मैल लुटाय दे रे खूब रंगो झकझोर।
साहिब ने चुनरी रंगी रे प्रीतम चतुर सुजान।
सब कुछ उन पर वार दूँ रे तन मन धन और प्रान।
कहैं कबीर रंगरेज पियारे मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढ़िके रे भइ हौं मगन निहाल ॥२२१ — क० ग्र० क०, पृ० ३१०

२. प्रेम न खेतों नीपजै प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै सिर दे सो ले जाइ। — क० ग्र०, पृ० ७०

३. कबीर रेख सिंदूर की काजल दिया न जाइ ॥२१
नैनूं रमइया रमि रह्या दूजा कहाँ समाइ ॥४ — क० ग्र०, पृ० १६

४. एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान। कबीर
रहे किमि एक म्यान कमि दोय। सूर

५ तद्विहीनं जाराणामिव। — ना० भ० सू० २३
नास्त्येव तस्मिन्सुखसुखित्वम्। — ना० भ० सू० २४
सा तु कामंनयोगेनरोऽप्यधिकतरा। — ना० भ० सू० २५

के पश्चात् काम नहीं रह जाता।[1] इस प्रसंग में कबीर का एक अन्य दोहा द्रष्टव्य है :

नैना अंतरि आव तूं ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
ना हौं देखौं और कूं ना तुझ देखन देउं। क० ग्र०, पृ० १६

इस दोहे के प्रथम तीन चरणों के भाव कबीर के भावों के अनुरूप ही हैं। परमात्मा का प्रत्यक्ष हो जाने के बाद अन्य विषयों के प्रति नेत्र बन्द कर लेना भक्त की अनन्यता ही कही जायगी। जब नेत्रों में परमात्मा का वास हो गया, तब दूसरा कैसे दृष्टिगोचर होगा। सब परमात्मामय ही दिखलाई पड़ेगा। दूसरे के देखने की प्रवृत्ति भी न रहेगी। इसके अतिरिक्त परमात्मा के दर्शन से साधक का निर्द्वन्द्व होकर आत्मानन्द की पूर्ण शान्तिमयी स्थिति में पहुँचकर नेत्र मूँद लेना स्वाभाविक ही है। भगवत्भक्ति में 'ना तुझ देखन देउँ' का उद्गार किस प्रकार हो सकता है। यह भाव तो लौकिक प्रेम या काम्य प्रेम में ही सम्भव है जिसमें प्रेमी अपने प्रिय के प्रेम का कोई साझीदार नहीं चाहता। भगवत्प्रेम और लौकिक प्रेम में यही मुख्य अंतर है। भगवत्प्रेम में प्रेमी की यही अभिलाषा रहती है कि उसके प्रिय से जड चेतन समस्त विश्व प्रेम करे, तदनुसार वह भी सबके प्रेम का पात्र बने। संत कबीर ने यह उद्गार किस धुन में व्यक्त किया पता नहीं। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि इस भाव का मेल उनके दर्शन से नहीं बैठता।

कबीर प्रेमी भक्त थे। उनके विचार से प्रेम करने वाले को निरन्तर जाग्रत रहना पड़ता है। पता नहीं प्रिय की कब प्राप्ति हो जाय अथवा ऐसा न हो कि शयन की अर्ध चेतनावस्था में कहीं प्रिय विस्मृत हो जाय। जिस प्रकार प्रगाढ़ निद्रा की इच्छा होने पर तकिया, बिछावन आदि उपधानों की आवश्यकता नहीं रहती उसी प्रकार प्रेम के मार्ग में जब भक्त को मस्तक देना ही है तो रोने की क्या आवश्यकता।[2] प्रेम-मार्ग वीरों का

---

१ घर परकास तहँ रैन कहँ पाइये
रैन परकास नहिं सूर भासै।
ज्ञान परगास अज्ञान कहँ पाइये
होय अज्ञान तहँ ज्ञान नासै।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइये
प्रेम जहाँ होय तहँ काम नाहीं।
कहै कबीर यह सत्त बिचार है
समझ बिचार कर देख माहीं।३७ क० ग्र० ग्रं०, पृ० २५६

२ मधुर देस मन मीत पियरवा
गाफिल होकर सोना क्या रे।
पाया हो तो दे से प्यारे
पाय पाय फिर खोना क्या रे।
जब अँखियन में नींद घनेरी।
तकिया और बिछौना क्या रे।
कहैं कबीर प्रेम का मारग,
सिर देना तो रोना क्या रे।६६ क० ग्र० ग्रं०, पृ० ३८१

मार्ग है, कायरों का नहीं। इसमें हँसते हुए आत्म-बलिदान करना होता है रोकर नहीं। केवल सिर देना ही पर्याप्त नहीं है। अपना शीश काटकर उसे भूमि पर रखकर उस पर ही पग रखते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचना होता है। जो ऐसा साहस तथा आत्म-बलिदान कर सके उसको ही प्रेम-पथ का पथिक बनना चाहिए।[1] कबीर की गणना ऐसे ही साहसी हरि-प्रेमियों में है। वे सर्वसाधारण के बीच खड़े होकर यह घोषणा करते हैं कि जो बन सके उनका अनुगामी बने। वे मोह-ममता को तिलाञ्जलि देकर अपना घर-द्वार स्वाहा करके निकले हैं। जिस लुकाठी से उन्होंने घर भस्म किया है, वह प्रतीक रूप से उनके हाथ में है। उसकी अग्नि शान्त नहीं हुई है। जो कबीर के अपनाये हुए मार्ग पर चलना चाहे, वह मोह-ममता के केन्द्र घर को ही भस्म करके उनके साथ आवे।[2]

इस संसार को सुखसागर बतलाते हुए कबीर की उक्ति है—जीवन पाकर उसे प्रेम से रहित बनाकर व्यर्थ न करो। इस सुखसागर में आकर प्यासे मत जाओ। सम्मुख अथाह प्रेमजल भरा हुआ है। उसे श्वासोश्वास पी लो। इसी प्रेमरस को ध्रुव, प्रह्लाद, शुकदेव और रैदास ने पिया है। इसी में सन्त मस्त रहते हैं तथा इसी के लिए लालायित रहते हैं। मृगतृष्णा-जल माया के पीछे मत दौड़ो। वास्तव में यह राम प्रेमरस ही सुधा है। बाकी सब मृग-वारि की भाँति मिथ्या है।[3] भवताप से संतापित होते हुए कबीर ने इसी भगवत्प्रेम-जल को प्राप्त कर लिया है जिससे उनकी व्यथा दूर हो गई है। सुर, नर, मुनि सब जिस भवताप से पीड़ित हो रहे हैं, उससे भक्तों को बचाने में यही प्रेम-जल समर्थ हुआ है। मन को जीतने के लिए साधक वन की शरण लेता है परन्तु इस जल के बिना वह भी प्राप्य नहीं।

कबीर के लिए यह संसार सुखसागर है, जो राम के प्रेमजल से परिपूरित है। निरन्तर पान करने पर भी इसका प्रेमजल तनिक भी नहीं घटता। इस प्रेमजल से भक्त कबीर की तृषा शान्त हो गई है।[4] यह हरिरस कैसा है? कबीर कहते हैं कि यह

---

१. सिर काटै भुइँ धरै तापै राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै ऐसा होय तो आव।

२. कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूकै आपनो चलै हमारे साथ। लोक प्रचलित।

३. सुखसागर में आय के मत जा रे प्यासा।
अजहुँ समझ नर बावरे जम करत निरासा।
निर्मल नीर भरे तेरे आगे पी ले स्वांसो स्वांसा।
मृग-तृष्णा-जल छाँड़ बावरे करो सुधारस आसा।
ध्रु प्रह्लाद शुकदेव पिया और पिया रैदासा।
प्रेमहि सन्त सदा मतवाला एक प्रेम की आसा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो मिट गई भय की बासा।६१ क० प० ०, पृ० २६१

४. अब मोहि जलत राम जल पाइया,
राम उदक तन जलत बुझाइया।
मन मारन कारन बन जाइये। सो जल बिन भगवन्त न पाइये।

हरिरस ऐसा है, जिसके पान करने से अमरत्व प्राप्त हो जाता है। इसके साक्षी हैं ध्रुव, प्रह्लाद, मीराबाई जो इसका पान करके अमर हो गये। इस हरिरस का मूल्य साधारण नहीं है। इस अमूल्य रस की प्राप्ति के लिए कदम दुवारे के बादशाह ने बादशाही तक का परित्याग किया है। परन्तु बादशाही के त्याग से भी इसका उपयुक्त मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। इस महँगे सौदे का मूल्य है अपना शीश उतार देना। यही कारण है कि कोई विरला ही इसे पान करता है। आगे आगे दावाग्नि जलती है परन्तु इसी रस के गुण से वहीं हरीतिमा भी होती जाती है। सामान्य अर्थ में, एक ओर मृत्यु होती है दूसरी ओर जन्म सृष्टि क्रम को स्थापित रखता है।[१]

परमात्मा से हृदय मिल जाने के पश्चात् कोई अन्तर नहीं रह जाता। भक्त परमात्मा में ही समाहित हो जाता है, जिस प्रकार तुषार जल में मिलकर अपने भिन्न प्रतीयमान अस्तित्व को खो देता है और जल ही हो जाता है।[२] परमात्मा से मिलन के लिए कबीर ने भय को भी बड़ा उपकारी माना है। भयाकुल भक्त सब सांसारिक झगड़ों को भूलकर परमात्मा के स्मरण में ही लीन हो जाता है। उसे सदैव परमात्मा का डर बना रहता है। आतप से पिघलकर तुषार पानी बनकर दृढ़ निश्चलता है तथा ढुलक कर तट पर पहुँच जाता है अपनी अन्तिम गति सागर में मिलने। इसी प्रकार वह भक्त जो भय से द्रवित हो जाता है निश्चित ही परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।[३] हिन्दी साहित्य में साधारणतया भय, वैर आदि कठोर भाव परमात्मा प्राप्ति के कारण नहीं माने गये हैं। इनका जहाँ कहीं भी वर्णन हुआ है, अपवाद स्वरूप ही कहा जायगा। यह बात अवश्य है कि परमात्मा के प्रति कोई भी तीव्र भावना उसका साक्षात्कार कराने वाली हो सकती है। प्रेम जिस प्रकार साधक को तन्मय करके उसे अपने ही रूप का बना देता है, उसी प्रकार भय भी तद्रूप बना देता है। ऐसे भयमिश्रित ध्यान को 'भृंगीकीट ध्यान' कहते हैं। यह

जेहि पावक सुर नर हैं जारे। राम उदक जन जरत उबारे।
भव सागर सुख सागर माहीं। पीव रहे जन निखुटत नाहीं।
कहि कबीर भजु सारिंग पानी। राम उदक मेरी तिषा बुझानी।।७ — क० ग्रं०, पृ० २६६

१ ऐसो है रे हरि रस ऐसो है रे भाइ,
जाके पिये अमर है जाइ।
ध्रुव पिया प्रहलादहु पं या पिया मीराबाई।
कम्बर बुखारे के साथा पीया छोड़ी है बादसाही।
हरि रस महँगा मोल का रे पवै विरला कोय।
हरि रस महँगा सो पिये अपने धर पै सीस न होय।
आगे आगे दौं जरै रे पाछे हरिया होय।
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरि भजि निर्मल होय।४ — कबीर, म० बा० सं० भा०२, पृ० २६

२. जब दिल मिला दयाल सौं तब अन्तर कछु नाँहि।
ज्यौं पाला पानी कौं मिल्या त्यौं हरिजन हरि माँहि।१ — दादू, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ६२

३ भक्ता भय शुं भेरे पड्या गल दसा सब भूलि।
पाला गलि पाणी भया ढुलि मिलिया उस कूलि।।२८ — क० ग्रं०, पृ० १४

दो प्रकार से सम्पन्न होता है। एक ओर कीट के ऊपर मँडराते हुए भृगी के द्वारा कीट के ध्यान किये जाने के प्रभाव से छिद्र में बन्द कीट का तद्रूप हो जाना, दूसरी ओर भयातुर कीट द्वारा भृगी का निरन्तर चिन्तन करने से उसका (कीट का) तद्रूप हो जाना। यहाँ पर भय से परमात्मा का स्मरण करते हुए उसकी प्राप्ति सम्भव मानी गई है। इसी प्रकार मानस में तुलसीदास ने राक्षसों की मुक्ति का कारण उनके द्वारा ईर्ष्या-द्वेष समन्वित भाव से शत्रु की भाँति राम का निरन्तर चिन्तन करना माना है।[1] अस्तु यह निश्चित है कि ईर्ष्या, भय, द्वेष, प्रेम कोई भी तीव्र मनोवेग परमात्मा का प्रत्यक्ष कराने में समर्थ है। सम्भवतः तीव्र संवेगानाम् आसन्न के द्वारा महर्षि पतञ्जलि ने इसी भाव की व्यञ्जना की है।

इश्क के माते कबीर को किसी प्रकार की चतुराई से प्रयोजन नहीं। चतुराई को हम वस्तु के स्वरूप से उसे भिन्न प्रदर्शित करने की कला कह सकते हैं। प्रेम और चतुराई साथ साथ नहीं निभती। जगतजाल से मुक्त रहने वाले के लिए संसार से मित्रता कैसी? जिन प्रेमियों के प्रिय उनसे बिछुड़े हुए हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए वे यत्र तत्र भटकते फिरते हैं परन्तु जिसका प्रियतम स्वयं उसी में समाया हुआ है वह किसी की प्रतीक्षा क्यों करे? कबीर का प्रियतम पल भर के लिए भी आँख की ओट नहीं होता। न प्रेमी ही विलग होता है। निरन्तर प्रिय के साथ रहने वाले में आतुरता नहीं रह जाती। हम पहले भी देख चुके हैं कि कबीर की दृष्टि में वही भक्त है जो आतुरता रहित हो। प्रेम में मतवाले भक्त के लिए कबीर का आदेश है द्वित्व को दूर करके एकत्व को ग्रहण करे। एकत्व प्राप्त हो जाने पर भ्रम से निस्तार मिल जाता है। एक का भार दो के भार की अपेक्षा हलका होता है। एकत्व मस्तिष्क के लिए हलका पड़ता है तथा द्वित्व भारी। प्रियतम की 'नाजुक राह' झीने पथ पर चलने वाले के सिर पर भारी बोझ नहीं होना चाहिए। द्वित्व अथवा अनेकत्व के गुरुभार के स्थान पर एकत्व के हलके भार को वहन करके चलने में ही सरलता होगी।[2]

---

१ बैर भाव मोहि सुमिरहिं निसिचर ॥
रामाकार भए तिन्हके मन।
मुक्त भए छूटे भव बंधन। तु० रा०, लं० का० ११३४

२ हमन हैं इश्क मस्ताना हमन को होशियारी क्या।
रहें आजाद या जग से हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछुड़े हैं पियारे से भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को इन्तजारी क्या।
खलक सब नाम अपने को बहुत कर सिर पटकता है।
हमन हरि नाम साँचा है हमन दुनिया से यारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हमसे न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्हीं से नेह लागा है हमन को बेकरारी क्या।
कबीरा इश्क का माता दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है हमन सिर बोझ भारी क्या। कबीर, सं० क० ग्रं० भा० २, पृ० १४

साधारणतया हिन्दी साहित्य में भगवत्-प्रेम तथा भगवत् मिलन किंवा साक्षात्कार का ही महत्त्व अधिक रहा है परन्तु मुसलमान सूफी संतों में जितना महत्त्व प्रेम तथा मिलन का है उससे अधिक विरह तथा विरहजन्य तड़पन का है। भागवत में भी गोपी प्रेम-विरह की व्यंजना के द्वारा प्रेम में विरह की महत्ता प्रतिपादित की गई है। विरह-भाव की साम्यता के कारण ही कतिपय विद्वान् भागवत को भी सूफी प्रभाव से प्रभावित मानते हैं। इसके विपरीत कुछ इतिहासकार मुहम्मद साहब को, उनकी भक्तिभावना को अर्थात् इस्लाम धर्म को जिसका अर्थ आत्म-निवेदन है, भारतीय भक्तिदर्शन से प्रभावित एवं उद्भूत मानते हैं।

कबीर यदि अन्य भक्तिसाहित्य से परिचित थे, तो वे भागवत् के गोपी-विरह से अनभिज्ञ हों, ऐसा ठीक नहीं। उन पर सूफी संतों का भी प्रभाव था, इसमें भी सन्देह नहीं। जो कुछ भी श्रेयस्कर था, ग्रहण करने योग्य था, सब का उन पर समान प्रभाव पड़ा। वे किसी एक पथ के या मत के न होकर, सार्वजनिक तथा सार्वदेशिक बन गये। उन्होंने योगियों के लिए कहा, ज्ञानियों के लिए कहा, भक्तों के लिए कहा, प्रेमियों के लिए कहा, और कहा मानव मात्र के लिए, अपितु जीव मात्र के लिए। उन्होंने शरीर के लिए कहा (योग), मस्तिष्क के लिए कहा (ज्ञान) और कहा हृदय के लिए (भक्ति)। जिनके लिए भी उन्होंने कहा उसको ग्रहण करने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। विरही भक्त के रूप में कबीर का कथन है—बहुत दिनों से वे राम की बाट जोह रहे हैं। उनका हृदय प्रिय से मिलने के लिए छटपटाता है। उनके मन को विश्राम एवं धैर्य नहीं मिलता। विरह से पीड़ित क्षीणकाय वियोगिनी प्रियतम के दर्शन के लिए उठने का प्रयत्न करती है परन्तु निर्बलता के कारण भूमि पर गिर पड़ती है। अब वियोगिनी की बहुत परीक्षा हो चुकी। यदि मृत्यु के पश्चात् उसको प्रिय के दर्शन हुए भी तो किस काम के। पारस पत्थर का उपयोग तभी तक है, जब तक कि लोह का अस्तित्व है। जब लोहा रगड़ते रगड़ते समाप्त ही हो गया तब पारस किसका स्पर्श करके स्वर्ण में परिवर्तित करे। इसीलिए वह भगवान् से जीवित अवस्था में ही मिलने का आग्रह करते हैं, मृत्यु के पश्चात् नहीं। परमात्मा से बिछुड़े हुए को किसी स्थिति में सुख नहीं मिलता, न दिन में, न रात्रि में, न दोनों से भिन्न स्वप्न की ही अवस्था में। उसका वियोगजन्य दुःख ऐसा है जो किसी समय भी विस्मृत नहीं होता।[1] प्रेमी भक्त कबीर के अन्तर में विरह की अग्नि प्रज्वलित है परन्तु उसका धुआं

१- बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कौ मनि नाहीं बिश्राम॥
बिरहिन ऊठै भी पड़ै दरसन कारनि राम।
मूवां पीछै देहुगे सो दरसन किहि काम॥
मूवां पीछै जिनि मिलै कहै कबीरा राम।
पाथर घाटा लोह सब पारस कौणें काम॥
बासुरि सुख ना रैणि सुख ना सुख सुपिनै माहिं।
कबीर बिछुट्या रामसूं ना सुख धूप न छांहि॥६६

क० ग्र० सा०, पृ० ११

बाहर प्रकट नहीं होता। साधारणतया जहाँ अग्नि होती है वहाँ धुआँ होता है परन्तु विरही भक्त के अन्त में अग्नि होते हुए भी उसका धुआँ प्रकट नही होता। इस अग्नि के विषय मे दो ही व्यक्तियो को ज्ञान है—एक जिसके हृदय म विरहाग्नि प्रज्वलित रहती है और दूसरा वह जिसके लिए अथवा जिसके कारण यह विरहाग्नि प्रज्वलित होती है।[1] परमात्मा तथा प्रेमी भक्त दो ही विरह की अग्नि के विषय मे जानते हैं। प्रस्तुत पद मे यदि ध्यान से देखा जाय तो तुल्ययोगी[2] प्रेम की व्यजना हुई है, एकागी की नही। विरहाकुल भक्त की व्यथा के प्रति प्रिय परमात्मा उदासीन नही है। भक्त की व्यथा का अनुभव परमात्मा को है।

कबीर अपने प्रिय परमात्मा से अपने घर आने का आग्रह करते हैं। वे प्रिय के वियोग मे अत्यन्त दुखित है। लोग उन्हे परमात्मा की प्रिया कहते हैं परन्तु परमात्मा उन्हें नही अपनाते। इसलिए वे बहुत लज्जित हो रहे हैं। भक्त प्रतिपालक भगवान् यदि भक्त को नही अपनाते तो इससे बढकर लज्जा की बात भक्त के लिए क्या होगी। वह भक्तो की श्रेणी मे ही परिगणित न होगा। विरह-व्यथा के कारण न उन्हें भोजन रुचता है, न नीद ही आती है, घर बाहर कही पर भी चैन नही मिलता। जिस प्रकार तृषित मनुष्य के प्राण जल मे ही बसते हैं तथा स्त्री को पति प्रिय होता है उसी प्रकार भक्त को परमात्मा प्रिय है। कबीर किसी ऐसे परोपकारी सदेशवाहक की प्रतीक्षा मे है जो उनके प्रियतम तक यह सन्देश पहुँचा दे कि कबीर की दशा शोचनीय हो गई है। विरह मे वे अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। प्रियतम के दर्शन के बिना उनके जीवित रहने की आशा नही है।[3]

प्रियतम के वियोग मे कबीर का प्रेमी हृदय तड़प रहा है, उनको न दिन मे शान्ति मिलती है न रात्रि मे नीद आती है। बड़ी ही व्याकुलता से प्रिय की स्मृति मे तड़प-तड़प कर रात व्यतीत होती है। विरह की यह तड़पन सूफी सतो की ही देन है जिसको कबीर ने भी ग्रहण किया है। उनका मन तथा शरीर यत्रवत् चला करता है, उसमें चेतना एव जीवन-स्फूर्ति नही रहती। प्रियतम का मार्ग निहारते-निहारते उनकी आँखें थकित हो गई हैं परन्तु कठोर हृदय प्रियतम ने सुधि नही ली। उनकी व्यथा चरम सीमा पर पहुँच गई है और

---

१ हिरदा भीतरि दौ बलै धूआँ न प्रगट होइ।
जाकै लागी सो लखै कै जिहि लाई सोइ ॥३ — क० ग्र०, पृ० ११

२ तुल्ययोगा प्रेम वह कहलाता है जिसमें प्रेमी और प्रिय दोनों में ही प्रेम की समान भावना रहती है।

३ बालम आवो हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोकों लागत लाज रे।
दिल से नहीं दिल लगाया, तब लग कैसा सनेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै गृह बन धरै न धीर रे।
कामिन को है बालम प्यारा, ज्यों प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपकारी पिव सों कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भयो है बिन देखे जिव जाय रे।३५ — क०ग्र०क०, पृ० २५८

वह परमात्मा के मिलन से ही दूर हो सकती है अन्यथा नहीं।[1] इन्हीं भावों की पुनरावृत्ति कबीर के एक अन्य पद में हुई है। भक्तों के रक्षक भगवान् से वे दर्शन देने की प्रार्थना करते हैं। जल से उत्पन्न मीन को जल से ही प्रेम है। बिना जल के मीन जीवित नहीं रहती, उसी प्रकार प्रियतम परमात्मा के बिना भक्त का जीवन संभव नहीं।[2] प्रभु प्रेमी के हृदय में पीड़ा हो रही है। उनका दिवस, रैन, पल पल कठिनाई से बीत रहा है। कोई उनकी व्यथा सुनने वाला भी तो नहीं है जिससे वह। अर्ध रात्रि तक वे प्रियतम की प्रतीक्षा करते हैं फिर उनसे मिलन न होने पर निराश होकर निद्रादेवी की गोद में शरण लेते हैं। उन्हें सुख नसीब नहीं। सुख प्राप्ति तो प्रिय मिलन से ही हो सकती है अन्य किसी कारण से नहीं। कबीर के विरह सम्बन्धी ऐसे अनेक पद हैं जिनमें कोमल भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के साथ ही साथ विरह की दस दशाओं की व्यंजना हुई है।

भक्ति की अन्तिम अवस्था पूर्ण आत्मसमर्पण की है। कबीर स्वामी परमात्मा के सम्मुख आत्मसमर्पण करते हैं। स्वामी की आज्ञा उनको शिरोधार्य है। उसमें सोच विचार करने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा ही नदी है तथा परमात्मा ही पार करने वाला नाविक है। भक्त का तो प्रभु की स्तुति में ही अधिकार है। स्वामी चाहे रोष करे चाहे भक्त को प्यार करे उसे सब अधिकार है। कबीर को परमात्मा के नाम का ही एकमात्र आधार है और उनके जीवन की उत्फुल्लता का यही एक कारण है। पूर्ण आत्मसमर्पण करके अपने को भगवान् का दास घोषित कर दिया है, चाहे वे मारें चाहे जीवित रक्खें। वे सब प्रकार समर्थ हैं।[3] यह है भक्त का जीवन जो पूर्णतया भगवान् के ऊपर निर्भर है—वे उसे ठुकरा दें, या

---

१ तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ तलफ के भोर किया।
तन मन मोर रहट-अस डोलै, सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझै, साँई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भई साधो, हरो पीर दुख जोर किया।।१७३ — क० ग्र० व०, पृ० २२१

२ अविनासी दुलहा कब मिलि हौ, भक्तन के रछपाल।
जल उपजी जल ही सों नेहा रटत पियास पियास।
मैं ठाढ़ी बिरहिन मग जोऊँ प्रियतम तुमरी आस।
छोड़े गेह नेह लगि तुमसों भई चरन लवलीन।
ताला-बेलि होत घट भीतर जैसे जल बिन मीन।
दिवस न भूख रैन नहिं निद्रा घर अँगना न सुहाय।
सेजरिया बैरिन भई हमको जागत रैन बिहाय।
हम तो तुमरी दासी सजना तुम हमरे भरतार।
दीन दयाल दया करि आओ समरथ सिरजनहार।
कै हम प्रान तजति हैं प्यारे कै अपना करि लेव।
दास कबीर बिरहा अति बाढ़ेउ हमको दरसन देव।।१७४ — क० ग्र० व०, पृ० २२१

३. पुस्तक लेखा सिरै ऊपर सिरि न करत बिचार।
तुही दरिया तुही करिया तुझै तै निस्तार।

प्यार करें। भक्त को अपनेपन से कोई प्रयोजन नहीं। वह जो कुछ है राम का है।

भक्त नामदेव परमात्मा से होड़ बदते हैं। उन्हें भक्त की सापेक्षिक महत्ता का गर्व है। भगवान् से भक्त प्रादुर्भूत है ही, परन्तु भक्त से भगवान् है यह नामदेव जैसे भक्तों का उद्‌गार ही हो सकता है। परमात्मा ही देव है, देवालय है तथा उपासक भी वही है। वह स्वयं ही गाता है, नृत्य करता है तथा वाद्य बजाता है। उसका और भक्त का सम्बन्ध जल और तरंग की भाँति है। जल और तरंग एक ही हैं केवल नाम का अन्तर है। भगवान् और भक्त भी एक ही है, नाम दोनों के अवश्य पृथक्-पृथक् है। यदि उनमें कोई अन्तर है तो केवल यह है कि भक्त अपूर्ण है, और भगवान् पूर्ण।[1]

रैदास ने भक्ति के विषय में एक पुष्ट सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जिसका कोई विरोध नहीं हो सकता। मोक्ष के दो उपाय माने गये हैं—मन का सब प्रकार से निग्रह करके योग[2] या ज्ञान साधना, तथा प्रेम या भक्ति। एक में निवृत्त होने की भावना तथा प्रयत्न पर बल दिया जाता है तथा दूसरे में परमात्मा के साथ हृदय को संयोजित करने पर। केवल विषयों से निवृत्त होने अथवा चित्तवृत्तियों के निरोध से रैदास सतुष्ट नहीं हैं। उनके विचार से, यदि परमात्मा में प्रेमाभक्ति उत्पन्न न हुई तो सब व्यर्थ ही है।[3] अन्यत्र रैदास का कथन है—मैं किस प्रकार भक्ति करूँ। मेरी बुद्धि अत्यन्त चंचल है, उसमें तनिक भी स्थिरता नहीं। प्रिय तथा प्रेमी के पारस्परिक दर्शन से प्रीति उत्पन्न होती है। यहाँ प्रिय परमात्मा तो सब को देखता है परन्तु जीव बुद्धि के विकार के कारण परमात्मा को नहीं देख पाता। अस्तु उसको सर्वव्यापक परमात्मा का न ज्ञान हो पाता है न दर्शन। यह जीव का ही दोष है, परमात्मा तो सर्वगुणमय ही है। करुणामय, जगदाधार परमात्मा रैदास के हृदय में स्थित मैं, मेरा, तू तेरा के अविचारों से किसी प्रकार उनका निस्तार कर दे, यही उनकी अभिलाषा है।[4] इस प्रकार रैदास के मन से मैं, तू के 'अहम्' और 'पर' भाव से निवृत्ति हो

बंदे बन्दगी इखतीयार। साहिब रोस धरौ कि पियार।
नाम तेरा आधार मेरा जिउ फूलि जई है नारि।
कहि कबीर गुलाम घर का जियाइ भावै मारि ॥१४४   क०ग्र०, पृ० ३०७

१ बदौ क्यों न होड़ माधो मोसों।
ठाकुर तें जन जन तें ठाकुर खेल परयो है तोसों।
आपन देव देहरा आपन आप लगावै पूजा।
जल तें तरंग तरंग तें है जल कहन सुनन को दूजा।
आपहिं गावै आपहिं नाचै आप बजावै तूरा।
कहत नामदेव तू मेरो ठाकुर जन ऊरा तू पूरा।   नामदेव, स० बा० सं० भा० २, पृ० २१

२ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥   यो० सू० २

३. भगति अजन निग्रह किये टरो न टरै भव फाँस।
प्रेम भगति नहिं ऊपजै ता तें रैदास उदास ॥   रैदास, सं० बा० सं० भा० १, पृ० ६६

४. नरहरि चंचल है मति मेरी कैसे भगति करूँ मैं तेरी।
तू मोहिं देखै हौं तोहिं देखूँ प्रीति परस्पर होई।
तू मोहिं देखै तोहिं न देखूँ यह मति सब बुधि खोई।

मुक्ति एवं साक्षात्कार का कारण है।

परमात्मा को पिता कहकर संबोधित करते हुए रैदास कठिन यमफन्द में पड़े हुए जीव को तारने की प्रार्थना करते हैं। सब देवताओं तथा मुनियों को वे खोज चुके हैं परन्तु उन्हें यमफन्द से छुड़ाने वाला कोई नहीं मिला। उनको यही एक भरोसा है कि दीनों में वह चरम कोटि के दीन हैं तथा भगवान् चरम कोटि के दयालु हैं। वह भगवान् की शरण में हैं। अवश्य ही दीनदयालु प्रभु उन पर कृपा कटाक्ष करेंगे।[1] एक अन्य पद में रैदास ने भगवान् की यश एवं कीर्ति के प्रसार का श्रेय भक्तों को ही प्रदान किया है। भक्त के पापों का विनाश करने के कारण भगवान् का यश विख्यात है वेद तथा लोक सभी ने भगवान् को पापों का विनाशक कहा है परन्तु भगवान् की यह कीर्ति केवल इसलिए है कि हम पाप करते हैं। यदि हम पाप न करें तो भगवान् किन पापों को नष्ट करके 'अघमोचन' की कीर्ति प्राप्त करें। शरीर में कीचड़ लगने पर ही वह जल से धोकर स्वच्छ किया जाता है। जब कीचड़ लगा ही न हो तो उसके प्रक्षालन की बात ही क्या। विषय रस में आसक्त व्यक्ति का सुधार करने वाला हरिनाम है। यदि प्राणी पवित्र-हृदय है, दोषों से सर्वथा रहित है तो किन दोषों पर दृष्टिपात करके भगवान् उसे बन्धनग्रस्त करें। भगवान् अपनी दयालुता से बन्धन में पड़े हुए को मुक्त कर सकते हैं परन्तु जो निर्बन्ध है उन्हें मुक्त करने की बात ही नहीं उठती। अस्तु भवबन्धन-ग्रस्त रैदास अपनी मुक्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करते हैं।[2] इस भाँति परमात्मा के 'अघमोचन' यश का विस्तार करने वाले वास्तव में पापी ही हैं। भगवान् अपना विरद उनसे प्राप्त करते हैं, वे भगवान् से नहीं।

सब पर अपार करनि निरन्तर मैं देखन नहिं जाना।
गुन सब तोर मोर सब अवगुन कृत उपकार न माना।
मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों कैसे करि निस्तारा।
कह रैदास कृष्ण करुनामय जै जै जगत अधारा। — रैदास, स० बा० स० भा० २, पृ० ३२

१ जन को तारि तारि बाप रमइया।
कठिन फंद पर्यो पंच जमइया।
तुम बिन सकल देव मुनि ढूँढ़े
कहूँ न पाऊँ जमपास छुड़इया।
हम से दीन दयाल न तुम से
चरन सरन रैदास चमइया।।८।। — रैदास बानी, पृ० ४०

२. पावन जस माधो तेरा।
तुम दारुन अघमोचन मेरा।
कीरति तेरी पाप बिनासै लोक बेद यौं गावै।
जो हम पाप करत नहिं भूधर तौ तू कहा नसावै।
जब लग अंग पंक नहिं परसै तौ जल कहा पखारै।
मन मलीन बिषया रस लंपट तौ हरि नाम सँभारै।
जौ हम बिमल हृदय चित अन्तर दोष कौन पर धरिहौ।
कह रैदास प्रभु तुम दयाल हौ अबंध मुकत का करिहौ।।६५ — रैदास बानी, पृ० ३९

परमात्मा के गुणो को भक्त किस प्रकार प्रकाशित करता है, उन्होंने एक अन्य पद मे बडी ही सरल भाव व्यजना के द्वारा व्यक्त किया है। यदि प्रभु चन्दन है, तो भक्त उसकी सुगधि को तीव्र बना कर देवमस्तक पर धारण करने योग्य बनाने मे सहायक जल, जिसके कण-कण मे चन्दन की सुगधि व्याप्त हो जाती है। भक्त का अग प्रत्यग, उसका सूक्ष्माति सूक्ष्म कार्य भगवान् के गुणो का प्रकाशक है। यदि भगवान वन और मेघ है, तो भक्त मयूर जिसकी स्थिति (वन मे) तथा आनन्द (घन गर्जन से) दोनों ही ईश्वर पर निर्भर है। चकोर चन्द्रमा की ओर अनिमेष दृष्टि लगाकर उसके रूपदर्शन मे लीन रहता है, उसी प्रकार भक्त अनन्य गति से भगवान् का निरन्तर ध्यान करता है। यदि ईश्वर दीपक है, तो भक्त उसकी वर्तिका है, जो अपने को आहुत करके दीपक को प्रकाशित रखती है। यदि भगवान् मोती जैसी बहुमूल्य वस्तु हैं, तो भक्त धागे जैसी नगण्य वस्तु परन्तु मोतियो को अपने मे अनुस्यूत करके उसे मुक्ताहार की उपाधि से विभूषित कराने वाला वह सूत्र ही है। साहित्य मे ईश्वर तथा जीव के सम्बन्ध मे 'मयि सर्वमिदम् प्रोक्त सूत्रे मणिगणा इव' की चली आती हुई परम्परा के विपरीत रैदास ने भगवान् को मोती तथा भक्त को सूत्र इस नवीन भाव को जन्म दिया। भगवान् और भक्त का सम्बन्ध सोने और सुहागे के सयोग के सदृश है। स्वर्ण के स्वरूप को सुहागा निखार कर अधिक कान्तिमय बना देता है, इसी प्रकार भक्त भगवान् के निखरे हुए स्वरूप को सम्मुख प्रस्तुत करता है। भगवान् स्वामी है तथा भक्त हर प्रकार से उनका दास।[1] उपर्युक्त प्रसग मे ईश्वर तथा भक्त के बीच सम्बन्ध की स्थापना की गई है—एक महान् तथा अल्प का रूपक प्रस्तुत करते हुए। प्रत्येक दशा मे अल्प ही महान् के गुणो को अधिक प्राखर्य तथा प्रकाश प्रदान करने वाला है। वास्तव मे यह सिद्धान्तरूपेण भी सत्य ही है कि बड़प्पन तथा लघुता सापेक्ष है। लघु की तुलना मे ही बडा होता है। चन्दन की सुगधि को तीव्रतर बनाकर उपयोग मे लाने वाला जल ही है। देवों के मस्तक पर सुशोभित होने वाला चन्दन जल के अभाव मे किस प्रकार तैयार हो सकता है। वर्तिका नगण्य होती हुई भी दीपक को ज्योतित करती है।

तात्पर्य यह है कि रैदास ने परमात्मा की पवित्रता एव गुणो को प्रकाशित करने वाला भक्तों को ही माना है। वे भगवान् के सम्मुख एक पातकी के रूप मे गिडगिडाते हुए नही आते। भगवान् के 'पतित उधारन' विरद के कारण जहाँ वे मुक्ति की आशा करते हैं वहाँ उसे भगवान् का कर्त्तव्य भी मानते हैं कि वह उनका उद्धार करे अन्यथा भगवान् का नाम सार्थक नही होगा। रैदास भक्तो की महत्ता व गुणो से पूर्णतया परिचित थे और उसे उन्होंने नि सकोच भक्त की गर्वोक्ति के रूप मे व्यक्त किया है।

---

१. अब कैसे छूटै नाम रट लागी।
प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी जाकी अग अग बास समानी।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा जैसे चितवत चन्द चकोरा।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती जाकी जोति बरै दिन राती।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा जैसे सोनहिं मिलत सुहागा।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा ऐसी भगति करै रैदासा। सु० बा० म० भा० २, पृ० ३४

मीराबाई भक्तों के कारण भगवान् का अवतार धारण करना मानती हैं। वही भगवान् जिन्होंने भरी सभा में द्रौपदी के निर्वस्त्र किये जाने पर चीर को बढ़ाकर उसकी लाज बचाई थी, भक्त प्रह्लाद के लिए नरसिंह रूप धारण करके उसकी रक्षा की थी, तथा डूबते हुए गजराज को जल से बाहर निकालकर उसको ग्राह के मुख में जाने से बचाया था, उन्ही गिरधारी भगवान कृष्ण के चरणों में मीरा नतमस्तक है।[1] अन्यत्र वे भगवान् से अपनी ओर कृपादृष्टि करने की प्रार्थना करती हैं। इस लोक में उनके जो आत्मीय थे, वे सब उनके शत्रु हो गये हैं। परमात्मा के अतिरिक्त उनका कोई अपना नहीं है। भवसागर के बीच उनकी जीवन-नौका डगमगा रही है। इस विकट संकटपूर्ण स्थिति से भगवान् ही उद्धार कर सकते हैं। उनका हृदय भगवत विरह-वाण से आविद्ध है। वियोगव्यथा के कारण उन्हें न दिन में चैन है, न रात्रि में निद्रा। प्रिय के विरह में वे अत्यन्त क्षीणकाय हो गई है। पाषाण-रूप में पड़ी हुई अहिल्या का भगवान् ने उद्धार कर दिया था फिर प्रभु की प्रतीक्षा करती हुई अस्थि चर्म की मीरा के लिए क्या विलम्ब।[2] यदि भगवान् विराग से प्रसन्न हों तो वे अपने प्रियतम परमात्मा को रिझाने के लिए वैरागिनी का वेष धारण करने को उद्यत हैं। यही नहीं, जिस जिस वेष से उनके प्रियतम प्रसन्न हों वही-वही वेष धारण करने को वे तत्पर हैं। वे शील संतोष और ममता को धारण करके निरंजन परमात्मा का ध्यान करेंगी। गुरु के ज्ञान में शरीररूपी वस्त्र को रंग कर मनमुद्रा को धारण करेंगी, प्रेम से परमात्मा का गुणगान करती हुई उनके चरण-वन्दन में लीन होवेंगी तथा शरीर को किंगरी बनाकर जिह्वा से राम नाम रटेंगी।[3] नवधा भक्ति में से मीरा ने कीर्तन, स्मरण तथा चरण-वन्दन को प्रमुखता दी

---

१ हरि तुम हरो जन की भर।
द्रौपदी की लाज राख्यो तुरत बाढ़यो चीर।
भक्त कारण रूप नरहरि धर्यो आप सरीर।
हिरनाकुस मारि लीन्हो धर्यो नाहिन धीर।
बूड़तो गजराज राख्यो कियो बाहर नीर।
दासी मीरा लाल गिरधर चरण कँवल पै सीर नी० ए०, पृ० २५

२ तुम पलक उघाड़ो दीनानाथ हूँ हाजिर नाजिर कब की खड़ी।
साऊ थे दुसमन होइ लागे सब ने लगूँ कड़ी।
तुम बिन साऊ कोऊ नहीं है डिगी नाव मेरी समँद अड़ी।
दिन नहिं चैन रैन नहिं निद्रा सूखूँ खड़ी खड़ी।
बान बिरह के लगे हिये में भूलूँ न एक घड़ी।
पत्थर की तो अहिल्या तारी बन के बीच पड़ी।
कहा बोझ मीरा में कहिये सौ ऊपर एक धड़ी।
गुरु रैदास मिले मोहि पूरे धुर से कलम भिड़ी।
सतगुरु सैन दई जब आ के जोत में जोत रली॥ मीरा, स० बा० सं० भा० २, पृ० ७७

३ बान्हा मैं बैरागिन हूँगी हो।
जो जो भेष मेरो साहिब रीझै सोइ सोइ भेष धरूँगी हो।
सील संतोष धरूँ घट भीतर समता पकड़ रहूँगी हो।

है। प्रभु-मिलन के लिए उस अगम देश को प्रस्थान करने के लिए मीरा अनेक वस्त्राभूषणो से सुसज्जित हो रही हैं। वह अगम देश कैसा है? उस अगम देश मे जीवात्मा हस प्रेम के सागर मे आनन्दमग्न होकर विहार करते हैं। मीरा लज्जा, धैर्य, क्षमा, सुमति, सत्य, ध्यान, युक्ति, नामस्मरण, उज्ज्वल चित्त, शील, सतोष, निरति तथा गुरुज्ञान के वस्त्रालकारो से सजकर प्रिय से मिलने के लिए उद्यत हैं। प्रिय की प्रीति के कारण ही उनके आकर्षण के लिए ही मीरा ने सब प्रकार से अपने को अलकृत किया है। जगत् से तो वे उदासीन हैं ही।[1] इस रूपक में मीरा ने सभी प्रकार के सदाचारो को अपने (भक्त के) आभूषणो मे सम्मिलित किया है, जिनमे सत्य, ध्यान, नामस्मरण, निरति तथा गुरुज्ञान आध्यात्मिक सदाचरण हैं जो साधक को मुक्ति के द्वार तक पहुँचाते हैं।

मीरा योगी परमात्मा को अपने से विलग नही करना चाहती। प्रिय को हृदय-मदिर से न जाने के लिए वे बार-बार उनसे अनुरोध करती है। प्रेमभक्ति का मार्ग बडा ही अटपटा है। वे उसके विषय में प्रियतम से पूछती हैं। केवल प्रेमभक्ति का मार्ग ज्ञात होना ही पर्याप्त नही है, वे उस पर चलने मात्र से सतुष्ट नही हैं, उनकी अभिलाषा है कि उनकी इहलोक लीला समाप्त हो जाय। वे अपनी चिता चन्दन तथा अगरु जैसे सुगंधित पदार्थों से स्वय बनाना चाहती हैं। प्रियतम आकर अपने हाथ से चिता को प्रज्वलित कर दे, बस और अधिक वाछित नही। इस अतिम सस्कार को सम्पन्न करने मे प्रियतम को चिता बनाने का श्रम न उठाना पडे, न उसे उस दुर्गन्धिपूर्ण वायु मे श्वास लेनी पडे, इसीलिए मीरा पहले से ही अगरु-चन्दन की सुगधित चिता बनाकर प्रस्तुत कर देती हैं। जीवन मे तो वे प्रिय को सुखी देखना ही चाहती हैं, परन्तु जीवन के उपरान्त भी उनको वाछित नही

जाको नाम निरंजन कहिये ताको ध्यान धरूँगी हो।
गुरुज्ञान रँगूँ तन कपरा मनमुद्रा पैरूँगी हो।
प्रेम प्रीति सूँ हरि-गुण गाऊँ चरणन लिपट रहूँगी हो।
या तन की मैं करूँ कीगरी रसना राम रटूँगी हो।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर साधा सग रहूँगी हो।

१. चलो अगम के देस काल देखत डरै।
वहाँ भरा प्रेम का हौज हस केल्या करै।
ओढ़न लज्जा चीर धीरज को घाँघरो।
छिमता का कर हाथ सुमति को मुन्दरो।
दिल दुलडी दरियाव साच को दोवडो।
उबटन गुरु को ज्ञान ध्यान को धोवणो।
कान अखोटा ज्ञान जुगत को झूटणो।
बेसर हरि को नाम चूडो चित ऊजलो।
जेहर शील संतोष निरति को घूँघरो।
बिंदली गज और हार तिलक गुरु ज्ञान को।
सज सोलह सिंगार पहिरि सोने राखडी।
साँवलिया सूँ प्रीति और सूँ आखडी। मी० प०, पृ० १९२

देख सकती। योगी तो श्मशान की भस्म धारण करते ही हैं। मीरा की चिता की भस्म को उनके प्रिय परम योगी परमात्मा धारण कर लें, मृत्यु के पश्चात् भस्म के रूप में मीरा का प्रियतम से मिलन हो जाय, ज्योति में ज्योति मिल जाय और वे अपने प्रियतम के साथ एकाकार हो जायें, यही उनके जीवन की महत्त्वाकांक्षा दृष्टिगत होती है।[1]

मीरा, जहाँ एक ओर उपर्युक्त प्रकार से प्रेमाभक्ति की 'गैल' जाने की आकांक्षा करती है, वहाँ दूसरी ओर वे यह घोषित करती है कि उन्होंने गोविन्द को मोल ले लिया है। गोविन्द के प्रेम में वे इतनी अनुरक्त है कि विभिन्न आक्षेपों की—लोकापवाद की उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं। उन्होंने गोविन्द का जो सौदा किया है कोई उसे सस्ता कहता है कोई महँगा परन्तु वह तो अमूल्य है, जिसका मूल्य आँकना ही व्यर्थ है। यह प्रेम का सौदा है। प्रेम ही वह वस्तु है जिसके कारण मीरा के प्रभु गिरधरनागर उनके समीप चले आते हैं।[2] भगवान् सदैव प्रेम के वश में रहते हैं तथा भक्त भगवान् के प्रेम में विभोर रहता है, इतना विभोर कि आत्मविस्मृत हो जाता है। कृष्ण-रूप में तल्लीन गोपबाला के आत्मविस्मृत स्वरूप की मनोहर झाँकी मीरा ने प्रस्तुत की है। कोई गोपबाला दधि-विक्रय के लिए घर से निकली तथा गली-गली में आवाज लगाती हुई घूमती है। उसको दधि का नाम विस्मृत हो गया है। उसके मस्तिष्क में घूम रही है कृष्ण की स्मृति। इसीलिए वह 'दधिल्यो' के स्थान पर 'हरिल्यो, हरिल्यो' की ही आवाज लगाती है। बिना मोल ही कृष्ण के हाथ बिकी हुई वह गोपी कृष्ण-रूप में इतनी विभोर है कि उसके मुँह से असम्बद्ध शब्द ही निकलते है, कहना चाहिए कुछ और वह कहती कुछ है।[3] उसकी चैतन्यावस्था को कृष्ण-रूप ने पूर्णतया आवृत्त कर रखा है। अर्धचेतन तथा अचेतन तो पहले ही उससे आवृत्त था, अब तो केवल प्रतिवर्ती (Reflex) क्रिया ही शेष रह गई है जिसके कारण दधि का पात्र सिर पर धारण किये हुए वह गली-गली आवाज दे रही है। मीरा की इन पंक्तियों

---

१. जोगी मत जा मत जा मत जा पाईं परूँ मैं चेरी तेरी हौं।
प्रेम भगति को पैंडो ही न्यारो हमकूँ गैल बता जा।
अगर चन्दन की चिता बणाऊँ अपने हाथ जला जा।
जल बल भई भस्म की ढेरी अपने अंग लगा जा।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर जोत में जोत मिला जा। मी० प०, पृ० ५०

२. माई री मैंने लियो गोविन्दो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै चौड़े लियो री बजंता ढोल।
कोई कहै मुंहघो कोई कहै सुंहघो लियो री अमोलक मोल।
कोई कहै खोले कोई कहै मूँदे पायेरा नयन बिन खोल।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेम के बोल॥ मी० प०, पृ० ११

३. कोई स्याम मनोहर ल्योरी सिर धरे मटकिया डोलै।
दधि को नाँव बिसरि गई ग्वालिन हरिल्यो हरिल्यो बोलै।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चेरा भई बिन मोलै।
कृष्ण रूप छकी है ग्वालिन, औरहि औरै बोलै। मी० प०, पृ० १७१

मे मनोविज्ञान का सुन्दर स्पर्श हुआ है।

जैसा कि हम अभी देख चुके हैं केवल गोपबाला ही "कृष्ण रूप छकी" नही है, मीरा भी अपने प्रियतम गिरधर के रग मे रग गई है। इस पचरग शरीर को धारण किये हुए वे आमोद-स्थल इस ससार मे विचरण कर रही हैं। इसी बीच प्रियतम की प्राप्ति हो गई, भक्त की आत्मा का सयोग परमात्मा से हो गया। जिनके प्रियतम दूरस्थ देश मे निवास करते हैं, वे विरहिणी प्रियतम को पत्र भेजती हैं। पत्र से ही उनके प्रियतम का मिलन होता है परन्तु जिसका प्रियतम अत्यन्त निकट प्रिया के हृदय मे निवास करता हो, उसे पत्र लिखने की क्या आवश्यकता। समस्त ससार चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, आकाश, जल, वायु सभी नाशवान् हैं, केवल स्थिर रहेगा अविनाशी प्रिय परमात्मा। सुरति तथा निरति के दीपक मे मन की बत्ती और प्रेम हटी के तेल से जो स्नेह-दीप प्रकाशित होगा, उसकी अक्षय ज्योति होगी।[1]

एक बार यदि मीरा अपने प्रिय को प्राप्त कर लें तो उन्हें सदैव के लिए अपने नेत्र-कमलो मे बसा लें। वे अपलक दृष्टि से प्रिय का रूप निहारती हैं। नेत्रों को वे इसलिए नही मूँदती कि उनमे उनके प्रियतम का वास है, उन्हे कष्ट होगा।[2] 'मानस' मे 'लोचन मग रामहि उर आनी, दीन्हे पलक कपाट सयानी" के द्वारा तुलसीदास ने परमात्मा के दर्शन अनुभव का दूसरा स्वरूप प्रस्तुत किया है। इन दोनो स्वरूपो मे नेत्र न बन्द करने और नेत्र बन्द करने दोनो का कारण अनुरागाधिक्य आनन्दातिरेक तथा भावविभोरता ही है। कबीर ने प्रभु-दर्शन अनुभव के प्रथम स्वरूप को 'खुले नैन पहिचानों, हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारों" के द्वारा व्यक्त किया है। मीरा के कथित पद की अतिम पक्तियो मे योग का पुट दिया गया है, जो उनके सम्प्रदाय की योगपरक साधना का प्रभाव कहा जा सकता है।

---

१. सखी री मैं तो गिरधर के रग राती।
पचरग चोला पहिरि सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट मा मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाता।
जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती।
चन्दा जायगा सूरज जायगा जायगा धरणि अकासी।
पवन पानी दोनो ही जावेंगे अटल रहे अविनासी।
सुरत निरत का दिवला सजोले मनसा की कर ले बाती।
प्रेम हटी का तेल मँगा ले जग रह्या दिन ते राती।
सतगुरु मिलिया समा भाग्या सैन बताई साँची।
ना घर तेरा ना घर मेरा गावै मीरा दासी। मी० प०, पृ० २०

२. नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँ।
इन नैनन मेरा साहिब बसता डरती पलक न लाऊँ री।
त्रिकुटी महल मे बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ री। मी० प०, पृ० १२

तत्कालीन मतों में योग, ज्ञान तथा भक्ति तीनों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इनमें न्यूनाधिक्य की बात दूसरी है, वह तो अपनी-अपनी रुचि तथा अपने-अपने मत पर निर्भर है। ज्ञान तथा योग दोनों स्वतन्त्र साधन होते हुए भी अपने क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहे। दोनों की परिणति भक्ति में हुई है—ऐसा मीरा को भी मान्य है। उनकी उपासना माधुर्य भाव की थी। अधिकांश पदों में उन्होंने भगवान् को प्रियतम का रूप ही प्रदान किया है। गिरधर, कृष्ण, श्याम, सांवलिया, गोपाल, साईं आदि उनके प्रियतम परमात्मा के पर्याय होकर ही सर्वत्र आये हैं।

सूरदास उस कोटि के भक्त थे जिन्होंने शरीर तथा मस्तिष्क के प्रयत्न (योग तथा ज्ञान) के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया वरन् अपने हृदय को भगवान् कृष्ण में लगाकर तन्मय हो जाना ही उन्हें प्रिय प्रतीत हुआ। इनकी भक्ति जिज्ञासु अर्थार्थी अथवा ज्ञानी की कोटि की न होकर आर्त की कोटि की थी, जिसमें भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए प्रपत्ति ही विशेष अवलम्ब थी। अपने अवगुणों को अनदेखा करके, उन्हें हृदय में न धारण करने के लिए सूर परमात्मा से स्तुति करते हैं। अपने अवगुणों को चित्त में न धारण करने के लिए वे तर्क यह प्रस्तुत करते हैं कि परमात्मा समदर्शी है। पूजा में रक्खे हुए लौह तथा बधिक-गृह में वध में प्रयोग आने वाले लौह में अन्तर न मानकर पारस अपनी समदर्शिता के कारण दोनों को सुवर्ण बना देता है। नाले और नदी का अस्वच्छ जल भागीरथी में मिलकर निर्मल अकलुष गंगोदक की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार एक जीव कहलाता है, दूसरा ब्रह्म परन्तु उस ब्रह्म के निकट पहुँचने अथवा उससे मिल जाने पर जीव के समस्त अवगुण दूर हो जाते हैं और वह उसी में लीन होकर उसी की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। इसीलिए भगवान् के चित्त में अवगुणों को कोई स्थान नहीं मिलता। भगवान् कृष्ण और सूरदास का भी यही झगड़ा है कि उनके निकट आकर भी यदि सूर मुक्त नहीं हो जाते तो भगवान् की समदर्शिता नष्ट हुई जाती है। भक्त सूर को स्वीकार नहीं कि उनके भगवान् का अपयश हो। उनका मुक्त होना हर प्रकार से नितान्त आवश्यक है।[1]

सूर के भगवान् निर्बलों के बल हैं। पिछले भक्तों के दृष्टान्तों से यह सिद्ध होता है कि आड़े समय में भगवान् ही काम आते हैं। जब तक गजराज अपने बल-प्रयोग के द्वारा ग्राह से

---

१ प्रभु मेरे औगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो अपने पनहिं करो।
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
यह दुविधा पारस नहिं जानत कंचन करत खरो।
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भये सुरसरि नाम परो।
एक जीव एक ब्रह्म कहावत सूर स्याम झगरो।
अबकी बेर मोहिं पार उतारो नहिं पन जात टरो।

मुक्त होने का प्रयत्न करता रहा, वह मुक्त न हो सका। जैसे ही उसने अपने बल का भरोसा त्यागकर निर्बल होकर भगवान् का स्मरण किया पूरे राम नाम का उच्चारण हो भी नहीं पाया, आधे नाम के उच्चारण मात्र से भगवान् ने प्रकट होकर गजराज की रक्षा की। अपबल, तपबल, बाहुबल तथा धनबल आदि अनेक बल हैं जो भगवान् की कृपा पर ही निर्भर हैं परन्तु सब प्रकार से पराजित अथवा हताश का एकमात्र बल परमात्मा का नाम है।[1]

भक्त के रक्षक भगवान् ही हैं। हरिस्मरण के द्वारा जीव इस सङ्कटाकीर्ण द्वन्द्वात्मक जगत् से निस्तार पा सकता है। भक्ति की महत्ता प्रदर्शित करते हुए सूरदास ने एक रूपक प्रस्तुत किया है। डाल पर बैठे हुए एक अनाथ पक्षी की ओर शिकारी निशाना लगाये खड़ा है। यदि बेचारा पक्षी उड़कर प्राण बचाना चाहता है तो ऊपर उसे खाने के लिए बाज मंडरा रहा है। दोनों प्रकार से पक्षी का अन्त निश्चित ही है। अब प्राणों की रक्षा कौन करे? निरीह पक्षी के द्वारा भगवान् का ध्यान करते ही भगवान् ने उसकी रक्षा की व्यवस्था की। सर्प ने आकर शिकारी को डस लिया और शिकारी के हाथ से बाण छूटकर बाज को लगा। दोनों ही शत्रु नष्ट हो गए। इस प्रकार पक्षी कराल काल के गाल में जाने से बच गया एकमात्र भगवान् की भक्ति तथा अनुग्रह के द्वारा।[2]

दादू व्यवसाय से बुनकर थे। कपड़ा बुनना उनका स्वजातीय कार्य था। वे परमात्मा के परम अनुरागी भक्त भी थे। परमात्मा से पृथक् उससे रहित वे कुछ देखते ही न थे। यद्यपि वस्त्र बुनना उनका जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन था, उसमें वे इतने दत्तचित्त थे कि उसको भी मस्तिष्क से बाहर न निकाल सके। इसी कारण उन्होंने परमात्मा प्राप्ति के प्रयत्न को वस्त्र बुनने की क्रिया के द्वारा वर्णित किया है। जैसा कि हम कबीर के पद में भी देख चुके हैं। भक्त बुनकर तत्त्व के तेल और प्रेम की वर्तिका से दीपक को प्रकाशित करके अज्ञानान्धकार को दूर करता है। तब उज्ज्वल प्रकाश में प्राणों को ज्ञानरूपी कूपी से निकालकर नामरूपी नली से अनुरंजित सूत के द्वारा बुनने का कार्य करता है। परम तत्त्व

---

१ सुने री मैंने निरबल के बल राम।
पिछली साख भरूँ सन्तन की अड़े सँवारे काम।
जब लगि गज बल अपन्यो बरत्यो नेकु सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकार्‌यो आये आधे नाम।
अपबल तपबल और बाहुबल चौथो है बल दाम।
सूर किसोर कृपा तें सब बल हारे को हरिनाम।

२. अबकी राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरियाँ पारधि साध्यो बान।
ता के डर निकसन चाहत हौं ऊपर रह्यो सचान।
दोऊ भाँति दुःख भयो कृपानिधि कौन उबारे प्रान।
सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी लाग्यो तर सचान।
सूरदास गुन कहँ लग बरनों जै जै कृपानिधान। स० सा० सु० भा० २, पृ० ६३

में मनवाला बुनकर प्राणरूपी ताने पर, नामरूपी बाने के द्वारा सुरंग वस्त्र के निर्माण में तत्पर होता है। यदि ताने-बाने में से किसी का कोई सूत्र टूट जाता है—प्राणक्रिया अथवा नाम-स्मरण किसी में विघ्न उपस्थित हो जाता है, तो वह चतुर उसको तुरन्त ही जोड़ देता है। इस सूत्र के जोड़ने में वह तनिक भी असावधानी नहीं करता अन्यथा स्वामी का मन भावना वस्त्र तैयार नहीं होगा। प्राण एवं नाम की ऐसी भक्ति द्वारा उसको सांसारिक आवागमन से मुक्ति मिल जावेगी और वह परमात्मा में समाहित हो जावेगा।[1] दादू के प्रस्तुत पद में ज्ञान, योग तथा भक्ति तीनों का समन्वय दृष्टिगत होता है।

हरिरस, रामरस के विषय में हम कबीर के उद्‌गार देख चुके हैं। दादू ने भी राम-रस का वर्णन किया है। रस का प्रयोग कई अर्थों में होता है। साहित्य में नवरसों का उल्लास है वैद्यक में रस का प्रयोग पारद आदि रसों के अर्थ में होता है, रस रसना के षटरसों के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तथा विज्ञान में रस द्रव के अर्थ में आता है। उपनिषद् में पर-मात्मा के लिए 'रसो वै स' का प्रयोग हुआ है और प्रायः इसी अर्थ में संत कवियों ने भी रस शब्द का प्रयोग किया है। हठयोगियों में तालु के ऊपर मस्तिष्क में अमृतरस के झरने तथा उसके अतिप्रिय स्वाद का भी उल्लेख मिलता है।[2] दादू के रामरस से तात्पर्य पर-मात्मा की भक्ति से है। इस रस को विरले साधु या ज्ञानी ही पान करते हैं। और जो इस रस का सदैव प्रेम से पान करते हैं उन्हें अमृतत्व प्राप्त हो जाता है। इस रस में नामदेव, पीपा, रैदास, आदि भक्त मस्त हुए हैं। कबीरदास इस रस का निरन्तर पान करते हुए कभी इससे विरत नहीं हुए। उनकी प्रेमप्यास ज्यों की त्यों बनी रही। यह रस साधक, सिद्ध, योगी, यती, सभी के लिए सुखदायक है तथा इसमें ऐसा गुण है कि इसके पीने का कभी अन्त नहीं होता। कितना ही क्यों न पिया जाय, प्रेम की प्यास बनी ही रहती है। यही नहीं, इस रस का पान करने वाला इसी में एकाकार हो जाता है।[3] इस रस की मादकता

---

१ कोली साल न छोड़ै रे।
सब धागे काढ़ै रे।
प्रेम प्राण लगाइ धागे तत तेल निज दीया।
एक मना इस आरम्भ लागा ज्ञान राछ भर लाया ॥१
नाम नली भरि बुणकर लागा अन्तरगति रंग राता।
ताणै बाणै जीव जुलाहा परमतत्त सौं माता ॥२
सकल शिरोमणि बुनै बिचारा तान्ना सूत न तोड़ै।
सदा सचेत रहै ल्यौ लागा ज्यौं टूटै त्यौं जोड़ै ॥३
ऐसैं तनि बुनि गहर गजीना साईं के मन भावै।
दादू कोली करता के संगि बहुरि न इहि जग आवै ॥४ दादू, भा० २, पृ० १२७

२ तुरत अमीरस भरत तार जहँ सहर बहै झमझला हो। (कबीर)

३ हरि रस माते मगन भये।
सुमिरि सुमिरि भये मतवाले जामण मरण सब भूलि गये।
निमष न न्यारे प्रेम रस पावै आन न दूजा भाव धरे।
सहजै सदा राम रंगि राते मुकति वैकुण्ठै कहा करे।

के कारण इसका सेवन करने वाला जीवन मरण तक को भूल जाता है। इस रामरस का पान करना ही दादू की साधना है। वे सहज रामरस में इस प्रकार रम गये हैं कि स्वर्ग तथा मुक्ति प्राप्ति की भी उन्हें इच्छा नहीं है। उनके लिए कुछ भी अभिलषित नहीं है। वे हरिनाम का गान करते हुए उसी में निमग्न हो गये हैं। प्रेमाभक्ति का रसपान करते हुए, अपलक दृष्टि से प्रियतम परमात्मा के दर्शन करने में ही जीवन व्यतीत हो जाय यही उनकी अभिलाषा है। हरिरस मत्त भक्तों की यही रहनी है।[1] भक्त की इसी रहनी का सूत्ररूप में वर्णन नारद भक्तिसूत्र में हम पहले ही देख चुके हैं।[2]

सुन्दरदास निर्गुणमार्गीय संतों में विद्वत्ता की दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखते हैं। इनकी रहस्यात्मक अनुभूति तथा तत्सम्बन्धी दर्शन उनकी विद्वत्ता तथा अभिव्यक्ति की सामर्थ्य के कारण अन्य संत कवियों के विवेचनों के अनुपात में अधिक स्पष्ट तथा सुगठित हुआ है। दर्शनों का ज्ञान, भाषा पर अधिकार तथा स्वानुभूत साक्षात्कार का अनुभव तीनों मिलकर उनकी अभिव्यक्ति को तुलसीदास के कथन की भाँति संक्षिप्त परन्तु सुस्पष्ट तथा सहज बुद्धि ग्राह्य बनाने में सहायक होते हैं। वे ज्ञान के द्वारा मुक्ति को संभव मानते हैं। उन्होंने अपने एक कवित्त में ऐसे ही ज्ञानी का वर्णन किया है जिसके लिए न कोई विधि-निषेध रह गया है, न जिसके हृदय में भेद या अभेद के दार्शनिक मत ही शेष रह गये हैं। फिर भी नित्यप्रति वह कर्म करता हुआ दृष्टिगत होता है। वैदिक विधि निषेध अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानी सांसारिक व्यक्तियों के लिए ही है। आत्मज्ञान हो जाने के पश्चात् उनकी उपादेयता नहीं रह जाती। विधि निषेध वह सोपान है जो साधक को एक स्तर विशेष तक पहुँचा कर फिर व्यर्थ हो जाते हैं। ज्ञानी किसी को अपने समीप रखता है अर्थात् किसी से मित्र भाव रखता है, किसी से दूर रहता है तथा किसी के प्रति उदासीन रहता है अथवा तटस्थ भाव रखता है। ऐसा होने पर भी वह राग द्वेष, हर्ष, शोक किसी में न रति रखता

गाइ गाइ रस लीन भये हैं कछू न मांगै संत जनां।
और अनेक देहु द्वत आगैं आन न भावै राम विना।
इकटक ध्यान रहैं ल्यौ लागे छाकि परे हरि रस पीवैं।
दादू मगन रहैं रस माते ऐसैं हरि के जन जीवैं। दादू, स० बा० सं० भा० २, पृ० ६५

१. राम रस मीठा रे कोइ पीवै साधु सुजाण।
सदा रस पीवै प्रेम सौं सो अविनासी प्राण।
इहि रस मुनि लागे सबै ब्रह्मा विष्णु महेस।
सुर नर साधु संत जन सो रस पीवै सेस।१ दादू, भा० २, पृ० २५
सिधि साधक जोगी जती सती सबै सुखदेव।
पीवत अंत न आवई ऐसा अलख अभेव।२
इहि रस राते नामदेव पीपा अरु रैदास।
पिवत कबीरा ना थक्या अजहूँ प्रेम पियास।३
दादू रस मीठा जिन पिया सो रस हा नहिं सवाद।
मीठे सदा पिवि रहा दादू अलख न आद।४

२. ना० भ०सू० ६।४, ७०

है न विरति। बाहर से लौकिक व्यवहार करता हुआ भी अन्तः में सबको स्वप्न की भाँति मिथ्या जानता है। इस भाँति परस्पर विपरीत क्रियाओं से युक्त प्रतीत होती हुई ज्ञानी की अद्भुत रहनी परमार्थ-प्राप्ति के साधनों में एक मान्य गति है।[1]

यारी की भक्ति प्रेम और योग का समन्वय है। बिना दीपक, बिना बत्ती तथा बिना तेल के प्रकाश उत्पन्न होने पर उनके प्रिय का आगमन हुआ है। निर्गुण, निराकार, परम तत्त्व प्रिय के लिए भक्त ने सुषुम्ना की सेज सजाई है। अपने प्रिय के साक्षात्कार से वे अत्यन्त आनन्दित होकर मंगलगान करते हैं।[2]

जगजीवन साहब के मत से भगवान् स्वयं ही भजन करता है, स्वयं ही भजन कराता है तथा स्वयं ही अलक्ष्य परमात्मा स्वयं का दर्शन कराता है। वह जिसको अपनी शरण में रखता है, वही भक्त कहलाता है। भक्त को वह अपने चरणों से कभी नहीं हटाता और न कभी उसे विस्मृत करता है। सुरति को वह इस प्रकार नियोजित कर देता है कि परमात्म-ज्योति में आत्मज्योति मिल जाती है।[3] जिसे जिस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है उसे उसी से लगन होती है। वह उस प्रत्यक्ष को अपने मन में जानता है, अनुभव करता है, किसी से कहता नहीं फिरता। सच्चे प्रेम का मार्ग ही यही है कि प्रेमी अपने प्रिय प्रेम को हृदय में संजोकर रखे। जो लोग इधर-उधर झगड़ा करते घूमते हैं, वे

---

१. विधि न निषेध कछु भेद न अभेद पुनि,
  क्रिया सो करत दीसै यूँ ही नित्यप्रति है।
 काहू कूँ निकट राखै काहू कूँ तो दूर भाखै
  काहूँ सूँ नेरे न दूर ऐसी जाकी मति है।
 रागहू न द्वेष कोऊ शोक न उछाह कोऊ
  ऐसो विधि रहै कहूँ रति न विरति है।
 बाहिर ब्यौहार ठानै मन में सुपन जानै
  सुन्दर ज्ञानी की कछु अद्भुत गति है। सुन्दरदास, सं० बा० स० भा० २, पृ० ११६

२. बिरहिनी मंदिर दियना बार।
 बिन बाती बिन तेल जुगति सों बिन दीपक उजियार।
 प्रान पिया मेरे गृह आयो रचि पचि सेज सँवार।
 सुखमन सेज परम तत रहिया पिय निर्गुन निरकार।
 गावहु री मिलि आनन्द मंगल यारी मिलि कै यार॥ यारी सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४६

३. साईं को चेतनि गुन गावै।
 सूझि बूझि समझावै तेहि का जेहि का जौन लखावै।
 आपुहि भजन है आपु भजावत आपु अलेख लखावै।
 जेहि कहँ आपनी सरनहि राखै सोइ भगत कहावै।
 टारत नाहीं चरन तें कबहूँ नहिं कबहूँ बिसरावै।
 सुरत तोषि ऐंचि जब राखत जोतिहिं जोति मिलावै।
 सतगुर किहो गुप्तगुरी डोरिका दूसर नाहि लखावै।
 जग जीवन ते मैं संग बासी भेद न कोऊ पावै। जगजीवन, सं० बा० सं० भा० २, पृ० ११९

वास्तव मे प्रेमी नही है। वे इधर-उधर से पढकर या सीखकर मिथ्या ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और उसी के बल पर बकवास किया करते है। जगजीवन साहब इस मिथ्या ज्ञान को हटाकर प्रत्यक्ष ज्ञान-प्राप्ति को महत्त्व प्रदान करते हैं। जो भगवान् का सच्चा प्रेमी हो जाता है, उसका चित्त एकाग्र होकर परमात्मा के चरणो मे सदैव रत रहता है।[1] जगजीवन साहब आत्मसमर्पण की कोटि की प्रेमाभक्ति के पोषक प्रतीत होते हैं। उन्होने सम्पूर्ण कर्तृत्व परमात्मा के ऊपर ही रखा है और स्वय उसकी प्रेरणा से कर्म करते हुए दृष्टिगत होते हैं।

जगजीवन साहब के शिष्य दूलनदास योग साधना के समर्थक थे। उन्होने योगी जीवात्मा को चैतन्य होकर इस काया-नगरी मे रहने की चेतावनी दी है। उनका योग कपडे की चादर ओढकर माला लेकर बैठ जाने मे नही है। प्रेम रग की चादर ओढकर मन की माला के द्वारा निरन्तर नाम की ध्वनि करने मे ही वास्तविक योग सम्पन्न होता है और इससे कर्मों के सब भ्रम दूर हो जाते हैं। सुरत की साधना करके साक्षात्कार जन्य ज्ञान के रहस्य को न प्रकट करके सत्य मार्ग के पालन से भवसागर पार हो जाने मे विलम्ब नही लगता।[2] परमात्मा भक्त के अत्यन्त समीप है फिर क्यो न भक्त उससे अपनी व्यथा निवेदन करे। वह जल, थल, पवन, आकाश, घट घट मे सर्वत्र व्याप्त है। जीवात्मा उस सर्वव्यापक परमात्मा के दर्शन की तृषा से व्याकुल है। उस राम-रस को मुख से पीने की उसकी इच्छा नही, अजलि से पीने की इच्छा नही, नेत्रो से ही पान करके, परमात्मा का साक्षात्कार करके ही वह आनन्दित होता है।[3]

---

१. मन में जेहि लागी लगन गाई।
सो जानै तैसे अपने मन कासों कहै गोहराई।
साची प्रीति को रीति है ऐसी राखत गुप्त छिपाई।
झूठे कहुं सिखि लेत अदहि पढि जहँ तहँ झगरा लाई।
लागे रहत सदा रस पागे तजे मदहि दुचिताई।
ते मस्ताने तिनकी जाने तिनहिं को देइ जनाई।
राखत सँभ चलत हैं लागा देखत सीस उठाई।
जगजीवन सतगुर की मूरति सूरति रहे निनाई। जगजीवन, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १४३

२. जोगी चेत नगर में रहो रे।
प्रेम रग रस ओढ चदरिया मन तसबीह गहो रे।
अन्तर लाओ नामहि को धुनि करम भरम सब धो रे।
सुरत साधि गहो सत मारग भेद न प्रकट कहो रे।
दूलनदास के साईं जगजीवन भव जल पार करो रे। दूलनदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १६२

३. स हिब अपने पास ही कौर दरद सुनावै।
साहिब जल थल घट घट व्यापत धरती पवन अकास हो।
नीची अटरिया ऊँची दुवरिया दियना बरत अकास हो।
सरिया इक पैठी जन भीतर रतन पिराम पियास हो।
मुख नहिं पिये चिरुआ नहिं पीये नैनन पियत हुलास हो।
साईं सरवर साईं जगजीवन चरनन दूलनदास हो। दूलनदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० १६६

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-जैन कवियों ने मुक्ति किंवा परमात्मा की प्राप्ति के लिए योग, ज्ञान, एवं भक्ति तीनों को ही समर्थ साधन माना है।[1] योग का सम्बन्ध शरीर से है, ज्ञान का मस्तिष्क से है और भक्ति का हृदय से, यह हम पिछले पृष्ठों में देख ही चुके हैं। भक्ति उपासना को प्राण और योग उपासना का शरीर कहा गया है। अब यहाँ पर योग शब्द की व्युत्पत्ति और उसके क्रमिक विकास पर दृष्टिपात कर लेने से जैन कवियों की योगपरक उपासना पाठकों के लिए अधिक सरल एवं सुबोध हो जावेगी।

योग शब्द 'युज्' धातु से बना है, परन्तु 'युज्' धातु पाणिनि में तीन प्रकरणों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुई है। दिवादिगण के युज् का अर्थ है समाधि, रुधादिगण के 'युज्' का अर्थ है संयोग और चुरादिगण के युज्' का अर्थ है संयमन। विद्वान् योग शब्द की निष्पत्ति भी भिन्न अर्थों वाले 'युज्' से करते हैं। गोस्वामी दामोदर शास्त्री ने योग की निष्पत्ति एकाग्रता अर्थक युज् से मानी है क्योंकि उनके मत से कर्म, ज्ञान-भक्ति अष्टांगादि योग में नियम से चित्तैकाग्रता ही अपेक्षित है।[2] नैयायिकों तथा अन्य विद्वानों ने 'युजिर योगे' से ही योग शब्द की उत्पत्ति मानी है। पं० पद्मनाभ तर्करत्न चुरादिगणीय संयमनार्थक 'युज्' धातु को भी योग की निष्पत्ति में सहायक मानते हुए तीनों ही युज् धातुओं को योग के मूल में वर्तमान मानते हैं।[3] निम्न विवेचन से प्रतीत होगा कि संयोगार्थक 'युज्' ही योग की निष्पत्ति के मूल में है।

जैन आचार्यों ने 'संयोगार्थक युज्' धातु से योग शब्द को बना माना है। डा० भगवानदास के मत से 'युजिर योगे' धातु से ही योग शब्द की निष्पत्ति है। उन्होंने 'अमरकोष' को उद्धृत करते हुए जिसमें 'योगः सन्नहनोपाय ध्यान संगति युक्तिषु' कहा गया है, अपने मत की पुष्टि की है। उनके अनुसार पुराकाल में जब देश की वीरों से युक्त थी तब युद्ध के लिए योद्धाओं को सन्नद्ध सन्नद्ध हो जाने, कवच पहनने और हथियार उठाने के लिए 'योगोयोग.' ऐसी पुकार होती थी। उपाय को भी योग कहते हैं। वैद्यक में दुस्खे को भी योग कहते हैं। ध्यान के विशेष प्रकार का नाम योग प्रसिद्ध ही है। संगति, नाना की वस्तुओं का मिलन भी योग है तथा युक्ति भी। युक्ति का अर्थ उपाय भी है और विशेष तर्क भी जो खण्डन-मण्डन का उपाय ही है। दूसरे कोषकारों ने योग शब्द के पैंतीस-चालीस तक अर्थ गिनाये हैं। इन सब रूढ़ अर्थों का मूल यौगिक अर्थ ही है, अर्थात् दो पदार्थों का मिलन अथवा समागम।[4] यही मत डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल को भी मान्य प्रतीत होता है। उनका कथन है कि व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति का मोक्ष, आत्मा-परमात्मा

---

१. जोग पावै जोग सू, ग्यानी लहै विचार।
   सहजो पावै भक्ति सू, जाके प्रेम अधार॥ — सहजोबाई, सं० डा० म० ना० १, पृ० १९९
२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ — यो० सू० १ २
३. कल्याण, वर्ष १०, अंक १, योगांक — पृ० ३४८
४. योगांक — पृ० ६८

का सम्मिलित ऐक्य, अथवा जोड ही कहलायेगा। इसीलिए कैवल्य मोक्ष भी योग कहलाता है।[1] योग शब्द के प्रयोग के अत साक्ष्य से जहाँ पर कि योग शब्द का प्रयोग हुआ है हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है।

वेदान्त योग को जीव और परमात्मा का मिलन कहता है।[2] अन्यत्र इसकी व्याख्या 'युज्यते असौ योग' जो मिलावे उसे योग कहते हैं, द्वारा की गई है। जैन आचार्यों ने सयोगार्थक युज् धातु से योग शब्द को बना माना है। 'मोक्षेण योजनादेव योगोह्यत्र निरुच्यते'[3] अथवा 'मुक्खेण जोयणाओ जोगो'।[4] जिन साधनो से मोक्ष का योग होता है उन सब साधनो को योग कहते है। महामहोपाध्याय आचार्य गोपीनाथ कविराज ने भी इस प्रकार व्यक्त किया है 'प्राचीन भारतीय साहित्य मे योग शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों मे व्यवहृत हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमे प्रकार-भेद होने पर भी मूलत कुछ अशो मे सामजस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा जाय, अथवा प्राण और अपान के सयोग, चन्द्र और सूर्य के मिलन, शिव और शक्ति के सामरस्य, चित्तवृत्ति के निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकार से योग का लक्षण निश्चित किया जाय, मूल मे विशेष पार्थक्य नही है।"[5]

'योगवासिष्ठ' मे ससार सागर से पार होने की युक्ति को योग कहा गया है।[6] 'सर्व चिन्ता परित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते'[7]—अन्यत्र कहा गया है। सबसे अधिक प्रसिद्ध 'योगश्चित्त वृत्तिनिरोध' महर्षि पतजलि का सिद्धान्त है। इस प्रकार आत्म-परमात्म को मिलाने वाला, ससार-सागर मे पार कराने वाला अथवा चिन्तारहित करने वाला कोई भी उपाय अथवा मार्ग योग के नाम से अभिहित किया जाता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, सभी इसीलिए योग सज्ञा से व्यक्त किये जाते है। फिर भी प्रस्तुत विवेचन मे योग शब्द को उसके दार्शनिक अर्थ मे तथा हठयोग के उन प्रकारो के अर्थ मे देखना है जिनमे कि समाधि के द्वारा जीव स्वस्वरूप मे स्थिर हो जाता है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने योग सूची की आलोचना करते हुए, "महा-योग अवस्था भेद के अनुसार मत्रयोग, हठयोग, लययोग, अथवा राजयोग, असप्रयोग जिसे कि वे असप्रज्ञात समाधि की ही अवस्था-विशेष मानते हैं शब्दयोग, वाग्योग, योग और वियोग (विवेक) तथा हठयोग को गिनाया है।[8] अन्यत्र समाधियोग, अष्टांगयोग, राजयोग,

---

१. योगाक पृ० ७०१
२. योगांक पृ० १६१
३. द्वात्रिंशिका १०।१ यशोविजय योगांक पृ० २६०
४. योगविंशिका—हरिभद्र सूरि—योगाक पृ० २६०
५. योगाक पृ० ५१
६. योगवासिष्ठ ६।१।१३।३ योगाक पृ० ११७
७. योगाक पृ० १६४
८. योग का विषय परिचय, म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, योगांक पृ० ५१

सुरत-शब्द-योग, प्रपत्तियोग, सिद्धयोग, नाम कौल-नालिकयोग, अस्पर्शयोग, ज्ञानयोग, सम्पूर्णयोग, शिवयोग, पाशुपतयोग, पातञ्जलियोग, भृगुयोग, तारकयोग, ऋजुयोग जपयोग, कुण्डलिनी शक्ति-योग, हठयोग, ध्यानयोग, षडङ्गयोग, प्रेमयोग आदि अनेक प्रकार के योगों का उल्लेख है परन्तु वास्तव में भक्ति और ज्ञान को योग की अंतिम परिणति मान लेने पर 'धारणा, ध्यान और समाधि' ही शेष रह जाते हैं। उसके पहले चाहे यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार लगाकर उसको पतञ्जलि प्रणीत अष्टाङ्ग योग मान लिया जाय अथवा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार मात्र लगाकर नाथों का षडङ्गयोग। अथवा प्राणायाम मात्र निकाल कर जैनों का योग जिसमें कि यम नियम नामभेद से केवल प्रयुक्त होते हैं। शेष सबके नामभेद का कारण ध्यान किये जाने वाले इष्टदेव से है। शिव हो शक्ति हो, नाद हो, शब्द हो, राम विष्णु शून्य अथवा कोई हो। इसके अतिरिक्त भी कुछ योगों के नाम उनकी विधि पर अवलम्बित हैं जैसे कुण्डलिनी-शिवशक्ति आदि जहाँ पर एक अथवा दूसरे का उद्भूत करना लक्ष्य है तथा जिनका एकरस हो जाना ही उनकी सिद्धि है। अथवा प्रपत्ति-योग के साधन का भेद निदर्शन मात्र है। एक अन्य योग वामाचार कौलयोग का विवेचन कर लेना भी उपयुक्त होगा। वास्तव में वाम शब्द निरुक्त के अनुसार प्रशस्त अथवा श्रेष्ठ का द्योतक है।[1] तथा कुल शब्द शक्ति का वाचक है और अकुल शब्द शिव का बोधक। कुल और अकुल के सम्बन्ध को कौल कहते हैं।[2] इस प्रकार वह श्रेष्ठ योग जिसमें कि शिव और शक्ति का योग हो वाममार्गीय योग हुआ। इस प्रकार भक्ति के उपासकों को भोग तथा मोक्ष दोनों ही करतल-गत थे। यही नहीं, सिद्धों की परम्परा में हम पञ्चमकार आदि का सेवन नियम के रूप से प्राप्त करते हैं। वाममार्गीय अथवा सिद्धों ने अपने मतव्य को सदैव स्पष्ट शब्दों में न कहकर सांकेतिक भाषा में ही कहा है। यही नहीं उन्होंने हृदय के गुप्त रहस्य को मातृजार की भाँति गुप्त रखने का आदेश दिया है।[3] इसलिए उसका विकृत रूप ही परवर्ती साहित्य को मिला और जिसमें शाक्त या साकट को कुत्ते के समान समझा गया।[4] ब्रह्मचर्य से अष्टधा ब्रह्मचर्य का बोध हुआ।[5] और साधना के लिए वही उपयुक्त विधि प्रतीत हुई।

इन सब प्रकार के योगों के होते हुए भी भारत में महर्षि पतञ्जलि प्रणीत अष्टाङ्गयोग ही योगशास्त्र का मापदण्ड रहा। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि यही अष्टाङ्ग योग कहा जाता है। यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, आस्तेय,

---

१. वाम—अत्रेम मनेन अनेच भनवन भनमिगसः उकम्प गुनेथ पाक वामः वनुनर्गि दश प्रशस्यनामानि। योगांक, पृ० १७४

२. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥ योगांक, पृ० १७५

३ प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात्‌वामाचारगतौ प्रिये।
अतो वामपथं देवि गोपयेत् मातृजारवत्॥ विश्वसार योगांक, पृ० १७५

४. साकत सुनहा दूनो भाई, एक नदै एक भौंकत जाई॥ क० ग्र० भूमिका, पृ० ३०

५. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥ योगांक, पृ० १०५

ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह पाँच सामाजिक (Social) सदाचरण माने गये हैं तथा नियम के अन्तर्गत शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान यह वैयक्तिक आचार। अष्टाग-योग मे यह उसी प्रकार प्रारम्भिक आवश्यकता है जिस प्रकार वेदान्त दर्शन मे साधन चतुष्टय[1] सम्पन्न शिष्य के प्रति ही ब्रह्म ज्ञान का उपदेश। मोहनजोदडो और हडप्पा आदि की खुदाई मे जो प्रस्तर मूर्तियाँ पाई गई है वे किसी-न-किसी योगभावना को सूचित करती हैं। बहुत सभव है कि यह पूर्व वैदिक सभ्यता की एक विशेष सम्पत्ति हो पहले पहल वैदिक आर्य इसके प्रभाव मे नही आये पर बाद मे उन्हें इससे प्रभावित होना पडा था, इसे आर्य चिन्तन से दूर नही रक्खा जा सका। परवर्ती साहित्य तो इडा, पिंगला, चक्र, कमल, कोश, नवद्वार, मूलाधार, सहस्रार प्रभृति तत्त्वो से भरा पड़ा है।[2] इसी योग मे वर्णित अणिमादि सिद्धियाँ सर्वत्र स्वीकृत हुई है।[3] और योगों म सिद्धियाँ नही थी, ऐसा नही है। सिद्धियों की मधुमयी भूमिका पर प्रत्येक साधक को चरम सिद्धि के पूर्व पहुँचना होता है जिन्हें पतजलि ने भी समाधि मे विघ्न माना है।[4] तथा उस पर विजय प्राप्त करने पर ही आत्मा-परमात्मा शिव-शक्ति अथवा कोई भी अन्तिम सिद्धि उसे वरण करती है।

अब हम कुछ योगो के विषय मे सक्षेप से विचार करेंगे जिनका प्रभाव परवर्ती हिन्दी-सतों पर पडा।

१. सुरत-शब्दयोग—अनाहत शब्दो मे सुरत अर्थात् ध्यान को जोडने को सुरत-शब्दयोग कहते हैं। अभ्यासी की सुरत अर्थात् आत्मा क्रमश अन्तर मे चढकर इन गुप्त चक्रो, कमलो और पद्मो को चैतन्य करे और चेतन मण्डलो की रचना का अनुभव करती हुई अन्त मे सच्चे कुल मालिक का दर्शन प्राप्त करके कृतकृत्य हो।[5]

२. सिद्धयोग —जिस पथ से बिना कष्ट के योग प्राप्त होता है उसी पथ को सिद्धि-मार्ग कहते हैं। योगरूप सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग सुषुम्ना नाडी है। जब इस नाडी से प्राणवायु प्रवाहित होकर ब्रह्मरन्ध्र मे जाकर स्थित होती है तब साधक को जीवब्रह्मैक्य ज्ञानरूप योग प्राप्त होता है। सर्वप्रथम गुरु द्वारा शक्ति का सचार होने से कुण्डलिनी शक्ति जागरित होती है। योग शास्त्रोक्त आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदि कुछ भी अस्वाभाविक ढग से अनुष्ठान करने की जरूरत नहीं, केवल गुरु-शक्ति के जागरित हो जाने से स्वाभाविक रूप मे योग मार्ग प्राप्त हो

---

१. साधनानि नित्याऽनित्यवस्तुविवेकेहाऽमुत्रफलभोगविरागशमदमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि।
वेदान्त सार, पृ० २०

२. आचार्य क्षिति मोहन सेन — योगांक, पृ० २१८

३. योगसूत्र ३, १३ तथा ३, ३८ से ४६

४. ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय: — यो० सू० ३, ३७

५. स्वामी जी महाराज — योगांक, पृ० ८०

जाता है। इसी को सहज कर्म कहा गया है।[1] सिद्धों को बौद्धों की ही अन्तिम कड़ी समझना चाहिए। विक्रमशिला बौद्ध विश्वविद्यालय में महायान, मन्त्रयान, वज्रयान का अध्ययन होने लगा था। वाममार्गीय तान्त्रिक उपासना को ही बहुत लोग सहजयान कहते हैं।[2] सिद्धों की अनीश्वरता, मद्य, मांस, स्त्री आदि का उपयोग लोगों को अधिक समय तक सन्तुष्ट न रख सका। इसीलिए प्रचलित प्रथा के विरुद्ध कुछ समझदार योगियों ने नाथ सम्प्रदाय की सृष्टि की और गोरक्षनाथ इस सम्प्रदाय के अगुवा बने।[3] इसमें आदिनाथ भगवान् शंकर आदि-स्रोत माने जाते हैं। इस मत में शुद्ध हठ तथा राजयोग की साधनायें ही अनुशासित हैं। योगासन, नाड़ीज्ञान, षट्चक्रनिरूपण तथा प्राणायाम द्वारा समाधि की प्राप्ति इस योग के मुख्य अंग हैं। शारीरिक पुष्टि तथा पंच महाभूतों पर विजय इन पर भी विशेष ध्यान दिया गया है और इनकी सिद्धि के लिए रस विद्या का भी इस मत में मुख्य स्थान है।[4] समाधि की प्राप्ति में सहायक इसी रस-प्रक्रिया का विकृत रूप हम गांजा अथवा भंग पान समाधि में दृष्टिगोचर होता है। काया-शुद्धि के लिए उन्होंने नेति, धौति, वस्ति, गज कर्म, न्योली तथा त्राटक अथवा गजकर्म के स्थान पर कपाल भाति[5] दी है। नाथपथ शुद्ध साधना का मार्ग है अथवा सिद्धान्तों की सार्थकता उसमें यही मानी जाती है कि उनका इसी जीवन में अनुभव किया जाय। तात्त्विक सिद्धान्त है कि परमात्मा 'केवल' है, वह भाव और अभाव दोनों से परे है। उसे न वस्तु कहा जा सकता है, न शून्य। यहाँ तक कि उसका नाम भी नहीं रक्खा जा सकता।[6] व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति का मोक्ष आत्मा-परमात्मा का मिलन ऐक्य अथवा जोड़ ही कहलायेगा। नाथ-पथ इसी योगानुभूति तक पहुँचाने वाला पथ है।[7]

हम देख चुके हैं कि शरीर को स्वस्थ तथा शुद्ध रखने के लिए रसक्रिया तथा षट्कर्म का विधान है। मन तथा शरीर को अधिक कष्ट देना नाथपथ में विवेक नहीं। जहाँ इन्द्रियों का दास बनकर योगसाधन असम्भव है, वहाँ भौतिक आवश्यकताओं के प्रति एकाएक

---

१. श्री पुरुषोत्तम तीर्थ — योगांक, पृ० १७३
२. भगवती प्रसाद सिंह—चौरासी सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय — योगांक, पृ० ४६९
३. भगवती प्रसाद सिंह—चौरासी सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय — योगांक, पृ० ४७०
४. भगवती प्रसाद सिंह चौरासी सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय — योगांक, पृ० ४७१
५. कमला प्रसाद सिंह—षट्कर्म — योगांक, पृ० ५८२
६. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—नाथपथ में योग — योगांक, पृ० ७०१
७. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—नाथपथ में योग — योगांक, पृ० ७०१

आँख बंद कर भी सिद्धि नहीं हो सकती।[1] भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकता दोनों का सम्यक् संयोग ही नाथयोगी की 'रहनी' का सार तत्त्व है।[2] योगसाधना में महत्त्व है मानसिक स्थिति का जिसके द्वारा संयम संभव होता है। इसीलिए मन को सतत किसी-न-किसी काम में लगाये रखना आवश्यक है। (Empty mind is a devil's workshop) चाहे रास्ता चले, चाहे कथा सिये, चाहे ध्यान धरे, चाहे ज्ञान कहे।[3]

नाथों की कालवंचिणी क्रिया—जिसके द्वारा साधक नौ द्वारों को बन्द कर दशमद्वार ब्रह्मरंध्र में समाधिस्थ हो अमृत पान कर फिर बूढ़े से बालक हो जाता है[4]—उनकी परम लक्ष्य थी। सिद्धों ने अपने योग के उपदेश हिन्दी भाषा में किये थे इसलिए सिद्धों को हिन्दी के आदि कवि भी कहा जाता है।[5] परवर्ती हिन्दी संत उनके प्रभाव से नहीं बच सके। उपर्युक्त कालवंचिणी विद्या उनके काव्य में हठयोग के रूप में प्रयुक्त हुई।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में तुलसीदास ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने भगवत्-उपासना के विषय में अपनी व्यक्तिगत भावना को व्यक्त करने के साथ ही विविध दार्शनिक सिद्धान्तों एवं मतों का गंभीर तथा विशद विवेचन किया है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि उन्हें वे सब दार्शनिक मत अथवा सिद्धान्त मान्य ही थे। उनको यद्यपि निज सिद्धान्त के रूप में 'सेवक-सेव्य' भाव ही स्वीकार था परन्तु उन्होंने सभी पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन मतों से सत्य के अंश को पूर्वपक्ष अथवा सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करके उसको व्यक्त किया। संभवतः वे प्रत्येक सत्य की आंशिकता पर विश्वास करते थे तथा पूर्णता उनकी समष्टि में ही मानते थे। उन्होंने एक समन्वय प्रस्तुत किया उन समस्त मतवादों का जो उन्हें तत्कालीन परिस्थितियों में हितकर व उचित प्रतीत हुए। उनके समय में प्रचलित कोई भी साधना पद्धति उनकी लेखनी से अछूती नहीं बची। ज्ञान, योग, भक्ति तीनों ही उनसे गौरवान्वित हुए हैं। तुलसीदास और सुन्दरदास के अतिरिक्त ज्ञान के स्वरूप निरूपण के विषय में कवियों ने कम ही कहा है। भक्त तथा संत कवियों ने भक्ति तथा योग पर अधिक उद्गार व्यक्त किए हैं। भक्ति के अंतर्गत व्यक्तिगत उपासना पद्धति ही विशेष रूप से परिगणित हुई, जिसने जैसा चाहा, परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ा। किसी ने दास्य भाव से, किसी ने सख्य भाव से, किसी ने माधुर्य अथवा अन्य भाव से। योग के अन्तर्गत अन्य योग भी है परन्तु जैसा कि हम विगत पृष्ठों में देख चुके हैं, तत्कालीन मतों तथा सम्प्रदायियों में हठयोग का बहुत प्रचार था इसलिए हठयोग की ही संत-साहित्य में बहुलता हुई। हठयोग का इतना प्राचुर्य हुआ कि तुलसी,

---

१ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—नाथपंथ में योग — योगांक, पृ० ७०५
२. नाथपंथ में योग—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल — योगांक, पृ० ७०५
३ कै चलिबा पंथा। कै सीबा कंथा।
कै धरिबा ध्यान। कै कथिबा ज्ञान। — योगांक, पृ० ७०५
४. धुवों हो देखत तबौं जवान। अमिय पिवत नव होइबा बाल।
मरम भणिति (तै) मोवन मूल। पूल्या फूल फला फिर फूल। — योगांक, पृ० ७०६
५. चौरासी सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय—ज्योतिप्रसाद मिश्र — योगांक, पृ० ४७०

सूर के अतिरिक्त कबीर, मीरा, दादू आदि अधिकांश कवि अपने प्रत्येक पद में अधिक नहीं तो एक-आध पंक्ति हठयोग पर कहे बिना रह ही नहीं सके। सूर के दृष्टकूटों में भी हठयोग की गन्ध का कुछ न कुछ आभास मिलता ही है। यथार्थ बात तो यह है कि सारे योग का मूलगत अर्थ और उसकी अंतिम परिणति भगवान् के साथ प्रेम-मिलन में है।[1] वस्तुतः हिन्दी-संतयोग को न हठयोग कहना उचित है न राजयोग। वह है भगवत्-मिलन-योग, जो कि सब कवियों द्वारा साध्य तथा साधन दोनों ही रूपों में गृहीत हुआ।

---

१. कबीर का योग—क्षिति मोहन सेन—दोहाक, पृ० १०२

मुक्ति किंवा साक्षात्कार

वैदिक-काल से पूर्व के अर्ध सभ्य मानव में भी मुक्ति की भावना अवश्य विद्यमान रही होगी। यह बात दूसरी है कि उसका स्वरूप कुछ और रहा हो जो पूर्ण सभ्य मानव के विविध दर्शनों से मेल न खाता हो। उस समय मुक्ति की भावना का अर्थ स्वर्गप्राप्ति रहा होगा और स्वर्ग-प्राप्ति से तात्पर्य रहा होगा मृत्यु के उपरान्त उस लोक की प्राप्ति, जहाँ मनुष्य अपने जीवन-काल के दुखों और कष्टों से दूर होकर उन सम्पूर्ण अभावों का पूर्णतम तथा सर्वाधिक उपभोग कर सके, जो अपूर्ण रह गये हों। मिश्र के पिरामिडों तथा हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो की खुदाइयों में प्राप्त वे शव जिनके साथ नैत्यिक उपयोग में आने वाली सभी सामग्री गड़ी हुई मिली है, स्वर्ग की इसी भावना की पुष्टि करते हुए जान पड़ते हैं। मृत्यु के बाद उस लोक में पहुँच कर मनुष्य अधिक से अधिक सुख भोग कर सके और जीवितावस्था के अभावों को पूर्ण कर सके इसीलिए उनके निर्जीव शरीर के साथ सम्पूर्ण सामग्री पृथ्वी के अन्दर रख दी जाती थी। इस क्रिया के मूल में मुक्ति की भावना ही किसी न किसी रूप में वर्तमान थी।

पूर्व वैदिक-काल में मुक्ति की भावना के साथ स्वर्ग की भावना जुड़ी हुई थी। उपनिषद् काल में पहुँचकर मुक्ति की भावना ने दार्शनिक स्वरूप प्राप्त किया। उस समय जीव के द्वारा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति ही मुक्ति थी। वैदिक ऋषि ने उसी तत्त्व को जानने तथा प्राप्त करने की आकांक्षा की जिसे जानकर वह अमरधर्मा[1] अथवा आत्म-क्रीड आनन्दी हो जाय।[2]

हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ के पूर्व भारतवर्ष में मुक्ति के विषय में अनेक धारणाएं विद्यमान थीं। उन धारणाओं की पृष्ठभूमि के अध्ययन से ही मुक्ति विषयक विचारों का सही मूल्यांकन सम्भव है। भारतीय दर्शन का जन्म केवल बौद्धिक संतुष्टि अथवा बौद्धिक कलाबाजियों के उद्देश्य से नहीं हुआ था। उसमें तत्त्व विवेचन के साथ साथ अथवा कहीं-कहीं पर तत्त्व-विवेचन को गौण स्थान देकर भी एक लक्ष्य-विशेष की प्राप्ति ही प्रधान थी।

---

१. सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं
तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति। — बृ० उ० २,४.३

२. तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन
वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न
बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद् वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं
रूपं शोकान्तरम्। — बृ० उ० ४ ३ २१

वह लक्ष्य था—मुक्ति जो समयानुसार पृथक्-पृथक् नामों के द्वारा भिन्न भिन्न अर्थों में गृहीत हुई है।

बौद्ध मतावलम्बियों में वैभाषिकों ने मुक्ति या निर्वाण को दो प्रकार का माना है—सोपाधिशेष जो शरीर रहते होता है तथा निरुपाधिशेष जो शरीरपात के पश्चात् होता है। यह दो प्रकार के निर्वाण जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति की ही भांति है। सौत्रान्तिकों को क्लेशों की निवृत्ति पर ही दुःख या संसार की अनुत्पत्ति का अवलम्बित होना मान्य है। प्रति सख्या निरोध तथा अप्रति सख्या निरोध के भेद से प्रज्ञा के कारण विषय से उत्पन्न होने वाले क्लेशों का न होना, तथा क्लेश-निवृत्ति-मूलक दुःखानुत्पत्ति को वे स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादियों अथवा योगाचारों के अनुसार जीव या प्राणी पर पड़े हुए आवरणों की निवृत्ति से मोक्ष-लाभ होता है तथा सर्वज्ञता प्राप्त होती है। क्लेशावरण की निवृत्ति अथवा पुद्गल नैरात्म्य से मोक्ष प्राप्त होता है और ज्ञेयावरण की निवृत्ति अथवा धर्म नैरात्म्य ज्ञान से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। जैनों के मत से जीव निसर्गत मुक्त है पर वासना जन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डाले रहते हैं। कर्म भाव-रूपा पौद्गलिक या भौतिक माना जाता है। वह जीव को सर्वांश व्याप्त कर इस दुःख मय प्रपंच में डाले हुए है—यही जीव का बन्धन है। समग्र कर्मों के क्षय को मोक्ष नाम से अभिहित किया जाता है। मोक्ष प्राप्त करते ही जीव अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और उसके अनन्त चतुष्टय का सद्य उदय हो जाता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा तथा अनन्त शान्ति ही अनन्त चतुष्टय है। कैवल्य प्राप्त कर लेने पर भी जीव इस भूतल पर निवास करता हुआ समाज के परम मंगल के सम्पादन में लगा रहता है।

न्याय दर्शन में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को ही अपवर्ग कहते हैं।[1] अत्यन्त का अभिप्राय उपात्त जन्म का परिहार तथा अन्य जन्म का अनुत्पादन है। वासनादि आत्म गुणों के विच्छेद से ही दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो सकती है। मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। तथा अखिल गुण, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म तथा संस्कार आदि से विरहित रहता है। इस प्रकार नैयायिक मुक्ति केवल अभाव-रूपा है।

न्याय की भांति वैशेषिक दर्शन ने भी मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तथा आत्म विशेष गुणोच्छेद को ही मुक्ति स्वीकार किया है। यद्यपि 'सर्व सिद्धान्त संग्रह' के अनुसार किसी समय नैयायिक भी मुक्ति को आनन्दरूपा मानते थे। मुक्ति प्राप्ति के साधना में भेद अवश्य हो सकता है। एक ओर जहाँ न्याय योगज ध्यान को मुक्ति में मुख्य तथा श्रवण मनन आदि को गौण मानता है वहाँ दूसरी ओर वैशेषिक निष्काम कर्म से सत्व शुद्धि, सत्व शुद्धि से तत्त्वज्ञान तथा तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान निवृत्ति रूप व्यापार के द्वारा मोक्ष मानते हैं। इसके अतिरिक्त योगाभ्यास, प्राणायाम आदि साधन भी नितान्त आवश्यक हैं।

---

१ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। न्या० सू० १।१।२२

सांख्य दर्शन में प्रकृति पुरुष का परस्पर वियोग होना, एकाकी होना अथवा पुरुष की प्रकृति से अलग स्थिति कैवल्य अथवा मोक्ष है।[1] पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग निष्पन्न होता है। वस्तुतः प्रकृति से सुकुमारतर अन्य कुछ है ही नहीं, वह इतनी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूत हो जाने पर उसके सामने कभी उपस्थित नहीं होती।

योग में भी लगभग यही मत मान्य है। भोग, वितृष्णा तथा गुण वितृष्णा के उदय हो जाने से पुरुष को भोग्य जगत में नहीं आना पड़ता तथा वह गुणों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। बुद्धि के साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर पुरुष अपने निज के स्वरूप चित् में प्रतिष्ठित हो जाता है। कैवल्य का अर्थ पुरुष का यही एकाकीपन है। सन्तोष या अनुत्तम सुख भी दुख पक्ष में निक्षिप्त है।

पूर्वमीमांसा के अनुसार प्रपंच सम्बन्ध विलय ही मोक्ष है।[2] इस जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध विनाश का नाम मोक्ष है। प्रपंच के बन्धन त्रय (१ भोगायतन, शरीर, २ भोग साधन इन्द्रिय तथा ३ भोग विषय पदार्थ) ने आत्मा को जगत् के कारागार में डाल रक्खा है। इस त्रिविध बन्ध के आत्यंतिक विलय का नाम मोक्ष है। केवल बन्ध का विलय होता है। संसार की सत्ता उसी प्रकार विद्यमान रहती है।

गुरुमत के अनुसार आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्म के अनुष्ठान से धर्माधर्म के विनाश हो जाने पर जो देह इन्द्रियादि सम्बन्ध का आत्यंतिक उच्छेद हो जाना है वही मोक्ष है।

भाट्ट मत के अनुसार बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध विलय होने पर बाह्य सुख की अनुभूति मुक्तावस्था में अवश्य नहीं होती परन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप के उदय होने पर शुद्ध आनन्द का आविर्भाव अवश्यमेव होता है।

पार्थ-सारथि के अनुसार मुक्तावस्था में सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है। शरीर से हीन आत्मा को प्रिय या अप्रिय हर्ष या शोक स्पर्श नहीं करते। आनन्द का अर्थ दुःखाभाव रूप ही ग्रहण किया गया है। कर्म मुक्ति का मुख्य कारण है, ज्ञान केवल सहकारी कारण।

मुक्ति की सबसे अधिक व्यापक धारणा वैष्णवतन्त्रों तथा वेदान्तदर्शन में उपलब्ध होती है। 'पाञ्चरात्र' के अनुसार मुक्ति का नाम 'ब्रह्म भावापत्ति' है। इस दशा में जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। पुनः वह इस संसार में नहीं आता तथा उस दशा में निरतिशय आनन्द का उपभोग करता है। जिस प्रकार विभिन्न नदियों का जल सागर में पहुँचकर तद्रूप हो जाता है तथा जल में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, परमात्मा की प्राप्ति हो जाने पर योगियों की ऐसी ही दशा हो जाती है। उस स्थिति में जीव भगवान् के पर रूप के साथ परम व्योम (शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ) में आनन्द से विहार किया करता है।

रामानुजदर्शन में मुक्त आत्मा ईश्वर के समान होती है। उसकी ईश्वर के साथ एकात्मकता नहीं होती। मुक्त जीव में सर्वज्ञता, तथा सत्य सङ्कल्पत्व अवश्य आ जाते हैं पर सर्वकर्तृत्व ईश्वर के ही हाथ में रहता है। सृष्टि की स्थिति लय आदि में जीव का हाथ भी

---

१. सांख्यदीपिका

२. प्रपञ्चविलयो मोक्षः।

अधिकार नहीं रहता। प्रपत्ति के वशीभूत भगवान् जीव को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करा देते हैं। मुक्ति के लिए ईश्वर का साक्षात् अनुभव ही अन्तिम साधन है। वैकुण्ठ में भगवान् का 'किंकर' बनना ही परम मुक्ति है।

मध्व-मत में आनन्द का अस्तित्व स्वीकृत है परन्तु आनन्दानुभूति में भी (जीवों में) परस्पर तारतम्य है। कर्मक्षय उत्क्रान्ति अर्चिरादिमार्ग तथा भोग क्रमशः चार प्रकार के मोक्ष हैं तथा भोग भी चार प्रकार के हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। इसी से मध्व-मत के सम्बन्ध में किसी कवि की उक्ति 'मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम्' उचित ही है।

निम्बार्कदर्शन में जीव और ब्रह्म में अभेद स्वाभाविक है, भेद उपाधिजन्य है। उपाधि से निवृत्त होने पर भेद भाव छूट जाता है और यही मुक्ति अथवा शुद्ध परमात्मरूप में स्थित है। इसी को सागररूप से एकेन तथा तरंग-रूप से अनेकेन द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

भास्कराचार्य को कर्म समन्वित ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति मान्य है, केवल ज्ञान द्वारा नहीं। शरीर सम्बन्ध रखते हुए भगवद्भावापत्ति के असम्भव होने से शरीर छूटने के पश्चात् ही मुक्ति सम्भव है अतः इन्हें जीवन्मुक्त की कल्पना स्वीकार नहीं।

आचार्य वल्लभ ने अक्षर-ब्रह्म तथा परब्रह्म में भेद प्रदर्शित करके ज्ञान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति तथा भक्ति के द्वारा परब्रह्म सच्चिदानन्द की प्राप्ति सम्भव बताई है। भक्ति भी दो प्रकार की है—१ मर्यादा भक्ति जिसमें चरण वन्दन आदि से सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति होती है तथा २ पुष्टिमार्गीय भक्ति जिससे अभेद बोधन रूपी मुक्ति सिद्ध होती है। पुष्टिमार्ग के सेवन में भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है और तब उनमें तिरोहित आनन्द के अंश का पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में जीव आनन्द अंश को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है।

वैष्णव आगम के विचार से भगवान् की माया के कारण जीव बन्धन में है और उसी की कृपा से वह मुक्त होता है अतः जीव का मुख्य कर्तव्य भगवान् विष्णु का अर्चन है। इन्होंने भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य चार प्रकार की मुक्तियों की कल्पना की है जिनमें सायुज्य सर्वश्रेष्ठ कही गई है।

अब तक हमने भारतीय दर्शनों की मुक्ति विषयक विभिन्न धारणाओं का संक्षेप में अवलोकन किया। तमाम दार्शनिक सिद्धान्तों के मूल में एक विशेष भावना निहित है और वह है आत्मा या जीव के अमरत्व की भावना। सभी धार्मिक विश्वासों के मूल में यही भावना विद्यमान है। यदि इस भावना को अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में देखें तो हमें इस संसार से अधिक स्थायी कल्पना स्वर्ग की प्राप्त होती है। परन्तु वह स्वर्ग भी कालावच्छिन्न था तथा 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' के अनुसार स्वर्गसुख भी नाशवान् था। शरीरपात भी वास्तविक मुक्ति नहीं बन सका (चार्वाक) और स्वर्ग की धारणा और उसकी प्राप्ति भी मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सका। यहाँ पर यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि

आत्मा की नित्यता की कल्पना से ही धर्मों को शक्ति मिलती है जिसके कारण सामान्य जन भी आचार के परिपालन की ओर प्रवृत्त होता है और बहुत ही कष्टसाध्य प्रयत्नों के द्वारा भी पाशविक वृत्तियों से बचने का प्रयत्न करता है।

ईश्वर तथा आत्मा इन दो मूल तत्वों में मानव ने सर्वप्रथम किनका नित्यस्वरूप में अनुभव करके व्यक्त किया यह कहना अति कठिन है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ आत्मा का ही अधिक महत्त्व रहा है। उसी की दुःखादि से निवृत्ति तथा आनन्द की प्राप्ति मानव का चरम लक्ष्य रहा है। यह बात दूसरी है कि आत्मा विषयक धारणाएँ निरंतर बदलती रहीं और उसी के अनुकूल मुक्ति की धारणा में भी बराबर परिवर्तन होता रहा। परमात्मा, जगत् तथा आत्मा के स्वरूप की त्रिपुटी ही मुक्ति के स्वरूप की स्थिरकर्त्री रही है।

उपनिषदों में हमने देखा है कि दार्शनिक नियम के विरुद्ध अति प्रश्न करना वर्जित है। भगवान् बुद्ध ने भी आत्मा परमात्मा विषयक गम्भीर गुत्थियों में उलझने का निषेध किया है। परन्तु शायद मानव-मस्तिष्क का विकास ही उसी प्रकार हुआ है कि वह बिना तत्त्वचिन्तन किये नहीं रह सकता। भगवान् बुद्ध के केवल आचार सम्बन्धी आदेश उस संतुष्ट नहीं रख सके और उन उपदेशों के संदर्भ में कहे हुए तत्त्व सम्बन्धी स्फुट उद्‌गारों में ही उनके अनुयायियों ने तत्त्वचिन्तन का विशाल प्रासाद खड़ा किया। हिन्दी-सन्तों ने भी कोई दर्शन का इतिहास लिखने के लिए अपने उद्‌गार नहीं प्रकट किये हैं। उन्होंने अपने हृदय के उल्लास को पदों में व्यक्त किया, अपना आत्मनिवेदन अपने प्रभु के सम्मुख प्रस्तुत किया अथवा किसी प्रकार की चेतावनी स्वयं को व साथियों को दी। तुलसी, सूर जैसे भक्त महा-काव्यों की रचना के माध्यम से इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति करते रहे। संतों के इन्हीं उद्‌गारों से उनके दार्शनिक तात्विक विचारों की खोज व संकलन करके उसे दर्शन का रूप देना आज के विचारकों का काम रह गया है। हिन्दी संत जनहित में रत, मुमुक्षु लोग थे। उन्होंने अपने भावों का दार्शनिक विकास क्रम में सिद्धान्त रूप से प्रतिपादन नहीं किया है। ईश्वर, जीव, संसार, ज्ञान, मुक्ति सभी विषयों में हमें उनके स्फुट उद्‌गारों में ही उनके सम्भव सिद्धान्तों को समझने की सामग्री प्राप्त होती है।

परिभाषाओं के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि रहस्यवादी सत्य या परमात्मा के साथ एकाकार होने तथा उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने अथवा उसकी सम्भावना में विश्वास करने वाला होता है। सत्य परमात्मा के साथ उसकी इसी तन्मयता को वह अन्तिम अवस्था अथवा मोक्ष समझता है। उसके बाह्य लक्षण तथा प्रतीक क्या हैं उनका भी इसी सन्दर्भ में विवेचन होना उचित है। इस प्रकार हिन्दी-सन्तों ने उस अनुभव और प्रत्यक्ष का वर्णन तथा तज्जनित भावों का जैसा वर्णन किया है हम देखेंगे।

भगवान् के प्रेम रंग में रंगकर साधक हर्षातिरेक से विह्वल हो जाता है। तन, मन की सुधि भूलकर वह एक रंग में—केवल परमात्मा के रंग में रंग जाता है। वह देखता भी उसी को है, सुनता भी उसी को है तथा सर्वत्र उसे वही वह प्रतीत होता है। साधक शून्य में सुरति जमाकर जिस समय मन में अनाम जगाता है, ताल, मृदंग, नौबत आदि वाद्ययन्त्रों के

रव को स्वरित करने वाला अनहद नाद नझृत होता है, उस अनन्त रूप के इड़ा-पिंगला चंवर डुलाती हैं, सुषुम्ना सेवा करती है, रवि-शशि दीप-रूप में उपस्थित होते हैं, सत्य और सुकृत मस्त लगाते है, सातों सागर उसके स्नान के लिए प्रस्तुत रहते हैं और चारों ओर मोतियों की वर्षा होती है। परमात्मा के साक्षात्कार की इस स्थिति को कोई विरला संत ही प्राप्त कर पाता है जिसके लिए सतगुरु अपनी कृपा से ज्ञान मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ ने इस दर्शन का आनन्द लाभ किया है और प्रति शब्द में उन्हें उसी अपार शक्ति के दर्शन होते है। परमात्मा से अन्य वे कुछ देखते ही नहीं।[1]

वह परमात्मा जिसके एक रोम मे ही सहस्रों सूर्यों की शोभा विराजती है तथा पाँचो तत्त्व और त्रिगुणात्मिका माया उसी मे व्याप्त है उसके लिए आरती, अग्नि होम की व्यवस्था कैसी ? स्वर्ण के अनेक दीपों के प्रकाश मे खोजने पर भी वह नहीं मिलता। संत रैदास ने उस अनन्त ज्योति का साक्षात्कार किया है जिसके प्रति रोम के बराबर भी उतना प्रकाश नहीं है जितना कि समस्त विश्व को प्रकाशित किये हुए है। इस असीम ज्योति पुन्ज को देखकर भक्त परम आश्चर्यान्वित हो रहा है।[2]

गंगा-यमुना-रूपी इड़ा-पिंगला के मध्य में, सहज शून्य घाट मे कबीर ने भगवान् के उस मंदिर की रचना की है जिसकी प्रतीक्षा मे बड़े-बड़े योगीजन रहते हैं।[3] कबीर के मानस की अज्ञान-निशा समाप्त हो गई है, जागृति और चेतना का सूचक प्रभात कालीन संगीत अनहद नाद ध्वनित हो रहा है निर्मल ज्ञानरवि का उदय हो गया है और प्रेम-सरोज खिल उठा है।[4] जिसको वह वन-वन मे ढूंढता फिरा, उसका सम्मुख होकर प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। अपने कलुषों की मलिनतावश वह परमोज्ज्वल परमात्मा के चरण-स्पर्श करने से सकुचा रहा

---

१ शून्य शिखर में सुरत लगाय देखो तिन में अलख समाय वसो।
ताल मृदंग पव दैबनी वजा है हरदम पर नौबत झड़नी।
इड़ा पिंगला चँवर डुलावे सुखमनिया सेवा करनी।
चन्द्र सूरज दोउ दिवटि वनी सत्य सुकृत दोउ सिरे मन्नी।
सप्त सागर धना करे असनान जहाँ मोतियन की वर्षा झड़नी।
विरला संत कोइ पहुँच गया वहाँ निगुरे का तिति नहीं गिलनी।
नाथ मछिन्दर दास तेरो गोरख गवार मेरा कौन गिलता।
शब्द शब्द में आप विराजे तुम बिन दूजा देखो नहीं सुरता। पृ० ७६

२. आरती कहा लौ जोवै सेवक दास अचम्भो होवै।
बावन कंचन दीप धरावै जड़ बैरागी नजर न आवै।
कोटि भानु जाकी सोभा रोमै कहा आरती अगनी होमै।
पाच तत्व तिरगुनी माया जो देखै सो सकल समाया।
कह रैदास देखा हम माहीं सकल जोति रोम सम नाहीं। रैदास बानी, पृ० ४०

३. गंग जमुन उर अन्तरै सहज सुनि ल्यो घाट।
तहाँ कबीरै मठ रच्या मुनिजन जोवैं बाट॥ १०७ क० ग्रं०, पृ० १८

४. कबीर कवल प्रकासिया ऊग्या निर्मल सूर।
निसि अँधियारी मिटि गई बाजे अनहद तूर॥ १६५ क० ग्रं०, पृ० १९

है कि उसकी मलिनता से छूकर कहीं वह उज्ज्वल भी मलिन न हो जाये।[1] पाप और पुण्य से रहित उस अगम्य और अगोचर परमात्मा की दिव्य ज्योति का भक्त नमस्कार करता है।[2]

अनहद नाद हो रहा है अमृत का निर्झर झर रहा है, ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न हो गया है और प्रेम और ध्यान से परमात्मा की अविगत गति साधक के हृदय मे प्रकट हो गई है।[3] परमात्मा को खोजते खोजते वह स्वयं खो गया है। सागर में बिन्दु के विलय हो जाने के सदृश व्यष्टि आत्मा समष्टिरूप परमात्मा में विलीन हो गई है।[4] यही नहीं एक और आश्चर्य है। सागररूप अनन्त परमात्मा बिन्दुरूप आत्मा मे समा गया है।[5] कुछ भी हो आत्मा परमात्मा एकरूप हो गये हैं। कबीर ने जो प्रत्यक्ष किया है उसका वर्णन करने में वे सक्षम नहीं है और यदि किसी प्रकार किन्हीं अटपटे शब्दों मे उसे कहने में वे समर्थ भी हों तो अपने अज्ञान के कारण कोई उस पर विश्वास नहीं करता। भगवान जैसे हैं वैसे ही हैं। वह वाणी के परे हैं। परम हर्षित होकर उनका गुणगान करने में ही भक्त के हृदय की अपार पुलक प्रकट हो जाती है।[6] अतीव आनन्ददायक साक्षात्कार की वह स्थिति ऐसी है जिसमे बिना पगों के ही ताल दे देकर भक्त नृत्य करता है बिना नयनों के अनुपम छवि का दर्शन करता है तथा बिना श्रवणों के अनहद की पावन झनकार सुनता है।[7]

दर्शन के दीवाने बावले अलमस्त फकीर कबीर के हृदय में प्रिय विराजमान है और हर श्वास प्रश्वास में वे उसी के प्रेमरस का प्याला पीते है। प्रेम का नशा उन्हें चढ़ गया है और सुधि-बुधि भूल कर वे मदमस्त हाथी के समान हर्षोन्मत्त हो रहे हैं। मोह के बन्धन कट जाने से वे निःशंक हो गये है। उनके दृष्टिपथ में राजा रंक छोटा बड़ा कोई नहीं आता, एकमात्र वही प्रिय दिखलाई पड़ता है जिसके प्रेम का प्याला उन्होंने पिया है। उस साधक का धूनी धरती ही आसन है जिसके ऊपर आकाश का वितान तना हुआ है। खाक या विभूति ही उसका वस्त्र है। इस प्रकार प्रेमरस में मग्न होकर वह अपने अमरों निवास

---

१ जा कारणि मैं ढूंढता सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला लागि न सकौं पाइ॥ १५८ — क० ग्र० पृ० १५

२ अगम अगोचर गमि नहीं तहां जगमगै जोति।
जहां कबीरा बंदिगी (बंदा) पाप पुन्य नहिं छोति॥१७६ — क० ग्र०, पृ० १२

३ अनहद बाजै नीझर झरै उपजै ब्रह्म गियान।
अविगति अंतरि प्रगटै लागै प्रेम धियान॥ १६६ — क० ग्र०, पृ० १६

४ हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समद मैं सो कत हेरी जाइ॥ १७१ — क० ग्र०, पृ० १७

५ हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
समद समाना बूंद मैं सो कत हेरया जाइ॥ १७२ — क० ग्र०, पृ० १७

६ दीठा है सो कस कहूं कह्या न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ तू हरिषि हरिषि गुण गाइ॥ १७४ — क० ग्र०, पृ० १७

७. बिनु पग निरत करो तहां बिन कर दे दे तारि।
बिनु नैनन छवि देखना श्रवण बिना झनकारि॥ — स० बा० स० भा० १, पृ० ११५

की ओर गमन कर रहा है, जो काल की गति से भी परे है।[1]

इस प्रेमरस का महत्त्व कबीर ने मदिरा का रूपक प्रस्तुत करके व्यक्त किया है। इस मदिरा के पान से उनका मन मतवाला हो गया है और तीनों लोक उनके लिए प्रकाशमय हो गये हैं। शून्य मंडल में अनहद की ध्वनि हो रही है और वहाँ कबीर का मन नृत्य कर रहा है। पूर्णत्व की प्राप्ति से भव-बन्धन से मुक्ति हो गई है। शारीरिक ताप शान्त हो गया है तथा ज्योति में ज्योति समा गई है। इस भाँति आत्मा परमात्मा का मिलन हो गया है।[2]

कोई कभी-कभी ही इस मदिरा का पान करता होगा परन्तु कबीर आठों याम प्रेममद में छके रहते हैं। इस नशे की विशेषता यह है कि इसमें चूर होकर वे असत्य का त्याग कर सत्य को ग्रहण करते हैं और इस प्रकार निर्भय होकर जन्म और मरण के भ्रम से मुक्त हो गये हैं। मेघ गर्जन करते हैं, सदा पावस ऋतु ही छाई रहती है, अनहद का नाद होता है, गगन मंडल के भवन में जहाँ अदृश्य चंदोवा तना हुआ है जहाँ उदय और अस्त का नाम भी नहीं है रात्रि और दिवस का जहाँ अस्तित्व नहीं, ऐसा वह प्रेम का प्रकाश-सागर परमात्मा का निवासस्थान है।[3] परमात्मा के निवासस्थान की प्राप्ति कैसे संभव है?

---

१ दरस दिवाना बावला अलमस्त फकीरा।
हिरदे में महबूब है हरदम का प्याला।
आठ पहर झूमत रहे जस मयगल हाथा।
बन्धन काट मोह का बैठा है निरसंका।
वाके नजर न आवता क्या राजा क्या रंका।
धरती तो आसन किया तम्बू असमाना।
चोला पहिरा खाक का रहा पाक समाना।
कह कबीर निज घर चलो जहाँ काल न आहा॥

२. अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ़या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ग्यान ध्यान करि महुवा भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहज समानी पीवै पीवनहारा।
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी चुया महा रस भारी।
काम क्रोध दोइ किया बलीता छूटि गई संसारी।
सुनि मंडल में मंदला बाजै तहाँ मेरा मन नाचै।
गुरु प्रसादि अमृत फल पाया सहज सुषमनां काछै।
पूरा मिल्या तबै सुख उपज्यौ तन की तपनि बुझाना।
कहै कबीर भव बंधन छूटै जोतिहि जोति समानां॥ क० ग्र० पृ० ११०, ह० प्र० व०, पृ० २६४

३ आठहू पहर मतवाल लागी रहै आठहू पहर की छाक पावै।
आठहू पहर मस्तान माता रहै ब्रह्म की देह में भक्त नीवै।
साँच ही कहत है साँच ही गहत है काँच कू त्याग कर साँच लागा।
कहै कबीर यूं भक्त निर्भय हुआ जनम औ मरन का भर्म भागा।
गगन गर्जै तहाँ सदा पावस झरै होत झनकार नित बजत तूरा।
गगन के भवन में गैब का चंदवा उदय औ अस्त का नाव नाहीं
दिवस औ रैन तहँ नेक नहिं पाइये प्रेम परकास के सिंध माहीं

शून्य मे आसन लगाकर अगम (रहस्यातीत) रस का प्याला पीकर योग की मूल युक्ति प्राप्त करके बिना मार्ग (सम्प्रदायविहित उपासना मार्ग) के ही केवल जगतनाथ की सहज दया से उस शोकरहित और अगम्य नगर बेगमपुर मे प्रवेश पाया जाता है। बिना नेत्रो के, ज्ञानचक्षु से भवन को उसके दर्शन हुए जो सब प्रकार से अगम और अगाध है। उस दुःख रहित अगम्य स्थान मे किसी को दुःख होता ही नही और यदि कोई दुखी वहाँ पहुँच जाता है तो वह भी निःशोक हो जाता है। उस स्थान मे पहुँचकर अत्यन्त सहज सुलभ प्राणी भी अगम्य होकर सर्वसाधारण की पहुँच मे बाहर हो जाता है। गुणो को वहाँ स्थान नहीं है। उस अद्‌भुत के सकेत से ही जीव उसका गुणवर्णन करता है। कबीर का गुड़ और वाणी ब्रह्मानन्द के स्वाद को कहने मे असमर्थ है। जो उस स्वाद का अनुभव करता है वही आनन्दित होता है। गूगे के भाव-सकेतो को गूगा ही समझता है। ऐसे ही ब्रह्मानन्द को अभिव्यक्त करने वाले अटपटे शब्दों को वही समझ सकता है जिसने उस रस का आस्वादन किया है।[1]

लोग प्रश्न करते हैं कि वह अगम अगोचर निर्गुण ब्रह्म कैसा है। जो दृष्टिगोचर होता है, वह उसका स्वरूप नही है और जो उसका यथार्थ स्वरूप है वह वाणी के द्वारा व्यक्त नही हो पाता। गूगे के गुड की भाँति वह सकेतो के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। न वह दृष्टि मे आता है, न पकड मे आता है परन्तु वह इनसे पृथक् भी नही है।[2] उसकी प्राप्ति के लिए दूर नही जाना है। वह निकट ही सब मे व्याप्त है परन्तु निकट होते हुए भी जिस समय उसका प्रत्यक्ष होना है वह मुहूर्त धन्य है, वह समय अत्यन्त सौभाग्य-सम्पन्न

---

१. अधर आसन किया अगम प्याला पिया
जोग की मूल जग जुगुति पाई।
पथ बिन जाय चल सहर बेगमपुरे
दया जगदेव की सहज आई।
ध्यान धर देखिया नैन बिन पेखिया
अगम अगाध सब कहत गाई।
सहर बेगमपुरा गम्म को ना लहै
होय बेगम्म जो गम्म पावै।
गुना की गम्म ना अजब बिसराम है।
मैन जो लखै सोइ मैन गावै। — क० ग्र० क०, पृ० २४७
मुक्खबानी तिको स्वाद कैसे कहै।
स्वाद पावै सोई सुक्ख मानै।
कहै कबीर या सैन गूगा तई।
होय गूगा जोई सैन जानै। — क० ग्र० क०, पृ० २४८

२. बाबा अगम अगोचर कैसा तातैं कहि समुझावौं ऐसा।
जो दीसै सो तो है नाहीं है सो कहा न जाई।
सैना बैना कहि समुझावौ गूगे का गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै बिनसै नाहिं नियारा। — क० ग्र० क०, पृ० ११६

होता है। हर शरीर हर घट प्रभु की ज्योति से प्रकाशित है। यह अमर, अजर, विश्व प्रकाशक ब्रह्म युग-युग में ज्योतिमान है। उसकी करोड़ों चन्द्रों की सी आभा से दसों दिशाएँ दीप्तिमान हैं। उस निर्भय राज्य तथा सर्वदा नित्य सुख में केशव का वास है।[1] वह कर, पग, रूप और नेत्रों के बिना जगत का अवलोकन करता है, बिना मुख के भोग करता है, चरणों के बिना चलता है और बिना जिह्वा के गुणगान करता है। एक ही स्थान पर स्थिर रहते हुए भी सम्पूर्ण दिशाओं में भ्रमण कर आता है। शब्द के बिना ही अनहद का नाद होता है और वहाँ गोपाल का नृत्य होता है। कबीर के गोपाल से तात्पर्य भगवान् कृष्ण का नहीं है। गोविन्द, केशव, हरि, राम आदि कबीर के निर्गुण ब्रह्म के पर्याय हैं उसी प्रकार गोपाल भी उनके ब्रह्म का ही द्योतक है। ऐसे सुअवसर को कबीर भला हाथ से कैसे जाने देते? उन्होंने उस अनुपम रूप का प्रत्यक्ष कर ही तो लिया।[2]

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की लीला पिण्ड में देखकर—असीम को सीमा में देखकर—कबीर के विश्व का सब भ्रम दूर हो गया। बाहर भीतर, सर्वत्र आकाश की भाँति व्यापक जो ब्रह्म है उसका दर्शन पाकर भक्त आनन्द विह्वल हो उठा। ज्ञान के थाल में प्रेमदीप को सजोकर शून्य के आसन पर अगम्य का डेरा बनाकर जब भक्त को भगवान् का साक्षात्कार होता है, उस समय सब प्रकार का लौकिक संदेह तथा जन्म-मरण का चक्र मिट जाता है।[3] मन में भ्रम के दूर हो जाने पर परमात्मा का सहज रूप दृष्टिगत होने लगता है। आत्मा

---

१ धनि सो घरी धनि वार जब प्रभु पाइये।
अगर प्रकास हजूर दूर नहिं जाइये।
नहिं जाइ दूर हजूर साहिब पूरि सब तन में रह्यो।
अमर अछर सदा जुगन जुग नूर दीपक बलि रह्यो
निरखो दसहु दिसि सर्व सोभा कोटि चन्द सुभावन।
सदा निरभय राज नित सुख मोद केलो पावन ॥ — स० बा० स० भा० २, पृ० १०८

२. बिन हाथनि पावन बिन कानिन बिन लोचन जग सूझै।
बिन मुख खात चरन बिन चालै बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहिं छाड़ै, दह दिसिही फिरि आवै।
बिनहिं सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला।
दास कबीर औसर भल देख्या जानैगा जन कोई ॥ १५६ — क० ग्र०, पृ० १४०

३. गैब ब्रह्माण्ड को पिण्ड में देखिया,
जगत का भरमना दूरि भागा।
बाहरा भीतरा एक आकाशवत,
घरिया में अधर भरपूर लागा।
देख दीदार मस्तान मैं होय रहा,
सकल भरपूर है नूर तेरा।
ज्ञान का थाल और प्रेम दीपक अहै,
अधर आसन किया अगम डेरा।
कहै कबीर तह भर्म भागै सही,
जनम और मरन का मिटा फेरा। (२६१) — ह० प्र० क०, पृ० २५०

और परमात्मा यह दो पृथक् नहीं हैं। परमात्मा कलारहित होने पर भी सब मे विद्यमान है। तन मन, मन तन, सब एक समान हैं—ऐसा कबीर का अपना अनुभव है। उनकी आत्मलीन, अवढित आत्मा परमात्मा मे समाहित हो गई है।[1] जिस परमात्मा की आरती मे सूर्य, चन्द्र आदि दीपक निरंतर जलते हैं, निरति वीणा के तार मे सुरति[2] का राग झंकृत होता है, शून्य मे दिन-रात नौबत बजती है, प्रिय ऐसे शून्य मे विराजमान है। उस महान् की क्षण (पल) भर की आरती नहीं होती। सारा संसार दिन-रात उसकी आरती उतारता रहता है। अद्भुत झिलमिल ज्योति से युक्त निशान बजता है तथा विचित्र घण्टे की ध्वनि होती है।[3] उस विचित्र की सेवा मे सब कुछ विचित्र तथा रहस्यात्मक उपस्थित है। उस परम पुरुष अनन्त देव की आरती कबीर अपने ढंग मे करते हैं। पंच इंद्रियों के पत्र-पुष्प द्वारा उस एक परमात्मा का पूजन करके उन्होंने तन, मन, शीश सब अर्पण कर दिया है और ऐसी आत्मलीन स्थिति मे परम दिव्य ज्योति का साक्षात्कार किया है। ध्यान ही दीपक है, अनहद का शब्द ही घंटा है और जगत् प्रकाशक का तेज सर्वत्र फैला हुआ है।[4]

---

१ मन का भ्रम मन ही थैं भागा
 सहज रूप हरि खेलण लागा।
मैं तैं तैं मैं ए द्वै नाहीं।
 आपै अकल सकल घट माहीं।
जब थैं इन मन उनमन जाना।
 तब रूप न रेख तहां ले बाना।
तन मन मन तन एक समाना।
 इन अनभै माहैं मन माना।
आतमलीन अखंडित रामा।
 कहै कबीर हरि माहिं समाना। २०३ क० ग्र०, पृ० १५८

२. कबीर के पदों में सुरत निरत पारिभाषिक हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार निरति बाहरी प्रवृत्ति की निवृत्ति को और सुरति अन्तर्मुखी वृत्ति को कहते हैं। आचार्य क्षिति मोहन सेन ने सुरति का अर्थ प्रेम तथा निरति का अर्थ वैराग्य किया है।

३ सूर चन्द्र तहन जोत बरत है।
 सुरत राग निरत तार बाजै।
नौबतिया घुरत है रैन दिन सुन्न में।
 कहैं कबीर पिउ गगन गाजै।
छण और पलक की आरती कौन सी
 रैन दिन आरती विस्व गावै।
घुरत निस्सान तहँ गैब की झालरा
 गैबकी घण्टा नाद आवै॥१७ क० ग्र० क०, पृ० २४३

४ पाती पंच पुहुप करि पूजा देव निरंजन और न दूजा।
तन मन सीस समरपन कीन्हा, प्रगट जोति तहां आतम लीना।
दीपक ग्यान सबद धुनि घंटा, परम पुरिख तहां देव अनंता।
परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा॥ ४०२ क० ग्र०, पृ० २३३

इस प्रकार राम से प्रीति लगाकर भक्त चरण-पंखों से नृत्य करता है और जिह्वा के बिना ही उस परमात्मा का गुणगान करता है। एक ऐसा स्थान है कि जहाँ पृथ्वी से वर्षा होती है और आकाश भीगता रहता है। कबीर-पंथियों के हठयोग के अनुसार मूलाधार के रस से सहस्रार सिक्त होता है। जहाँ सूर्य और चन्द्र दोनों परस्पर मिल गये हैं। सूर्य-मूलाधार पद्म, चन्द्र ब्रह्माण्ड, और हंस (जीवात्मा) केलि करता है। मानव शरीर एक वृक्ष है जिसमें कुण्डलिनी वह रही जो कनक कलश सहस्रार में गिरती है और पंच सुग्गे (पंच प्राण) उस वृक्ष पर बैठे हैं और इनके कारण सम्पूर्ण वन प्रान्त प्रफुल्लित हो उठा है। इस प्रकार जीव को जहाँ से वह बिछुड़ा था वहीं जाकर लगना है—शून्य में जाकर बैठना है। कबीर बटोही ने मुक्ति का वह मार्ग देख लिया है।[1]

हर्ष, उल्लास और मद से भरी हुई फाल्गुन की मधु ऋतु आ गई। अब तो प्रिय मिलन के लिए कबीर को बड़ी ही उत्सुकता है। अपने प्रिय के असीम सौंदर्य का वर्णन वे कहा तक करें, वे स्वयं ही उनके उस रूप में समा गये हैं। उस रंग में विभोर होकर कबीर अपने तन-मन की सुधि भूल गये हैं। यह रंग फाग का रंग नहीं है, यह है प्रेमरस का रंग जिसका मर्म एवं रहस्य अकथनीय है और जिसे कोई विरला ही जान पाता है।[2] सन्ध्या का अन्धकार घना होता आ रहा है। पश्चिम का द्वार खोल कर प्रियतम की प्रतीक्षा करो, प्रेम के विस्तृत गगन में डूब जाओ। भक्त का तन और मन रोमांच और औत्सुक्य से भर गया है। चित्तरूपी कमल दल का रसपान करो। शरीर में ही रस तरंगों में तरंगित हो—मन ही में उस साक्षात्कार-जन्य परम आनन्द का अनुभव करो। शोभा का सागर जो यह महल है—अन्तःकरण है, मिलन के सूचक शंख, घंटा, शहनाई आदि के संगीत से गुंजित हो रहा है। इसी घट में उस अमर प्रिय स्वामी का दर्शन करो। हठयोग में पश्चिम का अर्थ है पीठ की ओर सुषुम्ना मार्ग। सुषुम्ना का मार्ग खोल दो और शून्य में समाधि-जन्य प्रेम का अनुभव करो। इस समाधि काल में शंख, घण्टा आदि की सी ध्वनि सुनाई देती है फिर वह शांत हो जाती है और तब साधक परम ज्योति की अनुपम शोभा देखता है और इस प्रकार

---

१. इहि विधि राम स्यूं ल्यौ लाइ।
चरन पावै निरति करि जिभ्या बिना गुन गाइ।
जहाँ धरनि बरसै गगन भीजै चन्द सूरज मेल।
दोइ मिलि तहा जुड़न लागे करत हंसा केलि।
एक बिरष भीतरि नदी चाली कनक कलस समाइ।
पंच सुवना आइ बैठे उदै भई बनराइ।
जहां बिछुट्यो तहा लाग्यो गगन बैठो जाइ।
जन कबीर बटाउवा जिनि मारग लियौ चाइ। २८० क० ग्र०, पृ० १८३। ह०प्र० क०, पृ० ११८

२ रितु फागुन की नियराना कोइ पिया से मिलावे
पिया को रूप कहा लग बरनूं रूपहि मौहि समाना।
जो रंग रंगे सकल छवि छाके तन मन सभी भुलाना।
यौं मति जाने यहि रे फाग है यह कुछ अकथ कहानी।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो यह गत विरले जानी॥(२ १८) ह० प्र० क०, पृ० २८७

योग साधना के द्वारा परमात्मा को घट में ही प्राप्त करता है।[1]

मूल्यवान हीरे को पाकर मनुष्य बड़े यत्नपूर्वक सहेज कर उसे रखता है। बार-बार उसे नहीं निकालता कि कहीं खो न जाय। तुला पर चढने के समय जो हल्का हो उसके पूरे हो जाने पर उसके तौलने की आवश्यकता नहीं रह जाती। सुरतरूपी मधुबाला इतनी मतवाली हुई कि बिना तोले ही सुरा पी गई। मानसरोवर मे पहुच जाने पर हंस ताल-तलैयो मे विहार क्यो करें? उपर्युक्त सभी दृष्टान्तो की भाँति परमात्मा सब के अन्तर मे है उसे बाहर क्यो ढूंढा जाय। और जब परमात्मा के प्रेम मे मन मस्त हो जाय तो कहने को शेष ही क्या रह जाय? प्रेम म मदमस्त कबीर को अपने अन्त करण म ही सहज रूप से तिल की ही ओट मे परमात्मा मिल गये।[2]

भगवान् के प्रेम मे विभोर कबीर को सासारिक कर्मों मे फसे रहना सह्य नही, राम रसायन पीकर वे मतवाले हो गये हैं उनका अपने व्यावसायिक कार्य कपडा बुनने मे तनिक भी मन नही लग रहा है। लोग जानते हैं कि कूचे से सूत साफ करने की क्रिया मे वे निपुण हैं परन्तु उनका अपने कार्य के प्रति वेमुखपन देखकर यह ज्ञात होता है कि वे तुरिया (कूचा) भी वेच कर खा गये हैं, उस क्रिया का साधन ही पचा गये हैं कौन बुने यह कपडा। उनके प्रेम का रस पाई के ऊपर फैल गया है। हर्षातिरेक मे वे इतने भावमग्न हो गये हैं कि उन्हें ताना-बना सब कुछ आनन्दोल्लास म नाचता हुआ प्रतीत होता है। उनकी पुरानी कूंची भी नाच रही है और यही क्या करघे पर बैठे हुए स्वय कबीर नाच रहे है। उनके ताने को चूहा काट गया है, वह कपडा बुनने के योग्य रहा ही नही, कौन बुने भला इसे।[3]

---

१ तिविर साभ का गहिरा आवै छावै प्रेम मन तन में।
पच्छिम दिस की खिड़की खोलहु डूबहु प्रेम गगन में।
चेत कँवल दल रस पीयो रे लहर लेहु या तन में।
सख घट सहनाई बाजै सोभा सिंध महल में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो अमर साहब लख घट में॥ (२-४०) क० ग्र० ब०, पृ० २५२

२ मन मस्त हुआ तब क्यों बोलै।
हीरा पायो गाठ गठियायो बार बार वा को क्यों खोलै।
हल्की थी तब चढी तराजू पूरी भई तब क्यो तोलै।
सुरत कलारी भई मतवारी मदवा पी गई बिन तोलै।
हसा पाये मान सरोवर ताल तलैया क्यों डोलै।
तेरा साहिब है घट माहीं बाहर नैना क्यो खोलै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो साहिब मिल गये तिल ओलै॥ सं० बा० स० भा० २, पृ०१८

३ को बीनै प्रेम लागो री माई को बीनै।
राम रसायण माते री माइ को बीनै।
पाइ पई तू पनिहाई पाई को तुरियां बेचि खाइ री माई को बीनै।
ऐसै पई पर बिथुराई, त्यू रस आनि बनायो री, माई को बीनै।
नाचै ताना नाचै बाना नाचै कूच पुराना री माई को बीनै।
करगहि बैठि कबीरा नाचै चूहै काट्या ताना री माई को बीनै। १०२ क० ग्र० ब०, पृ० २८१,
क० ग्र०, पृ० ६५

कबीर को इतने से ही संतोष नहीं है, वे अपने मन को और अधिक मस्त होकर नाचने का आदेश देते हैं। नृत्य में योग देता हुआ प्रेम का राग बज उठे जिसका शब्द रात-दिन सबके कर्ण-कुहरों में पड़ता रहे। यह नृत्य केवल कबीर का नृत्य नहीं है। प्रभु के प्रेम में विभोर यह वह विश्वव्यापी महा नृत्य है जिसमें राहु, केतु आदि नवग्रह नाच रहे हैं, पर्वत सागर और धरती नाच रहे हैं और आह्लादित अथवा विषादित होकर किसी न किसी रूप में समस्त लोक नाच रहे हैं। कबीर का मन भी इस महानृत्य में सम्मिलित होकर सहस्र कलाओं से नाच नाचकर अपने सिरजनहार परमात्मा को रिझा रहा है।[1]

परमात्मा के वासस्थान सत्यलोक में नित्य नवीन रस झरता है। ध्यानपूर्वक समाधि लगाने पर वह झनकार सुनाई पड़ती है जो बिना किसी वाद्ययंत्र के ध्वनित होती है। वहाँ बिना सरोवर के कमल खिलते हैं जिन पर चढ़कर हम क्रीड़ा करते हैं। बिना चन्द्र के ही वहाँ ज्योत्स्ना फैली रहती है। दसवें द्वार पर समाधि लगाने से उस अलख पुरुष के दर्शन होते हैं जिसका योगी लोग ध्यान करते हैं। वहाँ कराल काल का प्रवेश नहीं होता और काम, क्रोध, मद, लोभादि भस्मीभूत हो जाते हैं। युग युग से चली आती हुई अतृप्त तृष्णा यहाँ शान्त हो जाती है, कर्मों का भ्रमजाल समस्त कलुष तथा व्याधियाँ टल जाती हैं। इस आनन्द-लोक में आये हुए जीव की मृत्यु नहीं होती और वह अमर हो जाता है।[2] अमृत रस के टपकने से सरोवर भरते हैं और अनहद नाद होता है। ऐसा विचित्र है वह देश जहाँ सरिता उमड़कर सागर को सुखा देती है। भक्ति की सरिता उमड़कर भव-सागर के तापों को नष्ट कर देती है। उस लोक में रवि, शशि और तारागण नहीं है और न वहाँ दिवस और रात्रि ही होती है। सितार, बाँसुरी और ररंकार[3] का मृदु रव होता है। करोड़ों चपलाओं की झिलमिलाहट यहाँ झलकती रहती है और दिन-रात आनन्दवारि की वर्षा होती है।

---

१. नाचु रे मन मत्त होय।
प्रेम को राग बजाय रैन दिन शब्द सुनै सब कोइ।
राहु केतु नवग्रह नाचै जम जन्म आनन्द होइ।
गिरी समुंदर धरती नाचै लोक नाचै हँस रोइ।
सहस कला कर मन मेरो नाचै रीझै सिरजनहारा॥ (२-१०३) क० ग्र० कं०, पृ० २५७

२. रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिना ताल जहँ कँवल फुलाने तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उजियारी दरसै जँह तँह हंसा नजरि परै।
दसवें द्वारे तारी लागी अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै काम क्रोध मद लोभ जरै।
जुगन जुगन की तृषा बुझानी कर्म भर्म अघ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो अमर होय कबहूँ न मरै। ११० क० ग्र० कं०, पृ० २६५

३. कबीर सम्प्रदाय में नाम ध्वनियाँ मानी जाती है—ओंकार (ॐ) और ररंकार। ररंकार का अर्थ राम है।

इस सत्यलोक के स्वामी को अपने-अपने अनुमान एवं भावना के अनुसार कोई शिव कहता है, कोई विष्णु, कोई सुरेश और कोई शारदा परन्तु यथार्थ रहस्य क्या है यह कोई विरला ही जानता है। वास्तव में दस अवतार तो एक ही तत्त्व के हैं। कबीर के मतानुसार इस रहस्य से परिचित हुआ जीव पुन: यम की कठोर यातना में नहीं पड़ता।[1]

शून्य के अलौकिक मंदिर में अद्भुत पताका लगी है, अगणित ताराओं के मणि-मुक्ताओं से जटित चन्द्र-ज्योत्स्ना का वितान तना हुआ है, रवि शशि की दीप-ज्योति द्युतिमान है। उस अनुपम लोक की शोभा देखकर भक्त का मन थिरक उठता है। जो व्यक्ति इस अपूर्व दृश्य का दर्शन करता है वह जीवन पर्यन्त मतवाला बना घूमता है। कबीर ने इस दृश्य का प्रत्यक्ष किया था इसी कारण वे जीवन पर्यन्त बावले अलमस्त फकीर बने रहे।[2] उस आनन्द-लोक में बिना किसी व्यवधान के निरन्तर मुरली बजा करती है और प्रेम का राग प्रवृत्त होता है। प्रेम की सीमा को पार कर लेने पर इस सत्यलोक की सीमा का आरम्भ होता है जहाँ अमित और असीम सुगंधि विकीर्ण हुआ करती है। करोड़ों सूर्यों की राग रंजित प्रभा जगमगाया करती है और सत्यध्वनि की अनुपम बीन बजती रहती है।[3] सीमा से परे है वह लोक जिसका स्वामी अनाम और अनिर्वचनीय पुरुष कहलाता है। उसका यथार्थ स्वरूप वही जान सकता है जो उस तक पहुँच सका है। कहने-सुनने से वह सर्वथा परे है[4], न तो वह मुख से कहा जा सकता है न कागज पर अंकित

---

१ चुवत अमीरस भरत ताल जहँ, शब्द उठै असमानी हो।
सरिता उमड़ सिंधु को सोखै, नहिं कछु जात बखानी हो।
चाँद सुरज तारागण नहिं वहँ नहिं वहँ रैन बिहानी हो।
बाजे बजैं सितार बाँसुरी, ररंकार मृदु बानी हो।
कोटि झिलमिली जहँ वहँ झलकै, बिन जल बरसत पानी हो।
शिव अज विस्नु सुरेस सारदा, निज निज मति अनुमानी हो।
दस अवतार एक तत राजै, अस्तुति सहज सयानी हो।
कहैं कबीर भेद की बातें बिरला कोइ पहिचानी हो।
जो पहिचानि फेर नहिं आवै जम जुलमो की सासा हो ॥११॥ ह० प्र० क०, पृ० २१६

२. गगन मठ गैब निसान गड़े।
चन्द्रहार चदवा जहँ टँगे मुक्त मानिक मढ़े।
महिमा तासु देख मन थिरकत, रवि ससि जोत जरे।
कहै कबीर पिवै जोई जन माता फिरत मरे ॥७४ (१.६७) ह० प्र० क०, पृ० २६१

३. मुरली बजत अखंड सदाये तहाँ प्रेम झनकारा है।
प्रेम हद तजी जब भाई, सत्त लोक की हद पुनि आई।
उठत सुगंध महा अधिकाई जाको वार न पारा है।
कोटि भान रागको रूपा बीन सत धुन बजै अनूपा ॥५० (१ १२६) ह० प्र० क०, पृ० २६५

४. सबद लोक बड़ा है भाई
पुरुष अनामी सबद कहाई।
जो पहुँचे जानेंगे वाही कहन सुनन ते न्यारा है ॥७६ (३ ४८) ह० प्र० क०, पृ० २७७

किया जा सकता है। जिस प्रकार गूंगा गुड़ को खाकर उसके स्वाद का अनुभव करता है परन्तु उसको वाणी के अभाव में व्यक्त नहीं कर पाता। उसी प्रकार ब्रह्मानन्द का अनुभव किया जाता है परन्तु वाणी के द्वारा वह व्यक्त नहीं हो पाता।[1]

आज का दिन परम सौभाग्य का दिन है जब कि कबीर के प्रियतम का आगमन हुआ है। घर आंगन सभी अत्यन्त सुहावने लग रहे हैं। मनमोहन की अपूर्व छवि को देखकर सभी पुलकित हो रहे हैं। भक्त कबीर प्रभु का चरण प्रक्षालन करते हैं, अपलक होकर उनकी शोभा निहारते है तथा तन मन धन सब अर्पित कर देते हैं। ऐसा है आज का दिन जिसने प्रियतम के दर्शन कराकर परम आनन्द का सचार कर दिया।[2] कबीर की तो गति ही न्यारी है। वे सदैव सहज समाधि की स्थिति में ही रहते हैं, उनका चलना ही परिक्रमा है, जो कुछ करते हैं वही प्रभु-सेवा है, शयन ही प्रणाम बन गया है, बोलना ही नाम-जप हो गया है और खाने-पीने ने ही पूजा का स्थान ले लिया है। गृह तथा निर्जन को वे एक समान देखते है तथा द्वित्व का भाव ही मिट गया है। आंख मूंदने और कान रूंधने के झंझट को उन्होंने नमस्कार कर लिया तथा मुद्रा और आसन की भी आवश्यकता नहीं रह गई। खुले नेत्रों से ही उन्होंने भगवान् के मधुर मादक रूप को देखा, खुले कानों से ही अनहद नाद सुना तथा उठते बैठते सब समय समाधि का आनन्द प्राप्त किया।[3]

---

१. कहै कबीर सुख कहा न जाई।
ना कागद पर अंक चढ़ाई।
मानो गूंगे सम गुड़ खाई। कैसे बचन उचारा हो ॥७६ (३.४८) क० ग्र० क०, पृ० २७७

२ आज दिन के मैं जाऊँ बलिहारी।
पीतम साहेब आये मेरे पहुना, घर आँगन लगे सुहौना।
सब प्याम लगे मगल गावन भये मगन लखि छवि मन भावन।
चरन पखारूँ बदन निहारूँ तन मन धन सब सांई पर वारूँ।
जा दिन पाये पिया धन सोई, होत अनन्द परम सुख होई।
सुरत लगा सतनाम की आसा कहैं कबीर दासन के दासा ।८८ (३.११८) क० ग्र० क०, पृ० २८३

३. सन्तो, सहज समाधि भली।
सांई ते मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अन्त चली ॥
आंख न मूंदूँ कान न रूंधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हंस हंस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कुछ करूँ सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा ॥
जह जह जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा ॥
शब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन बचन का त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुं न बिसरै, ऐसी तारी लागी।
कहै कबीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
सुख दुख के इक परे परम सुख, तेहिमें रहा समाई ॥ ४२ (१.७५) क० ग्र० क०, पृ० २६२

कबीर के उस पूर्ण पुरुष का घर सब से न्यारा है। वहाँ सुख-दुख, सत्य-असत्य, पाप-पुण्य का प्रसार नहीं है। वहाँ न दिन-रात है, न रवि शशि है, बिना ज्योति के ही सतत प्रकाश रहता है, न ज्ञान-ध्यान है, न जप तप है और न वेद-पुराण की वाणी ही है, करनी धरनी रहनी गहनी इन सब का वहाँ अभाव है। न घर मे, न अघर मे, न बाहर, न भीतर पिण्ड ब्रह्माण्ड कुछ नहीं है। पचतत्व त्रिगुण साखी शब्द भी वहाँ नही है। बीज, मूल, बेल, फूल तथा वृक्ष के बिना फल शोभित होते हैं। श्वास-सयमन के लिए वहाँ 'ओह' 'सोह' भी नही है। न वह निर्गुण है, न अविगत है और नही सूक्ष्म या स्थूल है। न अक्षर है न क्षर, यह सब तो जगत के मूल हैं। जहाँ वह परम पुरुष है वहाँ कुछ नही है। कबीर ने स्वय इस तथ्य को जान लिया है। उनके निर्धारित सकेत को जो कोई जान लेता है उसको मुक्ति-पद प्राप्त होता है।[1] साधना के मार्ग मे अग्रसर होने वाले साधकों के लिए प्रेम मद तो अत्यन्त महिमा मडित है ही, प्रेम-मद का खुमार भी उनके लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है। हिन्दी सन्त कवियो मे प्रेम के खुमार की भावना सूफियो से आई है। सूफियो मे

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली ॥
जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजौं और न देवा ॥
कहौं तो नाम सुनौं सो सुमिरन, खाँव पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा ॥
आँख न मूँदौं कान न रूधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं ॥
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी ॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट करि गाई।
दुख-सुख से कोइ परे परम पद, तेहि पद रहा समाई   कबीर, स० बा० स० भा० २, पृ० १५

1. सखि वह घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा।
जहाँ न सुख दुख साँच झूठ नहिं पाप न पुन्न पसारा।
नहिं दिन रैन चन्द नहिं सूरज बिना ज्योति उजियारा।
नहिं तहँ ज्ञान ध्यान नहि जप तप बेद किताब न बानी।
करनी धरनी रहनी गहनी ये सब उहाँ हेरानी।
घर नहिं अघर न बाहर भीतर पिन्ड ब्रह्मन्ड कछु नाहीं।
पांच तत्व गुन तीन नहीं तहँ साखी शब्द न ताहीं।
मूल न फूल बेल नहि बीजा बिना वृक्ष फल सोहै।
ओहं सोहं अरध उरध नहिं स्वासा लेखन को है।
नहिं निरगुन नहिं सरगुन भाई नहिं सूक्ष्म अस्थूल।
नहिं अच्छर नहिं अविगत भाई ये सब जग के मूल।
जहाँ पुरुष तहवाँ कछु नाहीं कह कबीर हम जाना।
हमरी सैन लखै जो कोई पावै पद निरबाना ॥२१६   क० ग्र० कं०, पृ० ३१५

प्रेम के नशे की अपेक्षा नशे के खुमार का महत्त्व अधिक है। संत कवयित्री मीरा को राम के प्रेम का खुमार चढ़ा है। रस की हलकी फुहारें पड़ती हैं और भक्तिमती का शरीर उससे अभिषिक्त होता है। चारों ओर ज्ञान की दामिनी दमकती है तथा मेघ गुरु गंभीर घोष करते हैं। ऐसे समय में गुरु का बताया हुआ रहस्य काम देता है और उसके द्वारा भ्रम के कपाट खुल जाते हैं। सर्वत्र आत्मा ही दृष्टिगोचर होती है और सब में व्याप्त होती हुई भी वह सबसे पृथक् है। ज्ञान-दीप के प्रकाश में वह प्रिय-मिलन के हेतु अगम्य अटारी पर चढ़ती है। साक्षात्कार होता है और अमूर्त तत्त्व-रूप प्रियतम के ऊपर वह न्योछावर होती है।[1] जीवन थोड़ा रह गया है। मीरा अपने प्रिय से होली खेलने को उद्यत है। उसकी होली रंग और पिचकारी से खेली जाने वाली सामान्य सांसारिक होली नहीं है। यह वह अलौकिक होली है जिसमें बिना वाद्ययंत्रों के ही अनहद का संगीत होता है, स्वर राग के बिना ही छत्तीसों रागों का गायन होता है तथा सब कुछ रोम-रोम अनुराग से रंजित हो जाता है। शील संतोष के केसरिया रंग तथा प्रेम की पिचकारी से मीरा अपने स्वामी को राग-रंजित करती हैं। उसके प्रेम फाग का ऐसा विशद तथा व्यापक प्रभाव है जो पृथ्वी से लेकर आकाश तक को प्रभावित करता है। उड़ते हुए गुलाल से गगन मण्डल लाल हो जाता है और सर्वत्र अपार रंग बरसता है। लोक लज्जा को त्यागकर प्रिय के स्वागतार्थ भक्त-हृदय के कपाट खुल जाते हैं। होली खेलकर प्रेम के रंग में स्नान होकर साधक और प्रिय का मिलन होता है। इस प्रकार गिरधर नागर की दासी मीरा कृतकृत्य हो जाती है।[2] संत-कवियों की वाणी में अनहद की झनकार हमें निरन्तर सुनाई पड़ती है। यह अनहद नाद परमात्मा का वह शब्द प्रत्यक्ष है जिसको सुनने के लिए श्रवणेन्द्रिय की अपेक्षा नहीं होती। शब्द प्रत्यक्ष की भाँति ही मीरा के 'उड़त गुलाल लाल भयो अंबर बरसत रंग अपार रे' को परमात्मा के अचाक्षुष रंग का बोधक मानना अनुचित न होगा।

---

१ लगी मोहि राम खुमारी हो।
रिमझिम बरसै मेहड़ा भीजै तन सारी हो।
चहुँ दिसि चमकै दामिनी गरजै घन भारी हो।
सतगुरु भेद बताइया खोली भरम किंवारी हो।
सब घट दीसै आतमा सबही सूं न्यारी हो।
दीपक जोऊँ ग्यान का चढ़ूँ अगम अटारी हो।
मीरा दासी राम की इमरत बलिहारी हो॥ — मीरा

२ फागुन के दिन चार रे होरी खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे।
बिन सुर राग छतीसूं गावै रोम रोम रंग सार रे।
सील संतोष की केसर घोली प्रेम प्रीत पिचकार रे।
उड़त गुलाल लाल भयो अंबर बरसत रंग अपार रे।
घट के सब पट खोल दिये हैं लोक लाज सब डार रे।
होरी खेल पीव घर आये सोइ प्यारी प्रिय प्यार रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरन कंवल बलिहार रे। — मी० प०, पृ० १२१

मीरा ने परमात्मा के साक्षात्कार का जो वर्णन किया है प्राय उसी प्रकार का वर्णन धरमदास की वाणी से भी उद्भूत हुआ है। शरीररूपी महल में अमृतवर्षा की झड़ी लगती है और साधक अतीव आनन्दित होकर उस सुधावारि से स्नान करता है। क्षण मे बादलो का गर्जन सुनाई पड़ता है और क्षण मे विद्युत चमकती है। इस प्रकार अपूर्व सुषमा की जो तरंग उद्वेलित होती है उसका वर्णन नही किया जा सकता। सतगुरु की कृपा के प्रसाद से ज्ञान-कपाट खुल गये हैं, अज्ञानान्धकार मिट गया है तथा प्रभु का प्रत्यक्ष हो गया है। हर्ष विह्वल होकर धरमदास विनती करते हुए सत्य गुरु परमात्मा के चरणो म लीन हो रहे हैं।[1]

रामचरितमानस मे माता कौशल्या को भगवान् राम ने उस अद्भुत अखण्ड विश्व-रूप का साक्षात्कार होता है, जिसके रोम-रोम म एक नही वरन् सहस्रो ब्रह्माण्ड गुम्फित हैं। उस विराट रूप मे उन्हे अगणित सूर्य-चन्द्र, शिव-चतुरानन पर्वत, सरिता सिन्धु पृथ्वी और कानन के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। इन स्थूल (Concrete) वस्तुओ का प्रत्यक्ष हुआ। इसके अतिरिक्त जीव को मनचाहा नाच नचाने वाली माया तथा उससे मुक्ति दिलाने वाली भक्ति भी उसी स्वरूप के अन्दर दृष्टिगोचर हुई। इतना ही नहीं जिसके विषय मे किसी ने कभी कुछ सुना ही नही उस रहस्यात्मक तत्व के दर्शन भी उसी अनन्त अद्भुत समष्टि रूप मे उन्हे हुए। उस विचित्र रहस्यमय स्वरूप का साक्षात्कार करके कौशल्या का तन पुलकित हो उठा, आनन्दातिरेक के कारण मुख से शब्द नि सृत न हो सके। मूक की भाँति नयन मूंद कर भगवान् के चरणो मे मस्तक झुका दिया।[2] यह पुलक और हर्ष विह्वलता केवल माता कौशल्या की ही नही है वह है तुलसीदास के द्वारा आस्वादित परमात्म प्रत्यक्ष जन्य आनन्द जिसका उन्होने अप्रत्यक्षरूप से माता कौशल्या के मिस उल्लेख किया है। भगवान् के ऐसे अनुपम रूप का वर्णन करने मे वेद, शेष, शुकदेव, शंकर और स्वयं वाणी की अधिष्ठात्री देवी शारदा भी समर्थ नही हैं फिर अकिंचन तुलसी की क्या बिसात। यह स्वरूप मन वचन से

---

१. झरि लागै महलिया गगन घहराय।
घन गरजै घन बिजुरी चमकै लहर उठै सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै प्रेम आनन्द ह्वै साध नहाय।
खुली किवरिया मिटी अंधेरिया धन सतगुर जिन दिये लखाय।
धरमदास बिनवै कर जोरी सतगुर चरन में रहत समाय॥ सं० बा० सं० भा० २, पृ० ४२

२. देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्माण्ड॥ २०१
अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिन्धु महि कानन।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥१
देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी।
देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥२
तन पुलकित मुख बचन न आवा।
नयन मूँदि चरननि सिर नावा। तु० रा०, बा० का० २०१ ३

परे इन्द्रियातीत परम रहस्यमय है।[1]

दादू ने परमात्मा को अपने शरीर में ही प्राप्त कर लिया है। परमात्मा सहज रूप से जीव के शरीर में व्याप्त है। इस रहस्य का बोध उन्हे सतगुरु के द्वारा हुआ जिसकी खोज में वे यत्रतत्र भटकते रहे। उसने स्वयं अपना दर्शन दिया। दादू के हृदय मंदिर के कपाट खुल गये। भौतिक भय और भ्रम-भेद सब दूर हो गया तथा निर्विकार चित्त को सत्यरूप का प्रत्यक्ष हुआ। पिण्ड से परे जहाँ जीव जाता है उसी परमतत्त्व में सहज गति से वे लीन हो गये। जो सर्दैव निश्चल रहता है, कभी चलता नहीं, उसी परमात्मा के दर्शन समस्त जगत में उन्हे हुए। आदि अन्त से रहित जिस विश्राम स्थल को उन्होंने पा लिया है उसमें वे पूर्णतया मग्न है। अब उनका मन भटकता नहीं फिरता। परमात्मा के अपूर्व प्रेम रंग में रँग कर वे उससे अभिन्न हो गये हैं।[2] सामान्यतया साधक किसी सिद्धि प्राप्ति के लिए स्वयं प्रयत्न करता है अथवा यों कहें कि सिद्ध सिद्धि प्राप्ति में अपने कर्तृत्व का अनुभव करता है परन्तु दादू के भावों की विशेषता यह है कि वे परमात्मा के प्रत्यक्ष का कारण उसको ही मानते हैं। परमात्मा स्वयं ही उनको अपना दर्शन देता है। परमात्मा का साक्षात्कार करके दादू योगियों तथा प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा प्राप्त उस अवस्था को पहुँच गये हैं जहाँ कि वे शान्त शुद्ध एकरस परमात्मा में ही आत्मलीन हो गये हैं।

होली गायन का रूपक प्रस्तुत करके दरिया साहब ने ब्रह्मानन्द के अनुभव को व्यक्त किया है। सतमण्डली फाग गा रही है। विविध प्रकार के वाद्ययंत्र बजते हैं, अनहद की ध्वनि गूँजती है। सत समाज के बीच हो रहे इस प्रेम फाग के कौतुक से आकाश तक समाच्छादित है। गन्धर्वगण भी पुलकित होकर पट राग और छत्तीसों रागिनियों का गान करते हैं। भ्रम का अबीर उड़ता है और सर्वत्र प्रेमरंग झर झर पड़ता है। परमात्मा के प्रत्यक्ष की इस सुन्दर सुभग, शोभनीय स्थिति में दरिया साहब का चित्त रंगा हुआ है।[3] कबीर और

---

१ देखो रघुपति छवि अतुलित अति।
वारन रूप पार नहिं पावत निगम सेष सुर मकर भारति।
तुलसिदास केहि विधि बखानि कहै यह मन बचन अगोचर मूरति॥ तु० ग्रं०, पृ० ३४७

२ भाइ रे घर ही में घर पाया।
सहजि समाइ रह्या ता मांही सतगुर खोज बताया।
ता घर काज सबै फिरि आया आपै आप लखाया।
खोलि कपाट महल के दीन्हे थिर स्थान दिखाया।
भय औ भेद भरम सब भागा साच सोइ मन लाया।
प्यंड परे जहां जिव जावे तामैं सहज समाया।
निहचल सदा चलै नहिं कबहू देख्या सब में सोइ।
ताही सू मेरा मन लागा और न दूजा कोइ।
आदि अन्त सोइ घर पाया इब मन अनत न जाइ।
दादू एक रंगे रंग लागा तामैं रह्या समाई॥ सु० बा० स० भा० २, पृ० ६८

३ होरी खेलत सन्त समाज सतनाम गावत।
बाजत अनंत भांत मनवारा अनहद धुन घहरावत।

मीरा की भाँति दरिया ने भी उपर्युक्त उद्गार मे 'अनहद धुन घहराइया' के द्वारा परमात्मा के शब्द-प्रत्यक्ष तथा 'झरि-झरि परत सुरंग रग' के द्वारा रग प्रत्यक्ष का उल्लेख किया है।

यारी भी अपने प्रिय परमात्मा के साथ होली खेलते हैं। प्रिय की अपूर्व छवि को निरख कर वे बावले हो गये है। अब तो वे पतिव्रता नारी के सदृश केवल अपने प्रिय के दरस और स्पर्श के आनन्द मे विभोर हैं। उनकी मानसिक स्थिति उस स्तर पर पहुँच गई है जहाँ सोलह कलाओ से युक्त सूर्य और चन्द्र को वे एक ही स्थान म स्थित देखते है। हठयोगिक साधना के अनुसार इडा पिंगला ही चन्द्र-सूर्य हैं जो सुषुम्ना मे एक स्थान मे स्थित होती है। जबसे उन्होंने उस अविनाशी पुरुष का दर्शन किया है वे सम्मोहित हो गये हैं। उनकी जिह्वा दिन-रात राम रटा करती है और नैन उसी अलौकिक रूप की ओर लगे रहते हैं। कोई कुछ भी कहे, उन्हें इसकी परवाह नही। मीरा की भाँति उन्होने भी लोक-मर्यादा का त्याग कर हरि-भक्ति को ग्रहण कर लिया है।[1] यारी ने परमात्मा के रूप प्रत्यक्ष का वर्णन किया है जिसके अनुभव से साधक तल्लीन अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था मे पहुँच जाने पर उसे लोकापवाद की भी चिन्ता नही रह जाती। साक्षात्कार की इस स्थिति मे परमात्मा की झिलमिलाती आभा सर्वत्र बरसती प्रतीत होती है जिससे विश्व सर्वदा आलोकित रहता है। रुनझुन के मृदु रव से अनहद बजता है और नभ मे भ्रमरा का गुजन होता है। मोतियो की वर्षा होती है जिनसे प्रकाश ज्योति निरन्तर प्रस्फुटित होती है। ऐसे अद्भुत आनन्दमय देश मे जहाँ निर्विकार का वास है, यारी ने आश्रय ग्रहण किया है।[2]

साक्षात्कार की स्थिति बडी ही रहस्यमय तथा स्वर्गिक सौन्दर्य से पूर्ण होती है। चारो ओर से काली घटाएँ घिर जाती हैं, अनहद का घोर आकाशव्यापी नाद होता है,

---

झरि झरि परत सुरग रग तह कौतुक नभ में छाइया।
राग रुवाब अजोर तान तँह झिन-झिन जंतर लाइया।
छवो राग छत्तीस रागिनी गधर्व सुर सब गाइया।
पाच पचीस भवन में नाचहि भर्म भवँर उड़ाइया।
कह दरिया चित चदन चर्चित सुन्दर सुभग सुहाइया। सं० बा० स० भा० २, पृ० १४८

१. हौं तो खेलौं पिया सग होरी।
दरस परस पतिव्रता पिय की छवि निरखत भई बौरी।
सोलह कला सपूरण देखौं रवि ससि मे इक ठौरा।
जब तै दृष्टि परो अविनासी लागो रूप ठगौरी।
रसना रटत रहत निस बासर नैन लगो यही ठौरा।
कह यारी मगरी करू हरि की कोइ कहै सो कहोरा॥ स० बा० सं० भा० २, पृ०१६४

२. झिलमिल झिलमिल बरसै नूरा नूर जहूर सदा भरपूरा।
रुनझुन रुनझुन अनहद बाजै। भँवर गुंजार गगन चढ़ि गाजै।
रिमझिम रिमझिम बरसै मोती। भयो प्रकाश निरंतर जोती।
निरमल निरमल निरमल नामा। कह यारी तह लिये बिश्रामा। स० बा० स० भा० २, पृ० १४५

दामिनी के प्रकाश में साधक त्रिवेणी (इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना) के संगम पर स्नान करके साक्षात्कार के लिए तत्पर होता है।[1] संध्या में सूर्योदय तथा विहान में चन्द्रोदय होता है। गंगा-यमुना के संगम पर अनहद का नाद होता है, 'सोऽहम्' का अजपा जाप निरन्तर चलता है—ऐसी अलौकिक अद्‌भुत स्थिति में प्रवेश करके बुल्ला अनन्त ज्योति में लीन हो गये है।[2] उस अनन्त ज्योतिमय प्रभु का स्वरूप कैसा है ? बुल्ला ने गुरु के प्रसाद से उस अनन्त रूप का साक्षात्कार किया है और उसी अचाक्षुष रूप-प्रत्यक्ष को अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने प्रभु के रूप की व्यंजना की है। वह प्रभु निराधार का आधार, उज्ज्वल बिन्दु, कलामय, अनन्त-रूप, सौन्दर्यवान तथा वर्णन से परे है। बिना मुख और करों के वेणु तथा वीणा का स्वर गुंजित होता है, नेत्रों के बिना ही दर्शन होता है। उसकी गति अविगत तथा अगम्य है। उस परमात्मा के न जाति पाँति है, न नेम-धर्म है परन्तु वह समस्त भ्रमों को दूर भगाता है। उसकी स्थिति ही त्रिगुणातीत है।[3]

सतगुरु प्रदत्त तत्त्व के हिंडोले में झूलकर गुलाब आवागमन के चक्र से मुक्त हो गये हैं। उनके तत्त्व के हिंडोले में न डोरी है न आधार स्तम्भ। आठों प्रहर ध्वनि झंकृत हुआ करती है। यह झनकार ही अनहद नाद है जो साधक के कर्ण-कुहरों में ध्वनित होती रहती है। परमात्मा से मिलन हो जाने से गुलाल को संसार के झूलने से निस्तार मिल गया है और जीवन मृत्यु से मुक्त हो कर वे शाश्वत ब्रह्मानन्द में लीन हो गये है।[4]

---

१ स्याम घटा घन घेरि चहु दिसि आइया।
अनहद बाजै घोर सो गगन सुनाइया।
दामिनि दमकि जो चमकि त्रिवेणी न्हाइया।
बुल्ला हदे बिचारि नहीं मन लाइया। — बुल्ला, स० बा० स० भा० २, पृ० १७१

२ साँझहि उगवै सूर भोर ससि जागइ।
गंग जमुन के संगम अनहद बाजइ।
अजपा जापहि जाप सोइ डोरि लागई।
बुल्ला तामे पैठि जोति में गाजइ। — बुल्ला, स० बा० स० भा०२, पृ० १७२

३. प्रभु निराधार आधार उज्जल बिंदु सकल बिराजई।
अनन्त रूप सरूप तेरो मोपै बरनि न जावई।
बिना कर मुख बेनु बाजै बीन स्रवणन गुंजई।
बिना नैनन दास देखो अगनि गतिहि जनावई।
बरन जाति पाँति न नेम धर्म भर्म सकल गँवावइ।
आपु आप विचारि देखो ऐसो है वह रामई।
तीनि पाँच पचास, तानो चौथे जा ठहरावई।
नैन दास बुल्ला लिए गइ अब गुरु दरसै लखावई। — बुल्ला, सं० बा० स० भा० २, पृष्ठ १७२

४ तत्त हिंडोलवा सतगुरु नावल तहवा सनुवा झूलत हमार।
बिन डोरी बिन खम्भे पौढ़ल आठ पहर झनकार।
गावहु सखिया हिंडोलवा हो अनुभौ मंगलाचार।
अब नहिं भरना चवना हो प्रेम पदारथ मगन निनार।
छुटल जगत का झूलना हो दास गुलाल मिलो है यार। — गुलाल, स० बा० सं० भा० २, पृ० २०७

दूलनदास ने भी ब्रह्म के उस अलौकिक स्वरूप का प्रत्यक्ष किया है जिसके फल-स्वरूप उनका यह उद्गार है— हे मन ! अपने निवास स्थान के लिए—अपने महल के लिए प्रस्थान कर। यह महल ही परमात्म-प्रत्यक्ष की वह सहज स्थिति है जहाँ जीव पूर्ण तथा स्थायी विश्राम ग्रहण करता है। उस अलौकिक देश में अवर्णनीय सुषमा का सदैव प्रसार रहता है। ज्योत्स्ना बिछी रहती है, तारे चमकते हैं। सुखदायक पलंग और बिछावन सहज उपलब्ध हैं जिसमें शयन करके जीव परम शान्ति को प्राप्त करता है। जीव को वहाँ सुख-शयन करने के लिए आत्मानन्द की पूर्ण विरामदायिनी स्थिति की प्राप्ति के लिए कोई विघ्न बाधा नहीं है। इस स्थिति को क्या सालोक्य मुक्ति नहीं कह सकते ? सुखमन पलगा से तात्पर्य हठयौगिक क्रिया में सुषुम्ना के ब्रह्मरंध्र में स्थित हो कर सहज समाधि की अवस्था से है। उस शाश्वत आनन्द को त्याग कर इस क्षणभंगुर स्वप्नवत् संसार में आने की जीव इच्छा क्यों करें।[1]

गरीबदास, चकोर और चन्द्र—साधक और साध्य अथवा प्रेमी और प्रेय दोनों को ही शरीर में स्थित मानते हैं। उनको अपने प्रेय की—साध्य की प्राप्ति हो गई है। एक आनन्दमयी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। चपला चमकती है मेघ गरजते हैं, पावस के जीव दादुर और मोर प्रमुदित चित्त से शोर करते हैं। यह रव ही अनहद का शब्द है। समस्त विकारों को जीतने के लिए—उनको अनुशासन में रखकर सुनियंत्रित रखने के लिए गुरु गश्त लगाता है ज्ञान के ढिंढोरे के साथ। साधक ने उस शब्द को पहचान लिया है। त्रिकुटी महल में उसने अपना आसन लगा लिया है जो काल की गति से परे है। अब उसको किसी की चिन्ता नहीं। प्रभु का साक्षात्कार हो गया है।[2]

एका जनार्दनी ने भगवत् साक्षात्कार के लिए गुरु को माध्यम स्वीकार किया है। गुरु की कृपा से उनको भगवान् के दर्शन हुए। साक्षात्कार के आनन्द में वे इतने विभोर हो गये हैं कि कबीर की भाँति उन्हें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में सर्वत्र राम के दर्शन होते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव हो जाने पर जो कुछ भी उनके दृष्टिपथ में आता है सब राम अथवा राम के सदृश ही प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव हो जाने पर

---

१ चलो चढ़ो मन यार महल अपने।
चौक चादनी तारे झलके बरनन बनत न आन गने।
हीरा रतन जड़ाव जड़े जहँ मोतिन कोटि बितान बने।
सुखमन पलगा सहज बिछौना सुख सोवो को करै मने।
दूलनदास के साईं जगजीवन को आवै यह जग सुपने। दूलनदास, सं० बा० सं० भा० २, पृष्ठ १६१

२ घट ही में चन्द चकोरा साधो घट ही में चन्द चकोरा।
दामिनि दमकै घनहर गर्जै बोलै दादुर मोरा।
सतगुरु गश्तो गस्त फिरावै लिया ज्ञान ढिंढोरा।
असली राज अदल बादशाही पाँच पचीसो चोरा।
चीन्हो सबद मिला घर कीजै होना गगन घोरा।
त्रिकुटी महल में आसन मांगे जहँ न चलै जम जोरा।
दास गरीब भान को छाजो हुआ ज्ञान है मोरा। गरीबदास, सं० बा० सं० भा० २, पृ० २००

साधक इतना भाव विभोर एवं तन्मय हो जाता है कि परमात्मा से भिन्न उसके अतिरिक्त कुछ देखता नहीं। इसी अन्तर्हित प्रवृत्ति के प्रकाशन को हम रहस्यवाद कहते हैं जिसमें आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं रह जाता तथा परमात्मा और संसार अभिन्न हो जाते हैं।[1]

एका जनार्दनी की ही भाँति चरनदास भी साक्षात्कार के आनन्द से विमत्त हो गये हैं। जब से उन्होंने अनहद का गुरु गंभीर शब्द सुना है, उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं, मन का अहं भाव नष्ट हो गया है तथा समस्त आशाएँ दग्ध हो गई हैं। सुरति के मद में लीन होने से शरीर शिथिल हो गया है, नेत्र घूमते हैं तथा रोम-रोम आनन्द से पुलकित हो गया है। अन्तस्तल के कण कण में अनहद के शब्द ने प्रवेश करके उनको मतवाला बना दिया है। कर्म भ्रम के बन्धन खुल गये हैं, द्विधा का अन्त हो गया है। 'अहं' विस्मृत हुआ फिर जगत भी विस्मृत हो गया। अब भला पंच विकारों का प्रवेश उनमें कैसे हो सकता है। लोक, भोग आदि किसी की भी सुधि नहीं रही, सब ज्ञान-ध्यान भूल गया। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि साक्षात्कार की इस आह्लादकारिणी स्थिति में लीन हुए हैं। यह स्थिति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है।[2]

परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर एक ओर तो साधक का अहं भाव, उसकी समस्त आशाएँ, मनोविकार, कर्मजन्य भ्रमजाल तथा द्वन्द्वात्मक मनोवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं दूसरी ओर भाव विभोरता तथा अनन्यता के कारण शरीर तथा मन उल्लास से भर जाता है, आत्म और लोक दोनों ही विस्मृत हो जाते हैं। यही है सायुज्य मुक्ति किंवा साक्षात्कार अथवा तल्लय की अवस्था जो हिन्दी-सन्त-कवियों की साध्य एवं सिद्धि रही।

हिन्दी-सन्त-कवियों में हम देखते हैं कि गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर अपनी प्रबल भक्ति भावना के कारण उन्होंने परमात्मा का आंशिक तथा पूर्ण साक्षात्कार किया।

---

१. गुरु कृपाञ्जन पायो मेरे भाई।
राम बिना कछु जानत नाहीं।
अन्दर राम बाहर राम जहँ देखे तहँ राम ही राम।
जागत राम सोवत राम सपनो में हूँ देखूँ आतमराम।
एका जनार्दनी अनुभव नीका जहाँ देखे वहाँ राम सरीखा।

२. जब से अनहद घोर सुनी।
इन्द्री थकित गलित मन हुवा आसा सकल भुनी।
घूमत नैन सिथिल भई काया अमल जु सुरत सनी।
रोम रोम आनन्द उपजि करि आलस सहज भनी।
मतवारे ज्यों सबद समाये अन्तर भीज कनी।
करम भरम के बन्धन छूटे दुविधा विपति हनी।
आपा बिसरि जगत कूँ बिसरो कित रही पाँच जनी।
लोक भोग सुधि रही न कोई भूले ज्ञान गुनी।
हो तहँ लीन चरन ही दासा कह सुकदेव मुनी।
ऐसा ध्यान भाग सूँ पैये चढ़ि रहे सिखर बनी। चरनदास, सु० का० सं० भा० २, पृ० १८१

साक्षात्कार के आनन्दानुभव को उन्होंने व्यक्त किया स्वान्त सुखाय तथा बहुजन हिताय का आदर्श सम्मुख रखकर। अथवा यों कहना उचित होगा कि भावों का अदम्य वेग उनके मानस से स्वतः फूट निकला। सम्भवतः वह रोकने पर भी न रुकता। परमात्मा के प्रति अनुभूत रहस्यात्मक अनुभूति को उन्होंने अभिव्यक्त किया भाषा में बद्ध करके—काव्य का रूप प्रदान करके। रहस्यमय को व्यंजित करने वाली भाषा भी रहस्यमयी ही बन पड़ी और यदि उससे भी काम न चल सका तो संकेतात्मकता ने आकर भावों को वहन करने में भाषा को सहायता दी। इसीलिए यदि काव्य में सांच राम मय सब जग जानी जैसी सहज सरल उक्ति मिलती है, तो दूसरी ओर मुक्ख बानी तिको स्वाद कैसे कहै, स्वाद पावै सोइ सुक्ख मानै जैसी रहस्यात्मक तथा सहर बेगम्मपुरा गम्म को ना लहै होय बेगम्म सो गम्म पावै जैसी संकेतात्मक उक्तियाँ भी मिलती है। कुछ भी हो रहस्यमय ब्रह्मानुभूति के भाव भी रहस्यमय थे तथा भाषा भी रहस्यमयी रही।

पूर्ण साक्षात्कार के मार्ग में संत-कवियों को आंशिक प्रत्यक्ष हुए। आंशिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रूप रंग-प्रत्यक्ष, शब्द प्रत्यक्ष गंध प्रत्यक्ष तथा रस प्रत्यक्ष हुए। किसी को यदि कोटि भानु जाकी सोभा रोमे, पाचतत्त निरगुनी माया जो देखे सो सकल समाया इस रूप का दर्शन हुआ, तो किसी को झरि-झरि परत सुरंग रंग के द्वारा रंग-प्रत्यक्ष हुआ। इसी प्रकार यदि एक ने झरि-लागे महलिया गगन घहराय से शब्द प्रत्यक्ष की अनुभूति को व्यक्त किया, तो दूसरे ने उड़त सुगंध महा अधिकाई जाको बार न पारा है के द्वारा गंध प्रत्यक्ष को व्यंजित किया तथा अन्य ने चुअत अमीरस भरत ताल जैंह के द्वारा रस प्रत्यक्ष को व्यंजित किया। प्राचीन परम्परा के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि इसी प्रकार की आंशिक प्रत्यक्ष-जन्य अभिव्यक्तियाँ उपनिषदों में भी उपलब्ध होती हैं। इन प्रत्यक्षों में शब्द प्रत्यक्ष तो सभी कवियों को हुआ। सब ने उस रहस्य के शब्द को सुना। किसी ने उसे गगन गर्जन में, किसी ने बिन बाजा झनकार मे, किसी ने मुरली-ध्वनि मे, किसी ने गैबा घटे मे उस अनहद के रुनझुन शब्द का प्रत्यक्ष किया।

विगत पृष्ठों में हम यह भी देख चुके हैं कि हठयोग का संत-साहित्य में कितना प्रसार एवं प्रचार हुआ। साक्षात्कार की स्थिति की उपलब्धि भी हठयोग की साधना पर अवलम्बित हुई। त्रिकुटी महल म आसन लगाने से, इड़ा-पिंगला के संगम पर स्नान करने से, सहस्रार मे आत्मा को स्थित करने से, शून्य शिखर मे सुरत लगाने जैसी अनेक यौगिक क्रियाओं के साधने से ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ। सम्भवतः किसी ही कवि ने इन क्रिया-प्रक्रियाओं का वर्णन न किया हो। यौगिक क्रियाओं को साधकर सहज समाधि की स्थिति मे पहुँच जाने पर साधक को सब कुछ विस्मरण हो जाता है, वह बेसुध हो जाता है। पलटूदास का निम्नलिखित उद्गार इसी स्थिति का व्यंजक है :

> *टूटि गया असमान सबद की धमक में।*
> *लगी गगन मे आगि सुरत की चमक में।*
> *सेस नाग औ कमठ लगे सब काँपने।*
> *अरे हाँ, पलटू सहज समाधि की दसा सबहि नहिं जानने॥*[1]

---

१. सु० बा० स० भा० २, पृ० २१६

पूर्ण साक्षात्कार को रहस्यात्मक एवं रहस्यवादी भावना का चरमोत्कर्ष कहना उचित है। समस्त विकारों से रहित, लौकिक आकर्षणों से विरत, भावों के द्वन्द्वात्मक संघर्षों से पृथक्, विचार, भावना और इच्छाशक्ति से समन्वित आचारवान् साधक के द्वारा रहस्यमय परमात्मा के सत्य स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करना ही साधक की उस अन्तर्हित रहस्यवादी प्रवृत्ति का अभिव्यंजन है जिसमें वह सब कुछ भूलकर पूर्ण आत्मविस्मृत हो जाता है और उसके मुख से अनायास यह उद्‌गार निःसृत हो पड़ता है

बिन पद निरत करौं, बिन पद दै दै ताल।
बिन नयनन्हि छबि देखणा, श्रवण बिना झनकारि॥

उपसंहार

रहस्यवाद मानव की उस आंतरिक प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिससे वह परम सत्य परमात्मा के साथ सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। उस प्रत्यक्ष साक्षात्कार के लिए किसी उपाय विशेष की अपेक्षा नहीं है। रहस्यवाद में केवल परमात्म-मिलन की साध्यता मान्य है, मार्गों के वैभिन्न्य से उसे कोई प्रयोजन नहीं। जिस प्रकार एक वृत्त की परिधि से केन्द्रबिन्दु के लिए अगणित (Radii) त्रिज्याएँ हो सकतीं हैं उसी प्रकार भगवान् की प्राप्ति के भी मार्ग अनन्त हैं, सम्भवत जायसी ने

विधना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवा जेते से इसी ओर इंगित किया है। साधनों और मार्गों की अनन्तता के मध्य में भी केवल उस परमात्मा के मिलन की एकता है।

उस परम सत्ता के अनुभव का ज्ञान रहस्यवाद का दार्शनिक पक्ष कहा जा सकता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए रहस्यवादी में बुद्धि, भावना तथा इच्छा तीनों का होना आवश्यक है और इन सबके पृष्ठ में होना चाहिए प्रातिभ ज्ञान। यह अनुभव उसके विचार का प्रतिरूप कहा जा सकता है। वह सर्वत्र परमात्मा की ही सत्ता का प्रत्यक्ष करता है, उसी को प्रथम और प्रातिभ ज्ञान के रूप में जानता है। समस्त विश्व उसके प्रिय परमात्मा की सत्ता से परिपूरित है। इसका उसे प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है। यह ज्ञान उसके लिए केवल बौद्धिक कल्पना मात्र नहीं है। इस स्थिति में उसे सर्वत्र व्याप्त परमात्मा से प्रेम कैसे न हो। सब रूप उसके प्रियतम परमात्मा के ही प्रतिरूप तो हैं। यह रहस्यवाद का भावनापक्ष है। विचारपक्ष तथा भावनापक्ष से ही मिला हुआ रहस्यवाद का इच्छापक्ष है, जहाँ साधक परमात्मा की सत्ता का अनुभव करता है, उससे प्रेम करता है तथा उस प्रेम को मूर्तरूप देने का प्रयत्न करता है। परमात्मा की सत्ता के अनुभव को, जो कि स्वयं उसी की सत्ता है, वह समाज के उन कार्यों के करने में संलग्न करता है जो कि सामान्य-जनों के द्वारा सम्पादित नहीं होते। उन कार्यों के द्वारा वह अवतार, पैगम्बर अथवा क्रान्तिकारी पथदर्शक के रूप में दृष्टिगोचर होता है। बुद्धि, भावना तथा इच्छा की त्रिपुटी में से कौन अंग रहस्यवादी में विशेष रूप से विकसित होता है, यही उस रहस्यवादी को परम ज्ञानी, प्रेमी अथवा कर्मयोगी की संज्ञा प्रदान करने वाला होता है। साक्षात्कार के पूर्व तक ही तीनों अवस्थाएँ पृथक्-पृथक् होती हैं। साक्षात्कार में तीनों ही अवस्थाओं का एक में सम्मिलन हो जाता है।

रहस्यवादी ज्ञान के लिए इन्द्रिय सन्निकर्षता की आवश्यकता नहीं है। उस परमात्म सत्ता का साक्षात् कर लेने के पश्चात् अन्धे को सब कुछ दिखलाई पड़ने लगता है। उस पद बिनु चलै, सुनै बिनु काना के साथ एकात्म भाव स्थापित कर लेने वाला मूक भी वाचाल तथा पंगु भी गगनचुम्बी पर्वत को लांघने वाला हो जाता है। समस्त असम्भावित उस

परमात्मा से प्रभावित हो जाते हैं और उनका प्रकाश होता है रहस्यवादी के जीवन मे। जहाँ एक ओर उस ज्ञान के बाद ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है वहाँ दूसरी ओर वह स्वानुभूत सत्य शिव सुन्दरम् की सत्ता से जगत को अवगत करा देना चाहता है। उसकी प्रेमभावना, सम्पूर्ण विश्व को अपने समान ही उस सत्य से नियोजित करा देना चाहती है। यही रहस्यवाद का कर्मपक्ष या धर्मपक्ष कहा जा सकता है। इसी भावना से प्रेरित होकर रहस्यवादी अनेक मार्गों का प्रतिपादन करते हैं। जिन्हें कि कालान्तर मे धर्म की सज्ञा प्राप्त होती है। परमात्म ज्ञान के लिए जिस प्रकार किसी इन्द्रिय अथवा सामर्थ्य (Faculty) की अनिवार्यता अपेक्षित नही है उसी प्रकार वह परमात्मा यज्ञ, तप, स्वाध्याय आदि किसी क्रिया विशेष से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। परमात्मा स्वय अपने को अनावृत करके रहस्यवादी को प्रत्यक्ष कराता है।

रहस्यवादी परमात्मा के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की सभावना स्वीकार करता है। वह अत्यन्त आस्तिक प्राणी है किन्तु उसकी आस्तिकता समाज की परम्परागत मान्यताओं मे निहित नही है। उसके भगवान् किसी मूर्ति, देवालय अथवा तीर्थस्थान के वासी न होकर स्वर्ग नर्क सदन को समान भाव से व्याप्त करते हुए भी साधक की आवश्यकता तथा प्रेमवश अविलम्ब प्रकट होते है। उन्ही की इच्छानुसार, उन्ही से प्रेरणा प्राप्त करके—शक्ति ग्रहण करके रहस्यवादी समाज मे परिवर्तन करने के लिए नवनिर्माण के लिए कार्यरत होता है। जीवन की मान्यताओं का अतिक्रमण करना उसके लिए अत्यन्त सहज व सरल होता है। वह परमात्मा की वाणी को सुनता है जो कि स्वय उसकी अतरात्मा मे ध्वनित होती है तथा उसी वाणी के आदेशानुसार वह अपने मार्ग अपितु 'साईं के मार्ग पर अग्रसर होता है।

अब तक हमने रहस्यवादी भावना का जो अध्ययन किया है उसके आधार पर यह कहने मे कोई सन्देह नही रह जाता कि हिन्दी के सत तथा भक्तकवि उच्चकोटि के रहस्यवादी है। इन रहस्यवादी कवियो का साहित्य मे तो उच्च स्थान है ही समाज और धर्म के लिए भी उनका बडा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने जीवन की मान्यताओं के लिए उस युग मे नैतिकता के नये मानदण्ड स्थापित किये। जिस युग मे मानवता प्रतिकार तथा प्रतिशोध की ज्वाला से दग्ध हो रही थी, रहस्यदर्शी सत कबीर ने जनता को सावधान करते हुए उसे प्रेम तथा एकता का सन्देश दिया यह कहकर

साईं सब घट बिराजिया सूनी सेज न कोय।

भक्तप्रवर तुलसीदास ने—

उमा जे राम चरणरत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहि जगत कासन करहि बिरोध।

कहकर समाज मे फैली हुई विरोध-भावना को दूर करने का प्रयत्न किया। इन कवियो ने अखिल मानव समाज को भक्ति, एकता तथा प्रेम के सूत्र मे निबद्ध करने का यथासभव प्रयास किया। ये सत तथा भक्त केवल रहस्यवादी कवि के पद को ही नही सुशोभित करते हैं वरन् ये उन प्रकाश-स्तम्भों के समान हैं जो युग-युग तक भारतीय जनता के मानस-पथ को आलोकित करते रहेंगे।